व्याख्याकार

डॉ. श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
३७०

स्पन्दकारिका

भट्टकल्लट-क्षेमराज-उत्पलाचार्य-रामकण्ठाचार्य-प्रणीता 'स्पन्दकारिकावृत्ति-
'स्पन्दनिर्णय'-'स्पन्दप्रदीपिका'-'स्पन्दकारिकाविवृति'-निष्कर्षरूपा
'सरोजिनी' हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकार
डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'
एम.ए., एम.एड., व्याकरणाचार्य,
पीएच्.डी., डी.लिट्.

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001

फोन : 2335263
2333371

प्रथम संस्करण 2004

मूल्य 400.00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू . ए . बंगलो रोड, जवाहरनगर

पो० बा० नं० 2113

दिल्ली 110007

फोन : 23856391

*

प्रधान वितरक

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)

पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001

फोन : 2420404

कम्प्यूटर टाइप सेटर :
चित्तरञ्जन कम्प्यूटर वर्क्स
नई दिल्ली

मुद्रक :
ए० के० लिथोग्राफर
दिल्ली

The
CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA
370

SPANDAKĀRIKĀ

OF
Bhaṭṭakallaṭācārya

Edited With
'Sarojinī' Hindi Commentary

By
Dr. SHYAMAKANTA DWIVEDI 'ANAND'
M.A., M.Ed., Vyakaranacharya,
Ph.D., D.Lit.

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
VARANASI

वक्तव्य

वैश्विक धरातल पर भारतीय दर्शन की जो अपनी पहचान है वह मुख्यतया 'योगशास्त्र', तन्त्रशास्त्र एवं अद्वैतवादी वेदान्त या अद्वैतप्राण दृष्टि को लेकर है। भारतीय दर्शनों पर जितने भी ग्रन्थ लिखे गए उनमें मुख्यतया चार्वाक, सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, जैन एवं बौद्ध दर्शनों पर ही प्रकाश डाला गया। तान्त्रिक दर्शन को स्वतन्त्र दर्शन मानकर उस पर स्वतन्त्र रूप से प्रकाश नहीं डाला गया। आचार्य बलदेव उपाध्याय एवं डॉ० उमेश मिश्र ने उनको यह स्थान दिया तो, किन्तु तान्त्रिक दर्शन की मूलभूत दृष्टियों, विशिष्ट सिद्धान्तों, मौलिक स्थापनाओं एवं भारतीय दर्शनों में उनके मूल्यांकन, महत्त्व एवं स्थान के सन्दर्भ में विशेष प्रकाश नहीं डाला। तान्त्रिक दृष्टि एवं उसकी स्थापनाएँ वैदिक काल से अद्यतन काल तक समस्त दार्शनिक सम्प्रदायों, दर्शनों एवं मतों को प्रभावित करती रही हैं। किन्तु फिर भी भारतीय दर्शनों पर ग्रन्थ लिखने वाले लेखकों ने उनकी उपेक्षा की है।

मैंने इसी अक्षम्य उपेक्षा को दृष्टि में रखकर केवल तन्त्र (आगम) शास्त्र को ही अपने लेखन का विषय चुना। जहाँ तक अद्वैतवाद की बात है इसके विभिन्न प्रस्थान एवं विभिन्न प्रकार हैं; यथा—(१) शब्दाद्वैतवाद, (२) ब्रह्माद्वैतवाद, (३) शांकर अद्वैतवाद, (४) शून्याद्वैतवाद, (५) विज्ञानाद्वैतवाद, (६) द्वैताद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत-वाद आदि। किन्तु इन सबसे पृथक् त्रिक दर्शन का **'द्वयात्मक अद्वैतवाद'** (ईश्वराद्वय-वाद, विमर्शप्रकाशात्मक अद्वयवाद) भी है। काश्मीर का अद्वैतवादी शैव दर्शन (त्रिक दर्शन) 'स्पन्ददर्शन' एवं 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' की दो मुख्य धाराओं में विभाजित है। इन दोनों दार्शनिक धाराओं का मूल उत्स **'शिवसूत्र'** है।

प्रस्तुत ग्रन्थ **स्पन्दकारिका**, स्पन्दसूत्र या स्पन्दशास्त्र एक ही ग्रन्थ के विभिन्न अभिधान हैं। आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहा है कि शिलोत्कीर्णा, स्वप्नदृष्ट शिवोपनिषद्स्वरूप शिवसूत्रों को हृदयंगम करके काश्मीरी शैवाचार्य वसुगुप्त ने इन्हें भट्टकल्लट आदि शिष्यों को पढ़ाया और शिवसूत्रों की व्याख्या के रूप में (वसुगुप्त ने) (अपने शिष्यों को) जो उपदेश दिया और इन अपने उपदेशों को पुस्तकाकार संगृहीत किया वही शिवसूत्रोद्भावित एवं संगृहीत उपदेश-ग्रन्थ **'स्पन्दकारिका'** है—

'इमानि शिवोपनिषत् संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद। एतानि च सम्यक् अधिगम्य भट्टश्रीकल्लटाद्येषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान्॥[१]

आचार्य उत्पल ने 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा है कि—'स्पन्द' ज्ञरूप है। शक्तियों का ईश्वर है और उसी के संकल्प से लय-उदय दोनों हुआ करते हैं ऐसे स्वबल एवं

---

१. आचार्य क्षेमराज—'शिवसूत्रविमर्शिनी'।

ज्ञरूप 'स्पन्द' की मैं वन्दना करता हूँ—

यत् परापरभूस्पर्शि यत्संकल्पलयोदयौ
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वबलं नुमः ॥[१]

अद्वैतवादी वेदान्ती शंकराचार्य की दृष्टि में 'ब्रह्म' (परा सत्ता) क्रियाहीन है—निष्क्रिय है अतः क्रिया भी पारमात्मिक सत्य नहीं प्रत्युत् माया का कार्य होने के कारण असत् है । समस्त विश्व-व्यापार (सृजन एवं अन्य व्यापार माया की 'आवरण' एवं 'विक्षेप' शक्तियों का व्यापार) माया के व्यापार हैं ।

मायावादी शंकराचार्य का 'मायावाद' ही निःशेष विश्व व्यापार एवं अशेष क्रियाओं का मूलाधार है और इसलिए जगत, जगत के व्यापार, सृजन आदि समस्त क्रियाएं माया

स्पन्दतत्त्व का स्वरूप—

१. स्पन्दप्रदीपिका ।
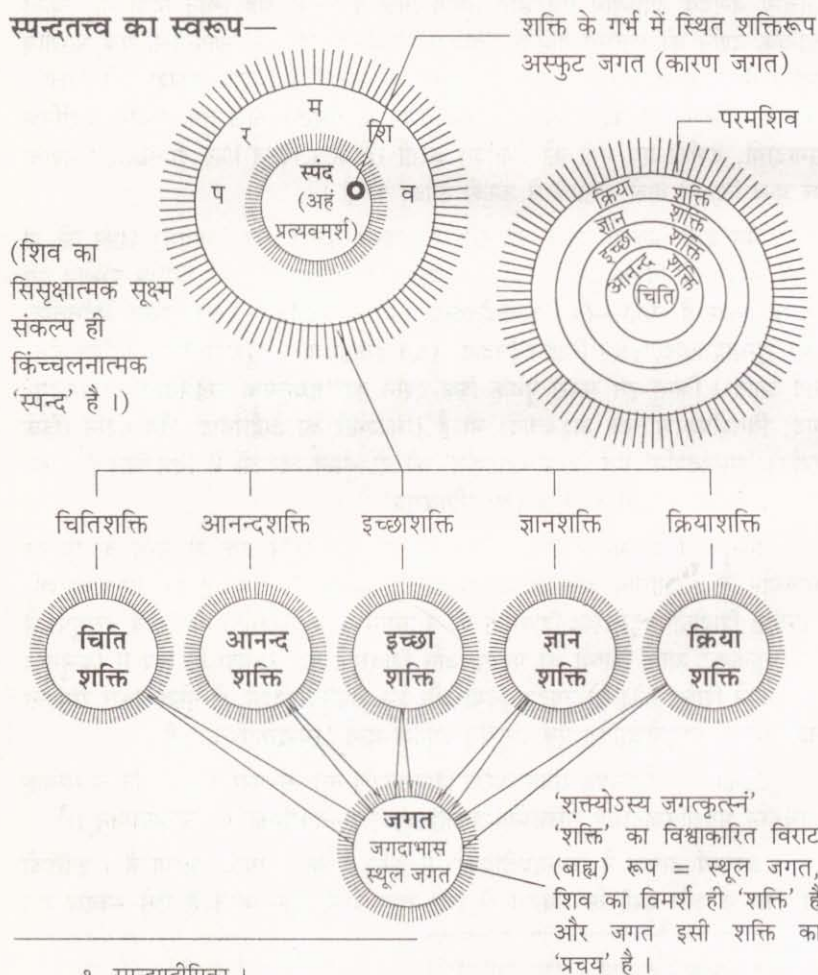
हैं—मिथ्या हैं—मृगमरीचिका हैं—(१) 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (२) 'यद्दृष्टं तन्नष्टं'। 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' सृष्टि 'माया' करती है निर्गुण, निराकार एवं निष्क्रिय ब्रह्म नहीं। इसीलिए शांकर वेदान्त को **'शान्तब्रह्मवाद'** कहा गया है।

'स्पन्दशास्त्र' के 'ईश्वराद्वयवाद' में परमशिव इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया, तिरोधान एवं अनुग्रह—इन पाँचों क्रियाओं का निष्पादक होने के कारण 'पंचकृत्यकारी' कहा गया है। इसीलिए स्पन्द के अद्वैत को **द्वयात्मक अद्वयवाद** कहा जा सकता है। परमशिव 'विश्वोत्तीर्ण' एवं 'विश्वमय' दोनों है। परमशिव निर्गुण, निष्क्रिय, निराकार एवं विश्वोत्तीर्ण होते हुए भी अपनी स्वाभिन्न एवं स्वसमवेत 'स्पन्दशक्ति', 'स्वातन्त्र्यशक्ति' या पाँच शक्तियों के साथ तादात्म्यभावापन्न होने के कारण पंचकृत्यकारी 'भी है। 'स्पन्द' ही परमशिव का 'हृदय', 'सार', 'विमर्श' एवं 'शक्ति' है। 'स्पन्द' परमात्मा का क्रियापक्ष है। इसी के द्वारा परमशिव 'स्वतन्त्र' है और इसी के द्वारा स्पन्दशास्त्र का 'स्वातन्त्रवाद' जीवित है।

शिव के इसी शक्ति पक्ष (क्रिया पक्ष) को प्राधान्य देकर 'स्पन्दशास्त्र' प्रवृत्त हुआ है। 'शक्ति' शिव का ही अपना एक दूसरा पक्ष है। शिव 'प्रकाश' है और शक्ति 'विमर्श' है। श्री सम्प्रदाय इन्हें ही 'समय' एवं 'समया' या 'कामेश्वर' एवं 'कामेश्वरी कहता है।

'स्पन्दकारिका' स्पन्दशास्त्र का अन्यतम ग्रन्थ है तथापि अद्यप्रभृति इसकी हिन्दी टीका (अन्य संस्कृत टीकाओं की व्याख्याओं को अन्तर्गर्भित करके) प्रकाशित नहीं हुई थी। इस अभाव को पूरा करने के लिए मैंने इस अनुभूति-प्रवण एवं साधना-प्रधान ग्रन्थ की व्याख्या की है और विद्वानों के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय संस्कृति के परमानुरागी माननीय प्रकाशक, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, महोदय ने यदि मुझे इसके लिए उत्प्रेरित न किया होता एवं प्रकाशन की इच्छा व्यक्त नहीं की होती तो इसका प्रकाशन तो दूर इसका प्रणयन ही संभव न हो पाता। अतः मैं माननीय व्यवस्थापक—चौखम्बा सुरभारती वाराणसी—का अत्यन्त आभारी हूँ कि वे भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार, अध्ययन-अध्यापन एवं साधना के लिए उपयोगी इन गुप्त एवं गुह्य ज्ञान-भण्डार के अप्रतिम आर्ष ग्रन्थों को प्रकाशित करने हेतु प्रयत्नशील हैं। प्रकाशनों की उसी शृंखला में 'स्पन्दकारिका' भी एक है।

इस रचना के प्रकाशन के माध्यम से भारतीय दर्शन एवं भारतीय आर्ष चिन्तन के इन सिद्धान्तों की ओर जनता एवं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया गया है कि जगत दुःखमय नहीं आनन्दमय है और—

(१) जगत जड़ नहीं चिन्मय है। सब कुछ चिन्मय है—कोई भी वस्तु जड़ है ही नहीं 'सर्वं चिन्मयं विश्वे'।

(२) जगत शिव की विमर्श शक्ति का विकसित (व्यक्त) रूप है।

(३) जगदाभास न तो नव्योत्पत्ति है और न तो संहार विषय है। जगत तो 'संवित् तत्त्व' का रूपान्तर है। वह उत्पन्न नहीं प्रकट होता है। प्रलय के समय भी जगत शक्ति में सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है। जगत का शक्ति एवं शिव दोनों के साथ

शक्ति में सूक्ष्म रूप में अवस्थित रहता है । जगत का शक्ति एवं शिव दोनों के साथ तादात्म्य है । जगत न तो जड़ परमाणुओं का संघात है और न तो पूर्व कर्मों के भोग का या संसरण की संरचना है । यह शिव की आनन्द क्रीड़ा है—यह परम शिव की स्वेच्छा रूप तूलिका द्वारा आत्मा के पट पर बनाया गया चित्र है—यह क्रीड़ाराम है—क्रीडनक है—शिव के अहं को व्यक्त करने का माध्यम है—'शक्ति' के स्वरूप का उल्लास है—शिव का आनन्दोल्लास है—शिव की आत्म-स्वरूप दिदृक्षा है एवं शिव का विनोद है ।

(४) 'परमशिव' निष्क्रिय एवं उदासीन (शान्त) ब्रह्म नहीं है प्रत्युत पञ्चकृत्यकारी परमात्मा है और 'शक्ति' उसी शिव का अपना विमर्श है—आत्मपरामर्श है—प्रत्यविमर्श है ।

शिव शांकर अद्वैत का अद्वयतत्त्व नहीं है प्रत्युत् शक्ति के साथ सामरस्यापन्न, द्वयात्मक अद्वैत है । बंधन भी बंधन नहीं और मुक्ति भी मुक्ति नहीं, प्रत्युत अवरोहण एवं आरोहण का स्वकल्पित अभिनय है—एक क्रीडा है । यहाँ का अद्वैत मिथुनात्मक, दाम्पत्यात्मक, संघट्टात्मक, युगलभावात्मक एवं सामरस्यात्मक है ।

(५) यहाँ मुक्ति 'सामीप्य', 'सालोक्य', 'सार्षि' एवं 'सायुज्य' नहीं है । प्रत्युत् जीते जी मुक्ति है—'जीवन्मुक्ति' है न कि 'विदेहमुक्ति' ।

(६) साधना के मार्गों में ज्ञान-भक्ति-योग इन तीनों का मणिकांचन योग ही उपादेय है । 'भक्ति' भी वही वरेण्य है जिसे 'अद्वैतभक्ति' कहते हैं । शिव के साथ अभेदात्मकता की अनुभूति ही यथार्थ ज्ञान है और यह अनुभूत्यात्मक ज्ञान ही 'मुक्ति' है । 'भक्ति' का वह प्रकार जो 'वैधी', 'गौणी' आदि रूप वाली है या 'साधन भक्ति है स्पृहणीय नहीं है—**'ज्ञानोत्तरा भक्ति'** ही अभीष्ट है ।

यदि देश को शक्तिशाली बनाना है तो 'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' के शक्ति सिद्धान्त एवं शक्ति-साधना का आत्मीकरण करना आवश्यक है ।

'शिवोऽहं', 'शिवोऽहं', 'अहं देवी न चान्योस्मि', 'न सावस्था न यः शिवः' आदि को आत्मसात करके जीव को शिव बनाने की साधना का प्रवर्तन करने वाले आचार्य वसुगुप्त को शतशः नमन करते हुए मैं प्रकाशक महोदय को पुनः धन्यवाद देना चाहता हूँ कि उन्होंने 'स्पन्दकारिका' प्रकाशित करने का सत्संकल्प रूपायित कर दिया ।

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

विषयानुक्रमणिका

भूमिका खण्ड
परिचय एवं पृष्ठभूमि

ग्रन्थ खण्ड

स्पन्दकारिका

—*—

भूमिका खण्ड
परिचय एवं पृष्ठभूमि

अन्तस्थल में निस्पन्द सिन्धु के वक्षस्थल पर तरंगात्मक स्पन्दन की भाँति निस्पन्द परमशिव को स्पन्दित करने वाली उनकी स्वात्मरूपा शक्ति **'स्पन्द'** है। **'स्पन्द'** शिव का अपना **'धर्म'** है—**'स्वभाव'** है—**'शक्ति'** है—**'हृदय'** है—**'ऊर्मि'** है—**'विमर्श'** है और **'स्वातंत्र्य'** है।

'स्पन्द' को कहीं 'शिव की शक्ति' कहा गया है और कहीं उसे स्वयं 'शिव' कहा गया है यथा— **स्पन्दः** सामान्यपूर्वश्च शुद्धात्माशंकरः **शिवः** ।[१]

किन्तु इसे **'भाव'**, **'स्वभाव'**, **'तत्त्व'** एवं **'ज्ञाता'** आदि भी कहा गया है—

भावः स्वभावस्तत्त्वं च ज्ञातेत्याद्यभिधा स्मृताः ॥ १ ॥[२]

'स्पन्द' के दो रूप— १. शिवरूप २. शक्तिरूप ।

रामकण्ठाचार्य 'स्पन्द' को 'शिव' नहीं शाक्ततत्त्व कहकर उसकी वन्दना कर रहे हैं—'निजोधर्मः शंभोरनुपम चमत्कारसरसः ।

१. परंशाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् ॥
२. 'स्पन्दस्य परस्य शाक्तस्य तत्त्वस्य । (स्पं०का० वि० २।५)
३. स्पन्दानां ज्ञेत्रज्ञज्ञानादिशक्तीनां । (स्पं०का०वि० २।६)

'स्पन्द' **'सामान्य'** एवं **'विशेष'** इन दो भागों में भी विभाजित है—

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्द संश्रयात्' ।

'स्पन्द' का धात्वर्थ—

१. **गुणादिस्पन्द = 'विशेष स्पन्द'**
२. **'सामान्य स्पन्द'**

} 'स्पदिकिंचिच्चलने धातु से 'स्पन्द' शब्द की व्युपत्ति हुई है ।

'सामान्य स्पन्द' १. यही परमेश्वर की मुख्य शक्ति हैः 'सामान्यस्पन्द एव परमेश्वर मुख्यशक्तित्वेन' ।

२. 'मैं दुखी हूँ, मैं सुखी हूँ, आदि संवेदन तथा इन्द्रियाँ, पञ्चभूत, तन्मात्रा, शरीर, बुद्धि, अहंकार, शरीर, गुणत्रय आदि जो **'विशेष स्पन्द'** हैं उनसे यह 'सामान्य-स्पन्द' भिन्न है और विशेष स्पन्दों का आश्रय है—

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः **सामान्यस्पन्दसंश्रयात्** ।' (२।३ स्पं० का०) 'स्पन्द' के दो रूप हैं—(१) 'सामान्य', (२) 'विशेष'—

१.-२. स्पन्दप्रदीपिका ।

१) 'परस्य शाक्तस्य तत्त्वस्य उपचरित—**सामान्यविशेषात्मकतया** द्विप्रकारत्वेन' (रामकण्ठाचार्य: स्पन्द का० २।३)।

२) 'सुखाद्युपाध्युपरागजनितान्योन्यभिन्नरूपेभ्यो **विशेषस्पन्देभ्यो**' स्पन्दों के 'निष्यन्द'—स्पन्दात्मक प्रत्यय संधान हैं—

'गुणमया: स्पन्दनिष्यन्दा: **प्रत्ययसंधाना:** प्रसरन्ति ।' (२।५)

स्पन्द निष्यन्दा नानार्थौन्मुख्येन प्रसृत प्रवाह रूप भिन्नात्मक प्रत्यय हैं—**निष्यन्दा:** नानार्थौन्मुख्येन प्रसृता: प्रवाहा: भिन्ना: प्रत्यया: स्पन्दनिष्यन्दा: ॥ (रामकण्ठाचार्य: स्पन्दका०वि० २।५)।

स्पन्दनात्मक होने के कारण ही इस शक्ति को 'स्पन्द' संज्ञा प्राप्त हुई 'स्पन्दनात् स्पन्द: ॥[१]

'स्पन्दन' है क्या? निस्तरंग परमात्मा की जो युगपद (एक साथ) निर्विकल्पात्मक सार्वत्रिक औन्मुख्यवृत्तिता है उसे ही 'स्पन्द' कहा जाता है—'स्पन्दनं च निस्तरंगस्यास्य तावत् परमात्मन: युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्यवृत्तिता'।[२]

'शान्तषाड्गुण्यरूप' 'आत्मबलशक्तीश' की जो चिद्रुप प्रतिभा का उदय है वही **स्फुरणात्मिका 'स्पन्द शक्ति' है** ।

शान्तषाडगुण्यरूपस्य यत् **स्फुरन् प्रतिभोदय:** ।
स चाऽत्मबलशक्तीशश्चिद्रूप: **स्पन्दसंज्ञक:** ॥[३]

आचार्य रामकण्ठ 'स्पन्दकारिकाविवृति' में कहते हैं कि—स्पन्द शक्ति के निम्न लक्षण हैं—

१) जो नानात्मक दशाओं एवं दिक्काल आदि से अकलित **'चिदालोक वपु'** शिव के हृदय में तद्रूप स्वात्मानुभव के रूप में विस्फुरित होती है।
२) जो शंभु का स्वधर्म है (स्वाभाविक स्वरूप है)।
३) जो अनुपम चमत्कार से रसान्वित है।
४) जो परं शाक्त तत्त्व है—वह 'स्पन्द' है—

दशादिक्कालाद्यैरकलितचिदालोकवपुष:,
सदा तादृक्स्वात्मानुभवितृतया विस्फुरति य: ।
निजो धर्म: शंभोरनुपम चमत्कारसरस:
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् ॥

[१] काश्मीरीय शैवाद्वैत एवं स्पन्द मत

काश्मीर की अद्वैतवादी शैव परम्परा में शैव दर्शन की दो शाखायें मिलती हैं—१. **'प्रत्यभिज्ञा'**, २. **'स्पन्द'** ॥ इसी स्पन्द शाखा का आद्य दार्शनिक ग्रंथ है—

१-३ स्पन्दप्रदीपिका ।

'स्पन्दशास्त्र' या **'स्पन्दसूत्र'** या **'स्पन्दकारिका'** । यह एक अनुभूति परक ग्रन्थ है । इसके रचनाकार के संबंध में संदेह उत्पन्न होने का कारण यह है कि किसी-किसी संस्करण में अंतिम श्लोक के रूप में यह श्लोक पाया गया है—

वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्री भट्टकल्लटः ॥ ५३ ॥

अर्थात् **श्री भट्टकल्लट** ने अपने तत्त्वार्थदर्शी गुरु वसुगुप्त से यह रहस्य भलीभाँति प्राप्त करके इसे श्लोकबद्ध किया ।

स्पष्ट है कि विचार एवं दार्शनिक सिद्धान्त तो वसुगुप्ताचार्य के हैं किन्तु इन्हें पुस्तकाकार में प्रस्तुत करने का कार्य भट्टकल्लट ने किया । तो क्या 'स्पन्दकारिकावृत्ति' के साथ ही 'स्पन्दकारिका' के भी रचयिता भट्टकल्लट हैं?—यह विवादास्पद विषय है ।

निस्तरंग परमात्मा में जो एक साथ सर्वरूप से उन्मुख होने की योग्यता है वही किंचित् चलन है किन्तु इसके द्वारा उसकी निर्विकल्पता भंग नहीं होती । प्राचीन काल में परमात्मा का एक नाम 'स्पन्द' भी था । शुद्धात्मा, शंकर, शिव, भाव, स्वभाव, ज्ञाता, सामान्य,. शक्ति आदि सभी स्पन्द वाच्य हैं ।

'स्पन्द' पूर्ण अहं विमर्श है । यह अहं विमर्श वह मौलिक स्फुरण है जिसके द्वारा वह एक रहते हुए भी विश्व के अनन्त रूपों एवं आकारों में स्फुरित हो रहा है यह शाश्वत स्फुरणशील (या स्पन्दायमान) होने के कारण ही स्पन्द नाम से पुकारा जाता है ।

'स्पन्द किंचित् चलन तो है किन्तु **किसका किंचित् चलन ?** किस स्वरूप का किंचित् चलन? सूक्ष्म अहं विमर्श की स्फुरण ही किंचित् चलन है और वही 'स्पन्द' है। यह शक्ति के प्रसार ही किंचित् चलन है और वही 'स्पन्द' है । यह शक्ति के प्रसार की संकल्पोत्मक उन्मुखता है । 'स्पन्द' अहं प्रत्ययवमर्शात्मक गति है । यह एक उच्छ-लन है । यह संवित् समुद्र की तरंग है स्वतन्त्र रूप में स्फुरण ही किंचित् चलन है और चूँकि स्पन्द का यही स्वभाव है इसलिए इसे 'स्पन्द' कहा गया है । यह परमात्मा की स्वातंत्र्य शक्ति है । इसी के दर्पण में परमात्मा अपना मुख देख पाते हैं इसीलिए कहा गया है— 'शैवीमुखगिंहोच्यते' अर्थात् पत्नी शिव की मुख है ।

आचार्य अभिनवगुप्त 'मालिनीवार्तिक' में प्रश्न उठाकर फिर कहते हैं—

'किं यादृग्लोकसंसिद्ध**कर्तृत्वं** कर्मयोगतः ?
स्पन्दात्म तद्विभौ **स्पन्दहीने** समुपपद्यते ।
ननु **ज्ञानं चिकीर्षा** च **यत्नश्चेति** गुणत्रयम् ॥ (३२४)
समवैति यदत्रास्य त**त्कर्मत्वमु**दाहृतम् ।
कर्तुमित्येव यद्रूपं ज्ञानादीनां विशेषणम् ॥ (३२५)
करोतेस्तत्र कोऽर्थ स्याद्यदि **सस्पन्दता** किल । (३३०)
तदसौ **स्पन्दितुं** वेत्ति प्रेप्सतीति भवेद्वचः ।
तच्च स्वात्मगतं नास्य **स्पन्दितं** वैभवोद्भवात् । (३३१)
अन्यदस्पन्दितं ज्ञानं सर्वस्यापि च संभवेत् ॥ (३३२)

हृदय (शिव की आत्मभूता शक्ति) स्पन्दात्मिका है—

'तस्योपायं परं ब्रूते हृदयं' स्पन्दनात्मकम् । (द्वि०का० १८)

'स्पन्द' का मुख्य स्वरूप 'सामान्यस्पन्द' है जिसके विषय में 'मालिनीवार्तिक' (२०) में अभिनवगुप्त कहते हैं—

भावग्रहाद्यचरमदशाद्वयोल्लासिनिर्वृतिसुपूर्णः ।
जगदानन्दमयोऽसौ **'सामान्यस्पन्द'** इत्युक्तः ॥ (मा० वा० २०)

इसके अतिरिक्त **'विशेषस्पन्द'** भी हैं—

'चित्तत्त्वस्य विशेषस्पन्ददशाशालिनश्चिदानन्दः ॥ (६३)

एक ही स्पन्दन के ३ भेद हैं—एकस्य स्पन्दनस्येयं त्रिधा भेदव्यवस्थिति ॥ (६५) (मा०वा०) ।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमेश्वर अपनी **'स्पन्दरूपा शक्ति'** से सदैव अवियुक्त रहता है । **स्पन्दरूपा शक्ति** ही उसका **नित्यस्वभाव** है । इसीलिए 'स्पन्द निर्णय वृत्ति' में क्षेमराज ने इस दर्शन को 'स्पन्दशास्त्र' कहा है—'यथोक्तं स्पन्दशास्त्रे' (स्पन्दनिर्णय) ।

[२] स्पन्दसूत्र एवं स्पन्द

आचार्य उत्पलदेव ने 'स्पन्द' शब्द का व्यापक अर्थ न लेकर केवल **'स्पन्दकारिकाओं** के लिए ही **'स्पन्दशास्त्र'** का प्रयोग किया है । काश्मीर शैव दर्शन का साहित्य इन तीन भागों में विभक्त है—(१) 'आगमशास्त्र', (२) 'स्पन्दशास्त्र', (३) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' ।

काश्मीर शैव दर्शन का साधना-पक्ष **'स्पन्दशास्त्र'** है । 'स्पन्दशास्त्र' में आगमों की भाँति सिद्धान्त-निरूपण मात्र ही नहीं है परपक्ष खण्डन एवं स्वपक्ष मण्डन वाली दार्शनिक शैली की प्रधानता भी आत्मीकृत नहीं हुई है । खण्डन-मण्डन सामान्य रूप से प्रस्तुत यदि है—सम्प्रदायों का नाम लेकर नहीं ।

स्पन्द शब्द की सोद्देश्यता—

काश्मीरीय शैव दर्शन की एक शाखा 'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' के नाम से इसलिए प्रसिद्ध हुई क्योंकि इस दर्शन का चरम लक्ष्य 'प्रत्यभिज्ञा' ('नूनं स एव ईश्वरोहमिति') प्राप्त करना है । किन्तु इसी दर्शन की दूसरी शाखा का नाम **'स्पन्द'** क्यों पड़ा ? दोनों के दार्शनिक सिद्धान्त दोनों की साधना-पद्धति एवं चिन्तन तो समान हैं तथा दोनों के आचार्य भी एक ही हैं फिर दूसरी शाखा को **'स्पन्द'** क्यों कहा गया ?

आचार्य वसुगुप्त के दार्शनिक चिन्तन की दो धारायें थी—१) **'शिवसूत्र'** और २) **'स्पन्दकारिका'** ।

अद्वैतवादी काश्मीरी शैव दर्शन को दार्शनिक, तार्किक एवं खण्डनमण्डनात्मक दृष्टि देने का कार्य तो **सोमानन्दपाद** ने अपने ग्रन्थ **'शिवदृष्टि'** के माध्यम से किया किन्तु **'शिवदृष्टि'** भी शिवसूत्रों की ही व्याख्या है । **सोमानन्द** की **'शिवदृष्टि'** को

'प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र' के रूप में प्रतिष्ठित करने का कार्य उनके शिष्य **उत्पलदेवाचार्य** ने—**'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'** नामक ग्रन्थ ('शिवदृष्टि' की व्याख्या के रूप में रचित) द्वारा सम्पादित किया किन्तु 'शिवसूत्र' के साधनात्मक, श्रद्धात्मक एवं धार्मिक पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए जिस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया—उसका नाम है **'स्पन्दकारिका'** ।

प्रश्न उठता है कि शिवसूत्रों की व्याख्या करने वाली इस शाखा ने शिवसूत्रों को 'स्पन्दसूत्र' या स्पन्दकारिका' के नाम से क्यों ग्रहण किया ? शिवसूत्रों में तो कहीं भी 'स्पन्द' शब्द का भूल से भी प्रयोग नहीं किया गया है? इसका समाधान यह है कि शिव के **'प्रकाश'** पक्ष को जिन आचार्यों ने प्राधान्य दिया वे सोमानन्द, एवं उत्पलदेव आदि आचार्य शैवशास्त्र को खण्डनमण्डनात्मक पद्धति से तार्किक एवं दार्शनिक आधार देते हुए मुख्यत: सैद्धान्तिक पक्ष पर जोर देते रहे और उन्होंने अपनी चरम उपलब्धि **'प्रत्यभिज्ञा'** के रूप में स्थापित की । चूँकि इस दर्शन या साधना-पक्ष विवृत नहीं हो पा रहा था । अत: एतदर्थ स्पन्दसूत्र (स्पन्दकारिका) की रचना की गई ।

एक प्रश्न पुन: उठता है कि यदि 'शिवसूत्र' सिद्धान्त-प्रधान मात्र था तो उसकी साधना-प्रधान व्याख्या 'स्पन्दसूत्र' में करके क्यों शिवसूत्रों की मूल दृष्टि के साथ विश्वासघात नहीं किया गया? इसका उत्तर यह है कि स्वयं 'शिवसूत्र' भी साधना-प्रधान हैं क्योंकि उनका अध्यायीकरण साधना के तीन उपायों—(१) **'शांभवोपाय'** (२) **'शाक्तोपाय'** एवं (३) **'आणवोपाय'** के नाम पर ही किया गया है और 'स्पन्दसूत्र' भी मात्र साधनाशास्त्र ही नहीं है प्रत्युत् सिद्धान्तपक्ष का प्रस्तोता भी है । **सोमानन्दपाद** की **'शिवदृष्टि'** एवं **'स्पन्दसूत्र'** दोनों शिवसूत्रों की व्याख्यायें हैं किन्तु दोनों में दृष्टिभेद है । 'स्पन्दकारिका' को वसुगुप्त की रचना माना जाता है और 'शिवसूत्र' को वसुगुप्त के द्वारा उद्धार की गई रचना स्वीकार किया जाता है । यदि 'स्पन्दकारिका' के रचनाकार वसुगुप्त स्वयं ही शिवसूत्रों की व्याख्या 'स्पन्दसूत्र' के रूप में करते हैं तो स्पष्ट है कि 'शिवसूत्र' एवं 'स्पन्दसूत्र' दोनों में ऐकात्म्य है और यदि दृष्टि-वैषम्य के बिन्दु सिद्ध भी हो जायें तो मानना पड़ेगा कि ये बिन्दु भी प्रारंभ से ही रहे हैं ।

प्रश्न पुन: अनुत्तरति रह जाता है कि काश्मीरी अद्वैतवाद की इस शाखा का नाम **'स्पन्द'** क्यों रखा गया ? वसुगुप्त ने 'स्पन्दकारिका' एवं **सोमानन्द** (९०० ई०) ने **'शिवदृष्टि'** द्वारा कश्मीरी अद्वैतवादी शैवमत की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की काश्मीरी शैवमत की अद्वैतवादी शाखा के ये ही **मूल संस्थापक** हैं । **'सोमानन्द'** वसुगुप्त के शिष्य हैं । उनके समय में स्पन्दकारिका ('स्पन्दशास्त्र' के नाम से) विद्यमान थी । उन्होंने **'शिवदृष्टि'** के प्रारंभ में (प्रथम श्लोक की व्याख्या में) 'नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते' (१।८) सूत्र को उद्धृत भी किया है । उनके शिष्य ने 'शिवदृष्टि' की व्याख्या के रूप में जिस 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' का प्रणयन करके 'प्रत्यभिज्ञा शाखा' के नाम से शैवाद्वैतवादी एक नए मत का नामकरण किया यह नाम ही 'शिवदृष्टि' के प्रथम श्लोक की व्याख्या में सोमानन्द ने **'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा प्रपंचित** न्यायेन' वाक्य द्वारा पहले से ही लिख दिया था ।

१. सोमानन्द का 'शिव' 'अस्मद्रूपसमाविष्ट' शिव है ।

२. स्पन्दसूत्रकार का 'शंकर'—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ तं शक्ति चक्रविभवप्रभवं **शंकरं**... ... ...' है। यह 'अस्मद्रूपसमाविष्ट' नहीं है।

'अस्मद्रूपसमाविष्ट' शब्दावली 'प्रत्यभिज्ञोपरान्त योगी के ज्ञानात्मक अनुभव की दशा है अत: यहाँ उपाय (साधनोपाय) भी व्यर्थ हैं अत: इस 'शिवदृष्टि' में साधना-प्राधान्य न भी हो तो उचित ही है और ज्ञानमार्ग (अहं स: एव) के लिए उपासना आवश्यक भी नहीं है—**'प्रत्यभिज्ञा'** ही **साधना** है और **'प्रत्यभिज्ञा'** ही **'साध्य'** है।

स्पन्दसूत्रकार 'नम:' नहीं कहते 'स्तुम:' कहते हैं। **सोमानन्द 'शिव'** को नमस्कार करते हैं किन्तु **स्पन्दसूत्रकार** 'शंकर' की स्तुति करते हैं। 'स्तुति' 'स्तुत्य' 'स्तोत्र' 'स्तुतिकर्ता' के भाव ज्ञानमार्ग में संभव नहीं अर्थात् 'प्रत्यभिज्ञा' (तत त्वं असि) में संभव नहीं। यह केवल भक्ति—उपासना—प्रेममार्ग में ही संभव है। **'प्रत्यभिज्ञा' ज्ञानमार्गीय अद्वैत है और 'स्तुति'-द्वैतात्मक भक्ति है।**

'स्पन्द' नामकरण क्यों? इसलिए कि यह सिसृक्षात्मकता का सूक्ष्म संकल्प है—संकल्पात्मक गतिमयता है—निस्पन्द परमशिव में यत्किंचिच्चलन रूप अहं विमर्श है—अहं प्रत्यवमर्श रूप एक विमर्शात्मक चलत्ता है।

[३] स्पन्द

'स्पदि किंचिच्चलने' धातु से निष्पन्न होने के कारण **'स्पन्द'** शब्द अल्प-चलनात्मक अर्थ में प्रयुक्त होता है।[१] **स्पन्द** शब्द विकारों के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है—'तेन षोडश स्पन्दा: विकारा'।

'**षोडशस्पन्दसन्दोहे**' (योगिनी हृदय के इस श्लोक) की व्याख्या करते हुए **भास्करराय** ने 'स्पन्द' को विकार के जो अर्थ में प्रयुक्त किया है।

समस्त द्वैत स्पन्द है—गौड़पादाचार्य कहते हैं कि विषय एवं इन्द्रियों के सहित यह संपूर्ण द्वैत चित्त का स्फुरण मात्र है—

'**चित्त स्पन्दितमेवेदं** ग्राह्यग्राहकमद्वयम्'।[२]
'सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव'।[३]

'षट्त्रिंशत् तत्त्वसंदोह' में कहा गया है कि—विश्वोन्मीलन की आद्या इच्छाशक्ति ही शिव तत्त्व है और इसी को **'स्पन्द'** कहते हैं।

आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहते हैं कि **'स्पन्दतत्त्व'** शंकरात्मक एवं चैतन्यात्मक, सर्वदा स्वप्रकाश एवं परमार्थ सत् है—शंकरात्मक स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाशं परमार्थसत् अस्ति।'[४] यह शिव की एक अनुत्तरा शक्ति है और प्रतिभा

---

१. भास्कर राय—'सेतुबंध' (चक्रसंकेत में श्लोक २१ की व्याख्या)।
२. माण्डूक्यकारिका—'अलातशान्तिप्रकरण'।
३. शांकर भाष्य: माण्डूक्यकारिका।
४. शिवसूत्रविमर्शिनी।

एवं चमत्कार भी है—**अभिनवगुप्तपादाचार्य** 'परात्रिंशिका विवृति' में इसी शक्ति को नमस्कार करते हैं—

नरशक्तिशिवात्मकं त्रिकं, हृदये या विनिधाय भासयेत् ।
प्रणमामि परमानुत्तरां निजभासां प्रतिभाचमत्कृतिम् ॥[1]

'तन्त्रालोक' (५ आह्निकः श्लोक ५७) में **अभिनवगुप्त** कहते हैं—

उन्मना और 'स्पन्द'—**'समना'** भूमि को अतिक्रान्त करके **'उन्मना'** का परिवेश प्राप्त होता है । **'समना'** तक अनन्तपाश हैं । भैरवीय चिद्रूप में प्रवेश के लिए 'समना' को अतिक्रान्त करना अपरिहार्य है । **उन्मना के अन्तिम छोर पर ऊर्ध्वकुण्डलिनी** के अधिष्ठान में यहाँ **'विसर्ग'** की सुषुमा का साम्राज्य उल्लसित है । उसमें **शाश्वत 'स्पन्द' का उच्छलन होता रहता है ।**

प्राणना, व्यापार एवं 'स्पन्द'—

'तन्त्रालोक' (आ० ५१ श्लोक १८) की व्याख्या में आचार्य जयरथ ने 'विवेक' में कहा है कि—आन्तरउद्योगरूपा, जीवनात्मिका मुख्य वृत्ति **'प्राणना'** है ।

आह्निक ६ के १२वें श्लोक में प्राणना व्यापार के निम्न पर्याय बताए गए हैं—

'आन्तर स्पन्द' 'स्फुरत्ता' 'विश्रान्ति' 'जीव' 'हृत' और मति ।

इयं सा प्राणना शक्तिरान्तरोद्योगदोहदा ।
स्पन्दः स्फुरत्ता, **विश्रान्ति जीवो हृत्प्रतिभामतिः** ॥

'विमर्श' 'संवित् शक्ति' और 'स्पन्द'—

परबोधमय देवाधिदेव की सर्वज्ञ, सर्वज्ञानशालिनी पराशक्ति को **'विमर्श'** कहते हैं। संवित् शक्ति में समस्त परामर्श उल्लसित हैं । उसे ही 'विमर्श', **'स्पन्द'**, **'हृदय'**, **विसर्ग** आदि कहते हैं—

'इह खलु इदमेव संविदः संवित्त्वं यत् पराम्रष्टृत्वं नाम यस्य विमर्शः, 'स्पन्दो' 'हृदय' विसर्ग, इत्यादयः सहस्रशो व्यपदेशाः । (विवेक)

तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमाशक्तिः सर्वज्ञा सर्वशालिनी ॥ ७७ (तन्त्रालोक आ० ५)

इसी विमर्श का अपर पर्याय 'स्पन्द' है ।

'विमर्श' संवित-**'स्पन्द'** ही है—संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा संकोचविकासवान् ॥
(तन्त्रालोक आ० ५।७९)

इदमात्मक विमर्श एवं स्पन्द—'विशेष स्पन्द'—इदमात्मक विमर्श ही **विशेष** नामक 'स्पन्द' है इसे ही **'औन्मुख्य'** भी कहते हैं—

'ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं विशेषाख्यः 'स्पन्द' औन्मुख्य संज्ञितः ॥(तन्त्रालोक ५।८१)

---

१. मालिनीवार्तिक (अभिनवगुप्त) ।

'शिवसूत्र' का प्रथम सूत्र है—**'चैतन्यमात्मा'** ।

ब्रह्मसूत्रकार की जिज्ञासा ब्रह्म की है—'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' किन्तु शिवसूत्रकार की जिज्ञासा ब्रह्म की नहीं चैतन्यस्वरूप आत्मा की है । 'शिवसूत्र' के **प्रथम व्याख्याकार** तो **वसुगुप्त** हैं और **दूसरे व्याख्याकार सोमानन्दपाद** हैं ।

'शिवसूत्र' की व्याख्यायें—(अनन्यपूर्व प्राथमिक व्याख्यायें) ।

१) ग्रन्थकार—वसुगुप्त ग्रन्थ—'स्पन्दसूत्र' ।
२) ग्रन्थकार—सोमानन्द ग्रन्थ—'शिवदृष्टि' ।

ऐसा माना जाता है कि शिवसूत्रों का उद्धार करके वसुगुप्त ने इसको अपने शिष्यों को पढ़ाया । उन्होंने इसकी व्याख्या की । उनकी यह शिवसूत्रीय व्याख्या ही **'स्पन्दसूत्र'** है। **वसुगुप्ताचार्य के शिष्य सोमानन्द** ने जो **'शिवदृष्टि'** नामक ग्रन्थ लिखा उसे भी शिवसूत्रों की ही व्याख्या माना जाता है । 'शिवदृष्टि' शब्द में 'शिव' शब्द क्या शिवसूत्रों की ओर इंगित नहीं करता ? 'शिवदृष्टि' का अर्थ—'शिवसूत्रों की दार्शनिक दृष्टि' लिया जा सकता है । यदि इसका अर्थ 'शिव की दृष्टि' भी लिया जाय तो चूँकि शिव की दृष्टि एवं शिवसूत्र तो अभिन्न ही हैं क्योंकि शिवसूत्र शिव-प्रणीत ही तो हैं अत: शिवदृष्टि उन शिव की दृष्टि ही तो है ।

३) ग्रन्थकार—भट्टकल्लट, ग्रन्थ—'स्पन्दसर्वस्व' ।

कतिपय ध्यातव्य बिन्दु—

'स्पन्दकारिका' की भाँति स्पन्दशास्त्र पर अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ क्यों नहीं लिखे गए? 'स्पन्दसर्वस्व' (भट्टकल्लट) 'स्पन्दनिर्णय' (क्षेमराज) 'स्पन्दसन्दोह' (क्षेमराज) 'स्पन्द-प्रदीपिका' (उत्पल वैष्णव) 'स्पन्दकारिकाविवृति' (रामकण्ठाचार्य)—केवल 'स्पन्दसूत्र' की टीकायें या व्याख्यायें हैं किन्तु स्पन्दशास्त्र पर कोई अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा गया । **सोमानन्दपाद** प्रत्यभिज्ञादर्शन के संस्थापक हैं और उन्होंने स्पन्दसूत्रों को प्रमाण के रूप में 'शिवदृष्टि' में प्रस्तुत भी किया है किन्तु समस्त आचार्यों द्वारा स्पन्दसूत्रों को प्रमाण के रूप में उद्धृत किये जाने के बाद भी उनके द्वारा इस दर्शन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ क्यों नहीं लिखा गया? वैसे **क्षेमराज ने 'स्पन्दनिर्णय'** में 'स्पन्दसूत्र' पर लिखी गई अनेक विवृतियों का भी उल्लेख किया है यथा भट्टलोल्लट की वृत्ति एवं अन्य टीकायें । इन विभिन्न टीकाकारों की दृष्टि में भी भेद रहा है । प्रत्येक टीकाकार ने किसी विशेष आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाकर ही सूत्रों की व्याख्या की है ।

भट्टकल्लट भी वसुगुप्त के शिष्य थे और **सोमानन्दनाथ** भी । भट्टकल्लट ने **पर-तत्त्व की विमर्श प्रधानता के सिद्धान्त** को आत्मीकृत करके स्पन्दसूत्र पर वृत्ति लिखकर 'स्पन्द सम्प्रदाय' का शिलान्यास किया । **'स्पन्दकारिका' के अतिरिक्त स्पन्दतत्त्व पर मौलिक ग्रन्थ क्यों नहीं लिखे गए ?** यह अनुसंधेय बिन्दु है ? **स्पन्द सूत्रों का प्रति-पाद्य विषय सतत् स्पन्दमयी पारमेश्वरी विमर्श शक्ति है** किन्तु प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रधान प्रतिपाद्य शिव है ।

१. **'स्पन्द सूत्र'** और शिवसूत्र—**'स्पन्दसूत्र' के प्रथम निष्यन्द**—'स्वरूप स्पन्द' की २५ कारिकाओं में मुख्यत: 'स्पन्द' या आत्म तत्त्व के स्वरूप पर ही प्रकाश डाला गया है । **'शिवसूत्र' में प्रथम सूत्र** चैतन्यस्वरूप आत्मा से सम्बद्ध है और सूत्र है—**'चैतन्यमात्मा'** ॥ सोमानन्दनाथ की **'शिवदृष्टि'** (शिवसूत्र की व्याख्या माना जाने वाला ग्रन्थ) का प्रथम श्लोक (मंगलाचरण के श्लोक को छोड़कर भी शिवसूत्र की भाँति आत्मपरक ही है—)

'शिवदृष्टि' का (मंगलाचरण को छोड़कर) प्रथम श्लोक—

'**आत्मैव सर्वभावेषु** स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु: ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसर: प्रसरद्दृक्क्रिय: शिव: ॥ (१।२) है ।

सोमानन्दपाद कहते हैं कि समस्त भावों (सत्ताओं) में **आत्मा** ही स्फुरित हो रही है । उसका प्रसार अनिरुद्ध है । वह चिद्रूप है । शिव चिद्रूप, विभु, अरुिद्ध, इच्छाप्रसर, स्फुरणशील, दृक एवं क्रियावान् है । **'स्पन्दसूत्र' का द्वितीय सूत्र** भी इन्हीं बिन्दुओं का प्रतिपादक है । कहीं सोमानन्दनाथ ने इसी स्पन्द सूत्र की व्याख्या के रूप में तो 'आत्मैव सर्वभावेषु ... शिव: ॥' नहीं लिखा है? इस सूत्र में भी यही बिन्दु प्रतिपादित हैं—

आत्मा—'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं'—अर्थात् जिस स्पन्दात्मक विमर्श भूमिका (आत्मा) या शक्ति में यह समस्त कार्यरूप जगत् अभेदरूप में अवस्थित है । अर्थात् जगत् 'कार्य' है और उसका कर्ता आत्मा या शिव है न कि वेदान्तियों का निष्क्रिय ब्रह्म ।

इसी आत्मा से समस्त कार्यजगत् निर्गत होता है—'यस्माच्च निर्गतम्' । उस सत्ता के स्वरूप को कोई आवरण ढक नहीं सकता अत: उसके स्वतन्त्र प्रसार में कहीं कोई निरोध (रुकावट) नहीं है—

'तस्यानावृतरूपत्वात्' 'न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ।।'

बन्धन—'शिवसूत्र' में दूसरा सूत्र **बंधन के स्वरूप** पर प्रकाश डालता है और 'स्पन्दसूत्र' में भी आत्मा के स्वरूप पर विचार करने के अनन्तर अगले सूत्रों में भी **'बंधन'** के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

२. शैव दर्शन एवं उसकी साम्प्रदायिक परम्परा—

शिव के पञ्चमुख—(१) ६४ तन्त्र, (२) शैवागम । कलियुगारंभ—शास्त्रों के उपदेशों + शास्त्रों + परम्पराओं का ह्रास तथा कैलासपर्वत पर भ्रमण करते समय शंकर के द्वारा श्रीकण्ठ बनकर दुर्वासा को त्रिकमत-प्रचार का आदेश ।
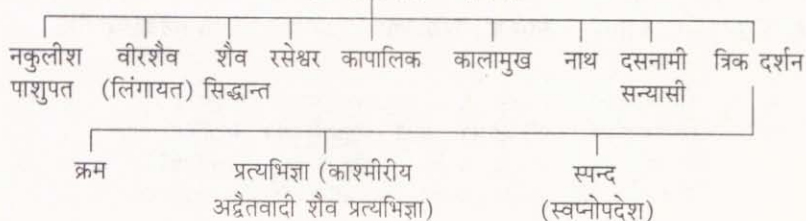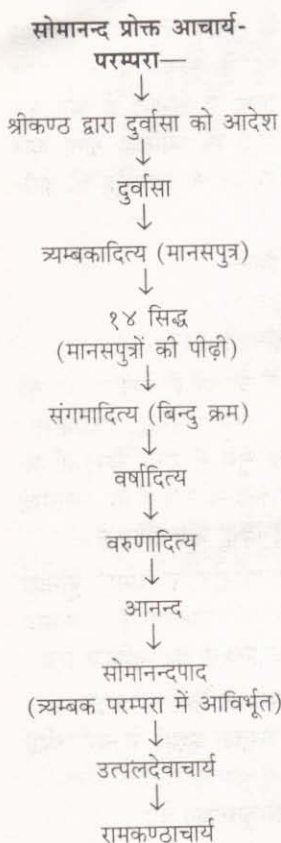
(१) काश्मीर का 'शिवाद्वयवाद' : विक्रम की नवम शताब्दी में प्रादुर्भूत समग्र शास्त्र। प्रादुर्भाव के पूर्व परावाक् में स्थित (अव्यक्तावस्थावस्थित था)।	समस्त मूलशास्त्र (सर्वप्रथम) = **'परावाक्'**। (वाच्य-वाचक की अविभक्तावस्था) → **'मध्यमा'** = (संपूर्ण वाच्यवाचक विश्व के रूप में स्थित)।[1]

परावाक् → पश्यन्ती → मध्यमा → संपूर्णवाच्यवाचक प्रपञ्च का विभाजन → मध्यमावस्था में ही परमात्मा द्वारा अपनी ५ शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया) द्वारा → **'ईशान'**, **'तत्पुरुष'** **'सद्योजात'**, **'अघोर'** एवं **'वामदेव'** ५ मुख →

१. अभिनवगुप्तपाद के 'तन्त्रालोक' की टीका (आ०१। श्लोक १८)—परमेश्वर एव चिदानन्देच्छा ज्ञानक्रियात्मक वक्त्र पञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानः तदवक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्चस्रोतोमयं अभेद-भेदाभेद-भेददशोदृकनेन तत्तदभेदप्रभेद वैचित्र्यात्मनिखिलं शास्त्रमवतारयति, यद् बहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियात्॥

१. अभेदात्मक, २. भेदाभेदात्मक, ३. भेदात्मक निखिल शास्त्रों की अवतारणा। → 'बैखरी वाक्'।[१]

सोमानन्द (९००-९५० वि०) के शिष्य उत्पलाचार्य (९५०-१०००वि०) हैं। सोमानन्द → उत्पलदेवाचार्य (शिष्य) → (पुत्र एवं शिष्य)।

(१) लक्ष्मणगुप्त → अभिनवगुप्त (१०००-१०५० वि०) → (शिष्य) राजानक क्षेमराज → (शिष्य) योगराज। (सोमानन्द 'शिवदृष्टि')।

(२) वसुगुप्त की द्वितीय शिष्य परम्परा—(शिवसूत्रवार्तिक)

(क) **वसुगुप्त** (१०वीं श०वि०)
↓
(ख) कल्लट
↓
(ग) प्रद्युम्न भट्ट
↓
(घ) प्रज्ञार्जुन
↓
(ङ) महादेव भट्ट
↓
(च) श्रीकण्ठ भट्ट
↓
(छ) भास्कर

'तन्त्रालोक' (प्रथमाह्निक) श्लोक ८ में **अभिनवगुप्त** कहते हैं—

'त्रैयम्बकाभिहितसन्तितिताम्रपर्णी
सन्मौक्तिकप्रकरकान्तिविशेषभाज: ।
पूर्वे जयन्ति गुरवो गुरुशास्त्रसिन्धु
कल्लोलकेलिकलनात्मककार्णधार: ॥
—श्रीतन्त्रालोक (प्र०अ० ८)

श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा अवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वयाद्वये च निपुण: क्रमेण शिवशासने ।
आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ॥
स चार्धत्र्यम्बकाभिख्य: सन्तान सुप्रतिष्ठित: ।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिका: सन्तति क्रमात् ॥
(विवेक: जयरथ)

श्रीमान् श्रीकण्ठ की आज्ञा से ही—१. **त्र्यम्बक** २. **आमर्दक** ३. **श्रीनाथ** नामक क्रमश: (१) अद्वयवाद (२) द्वैतवाद (३) द्वयाद्वयवाद के प्रवर्तक सिद्ध अवतरित हुए। इसमें त्र्यम्बक की वंशपरम्परा प्रवर्तित हुई। आमर्दक की पुत्री का वंशक्रम चला। वह सन्तान अर्ध त्र्यम्बक रूप से प्रतिष्ठित हुई। इस प्रकार यह तीन की जगह ३½ हो गई। इनकी परम्परायें चलीं। सन्तति क्रम से ये मठिकायें स्थापित हुई ॥'

१. श्री सन्तति २. आमर्दक ३. त्रैयम्बक ४. अर्द्ध त्रैयम्बिक—यह साढ़े तीन मठिकायें हुई। इनमें से त्रैयम्बक मठिका से ही इस प्रस्तुत प्रक्रिया का प्रवर्तन हुआ। परम पाशुपताचार्य भगवान् श्रीकण्ठनाथ ने अद्वयवादी शैव शास्त्र का प्रवर्तन किया।

---

१. इह खलु परपरामर्शसारबोधात्मिकायां **परस्यां वाचि** सर्वभावनिर्भरत्वात सर्वशास्त्रं परबोधात्मकतयैव उज्जृंभमाणं सत्, **पश्यन्ती दशायां** वाच्यवाचकाविभाग-स्वभावत्वेन असाधारणतया अहम्प्रत्यवमर्शात्मा अन्तरुदेति अतएव हि तत्र प्रत्यवमर्शकेन प्रमात्रा परामृश्यमानो वाच्योऽर्थोहन्ताच्छादित एव स्फुरति ॥

(१) **त्र्यम्बक** उसी अद्वैतवादी परम्परा के प्रवर्तक श्रीकण्ठ के पुत्र हैं।

(२) **आमर्दक** द्वैतवादी परम्परा के प्रवर्तक थे।

(३) **श्रीनाथ** नामक आचार्य द्वैताद्वैत परम्परा के प्रवर्तक थे।

(४) **त्र्यम्बक** से चलने वाली परम्परा को ही इस पद्य में त्रैयम्बक सन्तति कहा गया है। (विवेक)॥

३. स्पन्दशास्त्र और उसके सिद्धान्त—

'स्पन्द' का स्वरूप—भास्करराय ने 'सेतुबंध' (यो० हृ० की टीका) (१।१८) में कहा है कि—**'स्पन्द'** षट्त्रिंश तत्त्वात्मक विश्व को कहते हैं और देवी तद्रूपिणी है—

'**स्पन्दः** षट्त्रिंशत्तत्वात्मकं विश्वम्। तद्रूपिणी तदभिन्नाम्॥'[१]

'स्पन्द' परमानन्दरूपिणी, निसर्गसुन्दरी, शिवादिक्षित्यन्तषट्त्रिंशत्तत्व स्वरूप में विश्वाकार-अभिव्यक्त, समस्त प्राणियों की आत्मा, परमशिव में सामरस्य द्वारा अभिन्नतया अवस्थित, देवत्रय, शक्तित्रय, बीजमय की समष्टि, प्रकाश-विमर्शसामरस्यरूपिणी परा भट्टारिका, स्वैराचारपरा, स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा, चिद्रूपा, तुरीय मन्त्रवाच्या महात्रिपुरसुन्दरी ही **'स्पन्द'** हैं—[२]

'तन्मयीं परमानन्दनन्दितां स्पन्दरूपिणीम्।
निसर्गसुन्दरीं देवीं ज्ञात्वा स्वैरमुपासते॥'[३]

अभिनवगुप्तपाद 'तन्त्रालोक' (५ आ० ७९) में कहते हैं—**'विमर्श संवित् स्पन्द** है'यह परप्रमाता शिव रूप अन्तर तत्त्व में **सामान्यरूप से** और माया से पृथ्वी पर्यन्त **बाह्यविस्फार भी भेदभूमि में विशेषरूप** से शाश्वत उल्लसित है—इसे ही **'विमर्श' 'स्पन्द' 'हृदय' 'विसर्ग'** आदि अनन्त संज्ञाओं से विभूषित किया गया है—

'सामान्य स्पन्द'—यह **सर्वातिशायी विश्रान्ति धाम** है। सिद्ध लोग वहीं विश्राम करते हैं— अन्तर्बाह्ये द्वये वापि सामान्येतर सुन्दरः।
संवित्स्पन्दस्त्रिशक्त्यात्मा संकोच प्रविकासवान् (आ०५।७९)

जयरथ 'विवेक' में कहते हैं—'स एव हि संवित्स्पन्दोन्तः परप्रमात्रात्मनि शिव-तत्त्वे सर्वविशेषस्वीकारात् **सामान्यात्मा**, अत एव प्रविकासवान् अहमिति, 'बाह्ये' मायातः क्षित्यन्तं भेदोल्ला**साद्विशेषात्मा**, अतएवान्योन्यव्यावृत्या संकोचवान् इदमिति। द्वयेऽन्त-र्वहीरूपे विद्यापदे समधृतपुलापुटन्यायेन 'अहमिदम्' इति **सामान्य विशेषात्मा** अतएव संकोचविकासवान् अतएवाशेषोल्लासकारित्वात् इच्छादिशक्तित्रयात्मा इति स एव **परं विश्रान्तिस्थानम्**'।[४]

'विशेष स्पन्द' 'औन्मुख्य'—इदमात्मक विमर्श **'विशेष'** नामक स्पन्द है और यही **'औन्मुख्य'** संज्ञा से भी विभूषित है—

---

१. सेतुबन्ध।
२. योगिनीहृदयदीपिका।
३. योगिनीहृदय।
४. तंत्रालोक—विवेक (५/७९)।

'ततःस्वातंत्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं **विशेषाख्य, स्पन्द औन्मुख्य** संज्ञितः ॥[१] (५।८१)

'स्वातंत्र्योत्थापिजे तत्तदर्थक्रियाकारिणि भावजाते
यदिदमिति विमर्शनं स विशेषाख्यः स्पन्दः ॥[२]

'औन्मुख्य' (इदमात्मक विमर्श = 'स्पन्द') **विच्छिन्नविमर्श** है यह एक आधार का कार्य करता है । इदमात्मक विश्रान्ति की इस भूमि पर उल्लसित अहमात्मक परामर्श में अन्तर्लक्ष्य योगी ही विश्राम करता है ।[३] उस दशा में ये ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ भी दिव्य हो जाती है । 'बोध' एव 'स्वातंत्र्य' ही इनका पर्याय है । अभिनवगुप्त कहते हैं—प्राण में **'स्पन्द'** होता है । 'स्पन्द' से संयोग-विभाग भी अपने आप होते हैं । प्राणस्पन्द के अभाव में इसका भी अभाव निश्चित है ।[४]

'सा चेदुदयते **स्पन्दमयी** तत्प्राणगा ध्रुवम् ।
'भवेदेव ततः प्राणस्पन्दाभावे न सा भवेत् ॥ ७.२८ ॥[५]

स्पन्दशास्त्र की प्रथम कारिका संपूर्ण स्पन्दशास्त्र का निष्कर्ष, सार या निचोड़ है । ध्यातव्य बिन्दु निम्न है—

१) **'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां'**—यह विशेषण है तो शंकर का, किन्तु उन्मेष-निमेष है क्या? इसका शास्त्रोपक्रम के आदि शब्दों के रूप में प्रयोग क्यों किया गया ? इसका उत्तर यह है कि **उन्मेषनिमेषात्मिका स्पन्दशक्ति** को प्रामुख्य देने हेतु इसका मंगलाचरण के आदि पदों के रूप में प्रयोग किया गया है । **निष्कर्ष**—स्पन्दशास्त्र शक्ति-प्राधान्य को स्वीकार करता है ।

(१) सर्वशक्तिवाद—कारिकाकार कहते हैं कि जिसके **'उन्मेष'** एवं **'निमेषं** के द्वारा जगत् के उदय एवं प्रलय के कार्य संपन्न होते हैं । भाव यह है कि 'स्पन्दशास्त्र' का प्रणेता उस शंकर की वन्दना करता है ।

(१) जो **शक्तिसमन्वित** है ('ब्रह्म' की भाँति शक्तिहीन या स्पन्द-हीन नहीं है) ।

(२) वह **शक्ति** शिव को **कृत्यकारी** बनाती है; ५ कृत्यों की संपादिका बनाती है।

(३) जिस **शक्ति** (उन्मेषनिमेषात्मिका स्पन्दशक्ति) के द्वारा ही शिव जगत् का 'प्रलय' एवं 'उदय' कर पाते हैं और जिसका सहयोग न पाने पर वे कुछ भी नहीं कर सकते ।

(४) उस (उन्मेषनिमेषात्मिका) स्पन्द **शक्ति का स्व स्वरूप ही 'जगत' है । 'शक्ति' जगत् का उपादान कारण हैं । 'शक्ति' ही 'जगत्' है । दो पदार्थ तो हैं ही**—(१) 'शक्ति', (२) शक्तिमान ।

---

१. तन्त्रालोक ।
२. तन्त्रालोक—विवेक (५/८१) ।
३. विवेक (५/८२) ।
४. विवेक (७/२८) ।
५. तन्त्रालोक (७/२८) ।

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते' । **'शंकर'** तो निस्पन्द है फिर स्पन्दस्वरूप जगत् का उदय होगा किसके द्वारा? 'शक्ति' के द्वारा ही होगा, क्योंकि—**'सृष्टिस्तु** कुण्डली ख्याता' ।

अर्थात् 'सृष्टि' शक्ति है । **निष्कर्ष** यह कि जगत् के प्रलय-उदय का निष्पादक औपचारिक (अप्रत्यक्ष) दृष्टि से भले ही शिव हो किन्तु प्रत्यक्षत: तो इसका निष्पादन 'शक्ति' द्वारा ही संभव हो पाता है—क्योंकि वही तो 'सृष्टि' है, वही तो 'जगत्' है—वही तो 'इच्छा' है—वही **'ज्ञान'** है—वही **'क्रिया'** है—वही **'चैतन्य'** है और वही 'आनन्द' है। 'जगत्' उसी शक्ति का विकसित रूप है । वही शिव की भी **शक्ति है—'सार'** है **'विमर्श'** है—**'हृदय'** है ।

(२) अजातिवाद एवं उदयवाद—गौड़पादाचार्य (अद्वैत वेदान्ती) ने माण्डूक्य कारिकाओं में 'अजातिवाद' का प्रतिपादत किया था । भले ही 'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' के आचार्य इसे 'अजातिवाद' का अभिधान न दें किन्तु प्रतिपादन तो उसी सिद्धान्त का करते हैं क्योंकि कारिकाकार का कथन है—'जिसके द्वारा **प्रलय एवं उदय** के कृत्य निष्पादित किये जाते हैं वह निमेषोन्मेषात्मिका स्पन्द शक्ति है ।'

'उदय' के स्थान पर उत्त्पत्ति (अविर्भाव) का प्रयोग क्यों नहीं किया गया । **'उत्त्पत्ति'** उसकी होती है जो पहले कभी न रहा हो और जो बाद में भी नहीं रहेगा—यथा **'घट' 'पट'** आदि । किन्तु **'स्पन्द'** एवं **'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र'** का मत है कि **'जगत्' 'शक्ति'** के विकास के समय स्थूल जगत् के रूप में—स्थूल **'इदम्'** के रूप में **'अहं'** से पृथक् होकर रहता है और **'प्रलय'** के समय यह 'इदम्' (जगत) शक्ति की कुक्षि में 'अहं' में लय होकर—अहमाकार होकर रहता है अत: जगत् जो पहले से ही कारण रूप शक्ति में नित्य विद्यमान है उसकी उत्पत्ति (नव्याविर्भाव) कैसे संभव है? उत्त्पति तो उसकी होती है जो पहले अस्तित्व में था ही नहीं । इन्हीं दृष्टियों से कारिकाकार ने—'प्रलयोदयौ' शब्दों का प्रयोग किया न कि 'संहार अविर्भावौ' पदों का । यही स्पन्दशास्त्रीय **'उदयवाद' 'उन्मेषवाद'** भी कहलाता है ।

स्पन्दशास्त्र मानता है कि किसी भी वस्तु की नव्य उत्त्पत्ति नहीं होती—केवल उसकी (अपनी अव्यक्तावस्था से) अभिव्यक्ति—व्यक्तता होती है और संसारी लोग उसे प्रादुर्भाव या उत्त्पत्ति मानते हैं । यूनान का दार्शनिक Plato भी यही मानता था और इसी के समतुल्य विचार Platinus के भी थे । ये दोनों दार्शनिक भी स्पन्दशास्त्रियों की भी दृष्टि रखते थे ।

'जहाँ तक' 'प्रलय' ('प्रलयोदयौ') शब्द के प्रयोग की बात है वह अत्यन्त समीचीन है क्योंकि यह 'संहार' का द्योतक नहीं प्रत्युत 'कार्य' के अपने 'कारण' में 'लय' (निमज्जन) होने या 'व्यक्त' के अपनी मौलिक सत्ता या मूल स्वरूप **'अव्यक्ता-वस्था'** में प्रव्यावर्तित होने का द्योतक हैं ।

(३) 'क्रीडावाद'—'व्यक्त' का 'अव्यक्त' में छिप जाना या अव्यक्त का व्यक्त रूप से प्रकाशित हो उठना, पतिभूमिका से पशुभूमिका में अवतरण होना या पशु भूमिका

से ऊपर उठकर पति भूमिका में स्वरूपावस्थान प्राप्त करना प्रलय या उदय, पाशों को (मलों को) ग्रहण करके 'पति' द्वारा 'पशु' की भूमिका का मंचन या अभिनय करना या पशु का अपने मूल रूप में अवस्थान आदि सभी शिव की क्रीडायें हैं **'उदय'** एवं **'प्रलय' ये भी शिव की क्रीडायें ही हैं** । अत: विश्व एक क्रीड़ा है—यही सत्य है—'इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत्'—कहकर स्पन्दसूत्रकार ने जिस क्रीडावाद को स्पष्टत: उद्भासित किया है उसी भाव को **'उदय'** एवं **'प्रलय'** द्वारा शैवी या शाक्ती क्रीड़ा के अर्थ में प्रयुक्त करके भी व्यक्त किया गया है ।

(४) संकल्पसृष्टिवाद—(भट्टकल्लट ने इस प्रथम सूत्र की व्याख्या—) 'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य **संकल्पमात्रेण** जगदुत्पत्तिसंहारयो:'—के रूप में करके सृष्टि-प्रलय दोनों का कारण शिव के संकल्प को बताया है और इस प्रकार—**'संकल्प सृष्टिवाद'** का प्रतिपादन किया है ।

(५) 'इच्छासृष्टिवाद'—'इच्छामात्रं प्रभो: सृष्टि:' के द्वारा माण्डूक्यकारिका में गौड़पाद ने जिस **'इच्छासृष्टिवाद'** के मत का उल्लेख किया है उसी का प्रतिपादन स्पन्दकारिकाकार ने भी किया है क्योंकि आचार्य रामकण्ठ **'उन्मेष-निमेष'** को शैवी इच्छा का पर्याय स्वीकार करते हुए कहते हैं—'उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्यां **इच्छामात्रमेकं** शङ्करसम्बन्धि प्रतिपाद्यते' ।

'मालिनीविजय' (३.५) भी इसी भाव को प्रतिपादित करता है—

'या सा शक्तिर्जगद्धातु: कथिता समवायिनी ।'
इच्छात्वं तस्य वा देवी **सिसृक्षो:** प्रतिपाद्यते ॥ (मा०वि० ३.५)

(६) स्वातन्त्र्यवाद—

'स्वातन्त्र्यवाद'—यदि 'इच्छा' ही जगत् का उपादान कारण है तो इसे 'स्वातन्त्र्य-वाद' का प्रतिपादक मानना पड़ेगा क्योंकि शिव की स्वधर्मा पराशक्ति (जिसे 'स्वातन्त्र्य-शक्ति' कहते हैं) प्रथमत: 'इच्छा' के रूप में ही विकसित होती है । विश्वरूप में रूपान्तरित या प्रसृत होने की ओर प्रवृत्त या उन्मुख होने के समय शिव की आत्मभूता **'स्वातन्त्र्यशक्ति'** सबसे पूर्व इच्छा का ही रूप धारण करती है । 'स्वातन्त्र्य' ही परमात्मा की यथार्थ शक्ति है और वह एक है । इच्छा रूप में परिणत (एवं विश्व का मूलोपादान कारण) स्वातन्त्र्यशक्ति के ही प्राधान्य के कारण स्पन्दशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त को कहते हैं ।

(७) द्वयात्मक अद्वयवाद—(पदार्थद्वयवाद)—**'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां'** एवं **'शक्तिचक्रविभवप्रभवं'** वाक्यों का प्रयोग करके स्पन्दशास्त्र ने 'शङ्कर' एवं 'शक्ति' दोनों को मूल पदार्थ स्वीकार करके **'द्वयात्मक अद्वयवाद'** को सिद्धान्तत: स्वीकार करते हुए उसे अपना मत व्यक्त किया है । यही मत (सिद्धान्त) प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को भी स्वीकार है ।

(८) सर्व विमर्शवाद (विमर्शसृष्टिवाद)—**'संकल्प' 'इच्छा' 'शक्ति' 'सिसृक्षा'** आदि शिव के 'विमर्श' हैं । यही **'विमर्श'** निखिल जगत् का मूल कारण है अत:

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों शास्त्र 'विमर्शवाद' के प्रतिपादक भी हैं । शिव का 'स्वभाव' 'विमर्श' हैं ।

भट्टकल्लट ने 'स्पन्द सर्वस्व' में कहा है कि—शिव 'स्वस्वभाव' है—

'स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य' ।

क्षेमराज 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में कहते हैं—

(क) चैतन्यं परमार्थतः **'शिव एव विश्वस्य आत्मा'** ।

(ख) चैतन्यम् उक्तं स एव **आत्मा**। **स्वभाव**... भावाभाव रूपस्य विश्वस्य जगतः ॥

(ग) चैतन्यं विश्वस्य **स्वभावः** ॥

(घ) जीवजडात्मनो विश्वस्य **परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः** ।

(ङ) शंकरात्मक **स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यम्** ।

(च) **स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यमैव** ।

(छ) **चैतन्य** शब्देनोक्तं यत्किंचित् **स्वातंत्र्यात्मकं रूपम्** ।

(९) स्वस्वभाववाद—शिव 'स्वस्वभाव' है अतः उसका स्वात्माभिनय रूप जगत् भी 'स्वस्वभाव' है । जगत् स्वस्वभाव शिव को अपना स्वरूप न मानकर परस्वभाव (परस्वरूप) = शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं अन्य वेद्यों (प्रमेयों) को अपना स्वभाव मानता है, उनके साथ तादात्म्य रखने के कारण तद्रूप (परस्वभाव, पर स्वरूप) बन जाता है । समस्त, दुःख, सुख, मिलन, वियोग, जन्म-मरण बंधन-संसरण आदि सभी का कारण यही परस्वभाव ग्रहण है । स्वस्वभाव अपनी आत्मा है—अपना शाश्वत आत्म चैतन्य है—स्पन्द है—शिव है और अपनी शाश्वत आत्मसत्ता हैं । यह स्वस्वभावावस्थान ही ('तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—योगसूत्र) स्वरूपावस्थान है । चेतन जब जड़ पदार्थों, अनित्य वस्तुओं एवं अनात्म सत्ताओं के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तब चेतन होकर भी जड़, नित्य होते हुए भी अनित्य एवं आत्मा होकर भी अनात्मक होने का अनुभव करने लगता है—यही है उसके संसरण एवं बंधन का कारण । स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का लक्ष्य 'स्वस्वभाव' की प्राप्ति पर बल देता है ।

(१०) अद्वैतवाद—चूँकि सारे भावों का स्वस्वभाव शक्ति एवं शिव है या स्पन्दात्मा एवं स्पन्द है । अतः स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का उद्देश्य उसी स्वस्वभाव (शिव-शक्ति) के साथ अद्वैतभाव (तादात्म्य, ताद्रूप्य) या एकीभाव की प्राप्ति है । शक्ति एवं शिव के साथ अपनी अभेदता या अद्वैतभाव की अनुभूति ही स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का लक्ष्य है—'विश्वात्मा शिव एवास्मि इति यो वितर्को विचारः एतदेव अस्य आत्मज्ञानम्'; यही अनुभूति आत्मज्ञान है—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्या**च्छिवो भवेत्** ॥ (विज्ञानभैरव)

स्पन्द में कहा गया है—'अयमेवात्मनो ग्रहः' । **क्षेमराज** ने ठीक ही कहा है कि—'जीवजडात्मनो **विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः** ॥' (क्षेमराज) 'चैतन्यं विश्वस्य **स्वभावः** ॥' 'शिव एव **विश्वस्य आत्मा**' (क्षेमराज) । इन समस्त उदाहरणों से,

समस्त विश्व को शिव का विमर्श या शक्तिरूप प्रतिपादित करने से तथा उन्मेष-निमेष से 'प्रलयोदय' मानने से भी अद्वैत की ही पुष्टि होती है । निरपेक्ष शक्ति अपने स्वस्वरूप के उपादान से स्वात्मभित्ति पर चित्रात्मक जगत् को चित्रित करती है । जगत् उसका व्यक्त स्वरूप–उसका चित्र–लेखन या आभास मात्र है अत: सर्वत्र अद्वैतभाव ही प्रतिष्ठित है ।

स्वभाववाद एवं स्वस्वरूपवाद—जब भी 'आत्मा' या 'परमात्मा' के विषय में कोई बात कही जाती है तब यह ऐसा ही लगता है कि यह किसी 'अन्य' के विषय में बात कही जा रही है जो कि अप्रत्यक्ष रूप से हमसे शायद सम्बद्ध तो है किन्तु अनुभव के धरातल पर उसका अपने से संबंधित होना भी (आत्मानुभव का विषय न होने के कारण) प्रमाणित एवं असंदिग्ध नहीं है । जो 'अन्य' है और स्वानुभव का विषय न होने के कारण केवल कल्पना का विषय है उसकी साधना करना भी कितना सार्थक होगा? इस प्रकार के अनेक विकल्प एवं तर्क मन में उठते हैं ।

इन्हीं कारणों से **जैनियों** ने 'परमात्मा' के अस्तित्व को भी स्वीकार करने का निषेध कर दिया और केवल अपने स्वस्वरूप (आत्मा) की उपासना को ही स्वीकार किया । **बौद्धों ने** 'आत्मा' और 'परमात्मा' दोनों का निषेध करके अपनी सत्ता का और निकट से संधान करते हुए साधना के नूतन मार्ग का प्रवर्तन किया । किन्तु जैन धर्म में भी आत्मोपासना की ही बात करते-करते ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानों आत्मा भी हमसे पृथक् कोई अन्य सत्ता है और उसे पाने या उसका साक्षात्कार करने हेतु किसी अपने से अन्य (आत्मा नामक तत्त्व) की शरण में जाना पड़ेगा । यह 'अहं' (व्यक्ति का भौतिक अस्तित्व) और **'त्वं'** (आत्मिक सत्ता) की भेद-दृष्टि, 'आत्मा' का अपनी जागतिक सत्ता से पृथक् स्थिति का भान कराता रहा अत: 'आत्मा' शब्द भी अपने से 'अन्य' की श्रेणी में अनुभूत होने लगा यथा बौद्धों का 'शून्य' एवं 'विज्ञान' ।

'स्पन्ददर्शन' एवं 'प्रत्यभिज्ञादर्शन'—इन दर्शनों ने आत्मा एवं परमात्मा दोनों को व्यक्ति का आन्तर स्वभाव, आन्तर शक्ति **'स्वभाव' 'स्वस्वरूप'** कहकर उपास्य-उपासक की विप्रकृष्टता को दूर कर दिया । 'स्पन्दकारिका' में 'आत्मा' एवं 'परमात्मा' या 'शिव' तथा 'शक्ति' का भी अत्यल्प प्रयोग किया है और सर्वत्र उस 'आत्मा' एवं 'परमात्मा' को अपनी ही अभिन्नसत्ता के रूप में प्रतिष्ठित करने हेतु बार बार **'स्वस्वरूप' 'स्वस्वभाव'** शब्दों का प्रयोग किया है । उद्देश्य यह था कि साधक यह न माने कि वह अपने से पृथक् किसी अन्य महत्तम सत्ता की उपासना कर रहा है या वह जिसकी आराधना कर रहा है वह अपने से पृथक् कोई अन्य सर्वातिशायी स्वतन्त्र सत्ता है जिसकी कि वह आराधना कर रहा है ।

परमात्मा को अपने से निकटतम से निकटतम देखने का प्रयास **'शिवोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'** आदि वाक्यों द्वारा भी किया गया किन्तु 'अहं' एवं 'शिव' (शिवोऽहं) अहं + ब्रह्म + अस्मि (अहं ब्रह्मास्मि) तत् + त्वं + असि (तत्त्वमसि) में भी 'स्व' एवं 'पर' (साधक एवं आत्मा तथा परमात्मा) की पृथकता का भाव बना ही रहा और उसने साधना में साधक को साध्य से पृथक् ही रक्खा ।

'स्पन्ददर्शन' एवं 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' दोनों इस भूल को पहचान चुके थे अत: उन्होंने परमात्मा एवं आत्मा शब्द को आराधक के और निकट लाने के प्रयास में 'स्व' शब्द का प्रयोग किया—(१) 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' (का०१) की व्याख्या में—भट्टकल्लट ने **'स्वस्वभावस्यैव'** द्वि०का० की व्याख्या में—**'स्वस्वभावस्यैव' 'अनाच्छादित स्वभावत्वात्'** (का-३) 'न तस्य स्वरूपम् अप्रियते' 'न तस्य स्वरूपान्यथाभाव:' 'स्वस्वभाव:' (का० ४), (स्वस्वभावभूतस्य) (का०६,७) अपितु स्वस्वरूपे (का० ८) स्वभावमवलोकन (का० ११) 'आत्मस्वभाव:' (वृत्ति), न च आत्मस्वभाव एष (वृत्ति: का० १२) 'स्वभावो मे विलुप्त' (का० १५: वृत्ति) तत्स्वरूप मे (का० १६ वृत्ति) चिद्रूपस्य सर्वगतस्य स्वस्वभावस्य (का० १७ वृत्ति) 'स्वभावस्य' (का० १९: वृत्ति) 'स्वस्थिते: चिद्रूपाया:' (२० वृत्ति) 'स्पन्दतत्त्वस्य (स्वरूपाभिव्यक्त्यर्थ) (का० २१ वृत्ति) स्पन्दस्वरूपरूपावस्थायाम् (२३ वृत्ति) स्वस्वभावाभिव्यक्ति (का० २५ वृत्ति) 'स्वस्वभाव व्योम्नि (का० २७ वृत्ति) 'सर्वभावसमुद्भावात् (का०२८) सर्वात्मकेन स्वभावेन (का० २९ वृत्ति) एवं स्वभावं यस्य (का० ३० वृत्ति) अनभिव्यक्त स्वस्वरूपस्य (३३ का० वृत्ति), स्वरूप स्थित्यभावे (का० ३५ वृत्ति) स्वबल (का० ३६) 'बलमाक्रम्य' (का० ३७) 'स्वबलं स्वस्वरूपं (का० ३७ वृत्ति) 'स्वभावानुशीलेन (का० ३८ वृत्ति) अने-नात्मस्वभावेन (का० ३९ वृत्ति) स्वयमेवावभोत्स्यते (का० ४३) तत्स्वभावं अवभोत्स्यते ज्ञास्यते (का० ४३ वृत्ति) स्वस्वभावात् प्रच्यावित: पशुरुच्यते (४५ वृत्ति) स्वरूपावरणे (का० ४७) स्वस्वभावास्याच्छादने (४७ वृत्ति) ॥

'स्वस्वभाव' 'स्वस्वरूप' के अतिरिक्त 'स्वबल' (अर्थात् आत्मबल) 'बलं आक्रम्य' (आत्मबलं अधिष्ठाय) आदि सभी पदों में **'स्व'** का ही प्राधान्य है। जहाँ तक 'स्पन्द' की बात है 'स्पन्द' का अर्थ ही है—**'अहं** विमर्श'। स्पन्द में भी 'अहं' (स्व का भाव) सुरक्षित है।

परादेवी एवं स्वभाव—

परादेवी भी **'स्वभावामर्शनोत्सुका'** है—

'तस्यैवैषा परा देवी स्वभावामर्शनोत्सुका ।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न वाधिकम् ॥'[१]

परमेश्वर एवं स्वभाव—

स एव सर्वभूतानां स्वभाव: परमेश्वर: ।
स एव भैरवो देवो जगद्भरणलक्षण: ॥[२]

अनुग्रहवाद—'शङ्करं स्तुम:' (१ का०) कहकर सूत्रकार ने परमात्मा शिव के अनुग्रहात्मास्वरूप की स्तुति की है। शिवात्मक (अनुग्रह शक्ति द्वारा शिवत्व प्राप्ति की क्षमता वाले) या मंगलमय ॥ **'शं'** = मंगल **'करं'** = करने वाले = अनुग्रह (मंगल) करने वाले।

---

१. स्पन्दकारिका एवं भट्टकल्लट कृत स्पन्दकारिकावृत्ति ।
२. चिद्वल्ली (कामकलाविलास) ।

अभिनवगुप्तपादाचार्य **'परात्रिंशिका' विवृत्ति** में कहते हैं—**परमात्मा अनुग्रहात्मा है**। यह पञ्चकृत्यविधायक परमात्मा अपनी अनुग्रहरूपा पराशक्ति से युक्त है और इस पराशक्ति को किसी भी दृष्टि से शिव से यत्किंचित् भी पृथक् आमर्शन करना उचित नहीं है—

'परमेश्वरः पञ्चविधकृत्यमयः सततम् **अनुग्रहमय्या परारूपया** शक्त्या आक्रान्तो वस्तुनोऽ**नुग्रहैकात्मैव**, नहि शक्तिः शिवात् भेदमामर्शयेत् ॥'[1]

जीवों के 'अदृष्ट' के कारण सृष्टि होती है—ऐसा **मीमांसक** मानते हैं । कार्यों का भोग तो आवश्यक है । विना कर्मोपभोग या कर्मों के बीजों को दग्ध किए बिना तो मुक्ति संभव नहीं । अतः भगवान् अपनी अहेतु की कृपा से जीवों को जन्म देकर उन्हें कार्मोपभोग या साधनाओं द्वारा मुक्त होने का आसार प्रदान करते हैं । **यह उनका अनुग्रह है** ।

मुक्ति के जो उपायत्रय—शांभव, शाक्त एवं आणव है,—इनकी सकलता का सूत्रधार भी परमेश्वर का अनुग्रह है । शास्त्रों में तो कहा गया है कि उपायजाल से मुक्ति नहीं मिलती । मुक्ति तो परमेश्वरानुग्रह है अतः 'अनुपाय' (उपाय शून्य किन्तु परमात्मा का शक्तिपात) ही मुक्ति का उत्कृष्टतम साधन है ।

अभिनवगुप्त **'मालिनीवार्तिक'** में कहते हैं—

'अतएव पराद्वैतं यद्वि**श्वानुग्रहात्मकम्** ॥ (२ का० १८)
अनुपायमिदं तस्मादुपायोपेययोगतः ।
भेदबंधाद्विमुच्येत् कथं वेतरथा जनः ॥ (द्वि०काण्ड १२०)

'नहि तस्य परा वित्तिं प्रति काचिदुपायता ॥' (मा०वि०)

जीवों को पशु अवस्था से विमर्शभूमिका में पहुँचाना भी शिव की कृपा मात्र ही है। यही उनका शंकरत्व (कल्याणकारित्व) है । यही अनुग्रह है ।

भट्टकल्लट का 'अनेन स्वस्वभावस्यैव **शिवात्मकस्य**' व्याख्या शिव के इसी अनुग्रह-वाद—कल्याणकारी स्वभाव, अनुग्रह शक्ति द्वारा भेदस्तर से अभेद स्तर पर जीवों का आरोहण—का प्रतिपादन करती है ।

(१) **'शिवात्मक'** = बंधन से मुक्ति, भेदस्तर से अभेद स्तर पर आरोहण,

(२) **'स्वस्वभाव'** = यही शिवात्मक (अनुग्रहकारी) स्वभाव है ।

(३) **'विज्ञानदेह'** = शंकर नामक वह 'स्वस्वभाव' 'विज्ञानदेह' (कल्लट के शब्दों में) है—विमर्शात्मक स्पन्दन स्वरूप है ।

(४) **'शक्तिचक्रविभव'** = स्पन्दशक्ति को एक साथ ही विशेष स्पन्दों के रूप में प्रवाहमयता एवं अपने नित्य एवं अभेदात्मक सामान्य स्पन्द रूप में या केवली रूप में विश्रान्त होने की स्वातंत्र्यशील क्रियाशीलता ही शक्ति चक्र का ऐश्वर्य या चमत्कार है । यह ऐश्वर्य भी अनुग्रहात्मक है ।

---

१. परात्रिंशिका (श्लोक क्र० १) ।

पूर्णाहन्ताविमर्श—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' 'शक्तिचक्रविभव' पदों का प्रयोग करके कारिकाकार ने शक्ति के स्वरूप 'पूर्ण अहंविमर्श'—अहं-विमर्शरूपा मौलिक स्फुरणा (जिसके द्वारा यह शक्ति अद्वैत, एक एवं अभिन्न होने पर भी द्वैतात्मक, भिन्नात्मक एवं अनेकात्मक विश्व के रूप में प्रसृत या अवभासित होती है) की ओर भी संकेत करते ही (स्पन्द = किंचित् चलन = सूक्ष्माकारित अहंविमर्शात्मक स्फुरणा—अहंविमर्शात्मक स्पन्द या अहंप्रत्यवमर्श) साधना इनके लक्ष्य इसी को 'पूर्णाहन्ता' के आदर्श एवं अखण्ड **'अहं प्रत्यवमर्श'** के रूप में रेखांकित किया है । अहंप्रत्यवमर्श न करना सर्वोच्च अपराध है ।[१]

शास्त्र एवं उनके उपदेश भी परमानुग्रहजन्य हैं—

कैलासाद्रौ भ्रमन्देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥

अनुग्रहवाद—

मुनि दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्वरेतसम् ।
नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥
ततः सभगवान्देवादादेशं प्राप्य यत्नतः ।
ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् ॥ (शिवः १०७-१११)

अमृतानन्दनाथ 'दीपिका' में कहते हैं—

'तन्त्रावतारं तन्वाते **सर्वत्रानुजिघृक्षया** ॥'

भगवान् शिव ने अनुग्रहेच्छा से तन्त्रों को अवतरित किया ।

प्रकाशात्मकः परमशिवोऽहमेव **विश्वानुग्रहपरः** सन् परापश्यन्तीमध्यमाबैखरीक्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रष्टा भूत्वा प्रकाशांशेन प्रतिवचनदातापि सन् तन्त्रं समवतारयामीत्यर्थः ।

संकल्पवाद—पाश्चात्य दार्शनिक **शोपेन हावर** की एक पुस्तक का नाम है 'World as an Idea' अर्थात् संसार एक विचार मात्र है । **यूनानी दार्शनिकों** ने भी जगत् को मूल ईश्वरीय विचार की अनुकृति (Emitation) कहा है । स्पन्दशास्त्र के दार्शनिकों ने इसे परमात्मा का 'संकल्प' कहा है । **भट्टकल्लट** ने 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस संकल्पवाद का बार-बार स्मरण कराया है—

'अनेन स्वस्वभावस्य शिवात्मकस्य **संकल्पमात्रेण** जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं' (वृत्तिः स्पं० का० १।१) ।

योगी भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं । **स्वात्माराम मुनीन्द्र** 'हठयोग प्रदीपिका' में कहते हैं—
संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।

---

१. तन्त्रालोक—अभिनवगुप्तपादाचार्य ।

संकल्पमात्रमतिमुत्सृज्य निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥ (४।५८)

भोगापवर्गसाहचर्यवाद—'त्रिकदर्शन' योग एवं भोग, संसार एवं अपवर्ग दोनों में विश्वास करता है । स्पन्दप्रदीपिकाकार ने पाठकों को यह सूचना देते हुए कि—

'अथ संग्रहग्रन्थकृता समग्रमग्र्य ग्रन्थार्थं गर्भीकृत्य ग्रन्थनिष्पत्त्यर्थमभिमतदेवतां स्तोतुं श्लोक उपन्यस्तस्यार्थः प्राक् श्लोके ध्वनितोऽपि विततोच्यते—

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं, स्तुमः ।' (स्पन्दकारिकाविवृति) ।[१]

अर्थात् 'स्पन्दकारिका' ग्रन्थ की अगली कारिकाओं में या संपूर्ण इस ग्रन्थ में जो कुछ भी कहा गया है उसका सारांश प्रथम कारिका में दिया जा चुका है—आगे कहते हैं कि इन पंक्तियों द्वारा युगपदभोगापवर्गसाहचर्यवाद की पुष्टि की गई है क्योंकि **'शंकर स्तुमः'** में **'शंकर'** का अर्थ मात्र कल्याण' ही नहीं प्रत्युत् **'भोग'** भी है । **'शं'** का अर्थ है श्रेय या सुख । यह सुख 'शं' द्विपक्षीय है—१. भोग, २. अपवर्गः 'भोगापवर्गाख्यं शं = श्रेयः सुखं वा करोतीति शंकरः ॥'[२]

'स्पन्दकारिका' के विभूति स्पन्द निष्यन्द में अनेक प्रकार की भोगात्मक सिद्धियों की ओर संकेत किया गया है तथा स्पन्दशास्त्र का लक्ष्य शक्तिचक्र की ईश्वरता की प्राप्ति बताया गया है—

यदात्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति तत**श्चक्रेश्वरो** भवेत् ॥ (स्पन्द का० २१)

शब्दाद्वैत के निरासपूर्वक 'ईश्वराद्वयवाद' की स्थापना—

उत्पलदेव 'शिवदृष्टिवृत्ति' में कहते हैं—'ईश्वराद्वयवाद एव युक्तियुक्तो न तु शब्दपरब्रह्माद्वयवाद इति वक्तुं **वैयाकरणोपेतशब्दाद्वैतं** तावन्निराकर्तुमुपक्रममाण आह—

'अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।
वैयाकरणासाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥ ('शिवदृष्टि' २ आ०१)

'अद्वयवादस्थितः' । (शिवदृष्टिवृत्तिः (उत्पलदेव) २।१)

सर्वचिन्मयवाद—आचार्य सोमानन्दपाद कहते हैं—

'सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थता ॥' (शिवदृष्टिः ४ आ०५)

सारे भाव चित् शक्ति की मात्र अभिव्यक्तियाँ हैं ।

आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहते हैं—(१) चिदेव भगवती स्वच्छ-स्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति ।—इत्येतावत् परमार्थोऽयं कार्यकारणाभावः । (२) चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥ (३) पराशक्तिरूपा चितिः एव भगवती स्वतन्त्रा

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति ।
२. स्पन्दकारिका (प्रथम कारिका) ।

अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारकाभिन्ना हेतुः । (४) चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते । (५) चिदैकात्म्येव विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव ॥ (६) चितिरेव भगवती विश्ववमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी, गोचरी, दिक्चरी भूचरीरूपैः अशेषैः प्रमातृ अन्तःकरण बहिष्करणाभावस्वभावैः परिस्फुरन्ती ।

'जीवन्मुक्तिवाद'—त्रिक दर्शन 'विदेह मुक्ति' **'सालोक्य' 'सामीप्य' 'सारूप्य' 'सार्ष्टि' 'सायुज्य'** आदि का प्रतिपादन न करके समावेशमयी मुक्ति या **'जीवन्मुक्ति'** में विश्वास करता है—'इह हि जीवन्मुक्ततैव मोक्षः ॥'[१] स्पन्दकारिका में भी कहा गया है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
सपश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'[२]

ऐसा योगी जीवित रहता हुआ भी **ईश्वर की भाँति** मुक्त रहता है—

'योऽखिलं समग्रं जगत् क्रीडारामतया पश्यन् विभावयन नित्युक्तत्वाच्च बंधकारणस्याज्ञानस्य क्षयात् प्रबोधारतो **जीवन्नेवेश्वरवन्मुक्तो**' ।[३]

'सम्यक् स्वबोधविश्रान्तौ योऽलुप्तानुभवः स्थितः ।
विषयानपि सोऽश्नन् स्याज्जीवन्मुक्तस्तु तत्त्ववित् ॥'[४]

जो लोग यह कहते हैं कि—'विनोत्क्रान्तिं कुतो मोक्षः'?

उनका संदेह व्यर्थ है क्योंकि—

'विना स्वभावानुभवेन पुंसः कैवल्यमुत्क्रान्तिबलाद्यदि स्यात् ।
अत्रापि पक्षे ननु मोक्ष भाक्त उद्वन्धनं यः कुरुते प्रमूढः ॥'

और— 'विदेहा अपि बद्ध्यन्ते प्रलये गुणवासिताः ।
शरीरिणोऽपि मुच्यन्ते विशुद्धज्ञानसंश्रयात् ॥'

सर्वचैतन्यवाद—'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' दोनों सर्वचिन्मयवाद या सर्वचैतन्यवाद के प्रतिपादक हैं । इनकी मान्यता है कि कोई भी पदार्थ जड़ है ही नहीं **केवल उनमें चैतन्य की अल्पता है न कि अभाव है** । चिद्रूपा पराशक्ति की शक्ति अचेतन कैसे हो सकती है? रही चैतन्य की कमी तो यह कमी तो सृष्टि के प्रत्येक स्तर पर न्यूनाधिक विद्यमान है तथा चैतन्य के विभिन्न स्तर चैतन्य की कमी एवं अधिकता पर ही अवलम्बित हैं ।

सर्वचिन्मयतावाद—'शिवसूत्र' का प्रथम सूत्र है—**'चैतन्यमात्मा'** (१।१)

भट्टभास्कर इस विषय में कहते हैं—

---

१. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलाचार्य) : प्रथम कारिका की व्याख्या ।
२. स्पन्दप्रदीपिका (का० ३०) ।
३. स्पन्दकारिका (३०) ।
४. स्पन्दकारिका : स्पन्दकारिका का 'क्रीडावाद' (इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाऽखिलं जगत् ।) । शिवदृष्टि—'क्रीडन्करोति पादातधर्मास्तद्धर्मधर्मतः । तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥' (शि०दृ० १।३८) ।

'चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम् ।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते ॥'

'नेत्रतन्त्र' में भी यही प्रतिपादित किया गया है—

'परमात्मास्वरूपन्तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥'

चिदानन्द की प्राप्ति से जडात्मक देहादिकों में चिदैक्य प्रतिपत्ति की दृढ़ भावना होने पर 'जीवन्मुक्तावस्था' प्राप्त होती है—

'चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैक्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः ॥' (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

सिद्धान्तानुसार **चिच्छक्ति से कुछ भी भिन्न हो ही नहीं सकता** क्योंकि सृष्टि केवल **चिच्छक्ति का स्फार या बाह्य प्रकाशन मात्र है । चैतन्य ही आत्मा का लक्षण है** स्पन्दशास्त्र में कहा गया है कि विश्वबीज चैतन्य आत्मतत्त्व में अहंता स्थापित होने पर पर्वतादि का भी इच्छा मात्र से संचालन किया जा सकता है । 'विरूपाक्षपञ्चाशिका' के विश्वात्मा स्कंध में 'चैतन्यमात्मा' (शिवसूत्र) के सार का प्रतिपादन किया गया है । ज्ञानक्रियात्मक परिपूर्णस्वतन्त्र **चैतन्य** ही आत्मतत्त्व है । सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वसम्पन्न, पूर्णस्वतन्त्र, चेतन पदारूढ **आत्मतत्त्व ही शिव भी है** ।

चूँकि स्रष्टा परमशिव अपनी लीला हेतु अपनी सर्वज्ञता, सर्वकर्तृता आदि शक्ति को संकुचित करके जीव के रूप में क्रीडा करते हैं अतः चैतन्यविग्रह आत्मतत्त्व या चिद्रूप शिव से भिन्न कुछ भी नहीं है ।

विश्वात्मवाद—'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन संपूर्ण विश्व को अहंभाव से देखने की ही वास्तविक ज्ञान एवं अपने विराट् स्वस्वरूप की 'प्रत्यभिज्ञा' मानते हैं । इसके किसी एक अंश में अहन्ता तो **जीवन्मृतावस्था** है—

उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठताहन्तः ।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं **जीवन्मृतो** लोकः ॥

'पूर्णाहन्ता' एवं 'विश्वाहन्ता' ही पूर्णत्व है । यही शिवत्वाप्ति है । इदन्ता एवं अहन्ता के ऐक्य से समुत्पन्न पूर्णाहन्तारूपी संवित् का साक्षात्कार ही प्रत्यभिज्ञान है और यही सारतम उपलब्धि या मोक्ष है ।

जगत् का स्वस्वरूप जान लेने पर उसमें चिन्मयत्व का ही संदर्शन होता है—

(१) यदैव विदितं विश्वं तदानीमेव चिन्मयम् ।

(२) वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम् ।
संवित् त्वदात्मा चेत् सत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत् ॥

सर्वात्मवाद—समस्त विश्व-प्रसार और उसके समस्त पदार्थ केवल आत्मा के स्फार हैं । 'विरूपाक्षपञ्चाशिका' में भगवान् शिव ने इन्द्र को—'विश्वात्मा' ।

'प्रकाशात्मा'। 'विमर्शात्मा' एवं 'विभूति' चार स्कंधों द्वारा उपदेश दिया है। भगवान् शिव कहते हैं कि विश्व मेरा शरीर है। चेतनपदाधिरूढ़ चैतन्य आत्मा ही विश्व का मूल है। ग्राहकाभिमान से चैतन्य अवच्छिन्न हो जाता है किन्तु मेरा चैतन्य अनवच्छिन्न है। मैं विश्व से पृथक् नहीं हूँ। अहं और इदम् में भेद से विश्व अन्य पृथक् प्रतीत होता है। यह तो दृष्टिभ्रम है। विश्व **आत्मा** से, चैतन्य से एवं मुझसे अभिन्न है—

'सर्वं मम **चैतन्यमात्मनः** शरीरमिदम्' ॥ (विरूपाक्षपञ्चाशिका) 'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किंचित्' (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) 'प्रकाशरूपा चितिरेव हेतुः ॥' 'जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् (प्रकाश के साथ एकात्मरूप से संसार का अवस्थान है।) (प्रत्य०हृ०) आत्मा के दो अंश है—१. अहं २. इदम् (विश्व)।

शिवशक्तिदशा = 'अहं रूप'। **सदाशिवदशा** = 'इदन्तारूप'। **विमर्श** के प्रकार—१. '**अहमस्मि**' (अहं एवं इदम् रूप जगत् में पूर्ण अद्वैत) २. '**अहमिदम्**' = सदाशिव का विमर्श (अहं का प्राधान्य), ३. '**इदमहम्**' = ईश्वर का विमर्श (इदमहमिति..... सामाना-धिकरण्यं विमर्श ईश्वरभट्टारके') (ई०प्र०वि० ३१ पृ० २६६)।

'स्पन्दकारिका' में सर्वत्र इसी '**सर्वचिन्मयतावाद**', '**विश्वात्मवाद**' '**सर्वशक्तिवाद**' '**सर्वात्मवाद**' आदि का भी प्रतिपादन किया गया है और इसे रेखांकित करने हेतु 'स्पन्दकारिका के प्रथम निष्यन्द का नाम '**स्वरूप निष्यन्द**' (आत्म निष्यन्द) रक्खा गया है।

'स्पन्द' (आत्मा, संवित्, शक्ति) ही जीव एवं जगत् दोनों हैं। शिव अपनी '**लीला**' '**क्रीडा**' '**इच्छा**' '**संकल्प**' से अपने स्वरूप में से ही निरुपादन योगी की भाँति विश्व का बाह्यावभासन करते हैं। शिव का विमर्श अहंप्रत्यावमर्श है इसी अहमाकार विमर्श या शक्ति का स्फार जगत् है अतः जगत् भी—'**चेतन**', 'शक्ति', शिव शक्ति रूप है। शिव शक्ति संघट्ट या सामरस्य जगत् के आविर्भाव का उत्स है अतः जगत् एवं जीव शिवशक्तिरूप है। कोई अवस्थाओं में भिन्नता संभव है किन्तु 'स्पन्द' या आत्मा में नहीं—

जाग्रदादि विभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलधृतः ॥ (स्पन्द का० ३)

आत्मा के संस्पर्श से अचेतन इन्द्रियाँ भी सचेतन हो जाती है—

'यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत् स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः ॥ (स्पन्द का० ६)

सर्वात्मवाद—मितप्रमाता भी स्पन्दतत्त्व के स्पर्श से पतिप्रमाता (शिव) बन जाता है—

'अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ (स्पन्द का०८)

क्षोभ के विलीन हो जाने पर आत्मबल के स्पर्श से योगी को परमपद की प्राप्ति होती है और उसमें (शिववत्) सर्वज्ञातृत्व-सर्वकर्तृत्व आदि की माहेश्वर शक्तियों का उदय हो जाता है—

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत् तदा स्यात्परमं पदम् ॥ (९) ॥

जिस अशुद्धि के कारण क्षोभ उत्पन्न होता है वह भी 'स्व' के द्वारा 'स्व' पर आरोपित है अतः पारमार्थिक या नित्य नहीं है प्रत्युत् स्वकल्पना (स्वलीला, स्वक्रीडा कल्पित है) अतः उसका दूरीकरण भी 'स्व' के द्वारा (उन्मेष के माध्यम से) सहज संभाव्य है । इस विषय में भी कारिकाकार ने **'निज'** शब्द का प्रयोग करके अशुद्धि (मल, अज्ञान एवं बंधन) की दुर्निवार्य भयंकरता परवशता, अशक्य संसारोत्तीर्णता पर विराम चिह्न लगाते हुए संकेतित किया है कि इसकी भयानकता कोई परकृत नहीं प्रत्युत् आत्मकृत मात्र है अतः न तो दुर्निवार्य है और न तो यथार्थतः भयानक ही है । **सब कुछ 'स्व' की ('निज' की) आरोहण लीला का चमत्कार है** । आत्मबल का स्पर्श होते ही यह 'स्व' (निज) (स्पन्द) (या आत्मा) में विलीन हो जाता है । सब कुछ **'स्व'** की स्वकल्पित लीला है । 'स्व' का (निज का) या अपना अकृत्रिम धर्म तो—सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वतृप्ति, सर्वव्याप्ति आदि माहेश्वर धर्म हैं क्योंकि 'स्व' स्वयं महेश्वर है—

'तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ १० ॥

सारा प्रापंचिक व्यापार **दो अवस्थाओं के मध्य है**—१. कार्य २. कारण १. भोग्य २. भोक्ता १. दृश्य २. द्रष्टा १. वेद्य २. वेदक या १. स्मर्तव्य २. स्मर्ता और ये सभी 'स्व' (आत्मा) के ही विभिन्न रूप हैं क्योंकि ये 'स्पन्द' (स्व, आत्मा, संवित्) की ही द्विविध अवस्थायें हैं—

अवस्था युगलं चाऽत्र **कार्यकर्तृत्व**शब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ १४ ॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत, शुभेच्छा, तनुमानसा, सत्वापत्ति, तुर्यगा आदि ज्ञान की सप्तावस्थायें तथा अन्य अनेकविध मानसिक-शारीरिक सभी अवस्थाओं के वैविध्य एवं भेदात्मकता में 'स्व' (स्पन्द, आत्मा, प्रत्यक् चैतन्य) सदैव 'एक' 'अभेद' अद्वैत रूप में स्वक्रीडा करता रहता है । सारी अवस्थायें भी उसीका रूप हैं किन्तु वह स्वयं अवस्थातीत है । उसकी 'उपलब्धि, (व्यापकता) सर्वत्र है, त्रिकालाबाधित है—

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी' । (१७)

'स्पन्द' या परमाशक्ति विश्वस्वरूपा है अतः विश्व भी 'स्व' का ही विस्तार है—'यदा सा परमा शक्तिः **स्वेच्छया विश्वरूपिणी**'

उसकी 'स्फुरत्ता' ही विश्व एवं चक्र की उद्भाविका है—'स्फुरत्तात्मनः पश्येत्तदा चक्रस्य संभवः ॥' 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥' **'विमर्श'** के ही 'दर्पण' में स्वयं **'महाबिन्दु'** भी प्रतिबिम्बित होता है—

परशिवरविकरनिकरे प्रतिफलति विमर्शदर्पणे विशदे ।
प्रतिरुचिरुचिरे कुड्ये चित्तमये निविशते महाबिन्दुः ॥ (काभकलाविलास)

'क्रीडावाद' 'लीलावाद' 'चित्रवाद'—जगत् 'स्व' अत्मा (शक्ति, संवित, स्पन्द) की लीला मात्र है—

हृदयस्थापि लोकानामदृश्या मोहनात्मिका ।
नामरूपविभागे च या करोति **स्वलीलया** (ललितोपाख्यान) ।[१]

लीलावाद—यदि 'स्व' शिव है तो 'स्पन्द' 'संवित्' भी उसी महेश्वर 'स्व' 'आत्मा' की **'लीला'** है । 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र) भी इसी 'लीलावाद' का प्रतिपादक है ।

जगत् 'स्व' (शिव) की स्वेच्छा तूलिका से निर्मित (स्वभित्ति पर खींचा गया) एक 'स्व'—स्फार का चित्र है—जो कि **'स्व' की इच्छा से प्रणीत है**—

चित्रवाद—१) **जगच्चित्रं** समालिख्य स्वेच्छा तूलिकयात्मनि ।
स्वयमेव समालोक्य प्रीणाति परमेश्वरः ॥ (चिद्वल्ली में उद्धृत)

२) **जगच्चित्रं** समालिख्य स्वयमेवात्मविग्रहम् ।
स्वयमेव समालोक्य सन्तुष्टां परमाद्भुतम् ॥ (परावासना)

जगत् नित्य **'क्रीडारसोत्सुक महादेव'** की विचित्र सृष्टि है—

एष देवोऽनया देव्या नित्यं **क्रीडारसोत्सुकः** ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान्विधते युगपत्प्रभुः ॥ (चिद्वल्ली)[२]

क्रीडावाद—इसीलिए तो 'स्पन्दकारिका' में जगत् को क्रीडा कहा गया और जगत् को 'स्व' अर्थात् क्रीडा मानने को ही मुक्ति कहा गया है—

(१) इति वा यस्य संवित्तिः **क्रीडात्वेनाखिलं** जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ (स्पन्द का० ३०)

(२) सोऽखिलं समग्रं जगत् **क्रीडारामतया** पश्यन् विभावयन् नित्युक्तत्वाच्च बंधकारणस्याज्ञानस्य क्षयात् प्रबोधाप्तौ जीवन्नेवेश्वरवन्मुक्तो नाऽत्र संशयः ॥' (स्पन्द-प्रदीपिका) ।[३]

'अखिलम् अशेषमनन्तवस्तुव्यक्तिविचित्रं 'जगत्'

(३) विश्वं क्रीडात्वेन स्वनिर्मितचराचरभावक्रीडनकापरचितलीलामात्रतया पश्यन् विभावयन् (रामकण्ठाचार्यः स्पन्दकारिका विवृति) ।

(४) एव स्वभावं यस्य चित्तं 'मन्मयमेव जगत् सर्वम् इति । स सर्वं क्रीडात्वेन पश्यन् नित्ययुक्तत्वात् जीवन्नेव ईश्वरवत् मुक्तो न त्वस्य शरीरादि बंधकत्वेन वर्तते ॥ (भट्टकल्लटः स्पं० का० वृत्ति) ।[४]

अहंतावाद—'परमशिव' **'अहं' 'त्वं'** दोनों से शून्य है । जब वह 'अहं' का

---

१. ललितोपाख्यान । २. चिद्वल्ली में उद्धृत ।
३. स्पन्द प्रदीपिका (उत्पलाचार्य) । ४. स्पन्दसर्वस्व ।

साक्षात्कार करना चाहता है तब वह विमर्श शक्ति रूपी दर्पण में अपने अहं को देखता है—उसका यह अहंसाक्षात्कार ही जगत् है अतः वह विश्व को अहमाकार देखता है। उसका 'विमर्श' है 'अहमिदम्' अर्थात् 'इदम्' (जगत) 'अहं' ही है—अहं के अतिरिक्त जगत् है ही नहीं—'इदम्' (जगत) अहं का ही एक अंश है। 'अहं' के दो अंश है—१. 'अहं' (आत्मा) २. 'इदम्' (जगत)।

'लीलात्मक विनोदवाद'—जगत् शिव का 'विनोद' है—सकलभुवनोदयस्थिति-लयमयलीलाविनदोद्युक्तः। अनन्तर्लीनविमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्रतनुः ॥

(कामकलाविलास)।

'स्वेच्छावाद' एवं **'इच्छासृष्टिवाद'**—ईश्वरस्य जगत्सृष्ट्यदिकं **लीलामात्रम्** न प्रयोजनमस्तिः स्वेच्छयास्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति। **'स्वेच्छयैव** जगत्सर्वं निगिरत्युदगि-रत्यपि'।

'चिदात्मेव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥'

स्वभाववाद—जगत् 'स्वभाव' है अर्थात् 'स्व' का भाव है—जीव भी 'स्व' का भाव है।

(१) स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः।
स एव भैरवो देवो जगदभरणलक्षणः ॥

(२) इस परमेश्वर की पराशक्ति भी **'स्वभावामर्शनोत्सुका'** है—

तस्यैवैषा परा देवी स्वभावामर्शनोत्सुका।
पूर्णत्वं सर्वभावानां यस्या नाल्पं न वाधिकम्।

'स्वभाव'—का स्फार ही जीवन एवं जगत् दोनों है। जगत् एवं जीव दोनों 'स्व' के आनन्दात्मक उल्लास हैं—शक्ति के अवभास हैं—शिव के अवरोहण क्रीडा रूप **स्वभाव** के चमत्कार हैं।

सर्वात्मवाद—इन समस्त भावों में आत्मा ही स्फुरित होती है इसीलिए **सोमानन्द 'शिवदृष्टि'** में कहते हैं—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्क्रियः शिव ॥

अहन्तावाद का विकास—विश्व के समस्त धर्म और दर्शन उपदेश देते हैं कि अहन्ता को निर्मूल करो क्योंकि जब तक 'अहन्ता' (अहंभाव) रहेगा तब तक आध्यात्मिक साधना में उन्नति संभव नहीं हो सकती। साधक परिवार, परिजन, गृह, वसन, भोग, उच्चपद और परिग्रह आदि सभी का परित्याग कर देता है किन्तु अपनी अहन्ता (अहंभाव) का परित्याग नहीं कर पाता। जब तक 'अहं' रहेगा तब तक 'इदम्' रहेगा ही और जब तक अहं-इदं का द्वैत बना रहेगा तब तक पूर्णत्व, शिवत्व, मुक्ति, कैवल्य या मोक्ष की कोई संभावना नहीं है।

काश्मीरीय 'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' की दृष्टि—संपूर्ण त्रिक दर्शन 'अहन्तावाद' में आस्था रखता है । ये दर्शन यह मानते हैं कि **अहन्ता का विकास ही मुक्ति का साधन है** । जो साधक अपनी अहन्ता का जितना ही उच्च से उच्चतर विकास करेगा वह उतनी ही आध्यात्मिक उन्नति करेगा तथा उतना ही अधिक पूर्णत्व, शिवत्व एवं परमपद के निकट पहुँचेगा ।

'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन की मान्यता है कि जिसने अहन्ता को उच्चतम शिखर तक पहुँचा दिया है **वह साक्षात् शिव है**—वह **'चक्रेश्वर'** है—वह **'परमात्मा'** है—वह **'शक्तिमान'** है—वह **अद्वैत पर ब्रह्म** है ।

'अहन्ता का सत्स्वरूप'—'विरूपाक्षपञ्चाशिका' (विश्वशरीर स्कंध) में तो यहाँ तक कहा गया है कि **'ईश्वरता' 'कर्तृत्व' 'चित्स्वरूपता'** का भी स्वस्वरूप **'अहन्ता'** है।

'ईश्वरता कर्तृत्व स्वतन्त्रता चित्स्वरूपता चेति ।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायाः सद्भिरुच्यते ॥' (१।८)

इसीलिए इसमें कहा गया है कि सर्वत्र 'अहन्ता' धारण करे—

'बिन्दुं प्राणं शक्तिं मनइन्द्रियमण्डलं शरीरं च ।
आविश्य चेष्टयन्ती धारय सर्वत्र चाहन्ताम् ॥' (१।७)

संपूर्ण विश्व में अहन्ता (अहंभाव) धारण करना विश्वात्मभाव—'विश्वोऽहं' का भाव एवं उसकी अखण्ड अनुभूति ही तो मोक्ष है । संपूर्ण विश्व में अपनी अहन्ता का विराट् प्रसार देखना विश्वात्मभाव है किन्तु विश्व के किसी एक अंश में अहंभाव धारण करना जीवन्मृतत्व है—

'उत्क्रम्य विश्वतोऽङ्गात् तद्भागैकतनुनिष्ठताहन्तः ।
कण्ठलुठत्प्राण इव व्यक्तं जीवन्मृतो लोकः ॥'

'ईश्वरता' 'सर्वज्ञता' सर्वकर्तृता, स्वतन्त्रता, चित्स्वरूपता 'शिवोऽहं' की भावना—**'पूर्णाहन्ता'** के पर्याय हैं । ये बंधन नहीं महामुक्ति के पर्याय हैं । अहन्ता का शुद्ध परामर्श—**'विश्वाहन्ता'** या **'पूर्णाहन्ता'** ही साधना के विकास का चरम सोपान है । जिस प्रकार शरीर में ही अहन्ता (अस्मिता) का प्रत्यय या अनुभूति प्रमाता को (मितात्मा को) जड़ हाथों से भी कार्य कराने की शक्ति प्रदान कर देता है उसी प्रकार यदि चेतनतत्त्व में अहन्ता का आधान किया जाय तो निश्चल पर्वतों को भी चलायमान एवं संचालित किया जा सकता है—

देहेस्मिततया यद्वज्जडडोरास्फालनं मिथोः बाह्वोः ।
इच्छामात्रेणेत्थं गिर्योरपि तद्वशाज्जगति ॥ (वि०प०६)

यौगिक सिद्धियाँ अपूर्ण ख्याति हैं । शिवता का समावेश पूर्ण ख्याति है । विमर्श के द्वारा इदन्ता का अहन्ता में लय करके विश्वात्मभाव से सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि स्वयं आविर्भूत विभूतियों से संवलित परमैश्वर्य की संप्राप्ति करना ही समस्त उपदेशों का सार है । इसके द्वारा **'यामलीसिद्धि'** का वर्णन किया गया है—

'अहो संसारसुखकेलि अहो सुलभं मोक्षमार्गे सौभाग्यम् ।
त्रुटितान्तककलंका अहो शिवयोगिनां **यामलीसिद्धिः** ।। 'महार्थमंजरी'

इदन्ता-अहन्ता के ऐक्य से समुत्पन्न **पूर्णाहन्ता स्वरूप संवित्** का साक्षात्कार (प्रत्यभिज्ञान) ।

भास्करराय 'प्रकाश' ('वरिवस्यारहस्यम्' की व्याख्या) में कहते हैं कि— 'इच्छामि' 'जानामि' इत्यादि उदाहरणों में प्रथम पुरुष की वर्तमानता एवं उसमें भासमान स्फुरणान्वयि अहं का ज्ञान ही प्रकाशाभिध ब्रह्म है । यह सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्व-कर्तृत्व, पूर्णत्व, एवं सर्वव्यापकत्व आदि से संवलित है । उसका आनन्दरूपांश ही **'स्फुरण'** है, वही **'अहन्ता'** है, वही **'विमर्श'** है, वही परा ललिता भट्टारिका त्रिपुर-सुन्दरी है—

'अत्रेयं तांत्रिकप्रक्रिया—'इच्छामि' 'जानामि' इत्यादावुत्तम पुरुषान्तर्भासमानं स्फुरणान्वयि ज्ञानमेव प्रकाशाभिधं ब्रह्म । तच्च सर्वज्ञत्व-सर्वेश्वरत्वसर्वकर्तृत्व-व्यापकत्वादि शक्तिसंवलितम् । तस्य चानन्दरूपांश एव स्फुरणं **परा अहंता**, **विमर्शः**, **परा ललिता भट्टारिका**, **त्रिपुरसुन्दरी**त्यादि पदैर्व्यवह्रियते ।'

'अहन्ता' साक्षात् भगवती महात्रिपुरसुन्दरी हैं । 'अहन्ता' शिव का **'आत्मविमर्श'** है—**स्फुरत्ता** है—**पराशक्ति** है—शिव का **आत्मधर्म** है और सर्वेश्वर शिव की आधीन आत्मभूता **'शक्ति'** है ।

'विश्वरूपो महेश्वरः' ('प्रत्यभिज्ञाकारिका') की महेश्वरता महेश्वर में देखना 'स्पन्द'—'प्रत्यभिज्ञा' का लक्ष्य नहीं है प्रत्युत् (१) महेश्वरता (२) विश्वरूपता इन दोनों की अपने में अनुभूति कर—'महेश्वरोऽहं' 'विश्वोऽहं' की अनुभूति करना ही 'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' का लक्ष्य है ।

यदि चिदात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करना ही पूर्णता है तो उसके 'विश्वोऽहं' के विमर्श के साथ ही तदात्मता प्राप्त करनी होगी क्योंकि वह केवल **'विश्वातीत'** ही नहीं **'विश्वमय'** भी है—

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजात प्रकाशयेत् ।। (प्र०का० १।३८)
'इच्छया भासयेद् बहिः ।' (प्र०का० ५९)

समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा (महेश्वर) अवस्थित है अतः निखिल विश्व में अखण्ड अहं की अनुभूति, अखण्डित रूप में अहं का आमर्श शिव का (महेश्वर का) स्वभाव है, स्वरूप है—

स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः ।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ।। (प्रत्यभिज्ञा का० ४।१)

उस महेश्वर के साथ तादात्म्य प्राप्त करने हेतु साधक को भी 'विश्वोऽहं' का विमर्श करना आवश्यक है । साधक में दो भाव होने चाहिए—१. सोऽहं २. 'ममायं विभव' (सोऽहं ममायं विभव इत्येवं परिजानतः) (प्रत्य० का० ४।१२) विश्वात्मनो विकल्पानां

प्रसरेऽपि महेशता' (प्रत्य०का० ४।१२) **'पूर्णाहन्ता' है क्या?** 'संविद: स्वात्ममात्र-विश्रान्ति: स एव पूर्णाहन्ताविमर्शस्वभावोऽहंभावो' (उत्पल—अजडप्रमातृसिद्धि) ।

शैवशास्त्र में ७ प्रमाता माने गए हैं जो निम्न है—

पूर्णाहन्ता—'विज्ञानभैरव' में इन प्रमाताओं में से मात्र 'शिव' एवं 'परमशिव' में अहन्ता के आधान का उपदेश दिया गया है—'मित' प्रमाता को अमितप्रमाता बनने का, अपूर्ण को पूर्ण बनने का, पशु को पशुपति बनने का या जीव को शिव बनने का यही मार्ग है । यही 'पूर्णाहन्ता' (शिवोऽहं) स्वरूप है तथा विश्वोऽहं के साथ तादात्म्य है ।

'अहं' एवं अहन्ता का यथार्थ स्वरूप—अकार और हकार विमर्श और प्रकाश हैं । इन दोनों के सामरस्य से 'अहं' निष्पन्न होता है । यही 'अहं' अकार से हकार पर्यन्त समस्त मातृकाओं एवं अकार शिव एवं हकार शक्ति का समन्वित रूप है । **'श्वेतबिन्दु'** शिवात्मक है और **'रक्तबिन्दु'** शक्त्यात्मक है । ये दोनों एक दूसरे में प्रविष्ट होते हैं । रक्त एवं श्वेत बिन्दु के समागम से तृतीय-**'मिश्रबिन्दु'** का आविर्भाव होता है । यही **'अहं पद'** है । इसी अहं में अकार से हकार पर्यन्त समस्त वर्ण राशि समाहित है । 'चिद्वल्ली' में कहा गया है—'महामन्त्रमयीपूर्णाहन्तामयी प्रकाशानन्दसारा बिन्दुत्रयसमष्टि भूतदिव्या-रसरूपिणी **कामकला** नाम महात्रिपुरसुन्दरी' ॥ 'त्रिपुरसुन्दरी पूर्णाहन्तामयी है ।

अद्वयसंपत्तिकार वामननाथ कहते हैं कि अहंभाव उपादेय है न कि हेय । **तपस्विराज** कहते हैं कि अहंकार एक पिशाच है । मानव-रक्त को चूसने वाला है । मानव की सद्बुद्धि का आच्छादक है, किन्तु मानव के द्वारा भगवान् की शरण में जाने पर यही अहंकार यही उसका सेवक बन जाता है—

'अहमितिपिशाच एष त्वत्स्मृतिमात्रेण किंकरीभवति ।'

जब व्यक्ति यह सोचता है कि 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई सहायक नहीं है' तब वह भयभीत रहता है किन्तु जब वह यह सोचता है कि 'मैं अकेला ही तो इस संसार में हूँ । यह सब कुछ मुझसे पृथक् थोड़े हैं'—तब वह निर्भय होकर घूमता है—'एकोऽहमिति संसृतौ जनस्त्रास साहसरसेन खिद्यते एकोऽहमिति कोऽपरोऽस्ति मे इत्थमस्मि गतभी-र्व्यवस्थित: ॥'

'विमर्शदीपिका' में कहा गया है कि विश्वात्मक होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण, स्वतन्त्र, दिव्य, अक्षर तत्त्व ही 'अहं' नाम से कहा जाता है । इस प्रकार के 'अहं' तत्त्व में धारणा स्थिर हो जाने पर भय किसको स्पर्श कर पाता है?

'विश्वात्मा विश्वोत्तीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति क: ?'

जो साधक विश्व को अपनी क्रीडा मानता है अर्थात् अपनी लीला मानता है और इस प्रकार 'विश्वोऽहं' के विमर्श से परिपूर्ण है उसे ही जीवन्मुक्त कहते हैं अर्थात् जगत् को अपनी क्रीड़ा समझने की 'संवित्ति' ही जीवन्मुक्ति' है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ (द्वि० ३०)

उत्पलाचार्य कहते हैं—'सोऽखिलं समग्रं जगत् क्रीडारामतया पश्यन् विभावयन्नित्युक्तत्वाच्च बन्धकारणस्याज्ञानस्य क्षयात् प्रबोधाप्तौ जीवन्नेवेश्वरवन्मुक्तो नाऽत्र संशयः ॥' ('स्पन्दप्रदीपिका' का० ३०)।

रामकण्ठाचार्य ('स्पन्दकारिका वृत्ति' में) कहते हैं—कि ऐसी संवित्ति रखने वाला योगी समस्त माहेश्वर शक्तियों को प्राप्त कर लेता है—'सर्वव्यापक सर्वात्मक सर्वेश्वर-स्वतन्त्रस्वस्वभावाहंकार प्रतिपत्तिदार्ढ्येन जन्मादिविरोधात निष्क्रान्तः परमेश्वर एव संवृत्त इति ॥ 'अशेषमनन्तवस्तुव्यतिरिक्त विचित्रं जगत् विश्वं क्रीडात्वेन स्वनिर्मितचराचरभाव क्रीडनकोपरचितलीलामात्रतया पश्यन् विभावयन'—'एवं सर्वं कीडात्वेनैव पश्यन् जीवन्नेव मुक्तः ॥'

'कामकलाविलास' में कहा गया है कि—

पूर्णाहन्तात्मभावेन कृत्रिमाहन्तया विना ।
आत्मानमात्मना साक्षाद्यः पश्यति स पश्यति ॥ (काम० ५)

अहंता की विभिन्न भूमिकायें—

अहन्ता की मुख्यतः तीन भूमिकायें हैं—१. अहं के अभाव की भूमिका, २. मितप्रमाता के संकुचित अहं की भूमिका, ३. परमशिव के अहं की भूमिका ।

१. अहं के निषेध की भूमिका—तत्वमंजरीकार कहते हैं कि 'यदि मैं कुछ होऊँ—तब मुझे इधर-उधर, जहाँ-तहाँ से भय हो सकता है किन्तु यदि मैं ही कुछ न हूँ तो फिर भय किसका?'। बौद्ध भी यही कहते हैं—

सत्यात्मनि परसंज्ञा स्वपरविभागे च रागविद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥ (प्र०वा० १।२२१-२२२)

अर्थात् अपनी आत्मा के रहने पर दूसरी आत्मा की बात उठती है । 'यह अपना है यह पराया है?—ऐसी कल्पना हो जाने पर अपने से राग एवं दूसरे के प्रति विद्वेष उत्पन्न होने लगते हैं । इस राग-द्वेष से जुड़े छोटे-बड़े दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

इसीलिए **बौद्ध कहते हैं** कि—'आत्मा ध्वंसो हि मोक्षः' । (स०द०सं०) ।

बौद्धों का यह **आत्माभाववाद** उनकी दृष्टि में पूर्णत्व है—निर्वाण है किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा इस दृष्टि को स्वीकार नहीं करते ॥

२. परिमित (संकुचित) अहं की भूमिका—सारे माया बद्ध प्राणी शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, विषय आदि संकुचित देश में अपने अहं को तदाकार रूप में अनुभव करते हैं । यही संकुचित अहं उन्हें पशुपति से पशु बना देता है । यही उनके

बंधन एवं संसरण का कारण है । मित प्रमातृत्व, मित अहंता जीव से उसके शिवत्व (भैरवभाव) को छीन लेती है । यह अहंता हेय है । यह शुद्ध परामर्श की नहीं अशुद्ध परामर्श की क्षुद्र (संकुचित) अहन्ता है । **श्लाघ्य अहन्ता का स्वरूप 'विज्ञानभैरव'** (८४) में इस प्रकार दिया गया है—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ॥

(प्रथम प्रत्यभिज्ञा की धारणा-८४)

३. शिव के अहं की भूमिका—'पूर्णाहन्ता' 'विश्वाहन्ता' प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'प्रत्यभिज्ञा' के निम्न दो प्रकारों का विवेचन किया गया है—

१. **प्रथम प्रत्यभिज्ञा**—मैं शुद्धबोधस्वरूप शिव हूँ ।

२. **द्वितीय प्रत्यभिज्ञा**—समस्त जगत् मेरा ही अपना विस्तार है ।

अहन्ता एवं प्रत्यभिज्ञा—इन दोनों प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं के उदित होने पर साधक 'विश्वमय' हो जाता है । इस स्थिति में उसके चित्त में विकल्पों का प्रादुर्भाव होने पर भी वह अपनी शिवावस्था में ही प्रतिष्ठित रहता है—

प्रथम प्रत्यभिज्ञा—

'**सोऽहं ममायं विभव** इति प्रत्यभिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ (४।१।१२)

शिवोपाध्याय—१. **'मैं शुद्धस्वरूप हूँ'**—प्रत्यभिज्ञा के इस अंश पर धारणा के स्थिरीकरण की विधि यह है कि साधक यह भावना करे कि स्वातंत्र्यादिक शिव धर्मों से युक्त सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, व्यापक परमेश्वर मुझसे पृथक् नहीं है—ये सभी मेरे ही धर्म हैं।'—इस प्रकार के दृढ़ निश्चय से साधक शिव बन जाता है । प्रथम प्रकार की प्रत्यभिज्ञा उदित हो उठती है और समस्त अवस्थाओं में उसका शिवस्वरूप निरन्तर अनुस्यूत रहता है ।

द्वितीय प्रत्यभिज्ञा—

२. **'यह जगत् मेरा ही विस्तार है'**—प्रत्यभिज्ञा के इस द्वितीय अंश पर धारणा के स्थिरीकरण हेतु यह भावना करनी चाहिए—

'जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालाभंग्यः प्रभा रवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विभेदिताः' ॥ १०८ ॥

अर्थात् जैसे जल की लहरें जल से ही उठती हैं, अग्नि की ज्वालाएं अग्नि से ही निकलती हैं या जैसे सूर्य का प्रकाश सूर्य से ही उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्वात्मस्वरूप भैरव से ही चलना-फिरना, भोजन, हवन, दान, प्रसारण, निर्गमन प्रभृति इस विश्व की समस्त विचित्रताएँ प्रकट होती हैं । इस धारणा में दृढ़ता आने पर योगी इस समस्त विश्व में अपने ही शिवस्वरूप का साक्षात्कार करता है ।

१. नादसृष्टिवाद—१. चिणि, २. चिणिचिणी, ३. घण्टानाद, ४. शंखनाद, ५. तन्त्रीनाद, ६. भेरीनाद, ७. तालनाद, ८. वेणुनाद, ९. मृदंगनाद ('कामकलाविलास') **'स्वच्छन्दतन्त्र' के अनुसार**—१. घोष, २. राव, ३. स्वन, ४. शब्द, ५. स्फोट, ६. ध्वनि, ७. झांकार, ८. ध्वंकृति = ८ नाद ।

पद्मपादाचार्य के अनुसार वाणी के ५ और ७ पद हैं—

सप्तपदीवाणी—१. शून्य, २. संवित्, ३. सूक्ष्मा, ४. परा, ५. पश्यन्ती, ६. मध्यमा, ७. बैखरी (स्पन्दकारिका दे० 'स्वरूपावरणे०... प्रत्ययोद्भव:')

पञ्चपदीवाणी—१. सूक्ष्मा, २. परा, ३. पश्यन्ती, ४. मध्यमा, ५. बैखरी । **'शून्य'** = स्पन्दहीन, अनुत्पन्न वाक । **'संवित्'** = उत्पन्न होने की इच्छा वाली वाक् । **'सूक्ष्मा'**—उत्पत्यवस्था । **'परा'** = मूलाधार में प्रथमोदित ॥ (प्र०सा०टीका)

२. सर्वशिववाद—आचार्य **सोमानन्दपाद** कहते हैं कि 'विश्व' शिव का ही एक रूप है—

'तस्मादनेकभावाभि: शक्तिभिस्तदभेदत: ।
एक एव स्थित: शक्त: शिव एव तथा तथा ॥' (शिवदृष्टि)

ठीक भी है क्योंकि—'न सावस्था न य: शिव: ॥' (स्पन्दसूत्र) तथा—

'यत्सत्तत्परमार्थो हि परमार्थस्तत: शिव: ।
सर्वभावेषु चिद्व्यक्ते: स्थितैव परमार्थता ॥' (शिवदृष्टि)

'तद्वत्सर्वपदार्थानां जगत्यैक्ये स्थित: शिव: ।
तस्मात्सर्वं शिवात्मकम्' (शिवदृष्टि) ॥

'विश्व' परमात्मा के चिदाकाश रूप स्वांग में एक आलेख्य है—

'चिदाकाशमये स्वांगे विश्वालेख्यविधायिने' (शिवदृष्टिवृत्ति)

'स्तवचिन्तामणि' (श्लोक ५) में भी **जगत् को पारमेश्वर चित्र कहा गया है**—

'निरुपादानसंभारमभित्तावेन तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥' अर्थात्—

शिव महान् कलाकार है और उसकी तूलिका का ही चमत्कार है यह 'जगत' ॥

३. अद्वैतवादी काश्मीरीय शैवदर्शन का उद्देश्य—विश्वशिवैक्यवाद की अनुभूति है—

(i) The title of the work (शिवदृष्टि = शैवदर्शन) is significant enough to express clearly what he wants to bring home to his readers. i.e.—realisation of the whole universe as the manifestation of one absolute Reality called Siva the all blissful.' (मधुसूदन कौल शास्त्री) ।

(ii) The purpose of the body of his book : "What constitutes the essential identity of every being and what therefore is self-evident is Siva as an ever-running stream of desire, as a spontaneous flow of cognition and activity, as happiness and intelligence and as all pervasive" (मधुसूदन कौल शास्त्री)।

(iii) यह दर्शन पूर्णतया अद्वैतवादी है क्योंकि प्रारंभ में ही सोमानन्दपाद ने 'अस्मद्रूप समाविष्टः' कहकर अपने को शिव के साथ अभिन्न घोषित करते हुए कहा है— "Let Siva who is one in substance with us often his obeisant to Siva, who has materialized his own nature in the form of universe by his own native power for success in overcoming the obstacle with the help of the triple agency of Mind, Tongue and body."

'अस्मद्रूपसमाविष्टः स्वात्मनात्मनिवारणे ।
शिवः करोतु निजया नमः शक्त्या ततात्मने ॥' (शिवदृष्टि)

४. **सर्वात्मवाद**—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द दोनों दर्शन सर्वात्मवादी हैं—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद् दृक्क्रियः शिवः ॥ (शिवदृष्टि)

'सर्वभावेषु स्वात्मैव शिव व्यवहर्तव्यमिति **प्रतिज्ञा** । निवृतचिदित्यादिविशेषण-कलापो हेतुः । स्फुरन्नपि धर्मिणो हेतोश्च स्वसंवेदनप्रत्यक्षप्रमाणम् ॥' (शिवदृष्टिवृत्ति—उत्पलदेवाचार्य) ॥

५. **इच्छाज्ञानक्रियाभेदवाद**—

'तदिच्छातावती तावज्ज्ञानं तावत्क्रिया हि सा ॥' (शिवदृष्टि)

सोमानन्दं एवं स्पन्द दार्शनिक—दोनों इसे मानते हैं ।

६. **शब्दसृष्टिवाद**—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥[1]

उत्पलदेव कहते हैं—

'पश्यन्तीरूप शब्दतत्त्वमक्षरमनाद्यन्तं ब्रह्मविश्वार्थभावेन विवर्तते ॥'[2]

बिना वाणी के तो ब्रह्म का प्रकाश भी प्रकाशित होना संभव नहीं है—

'वाग्रूपतां बिना न ब्रह्मतत्त्व प्रकाशोऽपि प्रकाशेत् ।' (शिवदृष्टिवृत्ति)

यद्यपि 'ईश्वराद्वयवादी' **'शब्दपरब्रह्माद्वयवाद'** को स्वीकार न करके **'ईश्वराद्वय-वाद'** की स्थापना करते हैं फिर भी शब्दसृष्टिवाद मानते हैं—

---

१. शिवदृष्टि में उद्धृत । २. शिवदृष्टिवृत्ति (उत्पलदेव) ।

'ईश्वराद्वयवाद' एव युक्तियुक्तो न तु 'शब्दपरब्रह्माद्वयवाद' इति वक्तुं वैयाकरणोपेत शब्दाद्वैतं तावन्निराकर्तुमुपक्रममाण आह—

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदा शिवरूपता ।
वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः । (२।१)[१]

'वाक्यदीय' में भर्तृहरि—कहते हैं कि जगत् एक 'अर्थ' है अर्थ 'वाच्य' है और 'शब्द' वाचक है । जगत् एवं शब्द में वाच्यवाचक संबंध तो है किन्तु यथार्थ सत्ता की दृष्टि से तो जगत् शब्द का 'विवर्त' (असत् में सत् का भ्रम, अतत्वतो प्रथा') है अर्थात् **जगत् मूलतः शब्द है न कि स्वतन्त्र पदार्थ** ।

'पराशक्ति' 'परावाक' के रूप में एवं परावाक् 'पश्यन्ती' के रूप में, पश्यन्ती 'मध्यमा' के रूप में एवं मध्यमा 'बैखरी' के रूप में विकसित होती है और यही बैखरी विश्वविग्रहा है—'**बैखरी** विश्वविग्रहा' । **'अहं'** (अ से ह = शिव + शक्ति) में ही सारी वर्णसमष्टि एवं निखिल जगत् अवस्थित है । जगत् अहमाकार है । 'कामकला' अहमाकार है ।

'स्पन्द' में शक्ति-प्रधान्य—'स्पन्दशास्त्र' में 'स्पन्द' (आत्मशक्ति, चित् शक्ति, इच्छाशक्ति, स्वातंत्र्यशक्ति, संवितशक्ति) का प्राधान्य है इसीलिए इस शास्त्र का नाम भी स्पन्दशास्त्र भी है । इसका शक्ति-प्राधान्य प्रतिपाद संगत भी है क्योंकि—'तद्योगादेव शिवो जगदुत्पादयति पाति संहरति' (वरिवस्यारहस्यम्)

शिव-शक्ति-अभेदवाद—'शिव शक्तिरिति ह्येकं तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।' 'शिवाभिन्ना पराशक्तिः' 'न शिवेन विनादेवी न देव्या च विना शिवः' इन दोनों में चन्द्रमा एवं चन्द्रिका के सम्बन्ध की भाँति ऐक्य है—'नानयोरन्तरं किंचिच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव' ।

महेश्वर एवं जीवात्मा का ऐक्य—निखिल जगदात्मा, सर्वोत्तीर्ण, सर्वमय, विकल्पों से असंकुचित, संवित्प्रकाशरूप, अनवच्छिन्नचिदानन्दविश्रान्त, अविरल प्रसरणशील, विचित्र पञ्चवाहवाहवाहिनीमहोदधि, निरतिशयस्वातंत्र्य से प्रगल्भमान, सर्वशक्तिखचित एकात्मक, अद्वैत समस्त शक्तियों से उपहित संविदात्मा महेश्वर ही अपनी स्वातंत्र्यशक्ति की महिमा से अपने को संकुचित की भाँति आभासित करते हुए अणु (जीव) कहलाते हैं—'स च भगवान् स्वातंत्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयन् अणुः उच्यते । यथोक्तम्—

'व्योपको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसंकोचमुद्रणात् ।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ॥
'अतिदुर्घटकारित्वात्स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडा पण्डितः परमेश्वरः ॥

(जन्ममरणविचार—भट्टवामदेव)

---

१. शिवदृष्टि ।

'चिदानन्दलाभ' एवं **'समापत्ति'** : 'स्पन्दकारिका' में **'आत्मग्रह' 'आत्मोदय' 'परामृतस्य'** एवं **'समापत्ति'** प्राप्त करने का प्रतिपादन किया गया है ।

'स्पन्दशास्त्र' प्रतिपादित चरमोपलब्धि 'जीवन्मुक्ति'—

यह 'समापत्ति' क्या है? आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहते हैं— 'मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभ: स एव च परमयोगिन: समावेश समापत्यादि पर्याय: समाधि: तस्य नित्यो-दितत्वे युक्तिमाह—समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयश्चिदैक्या-मर्शान्नित्योदित समाधि लाभ: (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्) ॥

इसी चिदानन्द की प्राप्ति के पश्चात् **देहादिक की अनुभूति होने पर भी चित् शक्ति के साथ** एकात्मता-प्रतिपत्ति की दृढ़ता से **'जीवन्मुक्ति'** की प्राप्ति होती है—

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्ति: ॥

(प्रत्यभिज्ञाहृदयम्: 'शक्तिसूत्र': १६)

'स्पन्दप्रदीपिका' में भी इसी जीवन्मुक्ति को चरम उपलब्धि स्वीकार करते हुए कहा गया है—

'इति वा यस्य संवित्ति: क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशय: ॥'

जब ऐश्वर्यशक्ति 'मध्यधाम (सुषुम्नापथ) के उल्लास रूप उदान शक्ति एवं विश्व-व्याप्तिसारभूत व्यानशक्ति को जिसे क्रमश: आनन्दघनरूप 'तुर्यदशा' एवं चिद्घनरूप तुर्यातीतदशा कहा जाता है—उन्मीलित करती है तब देहादि अवस्था में भी **पति-दशात्मक 'जीवन्मुक्ति'** उपलब्ध होती है ।

'तुर्यदशारूपां तुर्यातीतदशारूपां च चिदानन्दघनाम् उन्मीलयति तदा देहाद्यवस्थाया-मपि पतिदशात्मा जीवन्मुक्तिर्भवति ॥' (प्र०हृ०) ।

त्रिकदर्शन **'सालोक्य' 'सामीप्य' 'सायुज्य'** आदि मुक्तियों को स्थान न देकर 'जीवन्मुक्ति' को महनीय स्थान देते हुए उसे ही यथार्थ मुक्ति मानता है—

१. पशुमात्रस्य सालोक्यं सामीप्यं दीक्षितस्य तु ।
तत्परस्य तु सायुज्यमित्याज्ञा पारमेश्वरी ॥

२. यस्तूर्ध्वशास्त्रगस्तत्र व्यक्तास्थ: संशयेन स: ।
व्रजेदायतनं नैव स फलं किंचिदश्नुते ॥
दीक्षायतन विज्ञानद्वेषिणो ये तु चेतसा ।
आचरन्ति च तत्ते वै सर्वे निरयगामिन: ॥ (नरकगामी होते हैं)
ये च स्वभ्यस्तविज्ञानमया: शिवमया हि ते ।
जीवन्मुक्तो न तेषां स्यान्मृतौ कापि विचारणा ॥

('जन्ममरणविचार' में उद्धृत)

माया एवं शक्ति में अभिन्नता—'माया' शिव की शक्ति है न कि अनिर्वचनीय भ्रान्ति तत्त्व है—**आचार्य शंकर** ने 'माया' को मिथ्या भी कहा है किन्तु इसे सत्-असत्-

सदसदनुभय से परे भी मानकर **'अनिर्वचनीय'** भी कहा है । इसे ब्रह्म से असमवेत एवं जड़ माना है । यह सांख्य की प्रकृति की जड़ता से ग्रस्त है और मात्र अज्ञान भी उद्भाविका है यह सृष्टि-व्यापार की संचालिका आदि भी है किन्तु पारमार्थिक सत्य नहीं है । 'स्पन्द' एवं प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'माया' भी चिद्रूपा स्वातंत्र्य शक्ति का अवरोहणात्मक रूप है ।

चितिशक्ति ही—'ज्ञान, क्रिया' एवं 'माया' बन जाती है । ज्ञान, क्रिया एवं माया ही सत्व, रज एवं तम बन जाते हैं । भगवान् की 'क्रियाशक्ति' (सर्वकर्तृत्व) अल्पकर्तृत्व बन जाती है और **'कार्ममल'** का प्रसव करती है । 'सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व एवं व्यापकत्व 'कला' विद्या' 'राग' 'काल' एवं 'नियति' (पञ्चकञ्चुक) बन जाते हैं । संवित ही प्राण बन जाता है—'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' 'न सावस्थान यः शिवः' (स्पन्दकारिका) ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है जो शिव न हो ।

वाक् तत्त्व, अहन्ता और विश्व में तादात्म्य—'अहन्ता' समस्त मन्त्रों के उदय और विश्रान्ति के स्थान भी हैं यह महती वीर्यभूमि है । (प्र०हृ०) परमात्मा और स्वात्मा तथा जगत् एक ही सत्ता के विभिन्न रूप हैं । **आचार्य क्षेमराज** कहते हैं—'श्री परमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं' (सूत्र ४ की व्याख्या) 'अहं' में 'इदम्' के अवस्थान की विभिन्न स्थितियाँ—

१. **'सदाशिवतत्त्व'** में—अहन्ताच्छादित और अस्फुट इदन्तात्मक **'परापर विश्व'** ग्राह्य है । (सदाशिव भट्टारकाधिष्ठित 'मन्त्रमहेश्वर वर्ग प्रमाता परमेश्वरेच्छा' कल्पित है) ।

२. **'ईश्वरतत्त्व** में—स्फुट इदन्ता और अहन्ता का सामानाधिकरण्य जैसा विश्व ग्राह्य है (ईश्वरभट्टारक से अधिष्ठित **'मन्त्रेश्वर वर्ग'** ग्राहक है) ।

३. **'विद्यापद'** में—श्रीमदनन्तभट्टारक से अधिष्ठित मन्त्ररूप ग्राहक हैं और भेदात्मक विश्व ग्राह्य है । शुद्ध विद्याः सामानाधिकरण्यं च सद्विद्यामिदं धियोः । (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (३।१) सामनाधिकरण्य रूप है) ।

स्वतन्त्र चिदघनसंवित्स्वस्वरूप, अनुत्तरविग्रह, परमेश्वर जब अपनी स्वातंत्र्यशक्ति द्वारा, अखिल जगत् की रचना के लिए किंचित् चलानात्मक दशा का अनुभव करते हैं तो उस प्रथम 'स्पन्द' को ही तत्त्वज्ञ **'शिवतत्त्व'** कहते हैं—

'यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
मन्त्रवर्णात्मकाः **सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः** ।।'

'नादसिद्धान्त'—

चित्प्रकाश से अभिन्न, नित्योदित, महामन्त्ररूप, पूर्ण 'अहं' विमर्शात्मक जो यह **'परावाक् शक्ति'** है जिसके गर्भ में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक वर्णात्मक समग्र शक्ति चक्र विद्यमान है वही 'पश्यन्ती' एवं 'मध्यमा' के क्रम से ग्राहक भूमिका को आभासित करता है । पूर्ण होने से इसे **'परा'** एवं **प्रत्यवमर्श द्वारा विश्व का अभिलाप करने से** इसे 'वाक्' कहा गया है—

'चिति: प्रत्यवमर्शात्मा **परावाक्** स्वरसोदिता ।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मत: ॥

(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका अ०१।आ०५)

'पूर्णत्वात् परा, वक्ति विश्वं अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् ॥ (ई०प्र०वि०)
'पश्यन्ती' परावाक् की उत्तरवर्ती वाच्यवाचकात्मकविश्व विकास की द्वितीय कोटि है ।

१. 'पश्यति सर्वं स्वात्मनि कारणानां सरणिमपि यदुत्तीर्णा ।
तेनेयं **पश्यन्ती**त्युत्तीर्णेत्यप्युदीर्यते माता ॥ (सौभाग्य सुधोदय)

२. पश्यन्तीव न केवलमुत्तीर्णा नापि बैखरीव बहि: ।
स्फुटतर निखिलावयवा वाग्रूपा **मध्यमा** तयोरस्मात् ॥

वर्णों के अष्ट वर्ग की अधिष्ठात्री देवियाँ—

'ब्राह्मी'-क वर्ग	'माहेश्वरी'-च वर्ग	'कौमारी'-ट वर्ग	'वैष्णवी'-त वर्ग
'वाराही'-प वर्ग	'ऐन्द्री'-य वर्ग	'चामुण्डा'-श वर्ग	'महालक्ष्मी'-अ वर्ग

इसी शब्द राशि से समुत्थित शक्ति वर्ग के भोग हैं जीव और इसी भोग्यता के कारण वे पशु बन जाते हैं—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गत: सन् स पशु: स्मृत: ॥ (स्पन्द० ४५)

अद्वैतवादी दृष्टि का वैलक्षण्य—

स्वरूपावरण में भी शब्द एवं शाब्दी शक्तियाँ ही कारण हैं—

'स्वरूपावरणे चास्य शक्तय: सततोत्थिता: ।
यत: शब्दानुरोधेन न विना प्रत्ययोद्भव: ॥

(स्पन्दकारिका० ४७)

शांकर अद्वैत भी अद्वैत है और माहायानिकों का शून्याद्वैत एवं विज्ञानवादियों का विज्ञानाद्वैत भी अद्वैत है किन्तु स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का अद्वैत उनसे भिन्न है उसमें दो का अभिन्न सामरस्य है और इसका ब्रह्माद्वैत से मतवैषम्य है—**क्षेमराज** कहते हैं 'इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्य: अयमेव विशेष: ।'

[४] शिव और शक्ति

तत्त्व एवं शिव तथा शक्ति—

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द दर्शन में मुख्यत: दो तत्त्व स्वीकृत हैं और वे हैं—१. शिव, २. शक्ति । तात्त्विक दृष्टि से तो दो नहीं एक तत्त्व है और वह है **'परमशिव'** क्योंकि 'शक्ति' उसका स्वभाव है, धर्म है उसका मुख है—'शैवी मुख मिहोच्यते ।'

यह वह तत्त्व है जो कि शिव में समवेत दृष्टि से अन्तर्लीन है । इसीलिए 'कामकलाविलास' में कहा गया है—

'सकल भुवनोदय स्थिति लयमय लीला विनोदुक्तः ।
अन्तर्लीन विमर्शः पातु महेशः प्रकाशमात्र तनुः ॥ (१)'

भेदात्मक दृष्टि से देखने पर प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द में ३६ या ३७ तत्त्व स्वीकृत हैं किन्तु ये सभी शिव-शक्ति के स्फार हैं ।

'शान्तब्रह्मवाद' एवं 'शिवाद्वयवाद'—शाङ्कर वेदान्त का निर्गुण, निराकार सृष्टि-स्थिति-संहार आदि व्यापारों से रहित शान्त ब्रह्म स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा को स्वीकार्य नहीं है । वे **'शिवाद्वयवाद'**—प्रतिपादक हैं ।

'शिव' और 'शक्ति'—प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द का शिव पञ्चकृत्यकारी है—'स्पन्द-कारिका' की प्रथम कारिका में इसी पक्ष की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा गया है—

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥

इसके पाँच कार्य निम्नांकित हैं—१. सृष्टि, २. स्थिति, ३. संहार, ४. तिरोधान एवं ५. अनुग्रह ।

(१) 'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्य विधायिने ।
चिदानन्दघनस्वात्म परमार्थावभासिने ॥' (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्)

(२) 'सृष्टि संहार कर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशिनम् ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र, प्र०पटल)

इसके अतिरिक्त १. आभासन, २. रक्ति, ३. विमर्शन, ४. बीजावस्थापन एवं ५. विलापन भी उसके कार्य हैं—

(क) 'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति' (प्र०हृ० १०) ।

(ख) 'आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि ॥'

प्रमाताओं की दृष्टि से सर्वोच्च प्रमाता 'शिव' है—(प्र०हृ० ११) और उसके स्फारस्वरूप ७ प्रमाता हैं—

१. सत्य प्रमाता **'शिव' 'परप्रमाता'** २. सदाशिवतत्त्वाश्रित प्रमाता = **'मन्त्र-महेश्वर'** ३. ईश्वरतत्त्वावस्थित प्रमाता **'मन्त्रेश्वर'** ४. शुद्धविद्यातत्त्वावस्थित प्रमाता **'मन्त्र'** ५. शुद्धविद्या तत्त्व से नीचे एवं मायोपरि स्थित प्रमाता = **'विज्ञानाकल'** ६. माया-तत्त्वावस्थित प्रमाता—**प्रलयाकल**, प्रलय केवली ७. माया प्रमाता, परिमित प्रमाता, संकुचित प्रमाता—'सकल' (जीव) ॥

शिव का अपर पर्याय है 'प्रकाश' एवं शक्ति का 'विमर्श', 'विमर्श' शिव का अहमाकार विमर्शन है और जगत् उसी का विराट् 'अवभासन' है ।

शिव की शक्तियाँ—शिव में अनन्त शक्तियाँ हैं किन्तु उन्हें पाँच वर्गों में वर्गीकृत किया गया है जो निम्न हैं—१. 'चितिशक्ति' २. 'आनन्दशक्ति' ३. 'इच्छाशक्ति' ४. 'ज्ञानशक्ति' एवं ५. 'क्रियाशक्ति' । 'शक्ति' अपने भीतर समस्त चराचर का बीज स्थित

रखकर सृष्टि का अवभासन करती है और यही शिव का दर्पण है—

'सा जयति शक्तिराद्यानिजसुखमयनित्यनियमाकारा ।
भाविचराचरबीजं शिवरूप विमर्श निर्मलादर्शः ॥' (का०)

स्वातंत्र्यवाद—'सवातंत्र्य' शिव की पराशक्ति है । 'आनन्द' इसका अपर पर्याय है। परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार ही स्वातंत्र्य है—'स्वातंत्र्यं च नाम यथेच्छं तथेच्छाप्रसरस्य अविद्यातः (ई० प्रत्यभिज्ञा वि०) ।

यह दुर्घटकारित्व है—'एतदेव स्वातंत्र्यं दुर्घटकारित्वम् ॥

परमात्मा का यही दुर्घटकारित्व **'नित्योदित परावाक्'** है । अविभक्त या अन्तर्लीन विमर्शात्मिक शिव ही 'परमशिव' है 'स्वातंत्र्य' का प्रसार ही जड़चेतन जगत् है ।

[५] जीव तत्त्व

जीव परमार्थतः शिव है । शिव एवं जीव में निम्न भेद है—

'स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमातो कथ्यते पतिः ।
मायातो नेदिषु क्लेश कर्मादिकलुषः पशुः ॥'—उत्पलदेव

विकल्प-ज्ञान 'परामृतरस' एवं 'स्वातंत्र्य' दोनों जीव से छीन लेता है । (स्पन्दका० ४६) ॥

भगवान् स्वस्वातंत्र्य शक्ति की महिमा से अपने को संकुचित की भाँति आभासित करते हुए 'अणु' या जीव कहलाता है—अर्थात् **पशुत्व भी शिव की एक लीला या आत्मप्रच्छादन क्रीडा है**—एक आभासन है—

'इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्भुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते, स च भगवान् स्वातंत्र्य-शक्तिमहिम्ना स्वात्मान संकुचितमिव आभासयन् अणुः' इति उच्यते ।

'व्यापको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसंकोचमुद्रणात् । विचित्रकलकर्मौघवशात्तत्-च्छरीरभाक्' शिव की स्वात्मप्रच्छादन-क्रीडा ही उसे जीव बना देती है । शिव एवं जीव में परमार्थतः कोई भेद नहीं है ।[१]

वह भगवान् अपनी मायाशक्ति के द्वारा (अपनी स्वातंत्र्यशक्ति से अभिन्न रहकर भी) अपने द्वारा अपने को संकुचित जैसा अवभासित करता हुआ ।

१. **'विज्ञानाकल'** २. **'प्रलयाकल'** ३. एवं **'सकल'** बन जाता है ।

(क) 'विज्ञानाकल' : एकमलोपेत ।
(ख) 'प्रलयाकल' : मलद्वयोपेत ॥
(ग) 'सकल' : मलत्रयोपेत ॥[२]

'पञ्चकंचुक' शिव को मलावृत करके एवं उसके स्वातंत्र्य को संकुचित करके मलावृत संसारी बना देता है । शाब्दी शक्ति भी उसे 'पशु' बनाने में योग देती है । इसलिए 'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

१ -२. जन्ममरणविचारः (वामदेव) ।

१. शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् सपशुः स्मृतः ।।[१]

२. स्वरूपावरण के लिए शाब्दीशक्तियाँ उत्तरदायी हैं—

'स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिता'

३. 'क्रियाशक्ति' ही अज्ञात होने की दशा में बंधन का कारण है किन्तु ज्ञात होने पर सिद्धियाँ प्रदान करती हैं—

'सेयं क्रियात्मिकाशक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बंधयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।।[२]

आत्मा पर चढ़े हुए पञ्चावरण एवं वाग्योग—

'स्पन्दकारिका' में 'शब्दराशि समुत्थस्य...पशुः स्मृतः' (४५. वि०स्पन्द) कहकर शब्द को मल एवं पशुत्व का कारण माना गया है ।
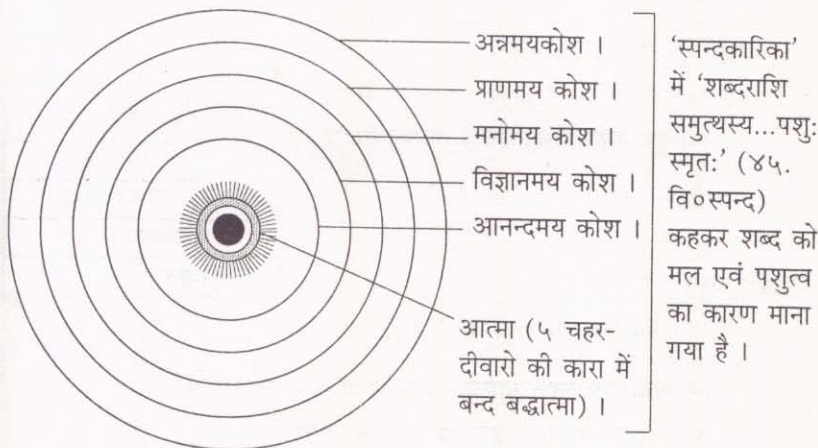
(१) **अ० कोश की शुद्धि**—आसन । तप । प्राणायाम । तत्त्वशुद्धि ।

(२) **प्रा० कोश की शुद्धि**—बंध । मुद्रा । प्राणायाम ।

(३) **मनो० कोश की शुद्धि**—जप । त्राटक । तन्मात्रा साधना । ध्यान ।

(४) **वि० कोश की शुद्धि**—सोऽहं की साधना, स्वर संयम, ग्रंथिभेद आत्मानुभूति ।

(५) **आ० कोश की शुद्धि**—नाद-साधना, बिन्दु-साधना, कला ।

प्रकाशांशरूपरौद्री + विमर्शांशरूप क्रिया का योग—'बैखरीवाक्' = 'रौद्रीशक्ति' ।।

'परावाक्' = चित्शक्ति ।—(पदार्थादर्श) ।

बैखरी वाक्-विखर (शरीर)—

अर्थात् शरीरोद्भवा, शरीरेन्द्रियपर्यन्त चेष्टासंवादिका वाणी बैखरी है—'विखरः शरीरं तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासंपादिका इत्यर्थः ।। (ई०प्र०वि०वि० १।५)

१.-२. स्पन्दकारिका ।
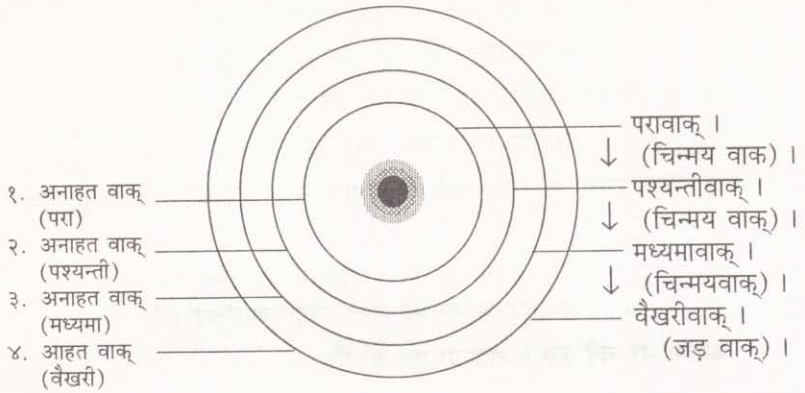
(१) विवक्षात्मक अनुसंधान = सूक्ष्म बैखरी

(२) स्फुटवर्णों की उत्पादिका = स्थूल बैखरी

(३) अनुपाधिमान चिदात्मक = पररूप बैखरी

परावाक्
पश्यन्तीवाक्
मध्यमावाक्
वैखरीवाक्
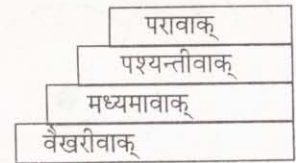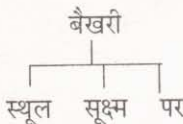
—तन्त्रालोक (तृ०आ० २४६)

पञ्चशक्तियाँ एवं वाक्चतुष्टय 'योगिनीहृदय' (चक्रसंकेत)—

१. आत्मन:स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कला ।
अम्बिका रूपमापन्ना **परा**वाक समुदीरिता ॥ (१।३६ यो०हृ०) ।

२. बीजभावस्थितं विश्वं स्फुटीकर्तु यदोन्मुखी ।
वामाविश्वस्य वमनादंकुशाकारतां गता ॥ (यो०हृ० १।३७)

३. **इच्छाशक्ति**स्तदा सेयं **पश्यन्ती** वपुषा स्थिता ।
ज्ञानशक्तिस्तथा **ज्येष्ठा मध्यमा** वागुदीरिता ॥ (१।३८)

४. ऋजुरेखामयी विश्वस्थितौ प्रथितविग्रहा ।
तत्संहृतिदशायां तु बैन्दवं रूपमास्थिता ॥ (१।३९)
प्रत्यावृत्तिक्रमेणैवं शृंगाटवपुरुज्ज्वला ।
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं **बैखरी** विश्वविग्रहा ॥ (योगिनीहृदय १।४०)

१. **इच्छाशक्तिर्वामाशक्ति**-सामरस्यमापन्ना **पश्यन्ती**रूपेण स्थिता ।

२. ऋजुरेखामयी अत्र शृंगाटाग्ररेखाकारा **मध्यमा** वागुदीरिता **मध्यमा**मातृका-त्वमापन्ना ॥

३. **बैखरीविश्वविग्रहा** वाग्रूपप्रपञ्चमयबैखरीरूपा जाता ।

सृष्टि = एक क्रीड़ा है—'हर्षानुसारी स्पन्द' है—सोमानन्द: 'शिवदृष्टि'

'यथा नृप: सार्वभौम: प्रभावामोदभावित: ।
क्रीडन्करोति पादातधर्मास्तद्धर्मधर्मत: ।
तथा प्रभु: **प्रमोदात्मा** क्रीडत्येवं तथा तथा ।। (शिवदृष्टि) ।
हर्षानुसारी स्पन्द: क्रीडा ।। (सोमानन्द) ।।

परोपादाननिरपेक्ष इच्छासृष्टिवाद—

योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता ।
न चास्ति साधनं किंचिन्मृदादीच्छा विना प्रभो: ।
तथा भगविदच्छैव तथात्वेन प्रजायते ।। (शिवदृष्टि)

सर्वशिववाद— 'एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता ।।
'सर्वस्य शिवरूपत्वस्' (शिवदृष्टि)
एवं सर्व पदार्थानां समैव शिवता स्थिता ।।' (सोमानन्द)

(अण्ड चतुष्टयात्मक) विश्व—
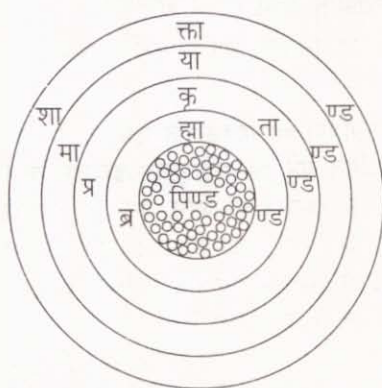
शिव तत्त्व शान्त्यातीत कला	अण्ड-हीन
शाक्ताण्ड शान्ति कला	शुद्धाध्वा में स्थित । मायोपरि । ज्योतिर्मय शुद्ध सत्त्वात्मक । शुद्ध विद्या । सदाशिव एवं ईश्वर = उपादान तत्त्व ।
मायाण्ड शान्ति कला	एक मायाण्ड में असंख्य प्रकृत्यण्ड स्थित हैं ।
प्रकृत्यण्ड प्रतिष्ठा कला	१. असंख्य । २. जल तत्त्व से प्रकृति पर्यन्त । ३. प्र० में असंख्य ब्रह्माण्ड हैं । ४. उपादान—जल से प्रकृति तत्त्व समूह ।
ब्रह्माण्ड निवृत्ति कला	१. असंख्य । २.→१४ लोक (पुराण) (७ ऊर्ध्व + ७ अधोलोक)
	जगत—'कदाचिदात्म प्रच्छादनात्मकाभेदाख्यातिमयीं संसार रूपां भ्रान्तिं क्रीडामेव कथंचन तथा स्वभावत्वात् कुर्वतो'—सोमानन्द ।

(१) मायोपरिस्तर पर संक्षुब्ध 'बिन्दु'→ नाद-ज्योति (वाच्य वाचक अध्वा)

(२) वाचकाध्वा में—वर्ण, पद, मन्त्र ।

(३) वाच्याध्वा में—

(क) कला, (तत्त्व, भुवन)

↓

शान्त्यतीत शान्ति विद्या प्रतिष्ठा निवृत्ति

(ख,ग) तत्त्व — ३६ ; भुवन — असंख्य

वैष्णव, शैव एवं बौद्ध—

१. वै० शैव = शुद्ध जगत् होता है ।

२. बौद्ध = अनाश्रव धातु शुद्ध जगत् है । (माहायानिक बौद्ध)
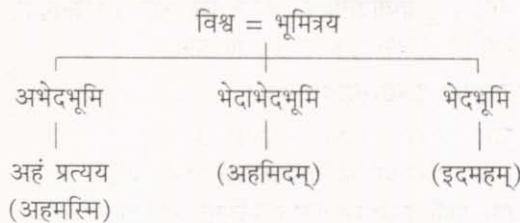
('व्यपदेष्टुमशक्यासौ अकथ्या परमार्थतः ।'—वि०भै०) (न यहाँ शिव, न शक्ति न विश्वामयता और न विश्वोत्तीर्णता—किसी का भी पता नहीं है) यहाँ 'इदम्' का सर्वथा अभाव है ।

परतत्त्व और जगत—

'यत् पर तत्त्वं तस्मिन् विभाति का षट्त्रिंशदात्म जगत् ॥—('परमार्थसार')

औन्मुख्य → इच्छाशक्ति → (परमेश्वर का विश्वचिकार्षा रूप परामर्श या इच्छात्मक विमर्श)—(शिवदृष्टिवृत्ति) ।

'इच्छाशक्ति'—परमेश्वर की बहिरुल्लिलासयिषा = परमेश्वर के ऐश्वर्य (आनन्द) का चमत्कार या उसका विश्वात्मक भाव से उल्लसित होने की अभिलाषा! **इच्छाशक्ति** । इच्छाशक्ति का विकसित होकर विश्व रूपी कार्य के प्रकाशन की शक्ति बनने पर उसकी अभिख्या = **'ज्ञानशक्ति'** ॥ ज्ञान प्रक्रिया के दो रूप—१. 'ज्ञानशक्ति' ॥ ज्ञान प्रक्रिया के दो रूप—१. ज्ञातृरूप । २. ज्ञेयरूप ॥ (चिदात्मा ज्ञाता + ज्ञेय रूप । (चिदात्मा ज्ञाता + ज्ञेय रूपों में अपना अवभासन करता है ।) ज्ञातृ + ज्ञेय दोनों रूपों का अव-भासन करके जो शक्ति ज्ञान कराती है वही **'ज्ञानशक्ति'** है ॥ शिव की इच्छा का अन्तर्मुख स्पन्द = **'ज्ञानशक्ति'** और शिव का बहिर्मुख स्पन्द = **'क्रियाशक्ति'** । शिव जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मकभाव से नाना पदार्थों का भेदावभासन करता है उस **'भासना'** को ही **'क्रियाशक्ति'** कहते हैं । समस्त विश्वस्फार = क्रियाशक्ति का स्वरूप है। इच्छा—शिव के विमर्श (स्वातंत्र्य) का प्रकाश (स्वरूप परामर्श) ही उसकी चिकीर्षारूपा इच्छा है ।

परमशिव का शक्ति पचक

चित् शक्ति	आनन्द शक्ति	इच्छा शक्ति	ज्ञान शक्ति	क्रिया शक्ति
(प्रकाश = चित् अंश) (शिवभाव)	(आनंद अंश = विमर्श) (शक्तिभाव)	चिदंश + प्रकाशांश (प्रकाश+ विमर्श) का सामरस्य = परमभाव		
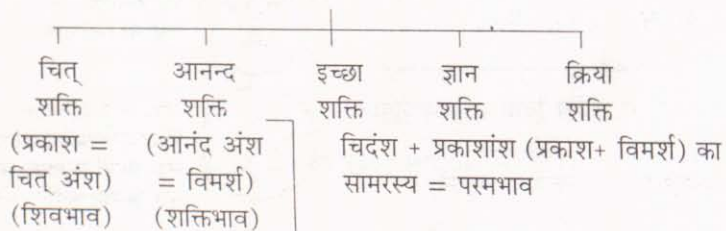
'जगत' = परमशिव की शक्ति है । **शिव की शिवता**—इच्छारूपा स्वातंत्र्य शक्ति ही शिव की शिवता है । जो शिवता (शक्ति) है वही शिव है 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥' (तन्त्रा०) **'सृष्टि'**—चिदात्मा की आनन्दोच्छलित स्वभाव क्रीड़ा ॥

'विश्व' = विश्वं शिवादिभूम्यन्तनामरूपात्मके' ('दीपिका:' अमृतानन्दनाथ)

'विश्व' = आत्मप्रच्छादन क्रीडा 'आत्मप्रच्छादनक्रीडां कुर्वतो वा कथंचन । मायारूपमितीत्यादि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपताम् ॥' (सोमानन्द—शिवदृष्टि)

[६] सृष्टि-विधान जगत् का उपादान—१. 'विवर्त', २. 'परिणाम' ।

'विवर्त' = अवस्थान्तरभानं तु विवर्तो रज्जुसपर्वत् ।

'परिणाम' = अवस्थान्तीतापत्तिरेकस्य 'परिणामिता' ।
स्यात्क्षीरं दधिमृदं **कुम्भः** सुवर्णे कुण्डलं यथा ॥ (पञ्चदशी) ।

'आरम्भवाद' = आरंभवादिनोऽन्य अन्यस्योसन्तिभूचिरे ।
तन्तोः पटस्य निष्पत्तेभिन्नौ तन्तु पटौ खलु ।

आरम्भवादी (वैशेषिक न्याय वाले) कहते हैं कि अन्य (कार्य से सर्वथा भिन्न रहने वाले कारण) सामान्य (अर्थात् कार्य नामक) वस्तु उत्पन्न होती है जो उससे सर्वथा भिन्न होती है । वे कहते हैं कि तन्तु से पट की उत्पत्ति होती है । साँख्य को देखें तो उसकी सृष्टि की प्रक्रिया निम्नांकित है—

सांख्य का सिद्धान्त—
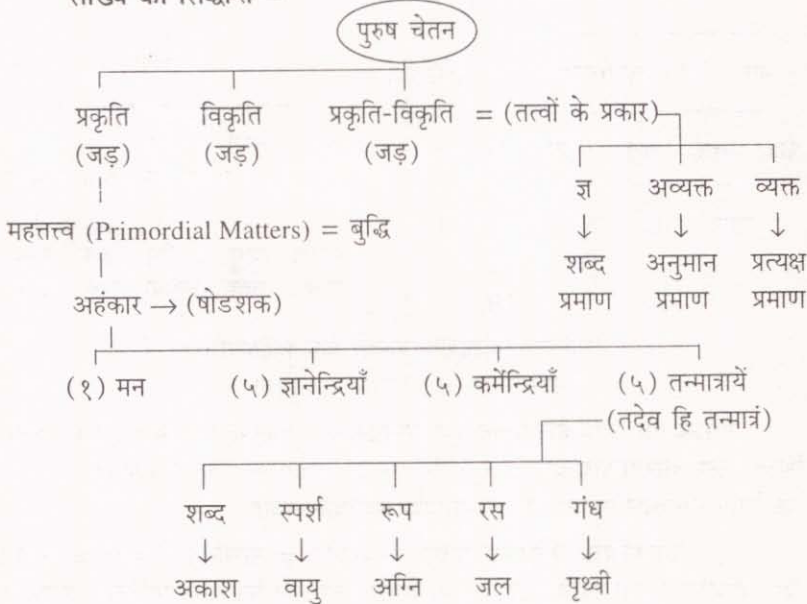
'स्पन्दशास्त्र में प्रकृति की सहायता के बिना ही परमात्मा = पञ्चकृत्य विधायक है। **'स्पन्दशास्त्र'** = 'स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति' = जगत् का कारण चिति शक्ति ॥

यह भी मान्यता है कि—पञ्चभूतों का सात्त्विक अंश → ज्ञानेन्द्रियाँ।

पञ्चभूतों का राजस अंश → कर्मेन्द्रियाँ।

पञ्चभूतों का तामस अंश → ५ प्राण ॥

'स्पन्दशास्त्र'—सृष्टि का कारण—'भगवती चिति'—'पराशक्तिः चितिः एव भगवती स्वतन्त्रा अनुत्तरविमर्शमयी शिवभट्टारिका भिन्ना हेतुः कारणम् ॥ (प्र०हृ०)

नित्य तत्त्व = (१) 'पुरुष' (चेतन), (२) 'प्रकृति' (जड़)।

'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्चषोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥'
अभिमानोऽहंकारस्तस्माद द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥ —सांख्यकारिका

पुरुष + प्रकृति का संयोग—सृष्टि
|
महत्तत्व (बुद्धि)

सात्विक अहंकारः (११)
- १ मन
- ५ ज्ञानेन्द्रियाँ: श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण
- ५ कर्मेन्द्रियाँ: पाणि, पाद, पायु (गुदा), उपस्थ (लिंग योनि), वाक्

तामस अहंकार (५)
- ५ तन्मात्रायें:
  - शब्द तन्मात्रा ↓ आकाश तत्त्व
  - स्पर्श तन्मात्रा ↓ वायु तत्त्व
  - रूप तन्मात्रा ↓ अग्नि तत्त्व
  - रस तन्मात्रा ↓ जल तत्त्व
  - गंध तन्मात्रा ↓ पृथ्वी तत्त्व
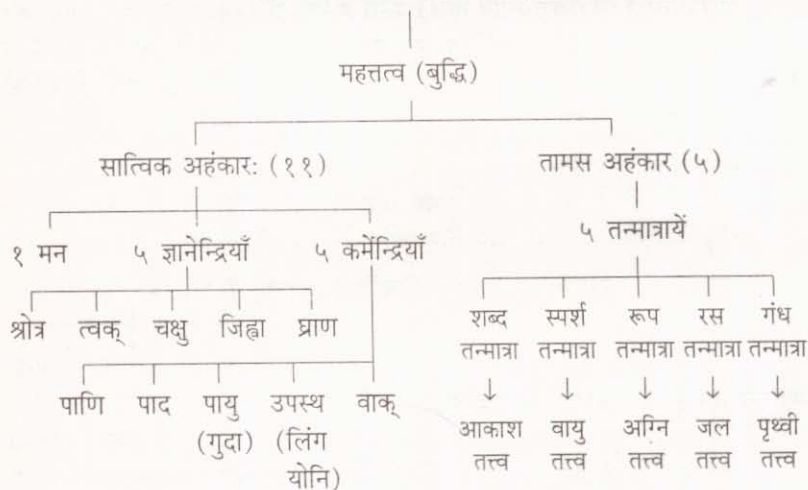
'सात्विक एकादशक प्रवर्तते वैकृतादहंकारात्।
भेतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥

सांख्य का कार्यकारणवाद का सिद्धान्त—'सत्कार्यवाद' **'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' का कारणकार्यवाद**—इन दर्शनों में दो प्रकार का 'कार्यकारणवाद' है—१. **'कल्पित कार्यकारणवाद'** २. **पारमार्थिक कार्यकारणवाद**।

१. 'पारमार्थिक कार्यकारणवाद'—'कारण' = परसंवित्। कार्य = अनन्त विश्व वैचित्र्य भगवती **चिति** (पूर्णाहं विमर्शात्मक तत्त्व) जो कि अनन्तरूपात्मक जगत् के रूप में स्फुरित होती है **पारमार्थिक कार्यकारणभाव** है।

२. **'कल्पितकार्यकारणभाव'**—'शुद्धाध्वा' (शिव । शक्ति । सदाशिव । ईश्वर । शुद्ध विद्या)—अशुद्धअध्वा' ॥ महामाया—कला—पञ्चकचुक ।—'मल' = आणव । मायीय कार्य मल । पशुपति पशु बन जाता है । आचार्य क्षेमराज कहते हैं—

'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदान्तजगदात्मना ।
स्फुरति इत्येतावत्परमार्थोऽयं कार्यकारणभाव: ॥ (प्र०हृदयम्)

शब्द-सृष्टिवाद
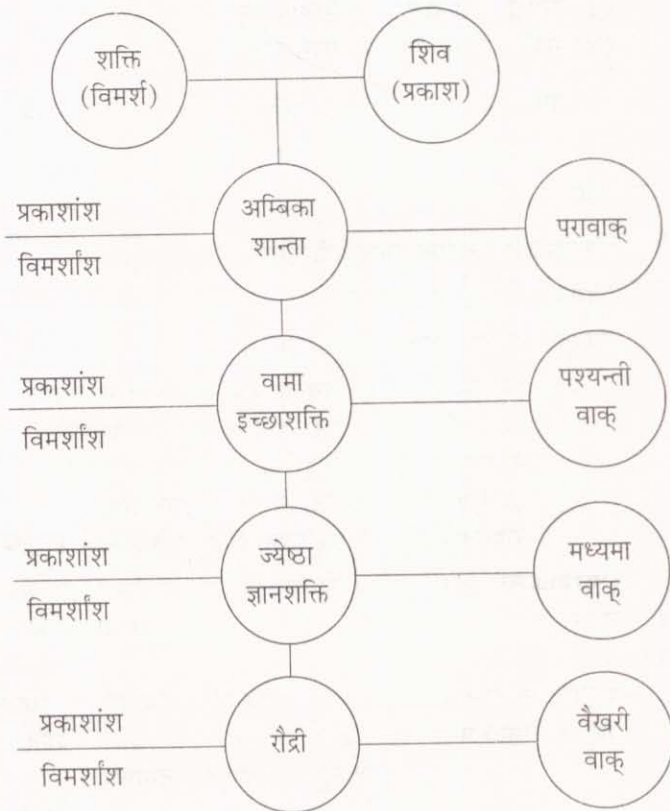
जगत् शब्द का विवर्त है—भर्तृहरि ॥

सारांश— (१) अम्बिका + शान्ता → परावाक् ।
(२) वामा + इच्छा का सामरस्य → पश्यन्ती वाक् ।
(३) ज्येष्ठा + ज्ञानशक्ति का सामरस्य → मध्यमा वाक् ।
(४) रौद्री + क्रियाशक्ति का सामरस्य → बैखरी वाक् ।

सामरस्य → वाक चतुष्टय

(१) अम्बिका + शान्ता → 'परावाक्' ।
(२) वामा + इच्छाशक्ति — पश्यन्तीवाक् ।
(३) ज्येष्ठा + ज्ञानशक्ति → मध्यमावाक् ।
(४) रौद्री + क्रियाशक्ति → बैखरी वाक् ।
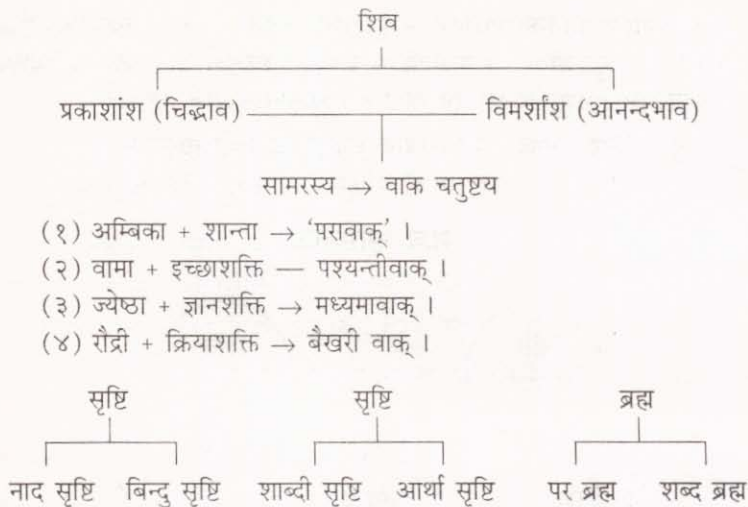
('शब्दब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ॥') ॥

'जगत' = शब्द का विवर्त है—

'विवर्ततेऽर्थभावेन जगतः प्रक्रिया यथा' ।

(१) इच्छाशक्ति → का पश्यन्ती वाक् के रूप में रूपान्तरण ।
(२) ज्ञानशक्ति → का ज्येष्ठा वाक् के रूप में रूपान्तरण ।
(३) मध्यमावाक् → का ऋजु रेखा के रूप में रूपान्तरण ।
(४) क्रिया शक्ति → का रौद्री के रूप में रूपान्तरण ।
(५) बैखरीवाक् → का विश्वविग्रह (विश्ववपु के रूप में रूपान्तरण)

(**'परमाकला'** द्वारा परमशिव की सिसृक्षात्मिका स्फुरणा-दिदृक्षा सम्बंधी औत्सुक्य → 'अम्बिका' का रूप धारण करना और उसी रूप में **'परावाक्'** का अभिधान प्राप्त करना) ।

पशुपति की शक्तियाँ—	'ज्ञान'	'क्रिया'	'माया'	स्वातंत्र्यात्मा चिति
पशु की स्थिति में	↓	↓	↓	शक्ति का रूपान्तरण
	सत्वगुण	रजोगुण	तमोगुण	↓
				गुणत्रयात्मक **'चित्त'**

'स्वातंत्र्यात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशायां संकोचप्रकर्षात् सत्वरजस्तमःस्वभावचित्तात्मतया स्फुरति' ।

'स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥ (प्रत्य० हृदयम्)

'चित्त' = भगवती । 'न चित्तं नाम अन्यत्किंचित् अपितु सैव भगवती तत् । तथा हि सा स्वं स्वरूपं गोपयित्वा यदा संकोचं गृह्णाति तदा द्वयी गतिः, कदाचित् उल्लसित-

मपि संकोचं गुणीकृत्य **चित्प्राधान्येन स्फुरति** कदाचित् संकोचप्राधानतया । **चित्प्राधान्य-पक्षे** सहजे प्रकाशमात्रप्रधानत्वे **विज्ञानाकलता** प्रकाशपरामर्शप्रधानत्वे तु विद्याप्रमातृता ।'

भगवती चिति के दो रूप—(१) चित्प्राधान्य, (२) संकोचप्राधान्य ।

भगवती चिति → चित्प्राधान्य → विज्ञानाकल (प्रकाशप्रधान) ।
↓
प्रकाश-विमर्श → दोनों का प्राधान्य → विद्या तत्त्वाश्रित प्रमातृता ।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

(१) 'पदार्थादर्श' (आगमानुष्ठान) के अनुसार—मूलवाक् चितिशक्ति है—

'चिच्छक्तिरेव पराख्या चैतन्याभासविशिष्टतया प्रकाशिकामाया निष्यन्दा परावागि-त्यर्थः ॥'

(२) लक्ष्मीधरी टीका (सौ०ल०) के अनुसार—गुणत्रय की साम्यावस्था 'परा' है और उसकी वैषम्यावस्था 'पश्यन्ती' है—'एकापरेति सत्वरजस्तमोगुणसाम्यरूपा तदन्या पश्यन्ती अन्यतरगुणवैषम्यरूपा' ।

विश्लेषण—सांख्य की स्थूल प्रकृति को जो कि जड़ है उसे चैतन्यघन एवं शिव की चिदानन्दस्वरूपा **'परावाक्'** कहना समीचीन नहीं है । इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि पारमात्मिक शक्तियाँ संकुचित होकर सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण बन जाती हैं—

'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः ॥ ('ईश्वरप्रत्यभिज्ञा') ।

सांख्य की प्रकृति अशुद्ध है । शुद्ध प्रकृति में इच्छादिक शक्तियाँ स्थित रहती हैं किन्तु सांख्य की प्रकृति में नहीं । **योगसूत्र के व्यासभाष्य** में तो कहा गया है कि गुणों का परमरूप कभी दृष्टिगत नहीं होता । दृष्टिगत रूप माया की भाँति तुच्छ होता है—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥'

मूल महाप्रकृति 'परावाक्' के निकट अवश्य है ।

परमेश्वर की सृजन-प्रक्रिया में अन्यनिरपेक्षता ही **'प्रतिभा'** एवं **'परावाक्'** है—यही 'प्रतिभा देवी' है । यही चित्स्वरूपा, स्वरसोदिता **'परावाक्'** है । शब्द की चरमावस्था ही **'परावाक्'** है ।

'मध्यमा' → स्थूल मध्यमा, सूक्ष्म मध्यमा, पर मध्यमा — 'तन्त्रालोक' (३ आ०) ॥

'पश्यन्ती' → (इच्छा शक्ति का रूप = पश्यन्ती) → स्थूल प०, सूक्ष्म प०, पर प०

व्याकरणागम—वाणी के मात्र ३ रूप हैं—

(१) अनादिनिधन शब्दब्रह्म **'पश्यन्ती'**—सोमानन्दपाद में 'शब्दपरब्रह्माद्वयवाद' का खण्डन करके 'ईश्वराद्वयवाद' का मण्डन किया है ।

'मूलाधारात् प्रथममुदितो यश्च भावः पराख्यः ॥' (प्र०सा०तन्त्र)

विमर्शात्मा स्वातंत्र्यरूप प्रतिभा (परावाक्) ही परमशिव की शक्ति है जिसके कारण शिव **'शक्तिमान्'** कहलाते हैं ।

ब्रह्म→
- शब्द ब्रह्म — अपर प्रणव ॥
- अर्थ ब्रह्म — पर प्रणव ॥
- पर ब्रह्म

सृष्टि →
- शब्दमयी
- अर्थमयी
- चक्रमयी
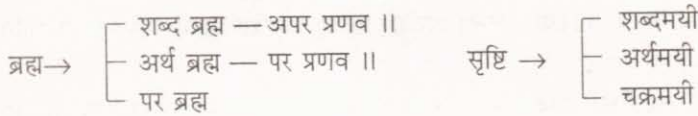
निश्चल (निस्पन्द) परावाक् रूप प्रणवात्मक कुण्डलिनी शक्ति ही 'प्रकृति' है ।

भास्करराय—(१) शब्दब्रह्मरूप बीज की उच्छूनावस्था = **'परावाक्'** (२) स्फुटितावस्था = **'पश्यन्तीवाक्'** (३) मुकुलित, अव्यक्त किन्तु दलद्वयावस्था = **'मध्यमावाक्'** (४) सम्यक् विकसितावस्था = **'बैखरीवाक्'**—('सौभाग्य भास्कर') **'कुण्डलिनी'** वाक्रूपा है ।

कुण्डलिनी—
- मूलाधार में 'अग्निकुण्डलिनी' ।
- हृदय में 'सूर्य कुण्डलिनी' ।
- भ्रूमध्य में 'सोमकुण्डलिनी' ।
- मूलाधार-अधोगत वाग्भावाकार त्रिकोण में—'समष्टि कुण्डलिनी' ।
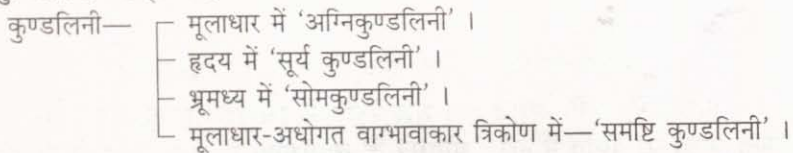
सर्वशिवत्ववाद का प्रतिपादन—आचार्य **सोमानन्द पाद** कहते हैं—

'सर्वशिवत्वमिदानीं स्वरूपेणोपपादयितुमाह—'अथेदानी प्रवक्तव्यं यथा सर्वं शिवात्मकम् । ('शिवदृष्टि') ॥

[७] साधनान्तर्गत आत्मचैतन्य की विविध अवस्थायें एवं मोक्ष के उपाय—(तन्त्रालोकः आ०५)

	(शांभव)	(शाक्त)	(आणव)
'शांभवोपाय' या 'अनुपाय' का स्तर	अभेद की चिन्मयदशा में प्रथम, सर्वोत्कृष्ट एवं उत्तमोत्तम दशा—'स्वात्म-साक्षात्कार' (परप्रमाता): **'शांभवोपाय'** (योगी का प्रवेश = 'भैरव महाभाव' में) सार्वात्म्य-ऐश्वर्य ब्रह्म-द्रव का उद्रेक = पूर्ण तत्वामृत का निष्यंद ॥	भेदाभेदमयीदशा (इसमें इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से ज्ञत्व एवं कर्तृत्व की संकुचित अनुभूति होती है) 'बुद्धिप्रमाता' = स्वान्तःकरण की वृत्तियों के संचार से बुद्धि प्रमाता विवश हो जाता है । **'शाक्तोपाय'** ।	भेदावस्था (देह प्रमाता की अनुभूति) सुख,दुःख, इष्ट अनिष्ट आदि का संचार होता रहता है । **(आणवोपाय)** **'मोक्ष'** = 'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः ॥' —तन्त्रा०

'भेदावस्था' की दो दशायें हैं अन्यथा इसे साधना नहीं बंधन की अवस्था कहना अधिक उपपन्न होता ॥ **स्वात्मास्था में विश्रान्त योगी की जो भेदावस्था होती है** वह उसमें (भेदावस्था में) अभेदभावना का लाभ प्राप्त करता है और भेदमयता की स्थिति में भी योगी अभेद रूपात्मक स्थिति से विभूषित रहते हैं—'बहिस्तत्तदव्यवहारपरत्वेऽपि स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परं चमत्कारातिशयमनुभवन्ति'[१] 'भेदमयत्वेऽपि अभेदरूपतयावस्थान-मिति'।[२] भेदमयत्वेऽपि अभेदरूपत्वमिति ।[३]

—आत्मन: स्वरूप प्रथनमेव **मोक्ष:** (विवेक) ।

'ब्राह्मस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमव्ययमश्नुते ॥ (गी०५।२१)[४]

मुक्ति के उपाय—'तन्त्रालोक' में मुक्ति के निम्न उपाय बताए गये हैं—

(१) अनुपाय, (२) शांभावोपाय, (३) शाक्तोपाय, (४) आणवोपाय ।

शिवसूत्रों के तीन अध्यायों का नाम भी यही है—'शांभवोपाय', 'शाक्तोपाय' एवं 'आणवोपाय' ॥
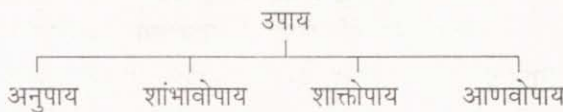
(१) **'अनुपाय'**—यह मात्र गुरु या भगवान् के अनुग्रह पर ही आश्रित है । इसमें सकृत उपदेश के द्वारा अपनी आत्मा प्रकाशित हो उठती है । इसमें भावनाओं की पुनरावृत्तियाँ आवश्यक नहीं होतीं । सकृद्देशना ही इसका साधना-संसार है क्योंकि एक बार का उपदेश ही साधक को आत्मपरामर्शात्मक स्वरूपोपलब्धि का पर्याय बन जाता है । एक दीपक से दूसरे दीपक का जल उठना ही 'अनुपाय' है । इसे **'आनन्दोपाय'** भी कहते हैं । किसी सिद्ध या योगिनी के संदर्शन मात्र से ही संवित्-संक्रमण की घटनायें भी दिखाई पड़ती हैं । ये 'अनुपाय' के उदाहरण हैं । शांभव मार्ग = **'इच्छोपाय'**, शाक्त समावेश = **'ज्ञानोपाय'** एवं **'आणवोपाय'** = क्रियोपाय कहलाते हैं—

विभुशक्त्यणुसंबंधात् समावेशस्त्रिधा मत: ।
इच्छा-ज्ञान-क्रिया योगादुत्तरोत्तरसंभृत: ॥ (जयरथ)

उत्कृष्टतम, अनुत्तर एवं तीनों उपायों से **श्रेष्ठतर ज्ञान आनन्दशक्ति में विश्रान्त हैं**—

'ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्णितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते' ॥ २४२ ॥

'अनुपाय'—'शांभवोपाय' दोनों अभेद के स्तर की साधनायें हैं । बिन्दु—अर्द्ध-चन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी-समना को अतिक्रान्त करना → ऊर्ध्वकुण्ड-लिनी पद की प्राप्ति—(जयरथ—'विवेक' आ०५। श्लोक ५६) ।

---

१. जयरथ—विवेक (पृ० ३०६, आ० ५) । २-४. जयरथ—'विवेक' ।

अनुपाय—समावेश विश्रान्त योगी को यह प्रतीत होने लगता है कि यह निखिल समुल्लसित भावमण्डल पूर्णतः संवित्तिरूपी भैरवीभाव के प्रकाश में समाहित हो रहा है।[1]

'शांभवोपाय' का चरम रूप ही 'अनुपाय' है—

'साक्षादुपायेन इति शांभवेन। तदेव हि अव्यवहितं परज्ञानावाप्तौ निमित्तं स एव परांकाष्ठां प्राप्तश्चानुपाय इत्युच्यते'' ॥ (तन्त्रा० आ० १।१८२)

(२) **शांभवोपाय**—

हठपाक क्रम या शांभवोपाय—स्वात्मपरामर्श एवं स्वरूपोपलब्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट उपाय शांभवोपाय है जो अभेदात्मक स्तर पर स्थित है। इसमें अभेदभावना का परामर्श आवश्यक है।

'संपूर्ण (प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय रूप) जगत् मुझ परबोध शिव से ही उत्पन्न हुआ है। वह अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्तवत् मुझ में अवस्थित् एवं मुझसे सर्वथा अभिन्न है।'—यही परामर्श 'शांभवोपाय' है—

'मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शांभवः' ॥ (तन्त्रालोक आ० ३)

अभिनवगुप्त इस शांभव परामर्श को और सुस्पष्ट करते हुए उसका परामर्श इस प्रकार निरूपित करते हैं—

मैं अपने **आत्मारूपी चिदाकाश** में विश्वावभासन कर रहा हूँ अतएव मैं ही विश्व-स्रष्टा हूँ। संपूर्ण 'षडध्व' (वर्ण, पद, मन्त्र, कला तत्त्व, भुवन) मुझमें ही प्रतिबिम्बित है अतः मैं ही स्थिति का सूत्रधार हूँ। यह संसार मुझ महाज्ञानमय अग्नि में लीन होता जा रहा है। ऐसा सततानुसंधान करने से योगी शान्ति प्राप्त कर लेता है। अनन्त वैचित्र्यात्मक संसार के स्वप्न-गृह को दग्ध करने वाला मैं हुताशन हूँ। यही तुरीय पद एवं शिवत्व प्रदान करता है।[2]

इसे **'शांभव समावेश'** भी कहते हैं। **शांभव समावेश** में अनन्तः चिन्तन का भी त्याग कर दिया जाता है। यहाँ किसी विकल्प की उपयोगिता नहीं रह जाती।

---

१. तन्त्रालोक (२ अ० ३५)।
२. षडध्व जातं निखिलं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
स्थितिकर्ताहमस्मीति स्फुटेयं विश्वरूपता ॥
सदोदितमहाबोधज्वालाजटिलतात्मनि।
विश्वं द्रवति मय्येतदिति पश्यन् प्रशाम्यति ॥
अनन्तचित्रसद्गर्भसंसारस्वानसद्मनः ॥
पोषकः शिव एवाहमित्युल्लासी हुताशनः।
जगतः सर्वमत्त प्रभवति विभेदेन बहुधा ॥
तथाप्येतद्रूढं मयि विगलितेत्वत्र न परः।
तदित्थं यः सृष्टि-स्थिति-विलयमेकीकृतवशा-
दनंशं पश्येत्स स्फुरति हि तुरीयं पदमिति ॥—तन्त्रालोक (आ० ३,२८३-२८७)

गुरुप्रदत्त ज्ञान द्वारा विकल्प विगलित हो जाते हैं। इस अनुत्तरावस्था में भावना आदि की अपेक्षा न रखने वाली अविकल्परूपा संवित् शिव के साथ तादात्म्य स्थापित करने वाली अवस्था का उदय होता है। इसका साधन ही है—'शांभवोपाय'।

१. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधतः।
उत्पद्यते य आवेशः शांभवोऽसावुदीरितः॥ (तन्त्रा०आ०१।१६८)

२. अकिञ्चिन्तकस्येति विकल्पानुपयोगिता।
तथा च झटिति ज्ञेयसमापत्तिर्निरूप्यते॥ (१७१)

३. तेनाविकल्पा संवित्तिर्भावनाद्यनपेक्षिणी।
शिवतादात्म्यमापन्ना समावेशोऽत्र शांभवः॥ (१७८)[1]

समावेशों की संख्या

३ (शांभव। शाक्त। आणव) ५० भेद—'श्रीपूर्वशास्त्र'

भूत	तत्त्व	आत्मा	मन्त्र	शक्ति	(५ रुद्रशक्ति समावेश)
५ भेद	३० भेद	३ भेद	१० भेद	२ भेद	= ५० भेद।

(३) शाक्तोपाय—'तन्त्रालोक' (आ०१।२२०) 'भेदाभेदौ हि शक्तिता': 'शाक्तोपाय, भेदाभेदात्मक है। इसे ही **'ज्ञानोपाय'** भी कहा गया है। **'आत्मैवेदं सर्वं'** का चिन्तन करने पर आत्मा और अनात्मा (आत्मा+इदम्) दो विकल्पांशों की विद्यमानता रहती है-**'आत्मा ही अनात्मा** के रूप से प्रकाशित हो रहा है।'—इस प्रकार पौनःपौन्येन अभ्यास करने पर अभेदपरामर्श प्राप्त होता है। विकल्प निर्विकल्पता में रूपान्तरित हो जाते हैं—यही ज्ञान है। इसीलिए इसे 'ज्ञानोपाय' भी कहते हैं।

भूयो भूयो विकल्पांशनिश्चयक्रमचर्चनात्।
यत्परामर्शमभ्येति **ज्ञानोपायं** तु तद्विदुः॥

उपायत्रय

'अभेदोपाय' (शांभव उपाय)	'भेदाभेदोपाय' (शाक्त उपाय)	'भेदोपाय' (आणव उपाय
'इच्छोपाय'	'ज्ञानोपाय'	'क्रियोपाय'

—अभेदोपायमन्त्रोक्तं शांभवं शाक्तमुच्यते।
—भेदाभेदात्मकोपायं भेदोपायं तदाणवम्॥
—(तन्त्रालोक आ०१)

---

१. ज्ञान

आणव शाक्त शाम्भव
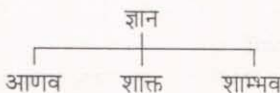
'शाक्तोपाय' क्या है?

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत् ।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोत्राभिधीयते ॥

'इच्छोपाय' क्या है?

तत्राद्ये स्वपरामर्शैनिर्विकल्पैकधामनि ।
यत्स्फुरेत् प्रकटं साक्षात् तदिच्छाख्यं प्रकीर्तितम् ॥ १४६ ॥

'शांभवोपाय' क्या है?

एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदुः ।
शांभवाख्यं समावेशं सुमत्यन्ते निवासिनः ॥ २१३ ॥

'शाक्तोपाय' में **बाह्योच्चार**, **करण**, **ध्यान**, **वर्ण** एवं **स्थान** की कल्पना करके इनकी साधना नहीं की जाती । अतः यहाँ अभेदावस्था ही होने से शाक्तोपाय भेदाभेदमय है—(तन्त्रालोक)—

'उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयत् ।
यः समावेशमाप्नोति शाक्तः सोत्राभिधीयते ॥ (अ० १।१६९)

(४) आणवोपाय—'आणवोपाय' यह भेदप्रधान है । 'अणुषु भेदिषूपायेषु भवः आणवः ॥' इसके अनेक साधन हैं—

उच्चार ध्यान वर्ण करण स्थान
(प्राणायाम एवं मन्त्र जप)
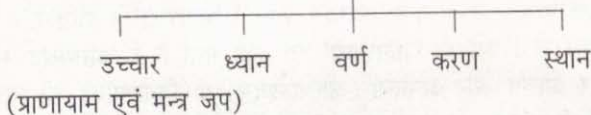
इन पाँचों अंगों से समन्वित समावेश का उपाय 'आणवोपाय' कहा जाता है । यही 'क्रियोपाय' भी कहा जाता है ।

आणवोपाय के साधन एवं उनके उपसाधन[१]

- उच्चार
  - पञ्चप्राणात्मक
  - चिदात्मक
    - चित्प्राधान्य
    - विमर्शप्राधान्य
- करण
  - ग्राह्य
  - ग्राहक
  - संवित्ति
  - संनिवेश
  - व्याप्ति
  - आक्षेप
  - त्याग
- ध्यान
- वर्ण
  - (प्राणात्मक उच्चारण में स्वस्फुरित अनाहत नाद । नाद → वर्ण) (सृष्टि-संहार वीजात्मक वर्ण)
- स्थान
  - प्राण ५ भेद
  - देह २ भेद
  - बाह्य ११ भेद
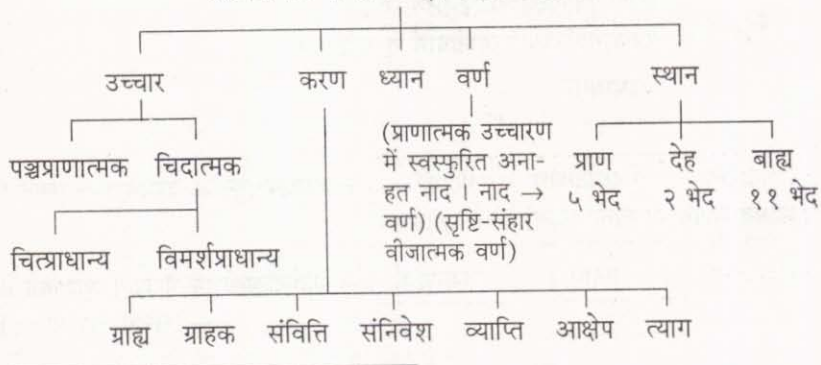
१. उच्चारकरणं ध्यानं वर्णास्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ॥ —तंत्रालोक आ० १/१७०

ग्राह्य ग्राहक चिद्व्याप्तित्यागाक्षेपनिवेशनैः ।
करणं सप्तधा प्राहुरभ्यासं बोधपूर्वकम् ॥ (तन्त्रा० आ०५)

शाक्तोपाय = ज्ञान-प्राधान्य ॥ **आणवोपाय** = क्रिया-प्रधान 'ज्ञान' → १. परज्ञान (सूक्ष्म) : (इच्छा शक्तिप्रधान) 'शांभव ज्ञान'—वैकल्पिक स्थूल, 'शाक्त' एवं 'आणव ज्ञान' ।

मलों की क्षीणता के तारतम्यानुसार ही आत्माओं की भगवद्रूपता होती है ।

शक्तिपात—१. तीव्र-तीव्र २. तीव्र-मध्य ३. तीव्र-मन्द ४. मध्यतीव्र ५. मध्य-मध्य ६. मध्य-मन्द ७. मन्द-तीव्र ८. मन्द-मध्य ९. मन्द-मन्द ॥

वर्ण— 'उक्तो य एष उच्चारस्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थितः ।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः स कथ्यते' ॥ (तन्त्रा०आ०५।१३१-१३२)

क्रियोपाय → ज्ञानोपाय → इच्छोपाय → अनुपाय' ॥ **—उपायत्रय**

'तन्त्रालोक' में कहा गया है कि 'अज्ञान' संसृति का कारण एवं 'ज्ञान' मोक्ष का कारण हैं—

'इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिमीयते ।
अज्ञानं संसृते हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ (तन्त्रा०१।२२)
मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।[१]
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ (तन्त्रा०१।२३)

आणवमल (अज्ञान) के दो रूप हैं । इसके द्वारा स्वरूप का बोध क्षीण हो जाता है ।

आणवमल के भेद ।[२]

स्वात्मस्वातंत्र्य का बोध नहीं होता	बोध के स्वातंत्र्य की हानि होती है क्योंकि संकोच-प्राधान्य रहता है ।

'अज्ञान' का स्वरूप क्या है ? संसारांकुर कारण

'मायीय मल' = जिसमें वेद्य की भिन्नता की प्रतीति प्रमुख होता है ।

'कार्ममल' = जिसके द्वारा संसार अंकुरित होता है—ये दोनों संसारांकुर के कारण हैं । कर्म का निमित्त भी **'मल'** ही होता है—

'मलं कर्मनिमित्तं तुं नैमित्तिकमतः परम्' ॥

अज्ञान के दो रूप हैं—१. **पौरुष अज्ञान**, २. बौद्ध अज्ञान ।[३]

यहाँ **पौरुष अज्ञान** ही विवक्षित है । पौरुष ज्ञान—मोक्ष ॥

बौद्ध अज्ञान = दुष्टाध्यवसायरूप ॥ यह कर्म का कारण नहीं है । यह कर्म ही

---

१. उच्चारणं च प्राणाद्या व्यानान्ताः पंचवृत्तयः ।
आद्या तु प्राणनाभिख्या परोच्चारात्मिका भवेत् ॥ —तंत्रालोक आ० ४

२-३. तन्त्रालोक ।

अज्ञान का कारण है । **बौद्ध अज्ञान** = कर्मोत्पन्न शरीर में होता है शरीर ही संसार है और मायीय हैं शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तित ॥

'सर्वो विकल्पों संसारः' ॥ = **'विकल्प'** = संसार है । बौद्ध ज्ञान भी संसार का ही आविर्भावक है । **दीक्षा**—पौरुष अज्ञान निवृत्त । पौरुष ज्ञान का अधिक महत्त्व है (बौद्ध ज्ञान की अपेक्षा) ।

दीक्षा में पौरुष पाशों (मलों) का शोधन आवश्यक है । बौद्ध पाशों (मलों) का निराकरण विवेक से होता है ।[१]

मोक्ष का तो स्वभाव ही ज्ञान है । अख्याति के अभाव को ही पूर्ण ख्याति कहते हैं । प्रकाशानन्दघन आत्मा का तात्विक रूप पूर्ण ख्याति ही है । इसका प्रथन (संस्कार दृढ़ता) ही 'मोक्ष' है । इस **अज्ञान के अभाव में ही मोक्ष संभव है** । 'तच्च ज्ञान मात्रस्वभावम्' अख्यात्यभाव एव हि पूर्णाख्यातिः, सैव च प्रकाशानन्द घनस्यात्मन-स्तात्विक स्वरूपं तत्प्रथनमेव मोक्ष इति ॥[२]

१. अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है । अज्ञान का अर्थ है—अपूर्ण ज्ञान ज्ञानाभाव नहीं— 'अतो ज्ञेयस्य तन्त्रस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेवं तदज्ञानं शिव-सूत्रेषु भाषितम् (तं० १।२६) ।
ज्ञेयस्य च परं तत्त्वं यः प्रकाशात्मक शिवः ।

शिवसूत्र का द्वितीय सूत्र है—'ज्ञानं बंधः' ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय की त्रिपुटी में ही समस्त दर्शनविज्ञान स्थित है ।[३]

ज्ञेय का परमतत्त्व प्रकाशात्मक शिव ही है । यह द्विविध है—

(क) वस्तु, स्थान, नाम आदि द्वैत की प्रथा पर आधृत ।

(ख) परतत्त्व, चिदानन्दघन परमशिव सर्वत्र समस्तता एवं समरसता से परिपूर्ण परमतत्त्व ।[४]

द्वितीय तत्त्व की एकान्त सत्ता के विपरीत जब नीले, पीले, सुखदुःख आदि द्वैत **प्रथात्मक ज्ञान होते हैं तो ये ज्ञान ही अज्ञान बन जाते हैं, यही अपूर्णज्ञान है, ज्ञान का अभाव नहीं । यही अपूर्ण ज्ञान बंध बन जाता है । यही संसार के अंकुर का कारण है । यही संसृति का हेतु है** । यही है **शिवसूत्र का कथ्य** ।[५]

'चैतन्यमात्मा' + 'ज्ञानं बंधः' इसे दो प्रकार से लिखा जा सकता है—

१. चैतन्यमात्माज्ञानं **बंधः**, २. चैतन्यमात्मा । ज्ञानं बंधः ॥

'त्मा' + 'ज्ञा' के मध्य 'अ' का प्रश्लेष करने पर 'ज्ञानम्' ही 'अज्ञानम्' बन जाता है । अज्ञान का अर्थ है—अपूर्ण ज्ञान + ज्ञान का अर्थ है—द्वैत प्रथात्मक ज्ञान ।

१-३. विवेक । ४. तन्त्रालोक ।
५. विवेक ।

(तन्त्रालोक १।२६-२७) 'ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ।।' 'ज्ञानं बंध: अज्ञानं बंध: ।' 'अज्ञानशब्दस्य अपूर्णज्ञानाभिधानलक्षण:' 'द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वात् बंध उच्यते' (तन्त्रालोक) ।[१]

१. संविदद्वैतात्मन: पूर्णस्य रूपस्य अख्यानात् 'द्वैतप्रथा' एवं 'अज्ञानम्' ।[२]

२. अपूर्ण ज्ञानमपूर्णत्वाच्च तदेव अपूर्णमन्यता शुभाशुभ वासना शरीर-भुवनाकार स्वभावविविध संकुचितज्ञानरूपतया मलत्रयात्मा 'बंध' इति उच्यते ।[३]

३. 'मलं कर्म च मायीय माणवमखिलं च यत् ।'[४]

४. नन्वत्र द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णं ज्ञानमेव 'अज्ञानम्' ।

५. स्वातंत्र्य के अतिरिक्त तुच्छ एवं अतुच्छ रूप कोई अन्य मोक्ष नहीं है ।

(क) यदि तुच्छ मोक्ष है तो बंध है ।[५]

(ख) यदि अतुच्छ है तो पारमार्थिक होने के कारण स्वतन्त्रात्मा मोक्ष ही है ।[६]

क) स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन ।
न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङनामापि गृह्यते ।। (१।३१)

ख) मोक्षो हि नाम नैवान्य: स्वरूप प्रथनं हि स: ।[७]
स्वरूपं चात्मन: संवित् ।।

ग) यत्तु ज्ञेयसतत्त्वस्य पूर्णंपूर्णप्रथात्मकम् ।
यदुत्तरोत्तरं ज्ञानं तत्तत्संसारशान्तिदम् ।। (१।३२)

मोक्ष = स्वरूप प्रथन ।। **आत्मा** = संविद्रूप ।।[८]

आत्मा एवं मोक्ष दोनों के एक लक्षण हैं—

'इह तावदात्मज्ञानं मोक्ष' 'यदेवात्मनोलक्षणस्तदेव मोक्षस्य ।'

योगाचार— रागादिकलुशं चित्तं संसारस्तद्विमुक्तता ।
संक्षेपात्कथितो मोक्ष: प्रहीनावरणैर्जिनै: ।।[९]

रागादि—कलुषित चित्त = 'संसार' है और उनसे विमुक्ति ही मोक्ष है । चित्त मल का आश्रय है । मल आगन्तुक है । **मलों का क्षय**—स्वत: प्रभास्वरता ।। शैव इस मत को नहीं मानते ।।

सांख्य—सुखदु:खों आदि द्वन्द्वों से शून्य पौरुष ज्ञान ही मोक्ष है ।

अध्वा—बंधन ।। **पूर्णज्ञान**—मुक्ति ।।[१०]

'ज्ञान'—अज्ञान अवच्छेदात्मक है । संकोच प्रवर्धक है । इदन्ता का परामर्श देता है । ज्ञान-अज्ञान के भेद—१. पौरुष ज्ञान, २. बौद्ध ज्ञान, १. पौरुष प्रज्ञान, २. बौद्ध अज्ञान । पुरुष का अज्ञान = 'मल' । शिव—मल ।[११]

१-११. तन्त्रालोक—विवेक ।

'मल' = शिवता का आवरक, स्व का चिदात्मक उल्लास का आवरक, शिव के दृक (ज्ञान) क्रिया शक्तियों को संकुचित करने वाला ॥ पशुपति → पशु ।

शिव के ६ रूप—१. भुवन, २. विग्रह, ३. ज्योति, ४. आकाश, ५. शब्द, ६. मन्त्र ।

भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।
बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥ (१।६३)[१]
बिन्दुनादस्तथा व्योम मन्त्रो भुवनविग्रहो ।
षडवस्त्वात्मा शिवो ध्येयः फलभेदेन साधकैः ॥

इस शिव का एक ही स्वभावभूत धर्म है—'अहंप्रत्यवमर्श' 'अहंप्रत्यवमर्शाख्यो हि स्वभावभूतो धर्मोऽस्ति ॥'[२]

'स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः (प्र० १। अ० ५। आ० १३)

परमात्मा का स्वातंत्र्य ही उसका मुख्य ऐश्वर्य है । यही उसकी शक्तिमत्ता का द्योतक है । उसकी शक्ति इच्छा है—

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥[३]

परमात्मा की यह शक्ति केवल एक है फिर भी नानारूपावभासित है । **पुरुष का अज्ञान** = 'मल' है । **'मल'** = शिव से उद्भूत है । यह मल स्व के चिदात्मक उल्लास का अवच्छेदक या आवरक है ।

आत्मा मलिन कैसे होती है ? (नेत्रतन्त्र)—

तत्सम्बंधात्समलिनो ह्यस्वतन्त्रोऽप्यशक्तिमान् ।
अविशुद्धो ह्यसौ तस्मान्मलत्रय निरोधतः ॥ १४६ ॥ (नेत्रतन्त्र)[४]

'आणव मल'—चिन्मय के साथ मल योग कैसे ?

निर्मलो वा कथं सक्तो भोगेषु एतद्विरुध्यते ।
शुद्धो भोगी न सिद्ध्येत्तु विकल्पो भोग उच्यते ॥ (१४७ नेत्रतन्त्र)[५]
विकल्पमात्र संसारः पशोः संसरणं सदा ।
संसार्यस्य च बद्धस्य निर्मलत्वं न युज्यते ॥ (१४८) (ने०तं०)

१. पूर्णचिदानन्दघनस्य विशुद्धस्य कथमशुद्धभोगाकांक्षा स्यात् ?

२. माया शक्त्या उल्लासित अपूर्णांमन्यतात्मकं आणवमलभाज एव 'किंचिन्मे-स्यात्' इति रागतत्वात्मा अभिलाषो घटते । (ने०तं०)

३. शुद्धस्य चिदानन्दघनस्य न सुखदुःखप्रतिपत्यात्मा विकल्प परमार्थो भोगः संसरणसतत्व उपपद्यते ।

१-३. तन्त्रालोक—विवेक । ४-५. नेत्रतन्त्र ।

'पशु' कौन है ? यही मलयोग संपृक्त चेतन।

'आणवमल' क्या है?

आणवोऽयं मल: सूक्ष्म: कार्यतो ह्युपपद्यते।
अभिलाषस्तत: कार्यो भोगादौ स प्रवर्तक:? (नेत्रतन्त्र १९।१४९)[१]

'स्वच्छन्दतन्त्र' में कहा गया है—विशेष-सामान्य विषयालम्बनाभिलाषात्मा, वैराग्यराग तत्त्वलक्षणोऽपूर्णअन्यतात्मा, निष्कर्माभिलाष आणवोमलोऽभिप्रेत: ॥

'कार्म मल' एवं 'मायीय मल'—१. भोग: सुखादिसंवित् कार्यं यस्य तत् कार्मं मलम्, तद्देशकाल शरीरेभ्य: प्राच्येभ्यो हेतुभ्यो भवति।

२. कलादिक्षित्यन्तं तु त्रिंशत्तत्त्वात्म माया कार्यं मायाख्यं मलम्—'उद्योत'।[२]

मलावृत होता कौन है?

व्यापक:पुरुष: सूक्ष्मो निर्गुणो निष्क्रियोऽचल:।
किन्त्वाणवस्तथा कार्मो मायीयस्त्रिविधो मल: ॥ (नेत्रतन्त्र १।१४७)
कार्मं यद्योग कार्यं तु देशकालशरीरत:।
कलादि यत्पृथिव्यन्तं मायाकार्यं विदुर्बुधा: ॥ (ने०तन्त्र १।१५०)
एवं मलत्रयोपेत: संसारे संसरेदणु:।
कोशकार: कृमिर्यद्वदात्मानं वेष्टयेद्दृढम् ॥ (ने०तं० १।१२१)[३]

'कोशकार' क्यों कहा गया ? कोशकारदृष्टान्तेन स्वशक्त्यैव अस्य अणुभूमिका ग्रहणं न तु व्यतिरिक्तद्रव्यरूपानादिमलशक्तिनिरुद्धत्वम् ॥ (उद्योत) ॥

पशुत्व रूप बंधन कब तक रहता है ?—अनुग्रह प्राप्ति के पूर्व तक स्वशक्तिगूह-नावभासिताणुभूमिक: परमेश्वरो यावत् न निज शक्ति विकासेन अनुगृह्णाति अणुभूमिं तावत् स्वमायाशक्त्यावगूहनेन गूहित: पशुस्तिष्ठति ॥[४]

सारांश—(मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के शब्दों में)—

१. 'आणव समावेश'—

उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनै:।
यो भवेत्स समावेश: सम्यगाणव उच्यते ॥ (२ अधि०।२१)

२. 'शाक्तसमावेश'—

उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते ॥ (अधि० २।२२)

३. 'शांभव समावेश'—

अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधत:।
जायते य: समावेश: शांभवोऽसावुदाहृत: ॥ (अधि० २।२३)

---

१. उद्योत।
२. नेत्रतन्त्र।
३. नेत्रोद्योत।
४. मालिनीविजयविजयोत्तरतन्त्र।

उपायों एवं समावेशों का 'तन्त्रालोक' (३ से १२ आ०) 'तन्त्रसार' (पृ० १०-११४) 'महार्थमंजरी' (५६-५९) 'परिमल' (पृ० १३८-१५३) 'मालिनीविजयोत्तर तन्त्र' (द्वि० आ० १३-४४) में विवेचन किया गया है।

सारांश—'आणव उपाय': उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण, स्थान-कल्पना का अभ्यास। **'आणव समावेश'**—किसी एक अभ्यास से प्राप्त होने वाली एकाग्रता ॥ **'अणु'** = मितप्रमाता, जीव, सकल। परिमित स्वरूप वाले बुद्धि, प्राण, देह, देश, ध्यान, करण आदि को उपाय के रूप में ग्रहण करने वाले ॥ इसीलिए इसके उपाय की संज्ञा है—**'आणव उपाय'** ॥ **आणवोपाय** में—**'ध्यान'** बुद्धि का व्यापार है।

'प्राण' स्थूल-सूक्ष्म भेद से द्विविध रूप वाला है।

'स्थूल प्राण' का व्यापार = 'उच्चार' प्राणवृत्तियों के रूप में अवस्थित, 'सूक्ष्मप्राण' = 'वर्ण'।

'करण'—शरीर के अंगों को किसी विशेष प्रकार की स्थिति में रखना ॥

'स्थान-कल्पना' = घट-स्थापन, मण्डल-निर्माण, मन्दिर, मूर्ति, चित्र आदि की रचना आदि विधियों का समावेश ॥

'ध्यान' = सगुण स्वरूप में चित्त की एकाग्रता।

'उच्चार' = प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान आदि के श्वास-प्रश्वास, छींक (क्षुत्) प्रभृति प्राण-वृत्तियाँ।

'वर्ण'—प्राणोच्चार के साथ स्वाभाविक रूप से उच्चरित **'सकार'-'हकार'** ध्वनि = **'वर्ण'** ॥ ये सभी वर्णों एवं मन्त्रों के बोधक है। 'वर्ण' पीत-अरुण आदि रंगों के भी बोधक ॥

'करण' के भेद ('तन्त्रालोक' मे 'त्रिशिरोभैरव' का उल्लेख करके उद्धृत ७ करण—

ग्राह्य ग्राहक संवित्ति संनिवेश व्याप्ति आक्षेप त्याग

('तन्त्रालोक' के ११, १५, १६, २९ एवं ३२ आह्निक में सविस्तृत विवेचन)

'स्थान-कल्पना'—हृदय के स्पन्दनात्मक प्राणशक्तिमूलक सामान्य व्यापार में शरीरस्थ नाड़ी-चक्र में एवं बाह्य लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि में स्थान-कल्पना की जाती है।

सामान्य स्पन्द तत्त्व का उन्मेष → षडध्वं-स्फुरण। सबसे पूर्व परमेश्वर का **'काल'** नामक स्वरूप भासित होता है और यह परमात्मस्वरूप **अभेदावस्था** में **'काली-शक्ति'** एवं भेदावस्था में **'प्राणशक्ति'** कहलाता है।

संवित्सवरूपा काली शक्ति में स्वेच्छानुसार क्रमाक्रम (क्रम+अक्रम) रूपों में भासनार्थ **क्रिया शक्ति का उन्मेष**। क्रियाशक्ति का प्रथमोन्मेष = प्राण-व्यापार। 'प्राक् संवित् प्राणे परिणाता।'

'प्राणशक्ति' (प्राणापानादिक ५ रूपों में) जीवों को व्याप्त रखता है → इसीलिए 'चेतन' है।

'वर्ण' = शब्दार्थ स्वरूप का शिव-शक्ति में व्याप्यव्यापकभाव से 'पर' सूक्ष्म एवं स्थूल रूप से स्थित वर्ण, पद, मन्त्र, कलातत्त्व, भुवन 'षडध्व' स्थित हैं।

समस्त षडध्वात्मक जगत् **'क्रियाशक्ति'** का उन्मेष है। **प्राणशक्ति का स्पन्दन** = समस्त षडध्वात्मक जगत् के बाह्य-अन्तर सर्वत्र अनवरत प्रवाहित किन्तु इसकी अनुभूति मात्र हृदयादिक में। हृदयादिक स्थानों में स्पन्दमान प्राणशक्ति में चित्त का विलय— **'स्थान-कल्पना'** (आणवोपाय का अंग) है। 'स्थान कल्पना' = शरीर के नाड़ीचक्र, चक्र आदि स्थानों में, लिंग, चत्वर, प्रतिमा आदि चित्त का नियोजन = स्थान कल्पना। देह, बुद्धि, प्राण आदि अपारमार्थिक साधनों (विकल्प) विकल्पात्मक स्थूलोपाय = आणवोपाय।

> 'अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थः प्रकाशते। (तन्त्रालोक ५।७)
> बुद्धौ प्राणे तथा देहे देशे या जडता स्थिता।
> तां विरोधाय मेधावी संविद्रश्मिमयो भवेत्॥ (तन्त्रालोक ५।१०)

जब साधक **'शाक्तोपाय'** में सत्तर्क, सदागम एवं सद्गुरु की सहायता से उच्चार, करण आदि विकल्प-व्यापारों का शोधन कर लेता है (सभी में स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार करने लगता है) तब उसके चित में **'विश्वाहन्ता'** का विकास होता है। दो प्रकार की अनुभूतियाँ—

१. समस्त जगत् मेरा ही स्वरूप है।

२. मेरा शुद्ध स्वरूप (स्वात्मस्वरूप) इससे भी परे हैं।

एतत्प्रकारक 'सार्वात्म्य भावना'—चित्त में शुद्ध विकल्पों की सृष्टि (समस्त जागतिक पदार्थों में अपने शुद्ध स्वरूप की भावना एवं उनसे अपृथकत्व-दृष्टि)॥

'शांभवोपाय' में जगत् को (दर्पण-प्रतिबिम्बित मुख की भाँति) बोधगगन विज्ञान भैरव में स्थित माना जाता है। 'प्रतिबिम्ब'—

१. जिसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

२. अन्य पदार्थ में संक्रान्त होकर ही प्रकाशित।

३. बिम्ब की स्वतन्त्र सत्ता होती है। यह स्वतः प्रकाश्य है यथा मुख स्वयं भासित।

'यद् भेदेन **भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव** भाति तत् प्रतिबिम्बं मुखरूपमिव दर्पणे। (तन्त्रसार) अन्यामिश्रं स्वतन्त्रसद्भासमानं मुखं यथा। (तन्त्रालोकः ३।५३)

यह विश्व भी दर्पणप्रतिबिम्बित नगरी के समान शिवमय दर्पण में अवभासित है। शिवस्वभाव है कि अपने में ही अपने विज्ञानमय स्वरूप को जगत् के रूप में भासित करता है। शिवमय दर्पण में बिना किसी बिम्ब की सत्ता के भी यह जगत् स्वातंत्र्य शक्ति के चमत्कार द्वारा जगत् रूप प्रतिबिम्ब अवभासित होता है।

प्रश्न—यदि **शिव 'दर्पण'** है तो उसमें प्रतिबिम्बित जगत् का यह **'प्रतिबिम्ब'** जगद्रूप किसी पृथक् 'बिम्ब' पर आधृत है क्या ? नहीं। निर्विकल्प शिव से पृथक् किसी स्वतन्त्र जगत् का कोई अस्तित्व नहीं है। इसी निर्विकल्प शून्य स्वरूप परम सत्ता में चित्त को समाहित करना **'शांभवोपाय'** है।

'आणव' 'शाक्त' एवं 'शांभव' उपायों से पृथक् है—**'अनुपाय'** ॥

'अनुपाय'—उपायों से परमतत्त्व प्रकाशित नहीं होता। क्या घट सूर्य को प्रकाशित कर सकता है?

उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः।
विवेचन्तित्थमुदारदर्शनः
स्वयं प्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ॥ (अभिनवगुप्त)

उदार दृष्टि वाला व्यक्ति उपाय-निरर्थकता पर विचार करते-करते स्वप्रकाश शिव-स्वरूप में समाविष्ट हो जाता है। ठीक भी है—उपाय सार्थक नहीं है।

'अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते ॥ (संवित्प्रकाश)

'आणवोपाय' में—क्रम एवं कुल दर्शनों से भिन्न समस्त तांत्रिक एवं यौगिक विधियों का समावेश किया गया है।

तन्त्रशास्त्र की विभिन्न कोटियाँ एवं उपाय—'शाक्तोपाय' में—क्रम दर्शन एवं 'शांभवोपाय' में कुल दर्शन एवं 'अनुपाय' में प्रत्यभिज्ञा दर्शन की ही (अभिनवगुप्त प्रभृति द्वारा) विवेचना की गई है। उपाय भी तो शिव से पृथक् नहीं है अतः उपायोपेय की स्वतन्त्र कल्पना भी सार्थक नहीं है। **'तन्त्रालोक'** में अभिनवगुप्त ने तन्त्रशास्त्र को चार कोटियों में विभक्त किया है—१. 'अनुपाय' २. 'शांभवोपाय' ३. 'शाक्तोपाय' ४. 'आणवोपाय'। **'अनुपाय'** = त्रिक या प्रत्यभिज्ञादर्शन। **'अनुपाय' कोटि के शास्त्र** = त्रिकदर्शन या प्रत्यभिज्ञा ('तन्त्रालोक': अभिनव) 'अनुपाय' सिद्धसाहित्य के 'सहज' के निकटस्थ है। **'अनुपाय'** = अल्पोपाय (जयरथ) **विज्ञानभैरव** में अनुपाय पद्धति का ही सविस्तार विवेचन किया गया है। **'अनुपाय पद्धति'** योग-प्रक्रिया-सापेक्ष है।

अनुपाय—

आचार्य अभिनवगुप्त 'तन्त्रसार' में कहते हैं—साधक गुरु के एक बार के उपदेश से ही नित्योदित समावेश दशा में संलीन हो जाता है। वह उपाय के रूप में षडंग योग के 'तर्क' का आश्रय ग्रहण करता है। उसकी दृष्टि यह है कि स्वप्रकाश

स्वात्मस्वरूप ही तो परमात्मा है अतः किसी उपाय की सार्थकता क्या है? नित्य, स्वप्रकाश, निरावरण तत्त्व स्वात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए उपाय की क्या आवश्यकता है ? 'स्वात्मस्वरूप में लीन होना'—भी निरर्थक है क्योंकि उसके अतिरिक्त अन्य (प्रवेश करने वाले) की सत्ता ही नहीं है। जगत् चिन्मय है—चिन्मात्रसार है। यह देश, काल, उपाधि, आकृति, से परे, शब्दागम्य, प्रमाणागम्य, स्वतन्त्र, आनन्दघन यह स्वात्मस्वरूप सभी सत्ताओं का केन्द्र है। मैं इस स्वात्म स्वरूप से भिन्न नहीं हूँ। इस अहमात्मक स्वात्मस्वरूप में ही यह समस्त जगत् प्रतिबिम्बित हो रहा है। इस प्रत्यभिज्ञा के उदित होने पर साधक नित्योदित परमात्मस्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है—

१. अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ॥ (वि०भै० ४१)
२. अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जनः (वि० भै० ९७)
३. बुद्धि निस्तिमितां कृत्वा तत्तत्वमवशिष्यते ॥ (वि० भै० ९९)
४. क्षोभशक्ति विरामेण परा संजायते दशा। (वि० १०९)
५. तत्र-तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति। (वि० भै० ११३)
६. सर्वत्र भैरवो भावः समान्येष्वपि गोचरः।
न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः ॥ (१२१ वि० भै०)

इस उपायशून्य 'अनुपाय' में मन्त्र, पूजा, ध्यान एवं चर्या आदि सभी साधन व्यर्थ हैं क्योंकि—'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेत्'।

'त्रिक दर्शन' में 'बंधन' एवं 'मुक्ति' तथा मुक्ति के उपायों के संदर्भ में भी नव्य दृष्टि प्रस्तुत की गई है यथा—

'बंधन' परमात्मा का अवरोहणात्मक व्यापार है। आत्मा का सम्यक् ज्ञान 'मुक्ति' है और अज्ञान ही 'बंधन' है—

क) शिवजीवयोरभेद एव (मुक्तिः) उक्ता (आचार्य क्षेमराज)।
ख) एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव **मुक्तिः** (आचार्य क्षेमराज)।
ग) एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव **बंधः** (आचार्य क्षेमराज)।

'मालिनीविजयोत्तर' तन्त्र में 'मल' को ही 'अज्ञान' एवं 'संसारांकुर कारण' कहा गया है—'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।'

समावेश के पाँच भेद—

१. जाग्रत्स्वप्नादिभेदेन सर्वावेशक्रमो बुधैः।
पञ्चभिस्तु परिज्ञेयः स्वव्यापारात्पृथक् पृथक् ॥ (अधि २।२६)

२. तत्र स्वरूपं शक्तिश्च सकलश्चेति तत्त्रयम्।
इति जाग्रदवस्थेयं भेदे पञ्चदशात्मके ॥ (अधि० २।२७)

३. अकलौ द्वौ परिज्ञेयौ सम्यक् स्वप्नसुषुप्तयोः।
मन्त्रादितत्पतीशान वर्गस्तुर्यः इति स्मृतः ॥ (२।२८)

४. शक्तिशंभू परिज्ञेयौ तुर्यातीते वरानने ।
त्रयोदशात्मके भेदे स्वरूपसकलावुभौ ॥ (२।२९)

मोक्ष—Tantric view of Moksha—Moksha, in the tantric sense of the word, is the unfoldment of powers brought about by the self-realisation.
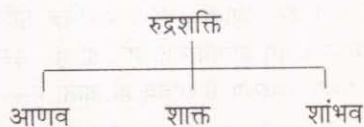
१. रुद्रशक्ति समावेशः पञ्चधा परिपठ्यते ।
२. रुद्रशक्ति समावेशस्तत्र नित्यं प्रतिष्ठितः (अधि० २।१३,१७)

१. भूत २. तत्त्व ३. आत्मा ४. मन्त्रेश ५. शक्ति—इन ५ भेदों तथा उपभेदों के अनुसार रुद्रशक्ति के ५० भेद हैं ।

आणव—१. 'जाग्रत्' २. 'स्वप्न' ३. 'सुषुप्ति' ४. 'स्वप्नातीत'-'तुरीय' ५. 'तुर्यातीत' ।

पृथ्वी से पदार्थ तक (१) स्वरूप सकल स्तर—

(क) स्वरूप सकल शक्ति—जाग्रत् अवस्था ।
(ख) प्रलयाकल—स्वप्नावस्था ।
(ग) विज्ञानाकल—सुषुप्ति अवस्था ।
(घ) मन्त्र, मन्त्रेश—मन्त्रमहेशः तुरीयावस्था ।
(ङ) शिव-शक्ति—तुरीयातीतावस्था ।

पुरुष से कला पर्यन्त (२) स्वकल स्तर—

(क) सकल = जाग्रतावस्था ।
(ख) यथा पूर्वोक्त ।
(ग) यथा पूर्वोक्त ।
(घ) यथा पूर्वोक्त ।
(ङ) यथा पूर्वोक्त ।

माया तत्त्व (३) प्रलयाकल स्तर—

(क) प्रलयाकल-जाग्रतावस्था ।
(ख) विज्ञानाकल शक्ति-स्वप्नावस्था ।
(ग) यथा पूर्ववत् ।
(घ) यथा पूर्ववत् ।
(ङ) यथा पूर्ववत् ।

मायोर्ध्व (४) विज्ञानाकल स्तर—

(क) विज्ञानाकल-जाग्रतावस्था ।

(ख) मन्त्र-स्वप्नावस्था ।
(ग) मन्त्रेश-स्वप्नातीतावस्था ।
(घ) मन्त्रमहेश-तुरीयावस्था ।
(ङ) यथा पूर्वोक्त ।

शुद्धविद्या (५) मन्त्रस्तर—

(क) मन्त्र-जाग्रतावस्था ।
(ख) मन्त्रेश-स्वानावस्था ।
(ग) मन्त्रमहेश-स्वप्नातीतावस्था
(घ) शक्ति-तुरीयावस्था ।
(ङ) शिव-तुरीयातीतावस्था ।

ईश्वर (६) मन्त्रेश स्तर—

(क) मन्त्र-जाग्रतावस्था ।
(ख) मन्त्रेश-स्वानावस्था ।
(ग) मन्त्रमहेश-स्वप्नातीतावस्था ।
(घ) शक्ति-तुरीयावस्था ।
(ङ) शिव-तुरीयातीतावस्था ।

सदाशिव (७) मन्त्रमहेश स्तर—

(क) मन्त्रमहेश-जाग्रतावस्था ।
(ख) क्रियाशक्ति-स्वप्नावस्था ।
(ग) ज्ञानशक्ति-स्वप्नातीतावस्था ।
(घ) इच्छाशक्ति-तुरीयावस्था ।
(ङ) शिव-तुरीयातीतावस्था ।

अव्यक्त स्तर (८) शिव स्तर (Undifferentiated stage)—

(क) क्रिया-जाग्रतावस्था ।
(ख) ज्ञान-स्वप्नावस्था ।
(ग) इच्छा-स्वप्नातीतावस्था ।
(घ) आनन्द-तुरीयावस्था ।
(ङ) चित् तुरीयातीतावस्था

अवस्थाओं के पर्याय—

(क) जाग्रत्-पिण्डस्थ—सर्वतोभद्र ।
(ख) स्वप्न-पदस्थ—व्याप्ति ।
(ग) सुषुप्ति-रूपस्थ—महाव्याप्ति ।
(घ) तुर्य-प्रचय—रूपातीत ।
(ङ) तुरीयातीत—महाप्रचय ।

संसार की सर्वोच्च सत्ता—सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वस्थिति कारक, नित्य ॥

परमात्मा सिसृक्षा के स्तर (Creational Stage)—पर अपने को 'विज्ञानाकल' के रूप में प्रस्तुत करता है । परमात्मा उन्हें स्थिति, संहार एवं रक्षा का कार्य प्रदान करते हैं—

क्रिया हेतु परमात्मा ७ करोड़ मन्त्रों को जन्म देते हैं । ये मन्त्र साधकों की इच्छाओं की पूर्ति प्रदान करते हैं । आत्मा अपने को चार रूपों में व्यक्त करती है—१. 'शिव' २. 'मन्त्रमहेश' ३. 'मन्त्रेश' ४. 'मन्त्र' ।

विज्ञानाकल एवं मन्त्र—विज्ञानाकल में—१. मल । **'प्रलयाकल'** में—२ मल ॥ **'मल'** = अपूर्ण ज्ञान ॥ **रुद्र** = ११८ 'रुद्र' ही मन्त्रेश्वरों के रूप में नियुक्त किये जाते हैं । (मालिनीविजयोत्तरतन्त्र) ।

[८] बंधन और मुक्ति

शिवसूत्रकार तो कहते हैं कि **'ज्ञान' ही बंधन है—'ज्ञानं बंधः'** (१।२) आत्मा में अनात्मा एवं अनात्मा में आत्माभिमानस्वरूप अख्याति अर्थात् अज्ञानात्मक ज्ञान ही बंधन है—

(१) 'आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बंधो' तथा—

(२) अनात्मानि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बंध एव ॥[१]

स्पन्दकारिका = 'शब्दराशि समुत्थस्य शक्ति वर्गस्य भोग्यताम् । कलाविलुप्त विभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥'—पशुत्व ही बंधन है ।

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—सारांश

बंधन—१. आत्मा में अनात्मा का अभिमान रूप अज्ञान ।

२. अनात्मा में आत्मा का अभिमानरूप अज्ञान ।

३. 'अपूर्णम्मन्यतात्मकआणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा बंधः ॥'

४. 'मल' = 'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्'

५. अज्ञानाद् बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।[२]

६. आत्मप्रत्यभिज्ञा का अभाव (स्वस्वरूप का ज्ञानाभाव)

७. ज्ञानाभाव 'अज्ञान' नहीं है प्रत्युत अपूर्णज्ञान अज्ञान है और यही बंधन का कारण है ।

८. जिस स्वस्वरूप का ज्ञान नहीं है उसका स्वरूप है क्या? 'आत्मनो भैरवं रूपम्'।

'स्पन्दकारिका' का मत—(१) इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।

१-२. शिवसूत्रविमर्शिनी ।

२. अयमेवोदयस्तस्यध्येयस्यध्यायि चेतसि तदात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा।

३. इयमेवाऽमृतप्राप्तिरयमेवाऽत्मनो ग्रहः।
इयं निर्वाणदीक्षां च शिवसद्भावदायिनी।

४. यदा त्वेकत्रसंरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥—'स्पन्दकारिका'

५. कलाविलुप्त विभव ही पशु है।

मुक्ति क्या है? 'जीवन्मुक्ति' ही मुक्ति है—

चिदानन्दलाभे देहादिषु चेत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्यप्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।
अविचला चिदेकत्वप्रथा सैव जीवन्मुक्तिः। —(प्र०हृ०सू० १६

'स्पन्दकारिका' में कहा गया है कि जगत् को अपनी क्रीड़ा मानना ही 'जीवन्मुक्ति' है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत्।
स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'

समस्त ज्ञायमान पदार्थ जीव के अपने अंगसदृश हैं—'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ (स्पन्द का० २।४)

पारमार्थिक दृष्टि से बंधन एवं मुक्ति—परमात्मा स्वयमेव अपनी इच्छा से स्व-स्वरूप का आच्छादन करके पशु बन जाता है और स्वेच्छा से ही इस आच्छादन का त्याग करके शिव भी बन जाता है अतः पशु का पशुत्वरूप बंधन एवं इस बंधन का त्याग रूप शिवत्व या मुक्ति तो कल्पित ही है अतः कैसा बंधन कैसी मुक्ति?—

न मे बंधो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिकाः।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥ (१३२)[1]

आचार्य सोमानन्द का कथन है कि प्रतीतिमात्र ही बंधन-मोक्ष दोनों है—

विभिन्न शिवपक्षे तु सत्ये दार्ढ्यं परत्र नो।
प्रतीतिमात्रमेवात्र तावता बंधमोक्षता ॥[2]

अर्थात् 'शिवाभेदप्रतीतिमात्रं मोक्षस्तदप्रतीतिस्तु बंध इति।'[3]

[९] अद्वैत भक्ति

'स्पन्द' एवं 'प्रत्यभिज्ञा' में अद्वैतभक्ति स्थापित है। 'अनुभवसूत्र' में भी यही दृष्टि प्रतिपादित है—

१. द्वैतभक्तिः प्रपञ्चाख्या केनचित् कल्पिता मृषा।
अद्वैतभक्तिरचला निर्विकल्पा निरञ्जना ॥ (८ अधिकरणः ४८)

---

१. विज्ञानभैरव। २. शिवदृष्टि (सोमानन्द)।
३. शिवदृष्टिवृत्ति (उत्पलदेव)।

२. एवमद्वैतभक्त्यैव प्रसाद: सर्वतोमुख: ।
प्रसिद्ध्यति तत: सर्वमात्मरूपेण दृश्यते ॥ (८।३६)[१]

३. इसका प्रभाव क्या है ?

(क) कर्ता कारयिता कर्म करणं कार्यमेव च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।३७)

(ख) भोक्ता भोजयिता भोगो भोगोपकरणानि च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।३८)[२]

(ग) ग्राहकश्च तथा ग्राह्यं ग्रहणं सर्वतोमुखम् ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।३९)

(घ) शरीरमिन्द्रियं प्राणा मनो बुद्धिरहंकृति: ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।४१)

(ङ) विधयश्च निषेधाश्च निषिद्धकरणान्यपि ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।४२)[३]

(च) कामक्रोधादय: सर्वे तथा शान्त्यादयोऽपि च ।
सर्वमात्मतया भाति प्रसादात् पारमेश्वरात् ॥ (८।४३)

निष्कर्ष—

१. तस्माददैतगां भक्तिमाश्रयेत् सर्वसिद्धिदाम् ।
न च द्वैतात्मिकां भक्तिं क्लेशहेतुप्रदायिनीम् ॥ (८।४४)[४]

२. अद्वैतपदरूढा या भक्तिरद्वैतलक्षणा ।
सैवाद्वैताभिधा भक्तिरन्या केवल कल्पिता । (८।४६)[५]

(क) **द्वैतभक्ति**—संसार-वर्धन-भेद बुद्धि—संसरण चक्र ॥
(ख) **अद्वैतभक्ति**—अभिन्नरूप—भेदहीन—संसार-विनाश ॥

द्वैतभक्त्या हि संसारवर्धनं भिन्नरूपत: ।
अभिन्नरूपतोऽद्वैतभक्त्या संसारनाशनम् ॥ (८।४७)[६]

अद्वैतभक्ति—द्वैतभक्ति की निवृत्ति ।

द्वैतभक्तिनिवृत्तौ हि साक्षादद्वैतलक्षण ।
भक्तिर्गरीयसी भाति निजर्वाण निरूपिणी ॥ (८।४९)

भक्ति की शक्ति एवं उसका विमर्श-स्वरूप—

१. भक्तिरेव परमार्थदायिनी भक्तिरेव परतत्ववेदिनी ।
भक्तिरेव भवदोषहारिणी भक्तिरेव शिवभावकारिणी ॥ (८।८३)

१-६. अनुभवसूत्र ।

२. नाहमनात्मा पश्चात्कोऽहं योऽहं पदस्थ आत्मा साक्षी ।
सोऽहं तत्पति शिवदासोऽहं दासोऽहमिति चरेदुपरि ॥ (८।८५)[1]
—वातुलोत्तरतन्त्र शिवानुभवसूत्र

'**विज्ञानभैरव**' में कहा गया है कि भक्ति के उद्रेक से विरक्त मल के हृदय में जिस प्रकार की मानसिक दशा (मति) उत्पन्न होती है वही '**शांकरीशक्ति**' है और ऐसा साधक '**शिव**' हो जाता है ।

भक्त्युद्रेकादविरक्तस्य यादृशी जायते मतिः ।
सा शक्तिः शांकरी नित्यं भावयेत् तां ततः शिवः ॥ (विज्ञानभैरव ११८)

'गीतानिष्यन्द' में क्षेमेन्द्र ने कहा है कि—सर्वत्र सर्वव्यापक भगवान् के श्रीचरणों में साष्टांग प्रणाम करना ही भक्ति नहीं है प्रत्युत् यथार्थ भक्ति तो यह है कि भाव स्वभाव के सभी पदार्थों में एक ही भगवान् का अनुचिन्तन किया जाय । समस्त जगत् को भगवन्मय समझा जाय ।

न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमेशितुः ।
भक्तिर्भावस्वभावानां वदेकीभावभावनम् ॥

उत्पलदेवाचार्य ('श्री शिवस्तोत्रावली' के पञ्चम स्तोत्र में) कहते हैं 'हे भगवन् । आपके अद्वयानन्द को प्राप्त करके और इस जगत् को अपनी ही आत्मा की झलक से युक्त देखते हुए भी मैं भक्तिरस के चमत्कारों से वंचित न रहूँ—

'अपि लब्धभवद्भावः स्वात्मोल्लासमयः जगत् ।
पश्यन् भक्तिरसाभोगैर्भवेयमवियोजितः ॥ १६ ॥

आचार्य उत्पलदेव पुनः कहते हैं—'शिव बनकर शिव की पूजा करनी चाहिए—ऐसा भक्त जनों से कहा जाता है क्योंकि पारमार्थिक सारभूत स्वरूप वाले आप भक्तों द्वारा ही अभेद दृष्टि से ढूँढ़े जाते हैं—

'शिवा भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते ।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम् ॥ (१।१४)

'हे पूर्णाहन्ता स्वरूप स्वामी ! **मैं ईश्वर हूँ' मैं ही सुन्दर (चिदात्मा के प्रकाश से उज्ज्वल) हूँ** । मैं ही सौभाग्यवान् हूँ । ज्यादा क्या कहूँ? '**इस जगत् में मेरे समान अन्य कौन है**?'—ऐसे स्वात्माभिमान की भावना आपके भक्त को अत्यन्त शोभा देती है—

ईश्वरोऽहमेव रूपवान् पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः ।
मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते, मानिता त्वदनुरागिणः परम् ॥ ४ ॥

यहाँ **समावेशमयी भक्ति** स्पृहणीय है—

'हे उमापति! **अथाह, निर्विकल्प, अभेदरूप स्वात्मस्वरूप** और सभी भेदमय

---

१. अनुभवसूत्र ।

पदार्थों को निगल डालने वाले आप चिद्रूप में समावेश करते हुए मैं सदैव आपकी पूजा करता हूँ—

'त्वामगाधमविकल्पमद्वयं, स्वं स्वरूपमखिलार्थघस्मरम् ।
आविशन्नहमुमेश सर्वदा, पूजयेयमभिसंस्तुवीय च ॥'

'भक्त्यावेशस्तु मे सदा' (१६।६)

'जहाँ इस अलौकिक चिदात्मा महादेव की पूजा की जाती है वहाँ कौन सी शोभा नहीं होती, कौन सा आनन्द नहीं होता, कौन सी उत्कृष्ट सुखसम्पत्ति नहीं होती और कौन सा मोक्ष नहीं होता ?'

का न शोभा न को ह्लाद: का समृद्धिर्न वापरा ।
को वा न मोक्ष: कोऽत्येष महादेवो यदर्च्यते ॥ (१७।२५)

'**प्रत्यभिज्ञाकारिका**' के **ज्ञानाधिकार** में उत्पलदेवाचार्य भगवान् की दास्य भक्ति की चर्चा करते हुए प्रत्यभिज्ञा के प्रतिपादन की बात करते हैं—

'कथं चिदासाद्य महेश्वरस्य,
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्त सम्पत्समवाप्ति हेतुं,
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥' (प्र०का०)

यहाँ 'भक्ति' को भगवान् की 'आह्लादिनी शक्ति' माना जाता है । 'भक्ति' भगवान् की 'आनन्द शक्ति' है । यहाँ 'भक्ति' भावना, गलदश्रुभावुकता या 'चित्त का द्रवीभाव' मात्र नहीं है प्रत्युत् यह भगवान् में अपृथक् रूप से समवेत आनन्द शक्ति का उल्लास है । यह परमात्मा की शाश्वत आनन्द शक्ति का उसके अपरिमेय आनन्दोल्लास की अभिव्यञ्जना है । यह परमात्मा की अचिन्त्य शक्ति की (भक्त के हृदय में) अभिव्यक्ति है ।

[१०] मन्त्रविज्ञान और स्पन्दशास्त्र

'स्पन्दशास्त्र' ज्ञान-साधना, योग-साधना, मन्त्र-साधना एवं समावेशमयी भक्ति-साधना—इन सभी में आस्था रखता है ।

मन्त्र विज्ञान के विषय में स्पन्दशास्त्र में मुख्यत: 'सहजविद्योदय स्पन्द निष्यन्द' में प्रकाश डाला गया है । इसमें कहा गया है—

१. 'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: सर्वज्ञ बल शालिन: ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानिव देहिनाम् ॥ २६ ॥ (स्पन्दकारिका)

२. 'तत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जना: ।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिण: ॥ २७ ॥ (स्पन्दकारिका)

अर्थात् स्पन्दरूप आत्मबल के साथ तद्रूपता प्राप्त करने से प्रत्येक प्रकार के मन्त्र में सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्वता, पूर्णता, सर्वव्यापकता, अमित तृप्ति, नित्यता, अप्रतिहत स्वातंत्र्य आदि षडात्मक माहेश्वर बलों का संचार हो जाता है अत: वे इन बलों से अनन्त

शक्तिसम्पन्न हो उठते हैं और मन्त्र उनके समस्त अभीष्टो को उसी प्रकार पूर्ण कर देते हैं जैसे इन्द्रियाँ ॥

ये मन्त्र शान्तरूप एवं निरंजन (शुद्ध संविद्रूप एवं मायिक उपरागों से शून्य) होकर आराधक के चित्त के साथ चिदाकाश में विलीन हो जाते हैं । ये समस्त मन्त्र शिवधर्मा (शिवस्वरूप) हैं ।

ये मन्त्र द्विविध प्रकारक हैं—१. भोगरूप, २. मोक्षरूप । अर्थात् साञ्जन एवं निरञ्जन ॥

(क) मन्त्र का साञ्जन स्वरूप—(सांसारिक भोगों के रूप में फल प्रदान करने हेतु प्रयुक्त मन्त्र) उदा० मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण स्तंभन एवं द्वेषण आदि अभिचार-सिद्धि हेतु, रोग-निवारण हेतु निग्रहानुग्रह हेतु या किसी अन्य सांसारिक फलेच्छा हेतु प्रयुक्त मन्त्र 'साञ्जन मन्त्र' कहलाते हैं ।

(ख) निरञ्जन मन्त्र का स्वरूप—जिन मन्त्रों को अपने शिवत्व की अभिव्यक्ति हेतु प्रयुक्त किया जाता है वे मन्त्र मायीय उपरागों, दूषणों, एवं ऐहिक फलाकांक्षाओं से शून्य होने के कारण '**निरंजन**' कहलाते हैं । इस प्रकार मन्त्रों के उपयोग की दो विधियाँ हुई १. 'सांजन विधि', २. 'निरंजन विधि' ।

वर्णरचना के रूप में विरचित मन्त्र को ही मन्त्र का स्वस्वरूप मानना असंगत है—**अभिनवगुप्त एवं क्षेमराज** कहते हैं—

(क) 'लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीयः सोऽत्र कल्पितः । (तन्त्रालोक ४.६६)

(ख) 'मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव, न तु विचित्र-वर्णसंघटनामात्रम् ॥ (शिवसूत्र वि० २-१)

अर्थात् वर्ण समुदाय की विशिष्ट संरचना मात्र 'मन्त्र' नहीं है प्रत्युत् देवता के विमर्श के कारण प्राप्त सामरस्य युक्त (आराधक का) चित्त ही 'मन्त्र' है—'चित्तं मन्त्रः' (शि.सूत्र)।

(ग) **आचार्य उत्पल** (स्पन्दप्रदीपिका में) कहते हैं—

'तद बलं निरावरण चिदुल्लासरूपं परशक्त्याख्यमाक्रम्य अधिष्ठाय मन्त्राः बीज-पिण्ड-पदनामरूपा मननत्राणधर्मिणः सहजनादशक्त्युद्बोधदीप्तत्वात् सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघा युक्ता मंत्रिप्रयुक्ता अधिकारायानुग्रहादौ प्रवर्तते ॥'

(घ) **आचार्य रामकण्ठ** ('स्पन्द का०वि०') में कहते हैं—

'शिवस्य परमेश्वरस्यानन्यसाधारणः सर्वज्ञत्वादिर्गुणो सविद्यते येषां ते तथा शिवाद-भिन्नस्वरूपा' 'शिवधर्मिणाः' ।

(ङ) **'तद्बलं'**—'तत्' समनन्तर प्रतिपादितस्वरूपस्य शिवस्य संबंधि 'बलं सामर्थ्यं शक्तिम्' ।

(च) **'आक्रम्य'**—उच्चिचारयिषावस्थायां तदभेदोपपत्या स्वीकृत्य ।

(छ) सर्वज्ञस्य शिवस्य बलेन शक्त्या श्लाघमाना सन्तः यथास्वं प्रतिनियतकार्य-संपादनस्वाम्यार्थ्यं प्रसरन्ति ॥

(ज) यदि मन्त्र को 'परमेश्वराभेद' प्राप्त न हुआ तो वे शक्तिहीन रहते हैं—यहाँ तक कि तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकते—

'एते हि अनासादित परमेश्वरा-भेददशा उत्पादविनाशधर्मकवर्णमात्रात्मकाः तृणमपि कुब्जयितुमशक्ताः' ।

'उक्त बलाक्रमणेन ... वृश्चिकविषाकर्षणान्त परापरस्वकार्यसंपादनाधिकारा प्रतिहत शक्तयो भवन्ति ॥'

(झ) मन्त्रा नियताधिकारा एव ॥

(ञ) यस्तु स्वस्वभावे एव सुदृढात्मप्रतिपत्तिः तस्य उदयास्तमयज्ञस्य सर्व मन्त्राः सर्वार्थसाधनाधिकारिणो भवन्ति तत्तदिति कर्तव्यता साहित्य नियमाद्यपेक्षां विना ॥

'मन्त्र' और आत्मबल की प्राप्ति का अन्तर्सम्बन्ध—

सारांश—१. पुस्तकों में लिखित मन्त्र (आत्मबल शून्य मन्त्र) निःशक्त होते हैं ।

२. मन्त्र वर्णरचना मात्र नहीं प्रत्युत् मन्त्रदेवता के साथ प्राप्त सामरस्य है । अतः इस देव-सामरस्य-प्राप्त चित को भी मन्त्र कहते हैं ।

३. 'मन्त्र' सर्वज्ञत्वादिशक्तियों से तभी युक्त होते हैं जब वे निरावरणात्मक चिदु-ल्लास रूप परशक्ति से अधिष्ठित होते हैं । अन्यथा नहीं क्योंकि 'मन्त्राश्चिन्मरीचयः' ('मन्त्र' आत्मा की रश्मियाँ हैं)।

४. मन्त्र में चार बातें मुख्य होती हैं—१. 'बीज' २. 'पिण्ड' ३. 'पद' ४. 'नाम' और उनका धर्म है (क) 'मनन' (ख) 'त्राण' ।

मन्त्र का बल है—निरावरण चित् शक्ति का उल्लास अर्थात् पराशक्ति इसी परा-शक्ति को ग्रहण करके 'मन्त्र' सहजनाद शक्ति से उद्बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं । इसी के कारण वे सर्वज्ञता आदि शक्तियों से शक्तिमान बनते हैं ।

५. ये 'मन्त्र' शिव से अभिन्नस्वरूप अर्थात् 'शिवधर्मी' हैं और इनमें परमेश्वर शिव के समस्त सर्वज्ञत्वादि गुण या शक्तियाँ समाविष्ट हो जाती हैं ।

६. जब ये 'मन्त्र' आत्मबल (स्पन्द) को प्राप्त कर लेते हैं (अर्थात् आत्मबल को अपने से अभिन्नस्वरूप में ग्रहण कर लेते हैं) ('अभेदोपपत्या स्वीकृत्य'—रामकण्ठा-चार्य)—तब वे सर्वज्ञ शिव के बल से श्लाघमान हो जाते हैं और नियत कार्यों को सम्पन्न करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं ।

७. परमेश्वर से तादात्म्य न प्राप्त कर पाने पर ये मन्त्र एक तुच्छ तिनके को भी टेढ़ा नहीं कर सकते ।

८. जो साधक स्वस्वभाव में दृढ़ रहकर मन्त्रों की सिद्धि करते हैं वे नियतकार्यों को ही नहीं प्रत्युत् परमेश्वरवत् समस्त कार्यों को निष्पादित करने में समर्थ होते हैं ।

९. **'त्रिकसार'**—'वर्णातीत निराकार परम तत्त्व का अवबोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधियों के साथ साधक के किंकर बन जाते हैं—

विदिते तु परे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविग्रहे ।
किंकरत्वं तु गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥

१०. **'हंसपारमेश्वर'**—'केवल वर्णरूप मन्त्र पशुभाव में स्थित है सुषुम्णामार्ग से उच्चारण करने पर वे पशुपति बन जाते हैं

'पशुभावे स्थिताः मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः ।
सौषुम्णेध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ॥
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ (स्पन्द का० २५)

११. 'मन्त्र' शाक्त मार्ग में सफल होते हैं—'एष शाक्तो मार्गोऽत्र च मन्त्राणां साफल्यम्' (स्पन्दप्रदीपिका उत्पलाचार्य) ॥

१२. **'तत्त्वरक्षाविधान'** में कहा गया है—'आत्मसंवित् या परमपद में मन्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि वह शक्ति एवं क्रिया से रहित है । शक्ति के विषय में ही मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि मन्त्र का जप वहीं सफल होता है ।'

१३. **'श्रीवैहायसी'**—'संधिस्थल में नादोर्ध्वध्वनि से बोधित जप करना चाहिए । यथा सूत्र में मणिग्रथित होते हैं तदवत् शक्ति के ताने-बाने से निर्मित ही मन्त्राक्षरों का ध्यान करना चाहिए । वह 'शक्ति' परम व्योम में अवस्थित रहती है और परमामृत समृद्ध है । उक्त पद्धति से जप करने पर ही 'मन्त्र' स्वस्वरूप को प्रकट करता है और तब अपने को आच्छादित नहीं करता'—

'विष्णुवत्कं जपं कुर्यान्नादोर्ध्वध्वनिबोधितम् ।
मन्त्राक्षराणि मणिवच्छक्तौ प्रोतानि भावयेत् ॥
तामेव च परे व्योम्नि परमामृत बृंहितम् ।
दर्शयत्यात्मसद्भावमेवं मन्त्रो हुतिं विना ॥'

१४. **'श्री कालपरा'** में कहा गया है—'शब्द नादात्मक हैं अतः उसके साथ प्रत्यय संवित-संलग्न रहकर बढ़ाती है । मन्त्र बोध के स्वरूप में स्थित संवित अभिन्न है अतः वह आत्मबोध भी करा देती है'—

शब्दो नादात्मकस्तस्मात् प्रत्ययेनोपबृंहितः ।
मन्त्रबोधस्वरूपस्थमभिन्नो बोधयत्यपि ॥

१५. **'संकर्षणसूत्र'** में कहा गया है—'चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है । भावाभाव उसकी दशाएं एवं परिष्कार हैं । वह स्वसंवेदन संवेद्य है । प्रकृति से अतीत भी वही है और प्रकृति का विषय भी वही है । यही मन्त्रों का प्रत्ययात्मक कारण है । मन्त्र बाहर एवं भीतर वर्णसप से प्रकट होते हैं । वे शाश्वत पद रूप में होते हैं । वे मनुष्य के कर चरण आदि के समान हैं । वीर्य का योग होने पर किसी भी काल में प्रयोग करने पर वे सिद्ध होते हैं ।'—

'स्वात्मैकनिष्ठं चिद्रूपं भावाभावपरिष्कृतम् ।
स्वसंवेदनसंवेद्यं प्रकृत्यातीतगोचरम् ॥

इयं योनिः स्मृता विप्र मन्त्राणां प्रत्ययात्मिका ।
ते मन्त्रा वर्णरूपेण सबाह्याभ्यन्तरोदिताः ॥
नैष्कालिक पदावस्थाः करणानीव देहिनाम् ।
प्रयुक्ताः सर्वकालेषु सिद्ध्यन्ते वीर्ययोगताः ॥'

१६. '**जय संहिता**' में कहा गया है—'एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य दोनों में उदित होकर एकहो जाता है । तब उस जप को लक्षसंख्या से अधिक समझना चाहिए'—

'एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च ।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसंख्याधिकं मुने ॥'

(एवं शुद्धबोधात्मकत्वेन अन्तर्बाह्योदयादेकोऽपि जपो लक्षसंख्याकः'—'स्पन्द-प्रदीपिका') ।

१७. पुस्तक में लिखे मन्त्रों का जप इन्हीं कारणों से निषिद्ध है और ऐसा मन्त्र-जापक चाण्डाल होता है—

'पुस्तके लिखितान्मन्त्रा दृष्ट्वा जपति यो नरः ।
स जीवन्नेव चाण्डालो,—तथा—'मृतःश्वा चाभिजायते ॥'

१८. 'मन्त्र' समस्त देवशक्तियों से युक्त होते हैं—
यथा—'श्रीविद्या' । 'श्रीविद्या' में

(१) 'वाग्भवकूट'—'क ए ई ल' ।

अ (श्रीकण्ठ) क (कोधीश) ए (कोणत्रय = योनि) ई (लक्ष्मी) 'अ' (अनुत्तर) के साथ लं (मांस) ।

(२) 'कामराजकूट'—ह, स, क, ह, ल ।

ह (शिव) स (हंस) क (ब्रह्मा) ह (वियत्) ल (शक्र) अ (अक्षर) ।

(३) 'शक्तिकूट'—शिव (ह) वियत् (ह) के बिना 'कामराजकूट । शक्तिकूट कहा जाता है । प्रत्येक कूट के अन्त में एक-एक हल्लेखा 'ह्रीं' अन्त में जोड़ लेना चाहिए । ('वरिवस्यारहस्यम्') ।

(४) 'ह्रीं' (हल्लेखा) में 'ह' (व्योम) र (अग्नि) ई (वामलोचना) बिन्दु (.) अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिका, समना एवं उन्मनी । बिन्द्वादि ९ की समष्टि 'नाद' कहलाता है ।

१९. '**वरिवस्यारहस्यम्**'—मन्त्र के वर्णों का उच्चारण करते हुए ५ अव-स्थाओं, ६ शून्यों, ७ विषुवों, ९ चक्रों एवं मन्त्र के अर्थ का चिन्तन करना चाहिए । यही 'जप' है—

एबमवस्थाशून्यविषुवन्ति चक्राणि पञ्च षट् सप्त ।
नव च मनोरर्थांश्च स्मरतोऽर्णोच्चरणं तु जपः ॥ (वरि०र०)

(क) **५ अवस्थायें**—जागरण, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत।

(ख) **६ शून्य**—तृतीयकूट के रेक, बिन्दु, रोधिनी, नादान्त, व्यापिका एवं उन्मनी में महाशून्य ॥

(ग) **७ विषुव**—मन्त्रविषुव। नाडी विषुव। प्रशान्तविषुव। शक्तिविषुव। तत्त्वविषुव।

(घ) **९ चक्र**—चक्रभावन—१. सकल, २. निष्कल, ३. सकल-निष्कल।

(१) अकुल सहस्त्रार (२) मूलाधार (३) स्वाधिष्ठान (४) मणिपूरक (५) अनाहत (६) विशुद्धाख्य (७) आज्ञा (८) सूक्ष्म जिह्वा (९) बिन्दु। (त्रैलोक्यमोहनादि ९ चक्र)।

'शून्यषट्कं सुरेशानि अवस्थापञ्चकं पुनः।
विषुवत्सप्तरूपं च भावयन्मनसा जपेत् ॥'

(ङ) **मन्त्रार्थ**—भावार्थ, संप्रदायार्थ, निगर्भार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ, महातत्वार्थ, नामार्थ, शब्दरूपार्थ, नामैकदेशार्थ, शाक्तार्थ सामरस्यार्थ, समस्तार्थ, सगुणार्थ, महावाक्यार्थ आदि।

('पञ्चदशी' के उतने ही अर्थ हैं जितने उसके वर्ण हैं।)

'अहं'—'अहं' भी एक मन्त्र है और उसका अर्थ निम्नांकित है—

अहमित्येकमद्वैतं यत्प्रकाशात्मविभ्रमः।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यः प्रकाशः परमः शिवः ॥
हकारोऽन्त्यः कालरूपो विमर्शाख्यः प्रकीर्तितः।
अनयोः सामरस्यं यत् परस्मिन्नहमि स्फुटम् ॥'

'अ' = शिव। 'ह' = 'शक्ति'

'अहकारौ शिवशक्ती शून्याकारौ परस्पराश्लिष्टौ।
स्फुरणप्रकाशरूपावुपनिषदुक्तं परं ब्रह्म ॥' (वरि०र० २।६९)

'अहं'—'प्रकाश' + 'विमर्श' का सामरस्य ॥ 'स्पन्दकारिका' में—'स्वबल' 'आत्मबल' शब्दों का बार-बार प्रयोग किया गया है। यही बल 'मन्त्र' की आत्मा है जिसका स्पन्द० में अनेक बार प्रयोग किया गया है—

१. अपित्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ ८ ॥ (स्पन्द का०)
२. स्वबलोद्योगभावितः (३६) (स्पन्दकारिका)।
३. 'तत्तथा बलमाक्रम्य' (३७)
४. स्वात्मन्यधिष्ठानात् (३९)
५. 'स्वयमेवावबोत्स्यते' (४३) (स्पन्द का०)।
६. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः (२६) (स्पन्द का०)।

'स्वभाव' 'तदात्मतापत्ति' भी आत्मा के वाचक हैं—

'स्वभावादुपलब्धृतः' (इ) 'स्वभावमवलोकयन्' (११) (स्पन्द का०)।

'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा (३१) इयमेवात्मनो ग्रह: (३२) (स्पन्द का०) ।

२०. **मन्त्रदेवता और साधक के साथ उसका तादात्म्य**—'स्पन्दकारिका' (३१) में कहा गया है कि ध्याता साधक के चित्त में ध्येय देवता का प्रत्यक्ष साक्षात्कार इसी को कहते हैं कि ध्याता के चित्त की मन्त्रोच्चारण करने की इच्छा मात्र से तत्काल उसका देवता के साथ तादात्म्य हो जाता है—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि ।
तादात्मतासमापत्तिरिच्छत: साधकस्य या ॥ (३१)

'तादात्म्यं तत्स्वभावत्वप्राप्ति: मन्त्रदेवतया सह साधकस्य मन्त्रोच्चारणेच्छया संपादिता ।' (भट्टकल्लट: 'स्पन्दसर्वस्व')

२१. मन्त्रसाधना एवं अमृत प्राप्ति, आत्मग्रह, निर्वाण दीक्षा, शिवसद्भाव—'स्पन्दकारिका' में कहा गया है—

इयमेवामृतप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रह: ।
इयं निर्वाण दीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥ (३२)

[११] मन्त्र और नाद

'मन्त्र' अनाहतनाद का स्थूल विग्रह है । समस्त मन्त्रों में यह शब्द ब्रह्मस्वरूप 'नाद' माला की मनकाओं से ग्रथित सूत्र की भाँति है । यही कारण है कि 'नाद' (उद्गीथ, प्रणव, ओंकार, ॐ) को परम मन्त्र कहा गया है । 'विज्ञानभैरव' में मन्त्र के जप को भी नादात्मक कहा गया है—

भूयोभूय: परे भावे भावना भाव्यते हिया ।
जप: सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृश: ॥ (१४२)

'नाद' क्या है? 'शक्ति' ही नाद है—

'यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा' (हठयोग० प्र० ४।१०२) [१]

नाद का प्रभाव—१. पापक्षय २. चित्त एवं प्राण का निरंजन में विलय

१. सदानादानुसंधानात् क्षीयन्ते पापसंचया: ।
निरंजने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ (हठयोग० ४।१०५)

२. शंखदुन्दुभिनादं च न सृणोति कदाचन ।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥ (४।१०६)

नाद—१. काष्ठवत् स्थैर्य २. उन्मनी (असंप्रज्ञात समाधि) ३. सर्वावस्थाविनिर्मुक्ति ४. सर्वचिन्ताक्षय ५. मृतवत् अवस्थान ६. काल वंचन ७. कर्म-मुक्ति ८. पञ्चविषयों से मुक्ति ९. जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति आदि से मुक्ति १०. समस्त द्वन्द्व-सुखदु:ख, शीत-ऊष्ण, मान-अपमान आदि से मुक्ति ११. जाग्रत् में भी सुषुप्ति १२. श्वासोच्छ्वास विवर्जित १३. असम्प्रज्ञात समाधि ।

---

१. हठयोगप्रदीपिका (उप० ४/१०५-११२) ।

मन्त्र और परमेश्वर के साथ अभेद विमर्शन—क्षेमराजाचार्य—शिवसूत्र-विमर्शिनी' (२।१)—

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि चूँकि 'चित्त' परमतत्त्व का चिन्तन करता है—विमर्शन करता है अत: उसे 'चित्त' कहते हैं और यही चित्त उस परमेश्वर के साथ तादात्म्यभावापन्न होकर विमर्शन करता है अत: (मनु अवबोधने—'मन्त्र'; मन्त्र = तृ 'पालने' = मं + त्र) इस विमर्श रूप संवेदन को ही 'मन्त्र' कहा जाता = है। चूँकि चित्त विमर्शन रूप है अत: 'चित्त' भी मन्त्र कहा जाता है—'चित्तं मन्त्र: ।२।१॥ चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वम् इति ।[१]

चित्तं, पूर्णस्फुरत्तासतत्वप्रासाद प्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मंत्र्यते गुप्तम्, अन्तर **अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्र:** ।' सारांश यह कि—परमात्मा के साथ अपनी अभेदापत्तिपूर्वक परमात्मस्वरूप का विमर्शन, तत्स्वरूप आत्मस्फुरत्ता ही '**मन्त्र**' हैं।

मन्त्र के दो प्रधान अंग—मन्त्र के दो प्रसिद्ध एवं मुख्य अंग—आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्र विर्शिनी' में ही मन्त्र के दो प्रधान संघटक तत्त्वों पर भी प्रकाश डालते हैं और उनकी नूतन व्याख्या करते हैं। ये निम्न हैं—

१. **मनन** = 'परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता,[२]

२. **त्राण** = 'भेदमयसंसार-प्रशमनात्मक **त्राणधर्मता** च अस्य निरुच्यते ।[३]

मन्त्र के दो पक्ष—१. मननात्मक, २. त्राणात्मक ॥

'**मन्त्र**' की चित्त के साथ एकात्मता हो जाने पर चित्त परमेश्वर के साथ सामरस्य हो जाने से चित्त भी '**मन्त्र**' है—'मन्त्र-देवता विमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्त-मेव **मन्त्र:**' विचित्रवर्णसंघट्टनमात्र मन्त्र नहीं है—'न तु विचित्रवर्णसंघट्टनमात्रकम् ।'[४]

'शिवसूत्र' में '**मन्त्र**' शाक्तोपाय है। इसीलिए शिवसूत्रकार ने 'मन्त्र' की व्याख्या द्वितीयोन्मेष: 'शाक्तोपाय' के अंतर्गत की है।

'संकेतपद्धति' में मन्त्र को मात्र मनन + त्राण लक्षणों के आधार पर परिभाषित करते हुए कहा गया कि—मननात्त्राणधर्माऽसौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तिता: ।' दीपिकाकार (योगिनीहृदयदीपिका) ने भी इसी की पुष्टि की—'मननात्त्रायन्ते साधकमिति मन्त्राश्चि-न्मरीचय: ।' (यो० हृ० पटल २।१) '**योगिनीहृदय**' में पराशक्ति को भी 'मन्त्र' का अभिधान दिया गया है।

ज्ञातृज्ञानमयाकारमननान्मन्त्ररूपिणी ।
तेषां समष्टिरूपेण पराशक्तिस्तु मातृका ॥ (मन्त्रसंकेत: २०)

मन्त्र के अवयव (प्रणव की कलायें)

बिन्दु | नाद | अर्धचन्द्र | निरोधिनी | नादान्त | व्यापिनी | समना | उन्मना

१-४. शिवसूत्रविमर्शिनी ।

'अहंकार' मन्त्र और शिवशक्ति—अद्वयसम्पत्तिकार वामननाथ (विज्ञानभैरव ८८ की व्याख्या)—

१. बुद्धि भूमि से ऊपर अहंकार भूमि है । अहंकार—समस्त जगत् में अहन्ता व्याप्त । २. अहंकार भूमि का ज्ञान—मुक्ति ३. अहंकार ही संवित्स्वरूप '**पराशक्ति**' है और यही '**ज्ञानशक्ति**' भी है । '**मन्त्रशक्ति**' के रूप में भी प्रतीत होने लगती है । ४. **शिव एवं शक्ति से अभिन्न 'अहंकार' ही 'मन्त्र' है** । यही अहंकार अपरिमित अहन्ता के रूप में 'पूर्णाहन्ता' के रूप में विकसित हो जाता है ।

यहाँ अहंकार सांख्य सम्मत अहंकार से पृथक् है क्योंकि वहाँ क्रम इस प्रकार है—मन-अहंकार—बुद्धि (आरोह क्रमानुसार) । यहाँ '**विमर्शदशा**' के अर्थ में ही '**अहंकार**' प्रयुक्त है । प्रकाशरूप शिव की इसी विमर्शदशा में समस्त जगत् अन्तर्लीन है । विमर्श शक्ति—अखिल जगत् का उन्मीलन ॥ '**विश्वाहन्ता**' (विरूपाक्षपञ्चाशिका) = '**पूर्णाहन्ता**' का मन्त्र से सम्बन्ध है ।

योगिनी हृदय एवं मन्त्र—'योगिनी हृदय' में कहा गया है कि इन्द्रियों को संयमित करके आन्तर नाद की भावना करना ही 'जप' है । जप तो मन्त्र का होता है अतः यदि इस अनाहत नाद का ही जप जप है तो सिद्ध हुआ कि 'मन्त्र' अनाहत नाद है—

संयमेन्द्रिय संचार प्रोच्चरेन्नादमान्तरम् ।
एष एव जपः प्रोक्तो न तु बाह्य जपो जपः ॥

हंसः मन्त्र सोऽहं मन्त्र—जीव दशा का स्वाभाविक मन्त्र—'हंसः हंसः' (अजपा गायत्री) जब सुषुम्णा नाड़ी में जब प्राण हृदयाकाश से ऊपर की ओर आरोहण करता है तब 'हम्' वर्ण उत्पन्न होता है और जब वह 'द्वादशान्त' से नीचे की ओर अवरोहण करता है (उतरता है) तब उसकी अपान अवस्था से '**सः**' वर्ण उत्पन्न होता है । इन दोनों वर्णों के उच्चारण से प्राणी '**जीवित**' कहलाता है । परिमित अहन्ता में स्थित यह जीव अहर्निश '**हंसः हंसः**' मन्त्र का जप करता रहता है—

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः ।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवा जपति नित्यशः ॥ (विज्ञानभैरव ५३)

महेश्वरानन्द—सोम और सूर्य (हंकार + सःकार) के अस्त एवं गमन के काल के मध्यवर्ती क्षण का उद्धार करना चाहिए—'अहं सः' के विमर्श का उदय = अहं सः = 'सोऽहं' मन्त्र बन जाएगा । 'मैं वही शिव हूँ' की प्रत्यभिज्ञा (संवि् का स्वस्वरूप) संवित्क्रम में—**'अहं सः' 'सोऽहं'** मन्त्र बन जाएगा ।

'मध्यत्रुटिस्त्रुटितव्याऽस्तंगतयोः सोमसूर्ययोस्तर्हि ।' (५६)

शैवागमों मे षडध्व का क्रम एवं मन्त्र—'वर्ण' 'पद' 'मन्त्र' 'कला' 'तत्त्व' भुवन । यह जगत् वाचक (ग्राहक) के रूप में—'पर' 'सूक्ष्म' एवं 'स्थूल' रूप में क्रमशः—'वर्ण' 'मन्त्र' एवं 'पद' के रूप में विभक्त हो जाता है ।

जयरथ 'तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तो भावाभावपदच्युतः (१।९०) की व्याख्या में कहते

हैं कि शिव के परावाक्स्वभाव, अनाहतनादमय हो वह शक्तिमूलक एवं नादात्मक विशिष्ट वर्ण-संरचना 'मन्त्र' है।

मन्त्र और देवता तथा जगत—'वातुलशुद्धाख्यतन्त्र' (५ पटल) में कहा गया है कि मन्त्र देवता एवं जगद्रूप है—मन्त्रस्तु देवता रूपं मन्त्ररूपमिदं जगत्' (५।१)।

मन्त्र का स्वरूप क्या है ?

'मननं सर्वपक्षेषु त्राणं संसारसागरात्।
मननत्राणधर्मत्वाद् 'मन्त्र' इत्यभिधीयते ॥' (५।७)

मन्त्र का प्रभाव—शिव-साक्षात्कार—

आह्वानतः स्वनाम्ना तु जनः सन्निहितो यथा।
तथा मन्त्रप्रयोगेण शिवः सन्निहितो भवेत् ॥ (५।८)

क्या 'मन्त्र' वर्ण-रचित पदों की समष्टि है?

आचार्य भास्करराय कहते हैं—१. 'माता, विद्या, चक्र, स्वगुरु एवं साधक' इन पाँचों के भेद का अभाव ही मन्त्र का 'कौलिकार्थ' है।

इत्थं माता विद्या चक्रं स्वगुरुः स्वयं चेति।
पञ्चानामपि भेदाभावो मन्त्रस्य कौलिकार्थोऽयम् ॥ (२।१०२)

२. पराभट्टारिका (इष्टदेवी) विद्या, कुण्डलिनी एवं साधक एक दूसरे से अभिन्न हैं—यह विमर्श श्रीविद्या का 'रहस्यार्थ' है।

३. 'चक्र' विद्या के अक्षरों से निर्मित होने के कारण विद्या से अभिन्न हैं। (९६)

४. अवाङ्मनसगोचर, तत्त्वातीत, महत्तम, अणुतम, व्योमातीत, विश्वाभिन्न चिदानन्द ब्रह्म में अपनी आत्मा का नियोजन ही मन्त्र का 'महातत्त्वार्थ' है। (१०९)

५. प्रत्येक मन्त्राक्षर में अचिन्त्य शक्ति है तथा अक्षरों एवं वामा, इच्छा तथा अन्य शक्तियों में अभेद है यह विमर्श ही मन्त्र का 'शाक्तार्थ' है। (११८)

६. शिव एवं शक्ति के सामरस्य के कारण 'ब्रह्म ही शिव एवं शक्ति दोनों ही है'—यह मन्त्रविद्या का सामरस्यार्थ है। (१२०)

मन्त्र के अंग

(क) आन्तरिक अंग—

मन्त्र के वर्णों की संख्या, उद्धार, मात्रा (काल) उच्चारण, स्थान, प्रयत्न, रूप, स्थितियाँ आकार आदि।

(ख) मन्त्र के बाह्यांग—ऋषि, छन्द, देवता, विनियोग, बीज, शक्ति, कीलक, न्यास, ध्यान, नियम एवं पूजा। (वरिवस्यारहस्यम्ः २ अंश।१६१)

मन्त्रोत्पत्ति—'कामकला बीज'—मूल मन्त्र का विकास और मूल—शरीर के आन्तरिक एवं बाह्यंगों का विकास (२।१६४)

विद्या (मन्त्र) एवं देवी में अभेद है। (वरि० २।९१)

जप के ५ अंग → (मन्त्रोच्चारण के समय—) जपांग—

अवस्था ५ शून्य ६ विषुवत् ७ चक्रों का स्मरण ९ मन्त्रार्थचिन्तन

मन्त्र और नाद—मूलाधार से उठने वाला 'नाद' मन्त्राक्षरों के मध्य माला में पिरोये सूत्र की भाँति होता है—

आधारोत्थित नादो गुण इव परिभाति वर्णामध्यगतः (२।२२)

मन्त्रजप के समय मन्त्र-विस्तार—

प्रथमकूट = मूलाधार से आरब्ध प्रलयाग्निवतः क ए ई ल ह्रीं।

द्वितीयकूट = अनाहत से आरब्ध एवं उसके आगे कोटिसूर्यवत्—
ह स क ह ल ह्रीं।

तृतीयकूट = आज्ञा चक्र से आरब्ध एवं ललाट के मध्य तक कोटिचन्द्र के समान–

मन्त्र संस्क्रिया के १० भेद होते हैं—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक विमलीकरण, तर्पण, दीपन, गुप्ति आदि।

'मन्त्र' और उसके विभिन्न अर्थ—

१. मननत्राणधर्माणो 'मन्त्राः'।
२. मननात् त्राणधर्मासौ मन्त्रोऽयं परिकीर्तितः।
३. चित्तं मन्त्रः। (शि०सू० ३।१)
४. संविद्देव्य मन्त्रः। (क्रमकेलि)
५. देव्येय मन्त्रः। (भूतिराज)
६. चिदग्निसंहार मरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान्ग्लपयन्नुदेति। (स्तोत्रभट्टारक)
७. वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि।
संकल्पपूर्वकोटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः॥'
८. नास्ति नादात् परो मन्त्रः। (राजभट्टारक)
९. मन्त्रः पदार्थोदयसंरभात्मा परामर्शः। (महार्थमंजरी परिमल)
१०. तद्विमर्शस्वभावा हि सा वाच्या मन्त्रदेवता। (महासंवित् समासन्त्रा)
११. प्रमातृभूमिगता मन्त्राः। (मतंग टीका)
१२. मान्त्री शक्तिं मनसि महती देवतेत्याद्रियते। (संविदुल्लास)
१३. 'अग्निरूपा मन्त्राः' 'मन्त्रा न मीमांस्या'। (रौरवागम)
१४. सर्वे वर्णात्मकाः मन्त्राः। (तन्त्रसद्भाव)
१५. मन्त्रा वर्णात्मका सर्वे। (सर्ववीर)
१६. ते मन्त्रा वर्णरूपेण सबाह्याभ्यन्तरोदिताः। (संकर्षणसूत्र)

१७. पशुभावे स्थिता मन्त्रा केवलं वर्णरूपिण: ।
सौषुम्णेध्वन्युच्चरिता: पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ।। (हंसपारमेश्वर)

१८. बीजपिण्डादिकं सर्वं संविद: स्पन्दनात्मताम् ।
विदधत परसंवित्तावुपाय इति वर्णितम् ।।
एकानुसंधान बलाज्जाते मन्त्रोदयेऽनिशम् ।
तन्मन्त्रदेवता यत्नात् तादात्म्येन प्रसीदति ।।
—अभिनवगुप्त : तन्त्रालोक (७।२-५)

'मन्त्र' वीर्यवान् होते हैं । 'संवित्स्तोत्रं' में इस 'मन्त्रवीर्य' के विषय में कहा गया है कि—

आदिमान्तिगगृहीतवर्णराश्यात्मिकाहमिति या स्वत: प्रथा । मन्त्रवीर्यम् ।।'

१९. **त्रिकहृदय** में कहा गया है—'अर्थस्य प्रतिपत्तिर्या ग्राह्यग्राहकरूपिणी । सा एव मन्त्रशक्तिस्तु वितता मन्त्रसन्ततौ ।।'

२०. किंकरत्वं च गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपै: सह । (त्रिकसार)

२१. **तन्त्रालोक**—समस्त मन्त्र वीर्यबलोपेत हैं ।

२२. मन्त्र एवं मांत्रिक में अभेद आवश्यक है क्योंकि इस अभेदात्मकता के बिना मन्त्र कभी सिद्ध नहीं होते—पृथङमन्त्र: पृथङमन्त्री न सिद्ध्यति कदाचन ।
—'श्रीकण्ठीसंहिता'

२३. उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान् विदु: ।

२४. शक्तौ नियोजयेन्मन्त्र जपस्तु सफलीभवेत् ।। (तत्वरक्षाविधान)

२५. 'विषुवत्कं जपं कुर्यात्' ।

२६. एकस्य मन्त्रनाथस्य अन्तर्बाह्योदितस्य च ।
यदैक्यं तं जपं विद्धि ।। (सुभगोदयवासना: १४।६९)

२७. उच्चार्यमाणा ये मन्त्रा न मन्त्राश्चापि तान्विदु: ।
मोहिता देवगंधर्वा मिथ्याज्ञानेन गर्विता: ।। (सर्वज्ञानोत्तर)

२८. 'मन्त्र' शक्ति के बिना व्यर्थ हैं—'तन्त्रसद्भाव'—

'मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया ।
तया हीना वरारोहे निष्फला: शरदभ्रवत् ।।'

२९. **मन्त्र के तत्त्व**—१. देवतत्त्व २. प्राणतत्त्व ३. बिन्दु तत्त्व ४. ज्ञान तत्त्व ५. शक्तितत्त्व ६. योगिनी तत्त्व (कामधेनु तन्त्र) ।।

३०. **मन्त्र के स्थान**—१. सकल २. निष्कल ३. सूक्ष्म ४. सकल निष्कल ५. कलाभिन्न ६. कलातीत ।

३१. चैतन्यशून्य मन्त्र निरर्थक होते हैं—

चैतन्यरहितं मन्त्रं यो जपेत् स च पापकृत् ।
मन्त्राश्चैतन्यसंहिता: सर्वसिद्धिकरा: स्मृता: ।। (शाला० ९।१०३)

मन्त्र—अपने तात्विक स्तर पर वर्ण या अक्षर नहीं है प्रत्युत् शक्ति की नादात्मक अभिव्यक्ति है । इसीलिए इन्हें शिवात्मक कहा गया है—'मन्त्रावर्णात्मिका सर्वे वर्णा सर्वे शिवात्मका: ।' अर्थात् समस्त मन्त्र वर्णात्मक है किन्तु मन्त्रों के अवयव वर्ण स्वयं में शिवात्मक हैं । इस प्रकार समस्त मन्त्र भी शिवात्मक हैं ।

प्रणव रूप जो मूलमन्त्र है उसके १२ अवयव निम्नांकित हैं—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥
कौण्डली व्यापिनी शक्ति: समना श्चेति सामया: ।
निष्कलं चात्मतत्त्वं च शक्तिश्चैव तथोन्मना ॥[१]

मन्त्रों का मूल स्रोत (योनि) 'ज्ञानशक्ति' है—

ज्ञानशक्ति: परासूक्ष्मा मातृकां तां विदुर्बुधा: ।
सा योनि: सर्वमन्त्राणां सर्वत्रारणिवत्स्थिता ॥

यह 'ज्ञानशक्ति' मन्त्रों के अवयवभूत वर्णों का भी आत्मस्वरूप है—इसीलिए इसे 'मातृका' भी कहा गया है—

'ततोऽष्टविधभेदेन पञ्चादशवर्णरूपिणी ।
(ज्ञानशक्ति:) परा सूक्ष्मा मातृका तां बिदुर्बुधा: ॥'[२]

परावाक् को परमेष्ठी परमशिव का परमन्त्रात्मक विमर्श स्वरूप '**हृदय**' कहा गया है। 'मन्त्र' ही उसका हृदय है । विमर्श शक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई 'मन्त्र' नहीं है और यही मन्त्र परमेष्ठी शिव का हृदय है—'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकाला विशेषिणी । सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिन: ॥'[३]

मन्त्र का यथार्थ स्वरूप है—'अहंविमर्श' । उच्चतम भूमिकावस्थित विमर्शमय शब्द '**परावाक्**' है । 'मनु अवबोधने' 'तृ पालने' धातु से मन्त्र शब्द निष्पन्न हुआ ।

'**शिवसूत्रविमर्शिनी**' (२.१) में कहा गया है कि—विचित्रवर्णों के संघट्टन मात्र को 'मन्त्र' नहीं कहते प्रत्युत् मन्त्र के देवता का निरन्तर विमर्श करते रहने से प्राप्त साधक चित्त का अपने देवता के साथ जो तादात्म्यभाव है वही है 'मन्त्र'—'मन्त्रदेवताविमर्शपरत्वेन प्राप्ततत्सामरस्यम् आराधकचित्तमेव मन्त्र: न तु विचित्रवर्णसंघट्टनमात्रम् (शि०सू०वि०)।

'**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**' (१.५.१४) में मन्त्र को विमर्शनात्मा कहा गया है—'मन्त्रश्च विमर्शनात्त्मा' विमर्शात्मक आत्मस्फुरण **परममन्त्र** है और इसका स्वस्वरूप है—'**अहं परामर्श**' । यह '**अहंविमर्श**' शुद्धाशुद्ध द्विविध प्रकारक है । 'शुद्ध अहं विमर्श' ही **मन्त्र है** क्योंकि मन्त्र आत्मा की चिद्रश्मि ही मन्त्र है—'**मन्त्राश्चिन्मरीचय:** । विमर्श (आत्मस्पन्दन) ही प्रत्येक भाव का **हृदय** है और तद्रूप है '**मन्त्र**' ।

शब्द, मन्त्र एवं ओंकार तत्वत: अभिन्न हैं ।

१-२. नेत्रतन्त्र ।　　३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा अ० ४ ।

समस्त **मन्त्रों की मूल एवं सर्वोच्चप्रकृति ॐकार** हैं।

अर्धमात्रादिक में जो प्रतिफलित चैतन्य है वही '**मन्त्र**' है, प्रणव या मन्त्र के निम्न अवयव हैं—अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना एवं उन्मना।

समग्र विश्व की उत्पत्ति शब्द द्वारा ही हुई है एवं समस्त विश्व शब्द में ही विधृत है। शब्दातीत परमपद का साक्षात्कार करने के लिए भी शब्द का आश्रय लेकर ही शब्द राज्य का भेदन करना पड़ता है। सृष्टि से बाहर जाने के लिए भी शब्द ही एक मात्र आलम्बन है। इसीलिए शब्द को पकड़कर शब्दातीत परब्रह्म पद में जाने का विधान किया गया है।

प्रश्न—यदि '**अहंविमर्श**' **आत्मस्फुरण**, '**परावाक्**' चित् तत्त्व की मरीचि ही '**मन्त्र**' है तब तो समस्त बैखरी वाक् भी आत्मस्फुरण, आत्मा, प्रत्यक् चैतन्य एवं परावाक् का विकास है। फिर सारे वर्ण ही **मन्त्र पद वाच्य** हैं। बैखरी वाक् भी आन्तर विमर्श का ही कार्य है अत: बैखरी के प्रत्येक वर्ण 'मन्त्र' हैं। समस्त वर्ण शिवरूप हैं, परस्वरूप हैं और शक्तिस्वरूप हैं 'सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मका: प्रिये'।

मन्त्रों की आत्मभूता शक्ति होती है उसके बिना मन्त्र निरर्थक होते हैं—'मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया। तया हीना वरारोहे निष्कला: शरदभ्रवत्॥ (तं०स०, शि० सू० २.१)।

'स्वात्मरूपतया स्फुरणं भवति' मन्त्र इसी आत्मस्फुरण का अपर पर्याय है।

भट्टकल्लट 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में कहते हैं कि स्पन्दतत्त्व नामक आत्मबल से तादात्म्य प्राप्त मन्त्र सर्वज्ञता आदि समस्त माहेश्वर बलों से युक्त हो जाते हैं—'तत् बलं निरावरणचिद्रूपमधिष्ठाय मन्त्रा: सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ता: प्रवर्तन्ते अनुग्रहादौ स्वाधिकारे॥' 'स्पन्दकारिका' (सहज० २६) मे भी यही कहा गया है—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: सर्वज्ञबलशालिन:।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥ २६॥'

ये मन्त्र शान्त (शुद्धसंवित्रूप) एवं निरञ्जन (मायिक दूषणों से रहित) होकर आराधकों के साथ-साथ चिदाकाश में ही लीन हो जाते हैं। अत: सारे मन्त्र शिवरूप (शिवधर्मा) हैं—

'तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा: निरञ्जना:।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिण:॥' (२७)

मन्त्र देवता विमर्श स्वभाव हैं—'तद्विमर्शस्वभावा हि वाच्या मन्त्रदेवता।' 'महा-संवित् सम्पन्ना' 'मन्त्र' प्रमातृभूमिगत है—प्रमातृभूमिगता मन्त्रा:॥ (मतंगटीका)

'**बौद्धायन संहिता**' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि 'चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्य का उदय भी न हो उस समय समस्त देवताओं (इन्द्रियों) का विलय और समस्त **मन्त्रों का उदय** होता है।'

'मालिनीविजय' में भी इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि 'जिस अवस्था में जीव अन्य आधारों से विनिर्मुक्त होकर स्वस्वरूप में लीन हो जाता है वही अवस्था मन्त्रों के उदभव का स्थान है ॥' यह भी कहा गया है कि 'जब पुरुष का चित्त धर्माधर्म के संधिस्थल में निरुद्ध हो जाता है तब वह जो कुछ भी बोलता है वही '**मन्त्र**' हो जाता है । **स्वरवर्ण-मातृका से निर्मित मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते** ॥'

१. **रामकण्ठाचार्य** ने तो 'स्पन्दकारिका विवृति' (२ नि०१०-११) में मन्त्र को वर्ण-संनिवेश कहा है—'**मन्त्रा** आराध्यदेवतावाचका वर्णादिसंनिवेशः ॥'

२. **रामकण्ठ** पुनः कहते हैं कि—यदि साधक का चित्त मन्त्रात्मक हो जाता है तो वर्णसंकल्प आदि स्वरूप धारण करके शिवशक्ति ही मन्त्र के रूप में उदित होती है—

'मन्त्रात्मकतया साधक चित्तात्मकतया च शिवशक्तिरेव वर्णसंकल्पादिरूपधारिणी उदिता ॥'

क्योंकि मन्त्रचेता एवं शिव में अभेद स्थापित हो जाता है—'मन्त्रचेतसोः उदया-स्तमदशयोः परमकारणात् **शिवादभेदः** ॥'

३. '**कुलार्णव तन्त्र**' में कहा गया है कि—'तत्त्वरूप', 'तेजस्वरूप' देवता का मनन करने से जो शक्ति समस्त भयों से मुक्त कर देती है उसे मन्त्र कहते हैं—

'मननात्तत्त्वरूपस्य देवस्यामिततेजसः ।
त्रायते सर्वभयस्तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥'

'यम भूतादि सर्वेभ्यो भयेभ्योऽपि कुलेश्वरि ।
त्रायते सततश्चैव तस्मान्मन्त्र इतीरितः ॥'

४. जो मनन करने से त्राण करने वाले हैं वे '**मन्त्र**' कहलाते हैं 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' ।

५. चित्तं मन्त्रः' (शिवसूत्रः ३।१) (मन्त्र का आध्यात्मिक स्वरूप)

६. संवित् तत्त्व ही मन्त्र हैं—संविद्देव्येय मन्त्रः (क्रमकेलि)। 'देव्ये मन्त्र'—भूतिराज ।

७. चिदग्नि संहार मरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान् ग्लपयन्नुदेति (स्तोत्रभट्टारक)

८. वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पञ्चवदनोऽपि । संकल्पपूर्वकोटौ **नादोल्लासो** भवेन्मन्त्रः ॥ (स्तोत्रभट्टारक)

९. 'नास्ति नादात् परो मन्त्रः' ।

१०. **मन्त्रः** पदार्थोदयसंरम्भात्मा परामर्शः ॥' (**महार्थमंजरी** परिमल)

मन्त्र शक्ति एवं उसका स्वरूप—स्पन्दप्रदीपिकाकार का अभिमत—

(क) **मन्त्र में चार मुख्य तत्त्व** होते हैं—१. 'बीज' २. 'पिण्ड' ३. 'पद' और ४. 'नाम' ।

(ख) **मन्त्र का मुख्य धर्म** है—१. मनन एवं २. त्राण ।

(ग) **मन्त्र का बल** है—निरावरण चित् का उल्लास अर्थात् पराशक्ति का उल्लास। उसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नाद शक्ति से उद्‌बोधित होकर प्रदीप्त हो उठते हैं और उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है। जब सिद्धमन्त्री उनका प्रयोग करता है तब वे अनुग्रह एवं निग्रह करने में भी समर्थ हो जाते हैं। आत्मा के पर तत्त्व का अवबोध होने के कारण मन्त्रज्ञ इच्छामात्र द्वारा मन्त्रो का यथेष्ट प्रयोग कर सकता है। '**त्रिकसार**' में इसी संदर्भ में कहा गया है कि—'वर्णातीत निराकार परम तत्त्व का अवबोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधियों के साथ ही मांत्रिक के किंकर हो जाते हैं।' चिच्छक्ति के बल का संस्पर्श न होने पर वे मन्त्र केवल वर्ण मात्रा (जडअक्षर) मात्र बनकर रह जाते हैं और कठपुतली के समान निष्फलचेष्ट रहते हैं।

(घ) '**हंस पारमेश्वर**' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—केवल वर्णरूपमन्त्र 'पशु-भाव' में स्थित हैं जबकि सुषुम्नामार्ग से उच्चारित होने पर वे 'पशुपति' बन जाते हैं और इस प्रकार मन्त्र की दो अवस्थायें हैं—१. 'पशु अवस्था' २. 'पशुपति अवस्था'।

(ङ) शाक्तमार्ग में ही मन्त्रों की सफलता है—मन्त्र का प्रयोग केवल शक्ति के संदर्भ में ही करना चाहिए क्योंकि वही जप सफल होता है।

(च) '**श्रीवैहायसी**' नामक ग्रन्थ में निर्देश दिया गया है कि—'सन्धिस्थल में नादोर्ध्वध्वनि द्वारा बोधित जप करना चाहिए। जिस प्रकार सूत्र में मणि पिरोये रहते हैं उसी प्रकार शक्ति के ताने-बाने से निर्मित मन्त्राक्षरों का ही ध्यान करना चाहिए। वह शक्ति परम व्योम में निवास करती है और परमामृत से समृद्ध है। उक्त पद्धति से जप करने पर 'मन्त्र' अपना स्वस्वरूप उद्‌घाटित कर देता है और अपने ऊपर से आवरण हटा देता है।

(छ) '**श्रीकालपरा**' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—शब्द नादात्मक हैं अतएव उनके साथ प्रत्यय, संवित् संलग्न रहता है और उनमें वृद्धि करता रहता है मन्त्र बोध के स्वरूप में स्थित जो संवित् है वह मन्त्र से अभिन्न है। अत: वह आत्म बोध भी करा देती है।

(ज) '**संकर्षण सूत्र**' में कहा गया है कि—'चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है। भाव एवं अभाव उसकी दशाएँ एवं परिष्कार हैं। वह स्वसंवेदनसंवेद्य है। वह प्रकृति का विषय भी है और प्रकृति से अतीत भी है यही मन्त्रों का प्रत्ययात्मक कारण है। मन्त्र बाहर एवं भीतर वर्णरूप से प्रकट होते हैं। वे शाश्वत पदरूप मन्त्र मनुष्य के करचरणादिक के समान हैं। वीर्य का योग होने पर प्रत्येक काल में (प्रयोग करने पर) सिद्ध होते हैं।

शुद्ध बोधात्मक रूप से अन्तर्बाह्य दोनों में उदित मन्त्र का एक बार भी 'जप' कर लिए जाने पर वह लक्ष बार किये गए जप के समान फल वाला हो जाता है। इसीलिए '**जपसंहिता**' में कहा गया है कि—जब एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य दोनों में उदित होकर एक हो जाता है तब ऐसे जप को लक्षसंख्या से भी अधिक महनीय समझना चाहिए ॥ इन समस्त भावों एवं सिद्धान्तों को स्पन्दकारिकाकार मे इस प्रकार व्यक्त किया है— 'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥'

(झ) ये मन्त्र साधक चित्त की प्रवृत्ति-निवृत्ति के निमित्त (साधक की इच्छा होने पर) शक्ति स्वस्वभाव में लीन हो जाते हैं क्योंकि मन्त्र स्वस्वभाव के अनुगामी एवं शक्तिरूप हैं । '**कालपरा**' नामक ग्रन्थ भी इसकी पुष्टि करता है । तदनुसार पर अक्षर रूप विटप में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं । उनके विवर्त शक्ति के रूप में वर्णों के माध्यम से प्रकट होते हैं (वर्णों में प्रकट होते हैं) । ये शक्तियाँ कृतकृत्य होने के कारण शान्त एवं निरञ्जन (कालुष्यरहित) हैं । मन्त्र सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं । मन्त्र शिवधर्मी हैं । **आचार्य कल्लट** ने 'स्पन्दकारिका' में इसकी पुष्टि की है—

'तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा: निरञ्जना: ।
सहसाधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिण: ॥'

(ञ) 'साधक के चित्त में मन्त्र लीन हो जाते हैं'—'तत्रैव सम्प्रलीयन्ते' कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा ही शिव है । यह आत्मा सर्वमय, सर्वात्मक विश्वरूप है क्योंकि यह बोद्धा है ।

संवित् ही मन्त्रात्मा है अत: मन्त्र शिवरूप है ।

स्पन्दप्रदीपिकाकार कहते हैं कि—१. मन्त्रों में स्पन्दात्मक बल स्वभाव से ही अन्तर्निहित है । अशुभविकल्प—स्वात्मशक्तियों का लोप या अज्ञान । २. आत्मबल की विस्मृति की अवस्था में मन्त्र वीर्यहीन हो जाते हैं । ३. स्वरूप की स्पन्दमयता का निरन्तर अनुसंधान करने से ही मन्त्र शक्ति की अनुभूति होती है । ४. आन्तर अनुसंधान में प्रगाढ़ता आने पर मन्त्रोच्चारण मात्र से अभीष्ट सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं । ५. मन्त्रशक्ति स्वात्मस्वरूप में ही स्फुरित होती है । ६. चित्त-नैर्मल्य—आन्तर अनुसंधान की शक्ति-प्राप्ति और निर्मल चित्त में ही स्वरूप का प्रकाश प्रतिबिम्बित । विकल्प संस्कार—भावशुद्धि, शुद्धविद्योदय, अशुभ विकल्पों का नाश,—मन्त्रशक्ति की अनुभूति । ७. समस्त वर्ण ही मन्त्र हैं और वे शक्त्यात्मक है—सर्वे वर्णात्मका: मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मका: प्रिये (तं०स०) ८. मन्त्रों में एक शक्ति निहित होती है । जो मन्त्र शक्ति-रहित होते हैं वे निष्फल होते हैं—मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्यया । तया हीना वरारोहे निष्फला: शरदभ्रवत् ॥ ९. शक्ति मन्त्रवीर्यस्फार है—'शक्ति: मन्त्रवीर्यस्फाररूपा' (शिवसूत्र) मन्त्रशक्ति स्वात्मरूप में ही स्फुरित होती है । 'मन्त्र'—आत्मस्फुरण के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । आत्मस्पन्दन ही मन्त्र भी है । आत्मस्पन्दन या 'विमर्श' प्रत्येक भाव की आत्मा (हृदय) है—'हृदयं च नाम प्रतिष्ठा स्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनम्' तस्यापि प्रकाशात्मकम्, तस्यापि विमर्शशक्ति: इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं यत्र यत्र अभिधीयते (ई०प्र०वि०) ।

—*—

स्पन्दकारिका

॥ श्रीः ॥

ग्रन्थ खण्ड

स्पन्दकारिका

—*—

[१] स्पन्दकारिका का अध्यायीकरण

[२] सूत्रों की अनुक्रमणिका

[३] विशेष ध्यातव्य

[४] प्रथम निष्यन्द—'स्वरूपस्पन्दनिष्यन्द'

[५] द्वितीय निष्यन्द—'सहजविद्योदयनिष्यन्द'

[६] तृतीय निष्यन्द—'विभूतिस्पन्दनिष्यन्द'

[१] स्पन्दकारिका का अध्यायीकरण

१) आचार्य क्षेमराज के अनुसार 'स्पन्दनिर्णय' में—

(क) प्रथम निष्यन्द	२५ कारिकायें	स्वरूपस्पन्द
(ख) द्वितीय निष्यन्द	७ कारिकायें	सहजविद्योदयस्पन्द
(ग) तृतीय निष्यन्द	१९ कारिकायें	विभूतिस्पन्द
(घ) चतुर्थ निष्यन्द	१ कारिका	अगाध... गुरुभारतीम् (१का०)

२) आचार्य रामकण्ठ के अनुसार 'स्पन्दकारिकाविवृति' में—

(क) प्रथम निष्यन्द	१६ कारिकायें	व्यतिरेकोपपत्तिनिर्देशनिष्यन्द
(ख) द्वितीय निष्यन्द	११ कारिकायें	व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धिनिष्यन्द
(ग) तृतीय निष्यन्द	३ कारिकायें	विश्वस्वभावशक्त्युपपत्तिनिष्यन्द
(घ) चतुर्थ निष्यन्द	२१ कारिकायें	अभेदोपलब्धिनिष्यन्द
(ङ) अन्त में	१ कारिका	अगाध ... गुरुभारतीम् ॥

३) आचार्य उत्पलदेव के अनुसार 'स्पन्दप्रदीपिका' में—

कारिकाओं का वर्गीकरण करके कारिकाओं को प्रस्तुत नहीं किया गया।

४) आचार्य वसुगुप्त के अनुसार 'शिवसूत्र' में—

(क) प्रथम अध्याय	'शांभवोपाय'	(साधना-पद्धति) ॥
(ख) द्वितीय अध्याय	'शाक्तोपाय'	(साधना-पद्धति) ॥
(ग) तृतीय अध्याय	'आणवोपाय'	(साधना-पद्धति) ॥

५) आचार्य भट्टकल्लट के अनुसार 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में—

(क) प्रथम निष्यन्द	'स्वरूपस्पन्द'	१-२५ कारिकायें : २५ का०
(ख) द्वितीय निष्यन्द	'सहजविद्योदय'	२६-३२ कारिकायें : ६ का०
(ग) तृतीय निष्यन्द	'विभूतिस्पन्द'	३३-५२ कारिकायें : २० का०

(प्रस्तुत ग्रन्थ में आचार्य भट्टकल्लट की 'स्पन्दकारिकावृत्ति' के द्वारा प्रस्तुत अध्यायीकरण को ही स्वीकार किया गया है।)

[२] सूत्रों की अनुक्रमणिका

संख्या **सूत्रार्ध**

१. अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम् ॥
२. अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत्सदा ॥
३. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ॥
४. अतो बिन्दुरतो नादोरूपमस्मादतो रसः ॥
५. अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ॥
६. अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ॥
७. अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ॥
८. अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ॥
९. अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्य ध्यायिचेतसि ॥
१०. अवस्थायुगलञ्चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ॥
११. अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादि संविदः ॥
१२. इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ॥
१३. इयमेवाप्राप्तिरयमेवात्मनो ग्रहः ।
१४. एक चिन्ता प्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ॥
१५. कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ॥
१६. गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्द संश्रयात् ॥
१७. ग्लानिर्विलुम्पिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ॥
१८. जाग्रदादि विभेदे तदभिन्ने प्रसर्पति ।
१९. तत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरंजनाः ॥
२०. तथा यत्परमार्थेन यदा यत्र यथास्थितम् ॥
२१. तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात् ॥
२२. तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ॥
२३. तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभस्करे ॥
२४. तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तत्वलक्षणः ।
२५. तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना ॥
२६. तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ॥
२७. तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ॥
२८. तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि ॥

२९. तेन शब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न यः शिवः ॥
३०. दिहक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ॥
३१. दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते ।
३२. न तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पन्दम् ॥
३३. न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च ॥
३४. न हीच्छादनोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ॥
३५. नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता ॥
३६. निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ॥
३७. परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ॥
३८. प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत् ज्ञानेनालोच्य गोचरम् ॥
३९. भुंक्ते परवशो भोगं तद्भावात्संसरत्यतः ॥
४०. यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ॥
४१. यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढ़वत् स्वयम् ॥
४२. यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ॥
४३. यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितान् ॥
४४. यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ॥
४५. यस्मात्सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवात् ॥
४६. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ॥
४७. यामवस्थां समालम्ब्य यदयं मम वक्ष्यति ॥
४८. लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ॥
४९. शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ॥
५०. स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ॥
५१. सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ॥
५२. ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ॥

—*—

[३] विशेष ध्यातव्य

कतिपय ऐसी स्पन्दकारिकायें भी हैं जो कि **भट्टकल्लट** के 'स्पन्दसर्वस्व' में तो नहीं हैं किन्तु अन्य ग्रन्थों में हैं; यथा—

कारिका	वह ग्रन्थ जिसमें यह कारिका उद्धृत की गई है—
१. 'लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानघनं, हृद्गुहान्तकृतनिहितेः । वसुगुप्तवच्छिवाय हि, भवति सदा सर्वलोकस्य ॥' —'स्वोपज्ञपरिमल' में उद्धृत ॥	'महार्थमंजरी' की 'स्वोपज्ञ 'परिमल' टीका श्लोक क्रमाङ्क १
२. वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः । रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्री**भट्टकल्लटः** ॥ —'स्पन्दप्रदीपिका' (का० ५३) (यह कारिका 'स्पन्दकारिकाविवृति' में नहीं है ।) उपर्युक्त कारिका (क्र० २) उत्पलाचार्य की टीका 'स्पन्दप्रदीपिका' में है, तो उनके परवर्ती ग्रन्थकार रामकण्ठाचार्य की 'स्पन्दकारिकाविवृति' में भी होनी चाहिए थी किन्तु वहाँ उल्लिखित नहीं है ।	'स्पन्दप्रदीपिका' में तो है किन्तु 'स्पन्दसर्वस्व' (कल्लट की टीका) में नहीं है । 'स्पन्दसर्वस्व' में मात्र ५२ कारिकायें हैं ।
३. अन्तिम कारिका (विभिन्न टीकाओं में)— (क) 'अगाधसंशयाम्भोधि समुत्तरणतारिणीम् ॥' —'स्पन्दसर्वस्व' (५२) —'स्पन्दकारिकाविवृति (५२) (ख) 'वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः' —'स्पन्दप्रदीपिका' (५३)	

—*—

[४] प्रथमो निष्यन्दः

स्वरूपस्पन्दनिष्यन्दः

'स्पन्दकारिका' के प्रथम निष्यन्द का नाम 'स्वरूपस्पन्द' रक्खा गया है । प्रत्येक अध्याय के साथ '**निष्यन्द**' शब्द का प्रयोग किया गया है यथा—'प्रथमनिष्यन्द—'**स्वरूपस्पन्द**' 'द्वितीयनिष्यन्द'—'**सहजविद्योदयनिष्यन्द**' । 'निस्यन्द' या 'निःष्यन्द' (नि + स्यन्द + घञ्, षत्व) का अर्थ है—चूना, टपकना, बहना, रस, बहाव या प्रवाह । निस्रव एवं निस्राव भी इसी के समानार्थक हैं ।

तुलना कीजिए : 'शिवसूत्र' एवं 'स्पन्दसूत्र'—

(क) **स्पन्दसूत्र**— (अध्यायीकरण)	(ख) **शिवसूत्र**— (अध्यायीकरण)
१. स्वरूपस्पन्दः प्रथम 'निःष्यन्द' ।	१. 'शांभवोपाय' = प्रथम 'उन्मेष' ।
२. सहजविद्योदयः द्वितीय 'निःष्यन्द'।	२. 'शाक्तोपाय' = द्वितीय 'उन्मेष' ।
३. विभूतिस्पन्दः तृतीय 'निःष्यन्द' ।	३. 'आणवोपाय' = तृतीय 'उन्मेष' ।

'उन्मेष' (उद+मिष्+घञ्) (उद्+मिष+ल्युट्) = 'उन्मेषण' ॥ अर्थ—आँख का खुलना, खिलना । स्फुरण । प्रकाश ॥ 'उन्मिषित' = खिला हुआ, खुला हुआ, दृष्टि, नजर, निगाह ॥ उन्मीलन = आँख खुलना ॥

(ग) **योगशास्त्र** : अध्यायीकरण—१. 'समाधिपाद' २. 'साधनपाद' ३. विभूति-पाद, ४. कैवल्यपाद ।

'स्पन्दशास्त्र' में 'उन्मेष' का अर्थ—

१. एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ ४१ ॥ (स्पन्दकारिका)

२. ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेष विलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ॥ ४० ॥ (स्पन्दकारिका)

३. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ॥ १ ॥

'स्पन्द' का अर्थ—

१. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र **स्पन्दः** प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

२. 'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् । (१९) (स्पन्द०)

३. 'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥ (स्पन्द०)

'स्पन्द के निष्यन्द'—

रामकण्ठाचार्य = 'उन्मेष-निमेष' = 'शक्तिप्रसर प्रलय' ।

रामकण्ठाचार्य का तर्क—भगवान् शंकर तो नित्य हैं, 'अव्यभिचरदेकस्वभाव' एवं 'एकमात्र पदार्थ' एवं परमार्थ पदार्थ हैं फिर उनके साथ अनित्य निमेषोन्मेष नामक परस्पर विरुद्ध अवस्थाद्वय का संबंध कैसे दिखाया गया ? यह हो सकता है कि—'कर्तृ-प्रथया हि अनया एवं प्रतिपाद्यते शंकर उन्मिषति निमिषन्ति इति ॥' (रामकण्ठ) किन्तु—नित्य भगवान् में 'अनित्यावस्था योगित्वं' अनुपपन्न है । फिर 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' क्यों कहा गया ? (रामकण्ठाचार्य) ॥

पूर्वपक्ष के उपरान्त रामकण्ठ उत्तरपक्ष में कहते हैं कि—(१) 'उन्मेष' एवं 'निमेष' दोनों शब्द शांकरी इच्छा के द्योतक हैं और यह 'इच्छा' उनका स्वरूपभूत नित्य धर्म है—१. 'उन्मेष-निमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकं शंकर संबंधि प्रतिपाद्यते । स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः ।

२. उन्मेष-निमेष का द्वित्व मात्र उपचारवश है—'तस्य उन्मेष-निमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वं च उपचारात् ।' इच्छाशक्ति या परमात्मा की संकल्प शक्ति को व्यक्त करने के लिए 'उन्मेष' एवं 'निमेष' दो शब्द का प्रयोग औपचारिक मात्र है क्योंकि ये दोनों शब्द परमात्मा के संकल्प या इच्छामात्र के द्योतक हैं—संकल्पात्मक गतिमयता या इच्छा ही दोनों का अर्थ है—इससे पृथक् कुछ नहीं है ।[१]

इच्छा सृष्टिवाद—

तर्क यह है कि जगत् पारमेश्वरी मायाशक्ति के द्वारा उद्भावित होने के कारण (कार्य होने के कारण, अनित्य होने के काराण) अनित्यात्मक प्रलयोदय से तो प्रभावित होते ही हैं अतः निमेषोन्मेष तो होंगे ही किन्तु ये ईश्वरेच्छाप्रसूत मात्र ही हैं—

'निमेषोन्मेषौ वस्तुतः संभवतः । तौ च ईश्वरेच्छामात्रनिमित्तकौ ।' अतः—'उन्मेष' उदयात्मक होने के कारण यह ईश्वरेच्छा मात्र का ही द्योतक है—'उदयात्मकोन्मेषहेतु-त्वात् ईश्वरेच्छैव उन्मेष शब्देन ।' इसी प्रकार 'निमेष' शब्द प्रलयवाचक है । प्रलयवाची 'निमेष' भी इसी ईश्वरेच्छा का औपचारिक अर्थ द्योतित करता है जिस प्रकार कि आयु-प्रदायक घृत भी आयु कहा जाता है ।[२]

उन्मेष-निमेष भी शंकर की अव्यतिरिक्ता शक्ति हैं—'सा च अव्यतिरिक्ता शंकरस्य शक्तिः ।' उसका ज्ञान आत्मैश्वर्यप्रत्यभिज्ञालक्षण की सिद्धि का प्रतिपादक है । परमात्मा के अवगमार्थ ही 'इच्छा' शब्द को भी प्रयुक्त किया गया है । जिस प्रकार पुरुष

१-२. स्पन्दकारिकाविवृति ।

की इच्छावस्था में इष्यमाण पदार्थ उसके स्वरूप से व्यतिरिक्त नहीं होता उसी प्रकार 'अनन्तावभासात्मक एवं अनन्तवैचित्र्यात्मक जगत् भगवान् की शक्ति से रंचमात्र भी व्यतिरिक्त नहीं है—[१]

'भगवत: शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् मनागपि ।
अनुपजातविशेषात् स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते ।।'

यह नश्वर नहीं शिवदशा है इसीलिए इसकी स्तुति की गई है—'सेयं परमार्थ सती शिवदशा'—

सदा सृष्टि विनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नम: ।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है—

सा चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर: ।।

परमात्मा की मात्र एक ही शक्ति है किन्तु उसके लिए—इच्छा ज्ञान क्रिया रूप में भिन्न-भिन्न प्रयोग किया जाता है—'एकस्या एव पारमेश्वर्या: शक्ते: इच्छा-ज्ञान-क्रिया व्यपदेश: और उसे मायावश इदन्तोन्मिषित रूप में देखा जाता है ।

इसी प्रकार एक ही शिवतत्त्व में सदाशिवादि तत्त्वान्त अनेक व्यपदेश हुए हैं । इसीलिए पारमेश्वरी शक्ति स्वलीलोल्लासित जगत् की दो अवस्थाओं में वर्तमानता के कारण, दो प्रकार भी कही गई है । **'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ'** का अर्थ यह होगा—'यस्य इच्छामात्रेण जगत: प्रलयोदयौ तं स्तुम: ।।'

संकल्पसृष्टिवाद—

उन्मेष-निमेष दो शब्द अवश्य प्रयुक्त हुए हैं किन्तु दोनों का अर्थ एक है—इसका अर्थ है—'परमेश्वरेच्छा' उन्मेषेण उदयो, निमेषेण प्रलय:—इति तु अर्थसंख्या समवैति । इच्छामात्रम् उन्मेषनिमेषौ ।। इसीलिए तो **भट्टकल्लट** ने **'उन्मेषनिमेष'** की व्याख्या **'संकल्प'** शब्द से की है—'संकल्पमात्रेण' (**भट्टकल्लट**) ।[२]

आचार्य **रामकण्ठ** यह भी कहते हैं कि—१. जिन व्याख्याकारों ने यथासंख्य समर्थनानुरोध के कारण जिसके 'उन्मेष' में क्रियाशक्ति के प्रतिसंहार के कारण स्वरूप विकास में जगत् के प्रलय को विनाश के रूप में तथा २. 'निमेष' में क्रियाशक्ति के प्रसृत होने से स्वरूपसंकोच रूप में जगत् का उदय या उद्भव स्वीकार किया है और जो उन्मेष निमेष को शंकर का पारमार्थिक धर्म प्रतिपादित करते हैं उनकी व्याख्या काल्पनिक है और उन्होंने इस दर्शन को ठीक से हृदयंगम नहीं किया हैं–'ते च काल्पनिकमेव अर्थ-परमार्थत्वेन प्रतिपद्यमाना: तथा दर्शनस्य अस्य अन्तरं ननु प्रविष्टा: । इति नमस्तेभ्य: ।।'[३]

अनेकात्मकता एवं एकात्मकता में सामरस्य—नित्याव्यभिचरदेकस्वभाव भगवान् की शक्ति भी इसी प्रकार एक है और परमात्मा से अभिन्न है । फिर 'शक्तिचक्र' की बात

१-३. स्पन्दकारिकाविवृति ।

क्यों कही गई ? वस्तुतः इसके द्वारा ईश्वर के निरतिशय ऐश्वर्य को द्योतित किया गया है। जो समस्त अनन्तरूपात्मक जगत् को **'अहं'** के रूप में एकात्मक एवं अहमात्मक मानता है वह ईश्वर अपने एकात्मक नित्य स्वभाव एवं स्वरूपपरामर्श से अव्यभिचरित रहता हुआ भी 'निरवधि-विजृंभमाण विचित्रावभास खचित त्रैलोक्यालेख्य' को 'इदम्' के रूप में उल्लिखित करके भी परमार्थतः अपने परामृश्यमान एकात्मक स्वस्वरूप से यत्किंचित भी भिन्न नहीं हो पाता। कहा भी गया है—

'लिखते जगतत्रितयचित्रमद्भुत,
प्रतिमा परिस्फुरितशंसि ते नमः।
सुसितैकसूक्ष्मनिजशक्तिवर्तिका,
रचितावभास शतशोभि शंभवे ॥

परमेश्वरता जयत्यपूर्वा,
तव सर्वेश यदीशितव्यशून्या।
अपरापि तथैव ते ययेदं,
जगदाभाति यथा तथा न भाति ॥'[१]

सुप्रबुद्ध महात्माओं ने इस प्रकार के शांकर ऐश्वर्य को अनुग्रह स्वीकार किया है। चित् एवं अचित् के रूप में जो जगत् को द्विविध स्वीकार किया गया है, वह मात्र मायावश है किन्तु वे परमेश्वर की स्वरूपशक्ति से अभिन्न हैं।

जडचेतन अभेदवाद—

'शंकरस्य पारमैश्वर्ये या इमाः परमाद्भुतमायाशक्तिवशात् चिदचिद्भेदेन द्विविधा अपि अपर्यन्ताभावव्यक्तयः **सा परमेश्वरस्य स्वरूपात् अभिन्ना शक्तिरेकैव तात्त्विकी** ॥'[२]

शक्तिशक्तिमान में अभेदात्मकता—'शक्तीनां चक्रं' कहकर परमात्मा की अनेक शक्तियों की बात नहीं कही गई है क्योंकि परमात्मा की मुख्य शक्ति—**'स्वातंत्र्यशक्ति'** तो एक ही है। 'इदम्' रूप में परामर्शभेद होने के कारण ही एक ही शक्ति नाना-नामरूपात्मक रूप में अवभासित होकर 'शक्तीनां चक्रम्' कहकर बहुत्व रूप में व्यपदिष्ट हुई है किन्तु परमार्थतः शक्ति केवल एक है। शक्ति एवं शक्तिमान में अभिन्नता दिखाने हेतु ही 'शक्ति' शब्द का पृथक् प्रयोग किया गया है। यह ईश्वर का 'विभव' (ऐश्वर्य) है। वस्तुतः दोनों एवं विश्व (नानात्मक भेद) एकात्मक हैं—दो पदार्थ हैं फिर भी एक हैं—

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥[३]

'शक्तिचक्रविभवप्रभवं' में 'प्रभव' उत्पत्तिकारण का सूचक है इसके **'स्वशक्ति-भूतविभव का प्रभव'** सूचित करता है कि सारे वैभव कहीं अन्यत्र (परमात्मा से भिन्न) से नहीं आए और न तो वे स्वरूपव्यतिरिक्त ही हैं। **'यस्य'** शब्द शंकर के जगत्कारणत्व का प्रतिपादक है।

१-३. स्पन्दकारिकाविवृति।

'शंकर' शब्द = श्रेयकर्ता का द्योतक है। **'प्रलयोदयौ'** = विनाश प्रादुर्भाव के द्योतक हैं। **'उन्मेषनिमेष'**—शक्ति के प्रसार एवं प्रलय के द्योतक हैं। **'चक्र'** = समूह। **'प्रभव'** = कारण के द्योतक हैं।

शक्तिचक्रात्मकस्वैश्वर्यभूत जगत् का प्रभव **'इदम्'** का प्रत्यायक होते हुए भी **'अहं'** से पृथक् नहीं है।

वृत्तिकार **भट्टकल्लट** ने 'विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्य उत्पत्तिहेतुत्वम्' व्याख्या की है।

'विज्ञानदेहो' = विशुद्ध संविन्मात्रमूर्ति महेश्वर। वही 'आत्मा' है—अर्थात् यही उसका स्वभाव है। 'शक्तिचक्रात्मन ऐश्वर्यस्य'—यही इसका अर्थ है।

सर्वात्मवाद—

शंकर = आत्मा ॥ 'शंकर शब्देन इह प्रतिपादितः। स च आत्मैव नान्यः ॥ **वृत्तिकार** भी कहते हैं—'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य' ॥ **'स्वस्य'** = आत्मा के। 'स्व' = आत्मीय भाव। **'भाव'** = स्वरूप, स्वस्वभाव ॥

सारांश—१. इच्छासृष्टिवाद २. इच्छाप्रलयवाद ३. नानात्व में एकत्व—**रामकण्ठ** कहते हैं—

(क) 'परमेश्वरः इच्छामात्रेण जगतः प्रलयोदयौ विदधाति।

(ख) 'लब्धस्थितिकमपि जगत् तच्छक्तिविभूतिरेकैव माया वशात् तु नानात्वेन अवभासते ॥'

(ग) 'इदमेव अर्थद्वयम् अत्र प्रकरणे विस्तार्यते।'

आचार्य **रामकण्ठ** कहते हैं कि 'स्पन्दकारिका' के चारों निष्यन्द इसी प्रथम श्लोक के स्पन्दसिद्धान्त में आसूत्रित हैं। सारांश यह कि—(क) परमात्मा माया के कारण (स्वरूपप्रत्यवमर्श के अनुल्लास के कारण) वेद्य देहादिक से अव्यतिरिक्त प्रतिभासमान आत्मा का व्यतिरेक प्रदर्शित किया गया है।

इस ग्रन्थ की सिद्धान्तता—(ख) इसके अनन्तर, वेदक के द्वारा ही वेद्य का अस्तित्व होने का भान होने से वेदक एवं वेद्य में एवं उन दोनों का शक्ति से अव्यतिरिक्तत्व सिद्ध होता है।—ये दो अर्थ हैं जिनका चारों निष्यन्दों में प्रतिपादन किया गया है। यही इसका सिद्धान्त (सिद्ध का अन्त = सिद्ध की निष्ठा, निश्चय) है। इसकी यह भी सिद्धान्तता संभव है कि—१. **'ज्ञान'** २. **'क्रिया'** ३. **'योग'** एवं ४. **'चर्या'** रूप चतुष्टयपूर्ण यह स्पन्दविज्ञान ही साफल्य-प्रापक है। **'शंकरं स्तुमः'** का प्रयोग इस ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति को उद्देश्य में रखकर भी किया गया है।

'शंकरं स्तुमः' में 'शंकर' शब्द का अर्थ—

(क) **उपायलक्षण**—श्रेयस्कर स्पन्दशास्त्र।

(ख) **उपेयलक्षण**—आत्मैश्वर्य प्रत्यभिज्ञा।

'शम्' (शंकर = शम्कारक) का अर्थ है। शंकर = परमेश्वर, श्रेयकर्ता ईश्वर ॥

१. **संबंध**—ईश्वर एवं शास्त्र का कर्तृकार्यलक्षण संबंध है। शास्त्राभिधेय प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावलक्षण ही **संबंध** है।

'स्तुमः' = स्तवन करते हैं। उपादेय वस्तुस्वरूप का प्रतिपादन ही स्तुति का अर्थ है। २. **प्रयोजन क्या है?** 'प्रयोजनं च आत्मैश्वर्य प्रत्यभिज्ञात्मक शंकर पदादेव अवसीयते ॥' अभिधेय-प्रयोजन में उपायोपेयभावलक्षणरूप संबंध है। इस शास्त्र का अभिधान है—'स्पन्द' क्योंकि स्पन्दका० में 'स्पन्दतत्त्वविविक्तये' (१ नि० २१ का० २ पा०) कहा गया है।

स्पन्द का अर्थ क्या है?—'स्पन्द' का क्या अर्थ है? 'स्वस्वभावपरामर्शमात्र, नित्य, शून्यताव्यतिरेचनकारणभूत, तावन्मात्रसंरभात्मा 'शक्ति' नामवाली पारमेश्वरधर्म का किंचिच्चलन ही **'स्पन्द'** कहलाता है—'**स्पन्द**शब्दश्च अयं स्वस्वभाव परामर्शमात्रस्य, नित्यस्य, शून्यताव्यतिरेचनकारणभूतस्य, तावन्मात्रसंरंभात्मनः शक्त्यपराभिधानस्य पारमेश्वरस्य धर्मस्य किंचिच्चलनात् **'स्पन्द'** इति अर्थानुगमात् वाचकत्वेन व्यपदिष्टः ॥'

'स्पन्द' शास्त्र नाम क्यों पड़ा?—इसी स्पन्द तत्त्व के प्रतिपादन के कारण इस शास्त्र का नाम 'स्पन्द' शब्द द्वारा व्यपदिष्ट है 'तत्प्रतिपादनहेतुत्वात् शास्त्रमपि इदं स्पन्दशब्देन अभिधीयते ॥'

स्पन्दशास्त्र का विषय क्या है?—यहाँ स्पन्दशास्त्र का विषय क्या है? 'विशुद्ध-श्रद्धा भक्ति प्रकर्ष पिशुनित परमेश्वर-परशक्तिपात-प्रोन्मील्यमानस्वभावालोक तिरस्कृत सकलसंदेहान्धकारत्वात् प्रबुद्धः सम्यगुपनत दीक्षादिसंस्कारो गुरुवचनचोदनामात्रावशेष-स्वात्मैश्वर्योपलब्धिः'—यहाँ 'विषय' शब्द अधिकारी के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है न कि प्रतिपाद्यविषय के अर्थ में। **'शंकर ही हमारी आत्मा है'**—'स कथं शंकरो ममैव आत्मा ?' इसका उत्तर द्वितीय कारिका में दिया गया है।

स्पन्दशास्त्र के ज्ञान का पात्र कौन है?—स्पन्दशास्त्र के उपदेश का पात्र कोई विरला विवेकी व्यक्ति ही संभव है—

'किंत्वेतेऽद्य विवेकिनः कतिपये सन्त्यत्र पात्रं सताम्' ॥ (**रामकण्ठ**)।

'स्पन्द' शाक्ततत्त्व है जो कि शंभु का स्वभावभूत आत्मधर्म है—

'निजो धर्मः शंभोरनुपमचमत्कार सरसः।
परं शाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत् ॥ (**रामकण्ठ**)।

'स्वरूपस्पन्द' शब्द की सोद्देश्यता—प्रथम निष्यन्द को 'स्वरूप स्पन्द' क्यों कहा गया? कारण निम्नांकित हैं—**१. 'स्पन्दकारिका'** शिवसूत्र की ही व्याख्या होने के कारण शिवसूत्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय ('आत्मा') की ही प्रतिपादक होनी चाहिए क्योंकि तभी इसका उद्देश्य पूर्ण हो सकता है। **२. 'स्पन्दकारिका'** सर्वात्मवाद, सर्व-स्पन्दवाद, सर्वशिववाद एवं सर्वशक्तिवाद का पोषक होने के कारण भी 'स्वरूप' (आत्मा या शिव या चैतन्य) का प्रधानतया प्रतिपादन करता है। **३. स्पन्दशास्त्र** मुख्यतः 'शक्ति' को प्राधान्य देता है—'स्पन्द' को प्रामुख्य प्रदान करता है और 'स्पन्द' स्वातंत्र्य शक्ति

(इच्छाशक्ति) परमात्मा की विमर्शशक्ति या उसके परमाद्भुत एवं परमचमत्कार ऐश्वर्य (स्पन्द = आत्मस्वभाव = 'स्वस्वरूप') का अभिधानान्तर है । ४. **'स्पन्दशास्त्र'** उद्भव-स्थितिप्रलयकारिणी महामाया को शंकराचार्य की भाँति मिथ्या नहीं प्रत्युत् शिवकी आत्मभूता, हृदयरूपा, आत्मसाररूपा 'शैवीमुख' एवं शिव से अभिन्न उनका नित्यस्वभाव, नित्यधर्म, एवं उनकी स्वसमवायिनी परमाशक्ति मानता है । वह नित्य है, सृष्टिरूपा है, शिवात्मिका है, आत्मरूपा है, चैतन्यविग्रहा है और शिव उसके बिना 'शव' है क्योंकि 'शिव' के 'श' का इकार वही है और उसके बिना 'शिव' शव बन जाता है ।—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन भी स्पन्दशास्त्र का लक्ष्य है और वह शक्ति 'स्वरूपस्पन्द' ही है ।

५. शंकर की आत्मा एवं परमात्मा शक्तिरहित एवं निष्क्रिय है—

'निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरंजने ।।' (वि०चूड़ा०)
'निष्क्रयोऽस्म्यविकारोस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।। (वि०चूड़ा०)
'कर्तापि वा कारयितापि नाहं, भौक्तापि वा भोजयितापि नाहम् । (वि०चू०)
'अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।' (वि०चू०)

'स्पन्दशास्त्र' का स्पन्द एवं स्पन्दवान दोनों सक्रिय हैं और स्पन्दवान की सक्रियता इसी 'स्वरूपस्पन्द' (स्वातंत्र्यशक्ति, विमर्शशक्ति, स्पन्द) पर आधृत है क्योंकि उसके बिना तो शिव हिल भी नहीं सकते—

१. 'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।' (सौन्दर्यलहरी)
तथा—२. परोऽपि शक्तिरहितः शक्त्या युक्तो भवेद्यदि ।
सृष्टिस्थितिलयान् कर्तुमशक्तः शक्त एव हि ।। (वामकेश्वरमहातन्त्र)

'स्पन्दसूत्र' ('शिवसूत्रविमर्शिनी में स्पन्द का० को **'स्पन्दसूत्र'** कहा गया है) शिव को विश्वोत्तीर्ण मानते हुए भी विश्वमय एवं पञ्चकृत्यकारी मानता है—

'स्वरूपस्पन्द' नामकरण की सार्थकता—'परमेश्वरः पञ्चकृत्यमयः सततम् अनुग्रहमय्या परारूपया शक्त्या आक्रान्तो वस्तुतोऽनुग्रहैकात्मैव, नहि शक्तिः शिवात् भेदमामर्शयेत् ।।' (अभिनवगुप्त) 'परात्रिंशिकाविवृति' उसकी पाँच शक्तियाँ हैं—

१. प्रकाशरूपता **चिच्छक्तिः** । (तन्त्रसार, अ०१)
२. प्रकाशश्च अनन्योन्मुख विमर्शः अहमिति । (प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी)
३. स्वातंत्र्यं **आनन्द शक्तिः** । (तं०सार)
४. तच्चमत्कार **इच्छाशक्तिः** । (तं०सार)
५. आमर्शात्मकता **ज्ञानशक्तिः** । ('आमर्शश्च ईषत्तया वेद्योन्मुखता) ।
६. सर्वाकारयोगित्वं **क्रियाशक्तिः** । (तं०सार)

'सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।। (स्वच्छन्दतन्त्र । पटल १)

१. आभासन २. रक्ति ३. विमर्शन ४. जीवावस्थापन ५. विलापन ।

१. सृष्टि २. स्थिति ३. संहार ४. विलय (निग्रह) ५. अनुग्रह ॥

'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने । (प्र०हृ०)

आभासनरक्तिविमर्शनबीजावस्थापनविलापनतस्तानि (प्र०हृ० ११) 'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति' (प्र०हृ०सू० १०) ।

'इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्य' अयमेव विशेषः । (**क्षेमराज**) **आचार्य क्षेमराज** ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में भी शक्ति को प्राधान्य देते हुए प्राथमिक सूत्रों में शक्ति विषयक सूत्र ही लिखें हैं यथा—

१. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः । (सूत्र १)
२. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥ (सूत्र २)
३. चितिरेव चेतनपदावरूढा चेत्यसंकोचिनी चित्तम् । (५)
४. स चैको द्विरूपस्त्रिमयश्चतुरात्मा सप्त पञ्चस्वभावः (सू० ७)
५. तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः । (सू० ८)

प्रत्यभिज्ञादर्शन के उद्भावक सोमानन्दपाद ने भी सर्वात्मवाद का प्रतिपादन किया है—(स्वरूपस्पन्द या आत्मा) का प्रामुख्य प्रतिपादित किया है)

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन निवृतचिद्विभुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसर प्रसरद् दृक्क्रियः शिवः ॥' (शिवदृष्टि)

यही आत्मा या चितिशक्ति 'स्वरूपस्पन्द' है और स्पन्दसूत्रों के प्राथमिक निष्यन्द में इसी स्वरूपस्पन्द एवं विशेष स्पन्द की प्रमुखता से विवेचना की जाने के कारण इस निष्यन्द को 'स्वरूपस्पन्द' कहा गया है । 'विशेष स्पन्द' लक्ष्य नहीं है लक्ष्य है— 'स्वरूपस्पन्द' । इसी उद्‌देश्य से 'स्वरूपस्पन्द' प्रथम निष्यन्द की संख्या है । स्पन्द शास्त्र का सारा प्रयत्न है—'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये (१।२१)।

शिव ही 'विश्वात्मा' या 'स्वरूपस्पन्द' है ।

'स्वरूपस्पन्द' कहकर जिस आत्मा की ओर इंगित किया गया है वह मात्र 'शक्ति' ही नहीं शिव भी है—अतः यदि 'स्पन्दसूत्र' के प्रारंभ में 'शंकरं स्तुमः' कहा गया है तो वह शंकर भी विश्वात्मा ही है । शिवसूत्रवार्तिक, में वरदराज ने कहा है—

१. चित्क्रियात्मकचैतन्यमूर्तिर्जीवजडात्मनः ।
परमः शिव एवात्मा प्रपञ्चस्येति कथ्यते ॥ (१।७)

२. चैतन्यमेव विश्वस्य स्वरूपं पारमार्थिकम् (१।१३) (चैतन्य = आत्मा)

३. चैतन्य चित्क्रियारूपं शिवस्य परमस्य यत् ।
स्वातंत्र्यमेतदेवात्मा ततोऽसौ परमः शिवः ॥ (१।८)

४. नात्मा देहो न च प्राणो न मनः खं न शून्यभूः ।
किन्तु चैतन्यमेवात्मेत्यादिष्टं परमेष्ठिना ॥ (१।१०)

सर्वचैतन्यवाद एवं सर्वात्मवाद—

आचार्य **क्षेमराज ने भी 'शिवसूत्रविमर्शिनी'** में इसी तथ्य की पुष्टि की है—

१. चैतन्यपरमार्थत: शिव एव विश्वस्य आत्मा इति आदिशति—'चैतन्यमात्मा' ।

२. न शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यानि लौकिक चार्वाक-वैदिक-योगाचार माध्यमिकाद्यभ्युपगतानि आत्मा अपितु यथोक्तं चैतन्यमेव ॥

३. **मृत्युजित्भट्टारक (नेत्रतन्त्र)** में भी कहा गया है कि—

परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
चैतन्यमात्मनो रूपं सर्वशास्त्रेषु पठ्यते ॥ (नेत्रतन्त्र)

४. 'चैतन्यम् उक्तं स एव आत्मा स्वभाव... भावाभावरूपस्य विश्वस्य जगत: ॥'

५. जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभाव: ॥

६. चैतन्यं विश्वस्य स्वभाव: ।

७. चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वात् चैतन्यमात्मैव ॥

८. शङ्करात्मक स्पन्दतत्त्वरूपं चैतन्यं सर्वदा स्वप्रकाश परमार्थ सत् अस्ति ॥

भट्टकल्लट ने शिव को 'स्वस्वभाव' कहा है और सृष्टि को उसी का 'संकल्प' माना है—'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयो: कारणत्वम् ॥' (का० ११)

'स्वस्वरूप'—शिव है—स्पन्द है—अपनी प्रत्यगात्मा है—संवित् है । 'कथं पुन: स्वस्वभावस्यैव संसारिण: शिवत्वेन निर्देश: ?' कहकर **कल्लट** ने पुन: आत्मारूप शिव को 'स्वस्वभाव' कहा है । (स्पन्द० का० २) पशुदशा में भी मितप्रमाता 'स्वभाव' से च्युत नहीं होता—

१. न तस्य स्वरूपम् आव्रियते । न तस्य स्वरूपान्यथाभाव: ।

२. निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धत: ॥ (स्पं० का० ३)

३. स स्वभाव: परं स्मृत: ॥

४. स्वतन्त्रता की शक्ति भी स्वस्वभाव है—

'स्वातन्त्र्यस्य स्वस्वभावभूतस्य' । (स्पन्द का० कल्लट: ७)

५. आत्मबल स्पर्श से स्वस्वरूप में स्थिति होती है—

'अपितु स्वस्वरूपे स्थित्वा' । (कल्लट)

६. तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् । (स्पन्द० सर्वस्व)

स्वभावभूत ही स्पन्दरूपता है । यह सर्वानुस्यूत, सर्वसामर्थ्ययुक्त है—'सर्वानुस्यूत: सर्वसामर्थ्ययुक्तश्च आत्मस्वभाव: ('स्पन्दसर्वस्व') 'सर्वाव्यापकत्वेन स्वभावं पश्यन्'—स्वभाव एवं सर्वव्यापक है । यह चिद्रूप है—'यस्मात् चिद्रूपत्वं आत्मन: स्वरूपं' (वृत्ति:

का० १३) । 'स्वभाव' विलुप्त नहीं होता क्योंकि 'स्वभावो में विलुप्त' इति अबुधो जानाति ॥ (कल्लट: १५) ।

आत्मा—'अन्तश्चक्रारूढस्वभाव एवं सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रय है । (**भट्टकल्लट**: स्पन्द सर्वस्व) ॥

स्वस्वभाव सर्वगत एवं चिद्रूप है—'तस्य चिद्रूपस्य सर्वगतस्य स्वस्वभावस्य उपलब्धि: (स्पं० स०—कल्लट) ॥

'स्पन्दतत्त्व' स्वस्वरूप ही है—स्पन्दतत्त्वस्य स्वरूपाभिव्यक्त्यर्थं' ('स्पन्दतत्त्व विविक्तये' की व्याख्या-कल्लट) कारिका २५ में कल्लट कहते हैं—प्रत्यस्तमिते शशि-भास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्ति न सम्यक् वृत्ता ॥ (का० २५) (कल्लट) 'स्व-स्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकारा: प्रलीयन्ते' (का० २७) (कल्लट) ।

'तेन तथाविधेन सर्वात्मकेन स्वभावेन' (स्पन्दसर्वस्व: का २९) ।

'एवं स्वभावं यस्य चित्तं यथा—मन्मयमेव जगत् सर्वम् (स्पन्दसर्वस्व का० ३०) 'तादात्म्यं' तत्स्वभावत्वप्राप्ति: मन्त्रदेवतया सह साधकस्य (स्पं० वृत्ति: कल्लट: का० ३१) 'यथास्यानभिव्यक्तस्वरूपस्य योगिनो (स्पन्द० वृत्ति: कल्लट: का० ३३) 'स्वरूप-स्थित्यभावे स्वतन्त्रा स्यात् स्वप्ने आलबिड़ाल दर्शनरूपा सृष्टि:' (वृत्ति-कल्लट: का० ३५) 'स्वबलं स्वस्वरूपमाश्रित्यस्याचिरेणैव कालेन प्रतिभाति (स्पन्दवृत्ति—कल्लट: का० ३७) 'उद्योगबलेन तथानेन स्वभावानुशीलनेन' (वृत्ति: कल्लट: का० ३८) 'अनेन आत्मस्वभावेन अधिष्ठिते' (वृत्ति: कल्लट: का० ३९) 'यस्मात् स्वभावात झगित्यन्या चिन्तोत्पद्यते, (वृत्ति: कल्लट: का ४१) ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवस्वभावात् प्रच्यावित: पशुरुच्यते' (का० ४५: वृत्ति: कल्लट) 'परामृतरसात् स्वरूपात् अपाय: प्रच्युति: (वृत्ति: कल्लट का० ४६)—

> स्वरूपावरणे चास्य शक्तय सततोत्थिता: ।
> यत: शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोदभव: ॥ (का० ४७)

'स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य' (वृत्तिकल्लट का० ४७) 'निरावरण-स्वस्वरूप संवित्ति:' (वृत्ति का० ३२)—**भट्टकल्लट** के स्पन्दसर्वस्व ('वृत्ति') से दिये गए उदाहरणों से स्पष्ट है कि **भट्टकल्लट** ने 'स्वरूपस्पन्द' में प्रयुक्त 'स्वरूप' शब्द को स्वभाव, स्वस्वभाव, संवित्, शिव एवं आत्मा के अर्थ में ही प्रयुक्त किया है । चूँकि प्रथम निष्यन्द इसी स्वस्वरूपभूत आत्मचैतन्य का प्रतिपादक है अत: इसका नामकरण भी 'स्वरूपस्पन्द' किया गया ॥

(उन्मेष-निमेष एवं निष्पंद शब्दों का प्रयोग—का० क्र० १, उन्मेष (का० ४०) (उन्मेषेण आतमस्वभावेन'—वृत्ति का० ४०); का० ४२ (उन्मेषात् अनुशील्यमानात: वृत्ति: का० ४२) 'निष्यन्दा: प्रवाहा:' (का० १९) ॥

प्रथम निष्यन्द स्वरूपस्पन्द का निष्यन्द (प्रवाह) है ।

स्वरूपस्पन्द—स्पन्द के दो रूप है—१. सामान्य २. विशेष ।

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्' । (का० १९)

१. प्रतिष्ठित स्पन्द २. अप्रतिष्ठित स्पन्द ॥ (प्रतिष्ठित स्पन्द सामान्य, अप्र० = विशेष) ।

(क) अप्रतिष्ठित स्पन्द—एकत्व में अवभासित अनन्त वैचित्र्यात्मक पदार्थ एवं पादार्थिक जगत् ॥ (माया तत्त्व से पृथ्वी तत्त्व पर्यन्त प्रसृत ।)

एकत्व से निःसृत अनेकत्व ।

'सामान्य स्पन्द' प्रतिष्ठित एव **'विशेष स्पन्द'** 'अप्रतिष्ठित स्पन्द' कहलाते हैं । नानात्मक विश्ववैचित्य में जो एकता की इकाई है वही **सामान्य स्पन्द** है । **'गुणादिस्पन्द'** = 'विशेष स्पन्द' हैं । 'सामान्य स्पन्द' से विशेष स्पन्द = गुणादि स्पन्द का प्रादुर्भाव ॥ 'स्पन्दनिष्यन्द' क्या हैं? नानारूपात्मक एवं प्रवहमान स्पन्द धारायें ही स्पन्द के निष्यन्द है । 'स्पन्द' समुद्र है और निष्यन्द उसकी अनन्त उर्मियाँ हैं । जड़चेतन विश्व का प्रत्येक पदार्थ एक सर्वव्यापी एवं नित्य स्पन्दशक्ति का एक प्रवाह है । शाश्वतस्पन्दनशीला-पारमेश्वरी सामान्यस्पन्द का रत्नाकरविशेष स्पन्दों के निष्यन्द (या स्पन्द-प्रवाह) गुणत्रय के स्पन्दों के असंख्य प्रवाहों का मूल सामान्यस्पन्द है । (का० १९) ।

विशेष स्पन्द—प्रतिक्षण पशुओं के अन्तस् में विद्यमान चिन्मात्रता पर आवरण डालते रहते हैं (का० २०) । भावों की उत्तरोत्तर सर्जना करते रहना स्पन्द शक्ति का स्व-स्वभाव है । विश्व के सारे रूप शक्ति या स्पन्द के ही रूप हैं । शक्ति की सामान्यभूमिका (पशुपति की दशा में)—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया ।

शक्ति की पशुदशा—(विशेष भूमिका) : अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, एवं अनन्त प्रमेयों के रूप में प्रवाहित । स्वातंत्र्य शक्ति—प्रपञ्च । एक ही पारमेश्वरी स्पन्द शक्ति है किन्तु स्वातंत्र्यशक्ति के द्वारा इच्छा, ज्ञान, क्रिया एवं अनन्त प्रमेयों, प्रमाताओं के रूप में तथा विराट् प्रपञ्च के रूप में प्रवहमान है । **'स्पन्द'** किंचित् चलन = स्वतन्त्ररूप में निरपेक्ष स्फुरण । स्पन्द या स्फुरण न हो तो सब कुछ जड़ हो जाय । विमर्शात्मक स्फुरण ही सब का मूल केन्द्र है ।
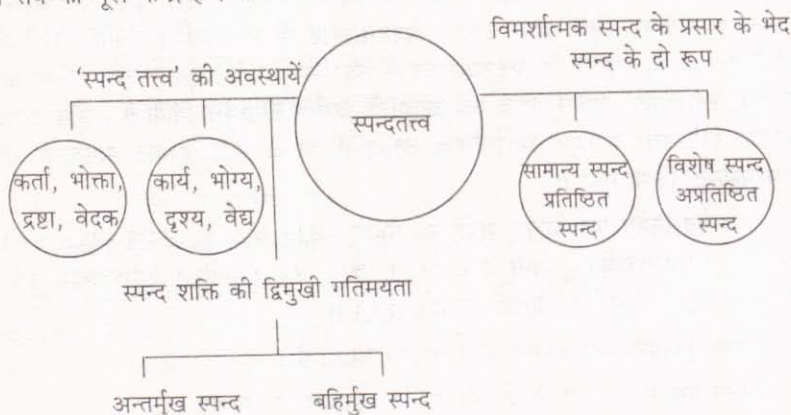
स्पन्द तत्त्व के विभिन्न पक्ष एवं स्वरूप
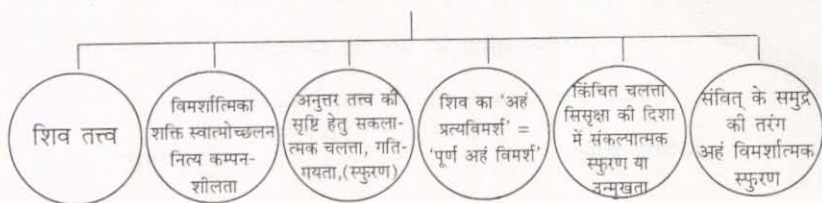
स्पन्दनं—निस्तरंगस्यास्य तावत परमात्मनः युगपन्निर्विकल्पा या सर्वत्रौन्मुख्य-वृत्तिता ॥—उत्पलाचार्य ।

यत् परापरभूस्पर्शि यत्संकल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तत् शक्तीशं स्बलं नुमः ॥ —उत्पलाचार्य ।

१. अनुत्तर मूर्ति शिव में, अपनी इच्छाशक्ति द्वारा, जगत् का सृजन करने की जो इच्दा उत्पन्न होती है उससे समुत्पन्न कम्पन ही 'स्पन्द' है—

'यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया जगदिदं स्त्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः .... ॥ (ष०ल०सं०)

शिव के सिसृक्षा का संकल्पात्मक कम्पन = 'स्पन्द' है ।

निस्तरंग परमात्मा में जो एक साथ सर्वरूप से उन्मुख होने की योग्यता है वही किंचित् चलन है । 'स्पदि किंचिच्चलने' धातु से 'स्पन्द' शब्द निष्पन्न हुआ है । 'स्पन्द शक्ति' उच्छलनात्मक है ।

२. **'स्पन्दकारिका'**—'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र 'स्पन्दः' प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

३. **'स्पन्द' और 'निष्यन्द'**—सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, महत्तत्व, अहंकार के जो स्पन्द हैं उन्हीं के निष्यन्द (प्रवाह) हैं—सुख, दुःख, मोह आदि की तरंगे ।

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ॥ १९ ॥

४. **भट्टकल्लट**—अत्यन्त क्रोधी होने, हर्षित होने, अकस्मात् दौड़ पड़ने, अकस्मात् 'मैं क्या करूँ?' इस प्रकार की चिन्ता में पड़ जाने पर जब किसी व्यक्ति के अन्तस् में शक्तिप्रत्यस्तमित दशा का उदय हो जाता है तब उस क्षणिक अवधान में स्पन्द तत्त्व का स्पष्ट रूप में उदय हो जाता है—

'तस्य च स्पन्दतत्त्वस्य अतिक्रुद्धे प्रहृष्टे धावमाने च किं करोमि इत्येवं चिन्ता-विशिष्टे यदा शक्तिप्रत्यस्तमयः तदा स्पन्दतत्त्वस्य स्फुट एवोदयो ।'

१. परतत्त्व में विश्वात्मक चेतना के रूप में नित्यावस्थित शक्ति ही—'स्पन्द शक्ति' है ।

२. अहं विमर्शात्मिका शक्ति ही स्पन्द है ।

३. 'विमर्श' प्रकाश का स्पन्दन है। 'प्रकाश' में स्पन्दन (प्राणभूत तत्त्व) न हो तो प्रकाश की सत्ता ही नष्ट हो जाएगी। 'स्पन्दन' ही शिव की 'स्वातन्त्र्य शक्ति' है।
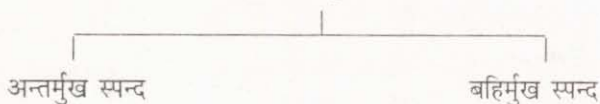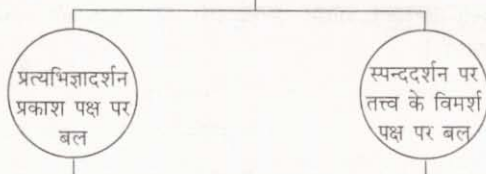
१. पर तत्त्व के प्रकाश पक्ष का प्राधान्य विश्वातीत रूप में परतत्त्व का प्रकाशन।
२. प्रत्यभिज्ञा दर्शन।
३. सोमानन्द।

१. विश्वमयता में ही परतत्त्व के पूर्णतमा का दर्शन।
२. स्पन्ददर्शन।
३. भट्टकल्लट।

शक्ति-विशिष्ट शङ्कर की वन्दना

यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥ १ ॥

जिनके उन्मेष एवं निमेष से प्रलय एवं सृष्टि हुआ करते हैं (हम) उस शक्ति-समूह के वैभव के आदि कारणभूत (स्रष्टा) शङ्कर की स्तुति करते हैं।

* सरोजिनी *

'यस्य'—जिसके। अर्थात् जिस विश्व-स्रष्टा एवं विश्व-संहर्ता शिव के। **'उन्मेष'** = नेत्रोन्मीलन। **'निमेष'**—नेत्र-निमीलन ॥ **'जगतः'**—विश्व का। **'प्रलयोदयौ'** = विश्व-संहार रूप प्रलय एवं उदयरूप विश्व-सृष्टि। **'तं'** = उनको। **'शक्तिचक्रविभव-प्रभवं'** = शक्तिसमूह के वैभव को उत्पन्न करने वाले (शिव) को ॥ **'शङ्करं'** = कल्याण करने वाले भगवान् शिव को। **'स्तुमः'**—स्तवन करते हैं।

विशेषार्थ—'उन्मेष' एवं 'निमेषं'—भगवान् शिव का चक्षु उन्मीलन ही 'सृष्टि' है एवं उनका नेत्रोन्मीलन ही 'प्रलय' है। नेत्रोन्मीलन ही 'उन्मेष' है और 'निमीलन' ही प्रलय है।

१. सांख्यदर्शन का मत है कि 'पुरुष के दर्शन एवं प्रधान के कैवल्य के लिए पंगु एवं अंधे (पुरुष-प्रकृति) का संयोग होने से जो क्रिया होती है उसी का नाम सृष्टि है।'—अर्थात् पंग्वंध-सम्बन्ध-जन्य व्यापार ही **सृष्टि** है।

'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पंग्वंधवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥'[१]

२. 'अजातिवाद'—आचार्य गौड़पाद तो यह मानते हैं कि—'कोई जीव उत्पन्न ही नहीं होता। उसके जन्म की संभावना ही नहीं है। उत्तम सत्य तो यही है कि जिसमें किसी वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं होती।

'न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥'[२]

आचार्य शङ्कर भी कहते हैं कि—'व्यवहारतः तो जीवों का जन्ममरण तो है किन्तु वह स्वप्नवत है किन्तु परमार्थतः किसी भी जीव की उत्पत्ति नहीं होती—'व्यवहार-सत्यविषये जीवानां जन्ममरणादि स्वप्नादिजीववदित्युक्तम्। उत्तम तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति।'[३]

३. न्यायशास्त्र का मत है कि परमेश्वर की सिसृक्षा के अनुसार लब्धवृत्तिक अदृष्टवाली आत्मा के संयोग से परमाणुओं में क्रिया होने पर दो परमाणुओं में परस्पर-संयोग से 'द्वयणुक' उत्पन्न होता है, तीन द्व्याणुकों से 'त्र्यणुक', चार त्र्यणुकों से 'चतुर-णुक', पाँच चतुरणुकों के संयोग से 'पञ्चाणुक' छः पञ्चाणुकों के संयोग से 'षडणुक' उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अवयवों के संयोग से अवयावियों का उत्पाद होते-होते पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि पञ्चभूत एवं पञ्चभूतों से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है।[४]

४ **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' भगवान् की विभूति है—विभूतिं प्रसवं मन्दे।

५. **'सृष्टि'** = सृष्टि स्वप्न या माया है— स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिताः॥

६. **'सृष्टि'** 'सृष्टि' परमात्मा की इच्छामात्र है। 'इच्छामात्रं प्रभोःसृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ॥'

७. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' काल की प्रसूति है। 'कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यत्ते काल चिन्तकाः ॥'

८. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' भोग है क्योंकि 'भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये'।

९. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' क्रीड़ा है—'क्रीडार्थमिति चापरे' ॥

१०. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' आप्तकाम देव का 'स्वभाव' है।[५]

---

१. सांख्यकारिका। २. माण्डूक्योपनिषद् (अलातशान्तिप्रकरण)।
३. माण्डूक्योपनिषद् (माण्डूक्यकारिका शां० भाष्य का० ७१)।
४. तर्कभाषा।
५. आगमप्रकरण (माण्डूक्यकारिका) : गौड़पादाचार्य।

११. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' ब्रह्म का परिणाम है। (रामानुजाचार्य)[१]

१२. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' ब्रह्म का 'विवर्त' है (आचार्य शङ्कर)[२]

१३. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' शक्ति एवं शक्तिमान का **'आभास'** है।[३]

१४. **'सृष्टि'** = 'सृष्टि' परमात्मा का **'प्रतिबिम्ब'** है।[४]

(क) संकुचित रूप से प्रकाशन ही 'आभास' है—'आभासनं—आ ईषत् संकोचेन भासनं प्रकाशना'।[५]

(ख) प्रतिबिम्ब ही आभास है—'भासनसारतैव हि प्रतिबिम्बता'[६] विमर्शात्मक प्रकाशरूपी दर्पण में अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त के समान जड़चेतन समग्र जगत् का प्रतिबिम्बन 'आभास' है। विमर्शात्मक प्रकाशपुरुष का अपूर्ण आत्मप्रकाशन ही **आभास** है।

१५. **'सृष्टि'** = सृष्टि 'स्वातन्त्र्य' का विजृंभण है। परमात्मा की इच्छा का अनभिहत प्रसार ही उसका 'स्वातन्त्र्य' है—'स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छाप्रसरस्य अविघातः ॥[७]

१६. **'सृष्टि'** = सृष्टि भगवती चिति शक्ति का रूपान्तर है, स्फार है, क्योंकि वह उनसे किंचिन्मात्र भिन्न नहीं है—'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किंचित' क्योंकि भगवती चित् शक्ति ही जगत् के रूप में स्फुरित होती है—'चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति।'[८]

१७. **'सृष्टि'** = शिवादि धरण्यन्त यह निःशेष सृष्टि शिव से अभिन्न है और शिव इसी अनन्त एवं विराट् विश्व के रूप में ही स्फुरित हुआ करते हैं—'श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि धरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित ग्राह्यं ग्राहकं वा ॥[९] इसीलिए भगवान् को 'विश्वशरीर' कहा गया है—'एवं भगवान् विश्व शरीरः', 'विश्वशरीरः शिव-भट्टारक एव' क्योंकि विश्व एवं शिव में—एकात्म्य है—तादात्म्य है दोनों में स्वात्मैक्य है—'श्री परमशिवः स्वात्मैक्येन स्थित विश्व (प्र०हृ०)।

१८. **'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' 'जगतः प्रलयोदयौ'**—

(क) **'उन्मेष'** = उदय। **'निमेष'** = प्रलय। (ख) **उन्मेष** = सृष्टि (ख) **'निमेष'** = प्रलय। (क) **'उन्मेष'** = उन्मीलन (ख) **'निमेष'** = निमीलन ॥ **प्रश्न उठता है कि कारिकाकार ने 'सृष्टि' एवं 'प्रलय' शब्द का प्रयोग न करके उन्मेष-निमेष, उदय-प्रलय का प्रयोग क्यों किया ?**

---

१. रामानुजाचार्य—'श्रीभाष्य'।
२. शंकराचार्य—'शारीरकभाष्य'।
३. त्रिकदर्शन।
४. वेदान्ती एवं अद्वैतवादी शैव-शाक्त।
५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी।
६. अभिनवगुप्तपादाचार्य।
७. ई०प्र०वि०।
८. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, (क्षेमराजाचार्य)।
९. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

'त्रिक दर्शन' की मान्यता यह है कि 'सृष्टि' तो किसी ऐसी वस्तु की हो सकती है जो कभी पूर्व में अस्तित्व में न रही हो । सृष्टि का अर्थ है—किसी नव्य वस्तु का जन्म । चूँकि 'शिव' एवं शक्ति से पृथक् कोई भी नव्य वस्तु कल्पित ही नहीं की जा सकती क्योंकि शिव एवं शक्ति के अतिरिक्त अन्य की सत्ता ही नहीं है । अत: किसी भी पदार्थ का जन्म संभव नहीं है । इसी दृष्टि से कारिकाकार ने सृष्टि एवं प्रलय को **'उन्मेष'** एवं **'निमेष'** कहा तथा 'सृष्टि' को सृष्टि न कहकर 'उदय' कहा । सूर्य का प्रतिदिन उदय तो होता है किन्तु इस उदय को सूर्य का जन्म कोई नहीं कहता । किसी पूर्व विद्यमान किन्तु तिरोहित वस्तु का प्रकाश में पुन: आना ही **'उदय'** है । कारिकाकार ने 'संहार' न कहकर **'प्रलय'** कहा क्योंकि 'संहार' विनाश का सूचक है । चूँकि 'शिव' एवं 'शक्ति' का संहार संभव नहीं है अत: उनसे अभिन्न जगत् का भी संहार (विध्वंस । विनाश । सत्ता का मूलोच्छेद) भी कभी संभव नहीं है । इन्हीं कारणों से कारिकाकार ने यहाँ 'प्रलय' श्ब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ है—'प्रकृष्टेन लय:' 'कार्य' का 'कारण' में लय अर्थात् वस्तु का बीजात्मना अवस्थन 'संहार' तो नहीं है किन्तु 'प्रलय' हो सकता है । 'प्रलय' संहार एवं विनाश नहीं है प्रत्युत् अपने मूल में अवस्थान है ।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि कतिपय विद्वान् **'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां'** पदों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

(१) स्वस्वरूप-प्रकाशन	=	'उन्मेष' :	जगत् की सृष्टि
(२) स्वरूप-गोपन	=	'निमेष' :	जगत् का विनाश

अन्य विद्वान् (क्षेमराज के कथनानुसार) 'उन्मेष' एवं 'निमेष' को कादाचित्क मानते हैं । वे कहते हैं कि 'उन्मेष-निमेष' की प्रथम व्याख्या संगत नहीं है क्योंकि कादाचित्क जगत् के उदय एवं नाश के हेतु नित्य भगवान् में कैसे रह सकते हैं? अत: जगत् के कारण के उन्मेष एवं निमेष धर्मक होने के कारण एक ही भगवच्छक्ति उन्मेष-निमेष शब्दद्वय द्वारा व्यवहृत की जा सकती है । 'उन्मेष निमेष' = भगवच्छक्ति । अत: उस शक्ति के 'उन्मेष' से जगत् का 'उदय' होता है एवं उस शक्ति के निमेष से प्रलय होता है—

१. **पराशक्ति का उन्मेष**—जगत् का उदय ।
२. **पराशक्ति का निमेष**—जगत् का प्रलय ।

'स्पन्दसन्दोह' में क्षेमराज कहते है कि 'यह विभागरहित, एकात्मिका विमर्श भूमि उन्मेषनिमेषामयी है और इसे उन्मेष-निमेष के नामों से पुकारा जाता है—'एवं इयं एका एव अविभगा विमर्शभूमि: उन्मेषनिमेषमयी उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यामभिधीयत ॥[१]

यहाँ 'उन्मेष' एवं निमेषमय की, निमेष एवं उन्मेषम की—प्राधान्येतरताविभक्त धरणी आदि सदाशिवान्त जगत् के प्रति प्रलयोदय हेतुत्व की व्याख्या की गई है ।[२]

'प्रलयोदयौ' = 'प्रलयौ च उदयौ च प्रलयोदयौ'[२] ॥ नीलादिक की बहीरूपता जो

---

१. क्षेमराज—'स्पन्दनिर्णय' ।   २. 'स्पन्दसन्दोह' ।

'उदय' है वही अहन्तारूपता का **'प्रलय'** है और जो बहीरूपता का प्रलय है वही अहन्तारूपता का **'उदय'** है अत: 'प्रलयोऽपि उदयरूप: उदयोऽपि प्रलयपरमार्थ:' इस विषय में 'भेदाभेद प्राधान्येतरता कृतस्तु अत्र विवेक: ।'[१] वस्तुत: चिदात्मा ही उस प्रकार प्रकाशित होती है । यहाँ अक्रमता की बात कही गई है ।[२]

'स्पन्दनिर्णय' में **आचार्य क्षेमराज** ने **निमेष-उन्मेष** की इस प्रकार व्याख्या की है—'चिदानन्दघनस्य उन्मेषनिमेषाभ्यां स्वरूपोन्मीलननिमीलनाभ्यां मज्जनोन्मज्जने ।'[३]

'उन्मेष-निमेष'—'उन्मीलन'-'निमीलन', मज्जन उन्मज्जन ।'

'स्पन्दसंदोह' में कहा गया है कि सदाशिवाादिक्षितिपर्यन्त प्राक्सृष्ट तत्त्वग्राम की सत्ता संहारापेक्षा में 'निमेष' एवं सिसृक्षा की अपेक्षा से **'उन्मेष'** कही जाती है—'सदाशिवादि क्षितिपर्यन्तस्य तत्त्वग्रामस्य प्राक्सृष्टस्य या संहारापेक्षया निमेषभू: सैव स्रक्ष्यमाणभेदापेक्षया उन्मेषदशा ॥'[४]

प्राक्सृष्ट तत्त्वग्राम की भेदसंहाररूपा जो **'निमेष'** दशा है वही चिदभेदप्रथा **'उन्मेष'** कहलाती है 'प्राक्सृष्ट भेदसंहररूपा च या निमेषदशा सैव चिदभेदप्रथाया उन्मेषभू: ।'[५] 'भेदासूत्रण रूप जो **'उन्मेष दशा'** है वही चिदभेद प्रथा की **'निमेष दशा'** है—भेदासूत्रणरूपा च या उन्मेषदशा सैव चिदभेदप्रथाया निमेषभू: ॥'[६] भेदासूत्रणात्मक दशा **'उन्मेष'** है और चित्तत्व से अभिन्न दशा **'निमेष'** है ।

आचार्य क्षेमराज का कथन है कि 'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां...स्तुम:' श्लोक में **वसुगुप्त** ने शिव के प्रथम सूत्र **'चैतन्यमात्मा'** (१।१) की व्याख्या की है—**क्षेमराज** कहते हैं—'तत्र आद्यमेव सूत्रं विमृश्यते ।' वे कहते हैं—परमाद्वय प्रकाशानन्दमय महेश्वर स्वरूप प्रत्यभिज्ञापनाय—समस्त शास्त्रगर्भां समुचितां-स्तुतिम् इमाम् उपदिदेश श्रीमान् वसुगुप्त गुरु:—'यस्योन्मेष... स्तुम: ।'

आचार्य क्षेमराज के उपर्युक्त कथन से यह भी सिद्ध होता है कि **'स्पन्दकारिका'** का प्रथम श्लोक वसुगुप्त-प्रणीत है अत: 'स्पन्दकारिका' का प्रणयन वसुगुप्त ने ही किया है। **'स्पन्दनिर्णय'** में **क्षेमराज** कहते हैं कि वसुगुप्ताचार्य ने शिवसूत्रों की सामग्री के आधार पर ही 'स्पन्दकारिका' का प्रणयन किया । इससे यह भी सिद्ध होता है कि काश्मीरीय त्रिकनय में 'स्पन्ददर्शन' ही केन्द्र में है एवं 'स्पन्ददर्शन' का मूल ग्रन्थ 'शिवसूत्र' है तथा उसके अनन्तर स्पन्दशास्त्र का आद्यग्रन्थ **'स्पन्दकारिका'** है ।

'शिवसूत्र' का प्रथम सूत्र—'चैतन्यमत्मा' ।[७]

'स्पन्दकारिका' का प्रथम श्लोक—

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुम: ॥'[८]

१-२. स्पन्दसन्दोह ।
३. क्षेमराज—'स्पन्दनिर्णय' ।
४-६. स्पन्दसन्दोह ।
७. शिवसूत्र ।
८. स्पन्दकारिका ।

अन्वेष्टव्य एवं अनुसंधेय बिन्दु तो यह है कि यदि **'स्पन्दकारिका' शिवसूत्रों की व्याख्या है** तो क्या इन कारिकाओं में शिवसूत्रों की व्याख्या मिलती है ? यदि हाँ तो किस प्रकार ?

इस **'स्वतन्त्र शिवाद्वय दर्शन'** में एक ही पदार्थ में अनेकत्व की अनुस्यूतता दिखाई गई है ।[१] परमार्थवादानुसृत्या एक ही अर्थ का षट्त्रिंशत्तत्त्वमयतात्म अनेकार्थत्व आम्नाय में वर्णित भी है । इस प्रकार की व्याख्या की जाने पर श्री स्वच्छन्दादि शास्त्रों में परमेश्वर का जो पञ्चविधकृत्यकारित्व वर्णित हुआ है वह भी स्वीकृत, हो जाता है ।[२] **'उन्मेषनिमेष'** शब्द मात्र का प्रयोग करके स्पन्दकार ने शिव के पञ्चविधकृत्यकारित्व की ओर संकेत किया है । 'षडध्व' की दो प्रकार की सृष्टि होती है—

(१) भेदासूत्रणतदुल्लासन रूप **'उन्मेष'** के द्वारा ।

(२) किंचित्स्वरूप निमेष के द्वारा ।

'षडध्व' की उन्मेष-निमेष मय शुद्धा शुद्धरूपा सृष्टि दो प्रकार की होती है—जिसे इस प्रकार व्याख्यात किया जा सकता है—'तथा उन्मेषनिमेषाभ्यां लोलीभूताभ्याम् आभासमाना भासनपरमार्था स्थितिः'—कहा भी कहा गया है—

'... लोलीभूता परा स्थितिः ।'

स्वस्वरूप का निरयादिभोगमय पूर्ण निमेष ही विलय है—'तथोत्पन्न स्वरूपोन्मेषा-भासरूपो वस्तुतो निरयादिभोगमयो यः पूर्णो निमेषः स्वस्वरूपस्य स **विलयः** ॥'[३]

जो सर्वात्मना पूर्णोन्मेष है वह अशेषभेदोपशम रूप एवं निमेषमय है और अनुग्रहात्मक है । अतः परमेश्वर के पञ्चविधकृत्यकारित्व का प्रतिपादक है ।[४] (निर्विकल्प-सविकल्परूप उन्मेषण) संस्कार के विगलन से समस्त भेदों के नष्ट हो जाने पर जहाँ नष्ट भेद का भी संस्कार नष्ट हो जाता है वह तादृश पूर्णोन्मेषात्मा है । सृष्टि-स्थिति-संहार-विलय में अन्योन्य की संस्कारशेषता विद्यमान है । बिना अनुग्रह के वह दुरुच्छेद्या है । वही संसार का कारण भी है—वस्तुतः 'इत्थं प्रलयोदयौ अपि संगमनीयौ' अर्थात् प्रलय एवं उदय भी तत्त्वतः ऐक्यात्मक है 'प्रलयादिकं च आभास्यनिष्ठं आभाससारमेव न तु प्रकाशात्मनोऽस्य परमेश्वरस्य तत किंचित्' कहकर **क्षेमराज** कहते हैं कि—'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्व शब्दितम् । कार्यताक्षयिणी चात्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।'[५] परमात्मा का कर्तृत्व अक्षय एवं शाश्वतिक वैभव है । माया-प्रमातृभूमि में भी प्रकाशात्मा परमेश्वर का पञ्चविधकृत्यकारित्व सिद्ध है । इस प्रकार भगवान् का नील प्रकाशादि काल में नीलाभास में देशकाल के संभिन्न होने से स्रष्ट्रिता है तथा देशकालाकान्तर संभिन्न होने की शंका उठाने पर संहारत्व है ।[६]

(१) सृष्टि के पूर्व 'नीलाद्यभाससामान्य में **स्थिति हेतुता** है, वहीं अभेदाशसर्ग में **विलय हेतुता** है ।

१-४. स्पन्दसन्दोह ।

५. स्पन्दकारिका (कारिका १४) ।

६. स्पन्दसन्दोह ।

(२) प्रथमाभासित नील तद्ग्राहकभावापेक्षा से **संहर्तृत्व** है ।

(३) अवभासमान पीत तद्ग्राहकभावापेक्षा से **स्रष्टृत्व** है ।

(४) विच्छिन्नताभासापेक्षा से **स्थिति हेतुता** है ।

(५) अन्तःसंस्काररूपतापादित आभासापेक्षा से **विलयकारित्व** है ।[१]

(६) शुद्धसंविदैक्यापन्न प्रविलापित स्मृत्यादि बीजाभावाभास की अपेक्षा से **अनुग्रहीतत्व** है ।[२]

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि ऐसी कोई भी दशा नहीं है जिसमें कि परमात्मा का पञ्चकृत्यकारित्व सिद्ध न हो—'सर्वदा सर्वासु दशासु पञ्चविधकृत्यकारित्व माहेश्वरमेव एक रूपं सर्वत्र जृंभमाणमेव स्थितम् इति ॥'[३]

चिच्चक्रैश्वर्यात्मा में स्वस्वभाव शङ्कर रूप स्वप्रकाश में किसी योगी की धिषणा अधिरोहण करती है किन्तु संसारी लोगों की नहीं ।[४] जो कुछ भी आभासित होता है वह सब कुछ 'प्रकाश' मात्र है क्योंकि अप्रकाश में प्रकाश की वर्तमान युक्ति संगत नहीं है—'यावत् किञ्चित आभासते तत् सर्वं प्रकाशमयमेव अप्रकाशस्य प्रकाशनानुपपत्ते इति युक्ति-वशेन स्वप्नसंकल्पादिदौ संविद एव आभासोल्लासहेतुत्वं दृष्टम् ।'[५] अर्थात् संकल्पादि में भी संवित् तत्त्व का उल्लास ही मूल कारण है ।[६]

सामान्य अनुभव भी यही ज्ञापित करता है कि प्रकाशस्वरूप भगवान् शिव का प्रकाश यह विश्व है: 'अनुभवानुसारेण च प्रकाशस्यैव भगवतः प्रकाशमानं विश्वम् ।'[७]

'शक्तिचक्रविभवप्रभवं'—उस परमात्मा की शक्तियों का चक्र (संयोजनादि-वैचित्र्य-व्यवस्थित समुदाय) । **'विभव'** = वह विश्व समुदाय ही उसका वैभव या स्फीतता है । **'प्रभवः'**—उसकी उत्त्पत्ति । (प्रभवति अस्मात् इति प्रभवः) 'अवभासन' परमार्थस्वस्वभाव ही है जो उसको । कहा भी गया है—

'यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥'

'शक्तिचक्र'—(दूसरा अर्थ)—इन्द्रिय वर्ग । **'विभव'**—निज निज विषय प्रवृत्यादिक वैभव ॥ **'प्रभवं'**—उसका प्रादुर्भाव । कहा भी गया है—

'यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत् स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहतीः ॥' (१।६)[८]

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि इस श्लोक के द्वारा **'विश्वोत्तीर्ण'** एवं **'विश्वमय'** शिव का ही कुलत्रिकादि प्रतिपादन किया गया है । आम्नायों के उपदेशों के द्वारा स्वस्वभाव शङ्कर का ही यहाँ प्रतिपादन किया गया है न कि वेदान्तियों के ब्रह्म का । क्योंकि वेदान्तियों का ब्रह्म विश्वातिरिक्त है—'विश्वं यत्र तदेव ब्रह्म' ।[९] **क्षेमराज** अपने शब्दों में कहते हैं—

'शङ्करः इति उपपादितम् न तु वेदान्तवादिवत् 'विश्वं यत्र तदेव ब्रह्म ।'[१०]

१-७. स्पन्दसन्दोह । ८. स्पन्दकारिका । ९-१०. स्पन्दसन्दोह ।

'शक्तिचक्रस्य' = करणेश्वरीचक्र का—अर्थात् करणरूप शक्तिवर्ग का। **'विभव'**= विचित्र सृष्टिसंहारादिकारित्व। **'प्रभवं'** = उसके क्रमार्थावभासनकारित्वकृत अक्रम महा-प्रकाशमय को। कहा भी गया है—'सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृती:' (१।६)[१] **'चक्र'**—आन्तरचक्र (न कि अन्त:करणत्रय क्योंकि वह करणवर्ग के रूप में स्वीकृत है।)

'शक्तिचक्रं'—मन्त्रगण में मुद्रासमूह। **'विभव:'**—उसका जो विभव है अर्थात् त्रिविध सिद्धि-साधन-समर्थत्व। **'प्रभवं'**—क्षितोत्पत्तिविश्रानितस्थान।[२] कहा भी गया है—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: सर्वज्ञबलशालिन:।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिन:॥ (२६)[३]
'अत्रैव संप्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जना:।' (२।१)

'विभव'—त्रिविधा सिद्धि—१. पर २. अपर ३. परापर। ('विभव')॥

आचार्य क्षेमराज का कथन है कि—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ' श्लोक में यद्यपि परमात्मा के मात्र दो कृत्यों (१) सृष्टि एवं (२) प्रलय मात्र का ही उल्लेख किया गया है तथापि यह पञ्चकृत्यों का सूचक (उपलक्षणक) है। परमात्मा के पञ्चकृत्य हैं क्या?—**'आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनात्म**-पञ्चविधकृत्यानि'।

'ईश्वराद्वयदर्शन' एवं ब्रह्मवादी दर्शन में भेद-दृष्टि—ईश्वराद्वयवादी परमात्मा में पञ्चकृत्यों की विद्यमानता स्वीकार करते हैं किन्तु ब्रह्मवादी वेदान्ती नहीं स्वीकार करता।

'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति॥ १०॥

इह ईश्वराद्वयदर्शनस्य ब्रह्मवादिभ्य: श्रयमेव विशेष: यत्—

'सृष्टि-संहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्॥'

इति श्रीमत्स्वच्छादि शासनोक्तनीत्या सदा पञ्चविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवत:। यथा च भगवान् शुद्धेतराध्व स्फारक्रमेण स्वस्वरूपविकासरूपाणि सृष्ट्यादीनि करोति, 'तथा'—संकुचितचिच्छक्तितया संसारभूमिकायामपि 'पञ्चकृत्यानि' विधत्ते।'[४]

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—देह प्राणादि पद में प्रविष्ट होते हुए, चिदात्मा महेश्वर, बहिर्मुख होने की दशा में नीलादि वस्तु को नियत देश एवं नियत काल में वस्तु का आभास होना ही **'सृष्टि'** है। नियत देशकाल में भिन्न अन्य आभासांश ही 'संहार' है। नीलाद्याभासांश में स्थापकता, वस्तुओं का ऐक्यभाव से प्रकाशन ही **'अनुग्रह'** है। इसके अतिरिक्त भगवान् के सतत पञ्चविध कृत्यकारित्व का विस्तार से मैंने **'स्पन्द-सन्दोह'** में निर्णय किया है।[५]

परमात्मा के पञ्चकृत्य

आभासन | रक्ति | विमर्शन | बीजावस्थापन | विलापन

---

१. स्पन्दकारिका। २. स्पन्दसन्दोह।
३. स्पन्दकारिका। ४-५. आचार्य क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

'आभासन-रक्ति-विमर्शन-बीजावस्थापन-विलापनतस्तानि ॥ ११ ॥'[१]

परमात्मा के पञ्चकृत्य

सृष्टि | संहार | विलय | स्थिति | अनुग्रह

'सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥'[२]

'नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने ।
चिदानन्दघनस्वाात्म परमार्थावभासिने ॥'

'शङ्कर'—शं + करं ॥ **'शं'**—अशेष उपद्रव (भेदप्रथनात्मक उपद्रव) से रहित परमानन्दाद्वय चैतन्य प्रकाश प्रत्यभिज्ञापनात्मक अनुग्रह । **'करं'**—करोति इति करः । करने वला । **'तं'** = स्वात्मपरमार्थ शङ्कर को । **'स्तुमः'** = समस्त देह—प्राणादि परिमित-प्रमातृ पदं को अधस्पदीकृत करके विकल्प-अविकल्प आदि समस्त रूपों में एवं समस्त दशाओं में 'सर्वोत्कृष्ट होने के कारण मन ही मन सोचता हूँ' ॥

'स्तुमः'—परामृशामः । **'स्तुमः'**—पद में बहुवचन का प्रयोग क्यों ? **'तं'** = असाधारण स्वरूपप्रत्यभिज्ञापनार्थं' **'शक्तिचक्र'** = इन्द्रिय वर्ग ।

'प्रलयोदयौ' = प्रलयोदय । निमज्जन-उन्मज्जन । समावेश ।

(१) चिदात्मा का उन्मज्जन = **'समावेश'** है ।

(२) जगत् का उन्मज्जन = **'व्युत्त्थान'** है ।

(३) अभिन्नता का जो उनमेष है वही जगत् का **'प्रलय'** है ।[३]

(क) वेदान्तियों का ब्रह्म—**'विश्वातीत'**

(ख) तांत्रिकों का परमशिव—१) विश्वमय २) विश्वातीत ।

त्रिकनय में 'परमपद' का स्वरूप—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि न तो 'विश्वमय' और न तो 'विश्वातीत' प्रत्युत् 'विश्वमयविश्वातीत' पद ही परमपद है । शिव विश्वमय एवं विश्वातीत दोनों है । शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।' **'जगत् परमात्मा की शक्ति है ।'**

मूल में दो ही विद्यायें हैं—(१) **'कादिविद्या'** (२) **'हादिविद्या'** । **कादि विद्या में सृष्टि** का उदय 'काम' (संकल्प) से माना गया है । **हादि विद्या में सृष्टि**—आकाशवत् अव्यक्त शिव की माया शक्ति से माना गया है । उपनिषदों में भी कादि विद्या का समर्थन किया गया है—

(१) तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति'[४] अर्थात् उसने **इच्छा** की कि सृष्टि करने हेतु मैं एक से अनेक होकर उत्पन्न हो जाऊँ ।

---

१. आचार्य क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।   २. स्वच्छन्दतंत्र (पटल १) ।
३. स्पन्दसन्दोह (पृ० १४)।   ४. छान्दोग्योपनिषद (६।२।३) ।

(२) स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति, स इमान लोकानसृजत् । (उसने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करुँ । उसने लोकों की सृष्टि की)[१]

(३) स ईक्षांचक्रे, स प्राणमसृजत् ॥[२]

(उसने इच्छा की और प्राण का सृजन किया)

आदि इच्छाशक्ति महात्रिपुरसुन्दरी हैं । **'तं'** = उन भगवान् परमशिव को । **'स्तुमो'** (नुमः) = नमस्कार करते हैं । **'शङ्करं'** = 'शं' = 'भोगापवर्गाख्य शं' = श्रेय या सुख ॥ ('भोगापवर्गाख्यं शं श्रेयः सुखं वा करोतीति शङ्करः')[३] 'स्तुमः'—कैसी स्तुति? 'तत्स्वरूपानुवेश एव स्तुतिः । कः स्तोता? कः स्तुत्यः? का वा स्तुतिः?— क्योंकि—भगवद्व्यतिरेकेण न च स्तुत्योऽस्ति मानिनाम् ।'[४] स्तुति क्यों ? क्योंकि वह 'भगवान' है । भगवान् क्यों है? क्योंकि—उसमें छः भग विद्यमान हैं—भग क्या है?

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः ।
वैराग्यस्य च मोक्षस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥[५]
ऐश्वर्यस्य समग्रस्य भूतानामगतिमगतिम् ।
वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो **भगवानिति** ॥[६]

'शक्तिचक्रविभवप्रभव शङ्कर'—भगवान् शङ्कर 'प्रभव' (शक्तियों के उत्पत्ति-स्थान्) हैं वे अपने को ७ प्रमाताओं के रूप में प्रकट करते हैं जो निम्न हैं—१. शिव २. मन्त्रमहेश्वर ३. मन्त्रेश्वर ४. मन्त्र ५. विज्ञानाकल ६. प्रलयाकल ७. सकल ॥ वे समस्त शक्तियों के स्वामी हैं—उनके बीज हैं ।

'शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः'—'शक्तिचक्र विभवप्रभव' शङ्कर की ही वन्दना क्यों ? शक्ति-रहित स्वतन्त्र शङ्कर की वन्दना क्यों नहीं ? क्योंकि—

१. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।
अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरञ्चादिभिरपि
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति ॥[७]

भाव यह कि यदि 'शिव' शक्ति से युक्त न रहे तो वे इतने अशक्त एवं असमर्थ हो जायेंगे कि अपने स्थान से हिल भी नहीं सकते ॥

२. 'शिव' पद में इकार शक्ति का वाचक है । यदि इसे निकाल दिया जाय तो 'शिव' 'शव' मात्र शेष रह जायेंगे ।

'तं स्तुमः'—'तं कम्' (उस किसको?)[८] 'उसको' जिसके उन्मेष से—औन्मुख्य से, जगत् का (विश्व का) 'प्रभव'—(सन्तति) निष्पादित होता है: 'यदुन्मेषादौन्मुख्या-ज्जगतो विश्वस्योदयः प्रभवः सन्ततिरिति यावत् ॥[९] **'निमेषात्'**—'जिसके विश्राम से

---

१. ऐतरेयोपनिषद (१।१।१) ।
२. प्रश्नोपनिषद (६।३) ।
३-५. स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत ।
६. विष्णुपुराण ।
७. शंकराचार्य (सौन्दर्यलहरी)
८-९. स्पन्दप्रदीपिका ।

प्रलय हो जाता है। ('निमेषाद्विश्रामात् प्रलयोऽप्ययः ।')[१] इन शङ्कर के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा जगत् की सृष्टि एवं प्रलय हो पाना संभव नहीं है ('न ह्येतद्व्यतिरिक्तस्य जगतोऽस्त्युदयोऽप्ययो वा':) 'किन्त्वीशशक्ति प्रसरविरामौ प्रभवाप्ययौ ।'

कहा भी गया है—

'समुदेति जगदशेषं तवोदयविमलसंविदाकारे ।
अस्तं याति समस्तं पुनरपि निजरूपरूढायाः ॥'

'तत्त्वविचार' में कहा गया है—

'शक्तिप्रसरसंकोचनिबद्धावुदयव्ययौ ।
यस्यात्मा स **शिवो** ज्ञेयः सर्वभावप्रवर्तकः ॥'[२]

'कक्ष्यास्तोत्र' में भी कहा गया है—

त्वदाशयोन्मेषनिमेषमात्रमयौ जगत्सर्गलयावितीदृक् ।
स्फुटे स्फुटं त्वन्महिमाऽवभाति विचित्रनिर्माणनिदर्शनेन ॥

ज्ञानक्रियादिगर्भेच्छा शक्तिर्यः प्रसरात्मकः ।
संकल्पोक्तः स **उन्मेषः** प्रोक्तं ह्येतत् स्वतन्त्रके ।
यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते ।
क्रियाकरणसंयोगात् पदार्थस्योदयो भवेत् ॥[३]

'निमेष' = उन्मेष से विरति ।[४]

प्रश्न—ग्रन्थकार ने 'उदयप्रलयौ' न कहकर 'प्रलयोदयौ' क्यों कहा? पहले 'उदय' होता है फिर 'प्रलय'। लेकिन ग्रन्थकार ने 'उदयप्रलयौ' कहने के स्थान में 'प्रलयोदयौ' इसलिए कहा क्योंकि अन्यथा इस श्लोक में वृत्त-भंग दोष आ जाता ?[५] हाँ यह बात ही ध्यातव्य है कि ग्रन्थकार ने 'प्रलय' शब्द के प्राथमिक प्रयोग से बचने के लिए श्लोकारंभ में 'उन्मेष' शब्द का प्रयोग किया जो कि मंगलवाची है ।[६]

उन्मेष-निमेष—पदों के प्रयोग में रहस्यार्थ—ग्रन्थकार ने 'उन्मेष' एवं 'निमेष' शब्द का ग्रन्थारंभ में (मंगलाचरण में) प्रयोग करके एक ओर तो वेदान्त के निष्क्रिय ब्रह्म की अमान्यता एवं शिवाद्वयवादोक्त ब्रह्म की सक्रिया, (पञ्चकृत्यकारित्व) को संकेतित किया वहीं उन्होंने इन शब्दों द्वारा परम पुरुषार्थों की ओर भी इंगित किया है क्योंकि 'उन्मेष' एवं 'निमेष' का अर्थ 'भोग-मोक्ष' भी है 'जगत्सृष्टिसंहरयोः कारणभावः प्रोक्तो भुक्तिमुक्ती च । तत्रोन्मेषादभोगो नानाविधः । निमेषान्मोक्षो निस्तरंगरूपता ।'[७]

शक्तिचक्रविभवप्रभव—'शक्ति'-'शक्तिचक्र' 'इच्छाख्यैका विभोः शक्तिः प्राग्द्विधा ज्ञ क्रियाभिदा' इस शक्ति के विभिन्न रूप हैं इसीलिए 'शक्तिचक्र' (शक्तिसमूह) कहा गया। **'मालिनीविजय'** में इसी अद्वितीया शक्ति के नानात्व का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

---

१. स्पन्दप्रदीपिका । २. तत्त्वविचार ।
३. कक्ष्यास्तोत्र । ४-७. स्पन्दप्रदीपिका ।

या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिताा समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥
सैकाऽपि सत्यनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा ॥
जाता तदैव सा तद्वत् कुर्वन्त्यपि क्रियोच्यते ।
एवमेषा द्विरूपाऽपि पुनर्भेदैरनेकताम् ॥
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।
तत्र मातृत्वमापन्ना पञ्चाशद्वर्णमालिनी ॥[1]

'शक्तीनां चक्रं शक्तिचक्रं'—मातृवर्ग ॥[2] इसके मुख्यतः ४ प्रकार हैं—

खेचरी गोचरी चाथ दिक्चरीभूचरीभिदा ।
परादिभारतीसंस्थं शक्तिचक्रं चतुर्विधम् ॥
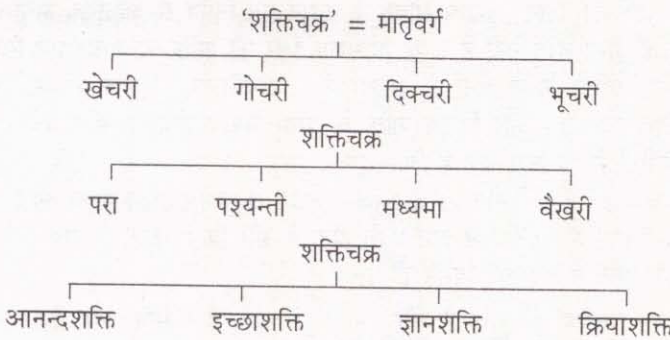
'आनन्देच्छाः ज्ञक्रियाख्यं खेचर्याद्यं चतुष्टयम्'

'विभव'—'विभूतिर्विस्तारः' । **'प्रभवम्'** = प्रभवति अस्मादिति प्रभवः उत्पत्ति-स्थानम् ।'[3]

खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी = परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इन्हीं में आनन्द, इच्छा, ज्ञान, एवं क्रिया निवास करती है । ये सभी शक्तियाँ आत्मसंवित् से अभिन्न हैं । पाँचभौतिक शरीर से रहित केवल चिदात्मा में परमानन्दोल्लास है वही 'परा वैष्णवी' शक्ति है । इन्हीं शक्तियों से संवित् विग्रह धारण करती है । हितकारिणी इन्हीं शक्तियों से संवित् विग्रह धारण करती है । हितकारिणी होने से इन्हीं शक्तियों को 'माता' कहा जाता है । ये शक्तियाँ विज्ञानदेह हैं । भिन्न-भिन्न मतों में—खेचरी, इच्छा, परा, अघोरा, वामा, ब्राह्मी, वैष्णवी, शैवी, सौरी, बौद्धी आदि अनेक शक्तियाँ हैं । इन सभी शक्तियों के मूल कारण 'स्पन्द' रूप भगवान् ही है । **शक्तिसमूह ही अनन्तरूप में**

१. मालिनीविजय ।   २-३. स्पन्दप्रदीपिका ।

स्फुरित हो रहा है । शक्तिमान आत्मा महेश्वर है और शक्तियाँ जगत् है । जिस प्रकार श्रेष्ठ सुन्दरी के अंग प्रत्यंग से राशि-राशि लावण्य छलकता है वैसे ही परमात्मा की चिन्मात्रता ही जगत् के रूप में छलक रही है । शक्तियों के बल से ही आत्मा की संज्ञा 'प्रभु' पड़ी है ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
तत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तमाभााति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

तेनैतदेव शक्तीनां यतोऽन्तः प्रसरोदयौ ।
तद्बलालंभनात्तासां **प्रभुत्वं** प्राप्यतेऽचिरात् ॥

'उन्मेष-निमेष' के सम्बन्ध में स्पन्दप्रदीपिकाकार की दृष्टि—

(१) **उन्मेष** (उन्मुखता) से विश्व का उदय होता है और परम्परा चलती रहती है । निमेष से (विश्राम से) प्रलय हो जाता है । मूल वही 'शङ्कर' है ।

उन्मेष-निमेष उसी प्रकार हैं यथा जाग्रत काल में दृश्य का उदय एवं सुषुप्ति काल में दृश्य का प्रलय । आत्म संवित् के उन्मेष एवं निमेष से अतिरिक्त उत्पत्ति-प्रलय नामक कोई अन्य वस्तु नहीं है । यह अत्मरूप ईश्वर की शक्ति का प्रसार एवं विराममात्र है । विमल संवित् के ये दोनों ही आकार हैं । 'तत्त्वविचार' में ठीक ही कहा गया है कि—जगत् का उदय और विलय शक्ति के प्रसार एवं संकोच के साथ बँधे हुए हैं । **'कक्ष्यास्तोत्र'** में भी कहा गया है कि—तुम्हारे आशय के उन्मेष-निमेष मात्र को ही सृष्टि और प्रलय कहते हैं । 'उन्मेष' में ज्ञान-क्रिया आदि से गर्भित इच्छा शक्ति का निवास है और वह फैलती है । इच्छा से ज्ञान प्रवृत्त होता है और क्रिया-करण के संयोग से पदार्थ की उत्पत्ति होती है । इसका विराम ही प्रलय है ।[1]

(२) **'उन्मेष'** में भुक्ति है और 'निमेष' में मुक्ति है । सृष्टि और संहार भी इसी भुक्ति-मुक्ति के अपर पर्याय हैं—'आभ्यां जगत्सृष्टिसंहारयोः कारणभावः प्रोक्ते भुक्तिमुक्ती च । तत्रोन्मेषाद् भोगो नानाविधः । निमेषान्मोक्षो निस्तरंगरूपता ॥'[2] जिस निमेष को 'मोक्ष' कहा गया है वह 'मोक्ष' क्या है ? **उत्पलदेव** कहते हैं—

'इह कि जीवन्मुक्ततैव मोक्षः ।' 'स्पन्दकारिका' में भी यही कहा गया है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥[3]

'शक्तिचक्र विभवं' वाक्य में 'शक्तिचक्र' का क्या अर्थ है?—इसका सुनिश्चित अर्थ न बताकर स्पन्दप्रदीपिकाकार ने कहा है कि **'शक्तिचक्र'** निम्न सभी चतुष्कों का अर्थ-बोधन करता है—

१. खेचरी　२. गोचरी　३. दिक्चरी　४. भूचरी शक्ति ।
१. इच्छा　२. ज्ञान　३. क्रिया　४. चित् शक्ति ।

१-२. स्पन्दप्रदीपिका ।　　३. स्पन्दकारिका ।

१. परा २. पश्यन्ती ३. मध्यमा ४. वैखरी वाक् ।

अघोरा } 'स विसर्गो महादेवि यत्र विश्रान्तिमृच्छति ।
वामा } गुरुवक्त्रं तदेवोक्तं शक्तिचक्रं तदुच्यते ॥' (परा०वि० अभिनवगुप्त)

१. ब्राह्मी २. वैष्णवी ३. माहेश्वरी ४. कौमारी ।

ये वैष्णव, शैव, सौर एवं बौद्ध दर्शनों में वर्णित शक्तियाँ हैं ।

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥[1]

इस कारिका में उल्लिखित अकाराद्यक्षररूपा **वर्णात्मक शक्तियाँ** ।

करण—इन्द्रिय-ग्राम ।

[शक्तयश्च खेचर्याद्या वेच्छाद्या वा पराद्या वा अघोराद्या वा वामाद्या वा ब्राह्म्याद्या वा अन्या वैष्णव शैव-सौर-बौद्धाद्युक्ता वा । अथवा—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्पन्द प्रदी० श्लोक सं० ४५)

इत्यादिना वक्ष्यमाण । अकाराद्यक्षररूपा करणरूपा वा भवन्तु ।'] [2]

उत्पलाचार्य का कथन है कि इन शक्तियों का उल्लेख केवल इस प्रयोजन से किया गया है कि यह बताया जा सके कि इन समस्त विश्वव्यापी महान् शक्तियों की भी उत्पत्ति स्पन्द रूप भगवान् से ही होती है । **'माया वामन संहिता'** में कहा भी गया है कि—विष्णु, शिव, सूर्य, बुद्धादि के रूप में अपनी-अपनी शक्तियों के परिवार से युक्त एवं इन शक्तियों के आदि कारण भगवान् मात्र एक हैं, केवल ध्यान-भेद से ही भिन्न-भिन्न रूप से उपास्य स्वीकार किये गये हैं । **'कुलयुक्ति'** में कहा भी गया है—

वेदान्ते वैष्णवे शैवे सौरे बौद्धेऽन्यतोऽपि च ।
एक एव परः स्वात्मा ज्ञाता ज्ञेयं महेश्वरि ॥

'शक्ति'—शब्द का प्रयोग करके कारिकाकार ने सृष्टि की समस्त सत्ताओं एवं निःशेष जगत् का भी उल्लेख कर दिया है क्योंकि समस्त विश्व में मात्र दो ही सत्तायें हैं—१. शक्ति और २. शक्तिमान् ।

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयश्च जगत् सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥[3]

शक्तिसमूह ही अनन्तरूप में स्फुरित हो रहा है । 'शक्तिमान्' आत्मा है और शक्तियाँ जगत् हैं । इन्हीं शक्तियों से संवित् विग्रह धारण करती है । ये सब शक्तियाँ **'विज्ञानदेह'** हैं । शक्तियों के बल से ही आत्मा 'प्रभु' कही जाती है ।

'स्पन्दसंदोह' में 'शक्तिचक्र' की यह भी व्याख्या की गई है—'शक्तिचक्रेण' । शक्तिचक्र द्वारा ।

'विभव'—समापत्ति आदि के द्वारा प्राप्त (दीक्षानुग्रहजन्य) देव-तादात्म्यरूप सम्पत्ति । इसी तथ्य की ओर कारिकाकार का० (२।६) (२।७) में इस प्रकार कहते हैं—

---

१. स्पन्दकारिका (४५) । २-३. स्पन्दप्रदीपिका ।

जो साधक या ध्याता मन्त्रात्मा से एकत्व चाहता है, उसकी यही तदात्मता या ध्येयस्वरूपापत्ति है । ध्येय का चिन्तन करते-करते जो उसके साथ तदात्मतापत्ति है अर्थात् एकता है, वही उसका **'उदय'** है । मन्त्रोच्चारण की इच्छा से मन्त्रदेवता के साथ जो तादात्म्य है वह संवेदन द्वारा उससे एकता प्राप्त करता है ।[१] यह जो स्वरूप-संवेदन है यही आत्मा की अमृतत्त्व-प्राप्ति है ।[२]

'विभव' 'प्रभव'—**'आचार्य क्षेमराज'** कहते हैं—समापत्यादिनाा सामर्थ्यसंपदा विभवो यस्य आचार्यस्य उदय: तस्य प्रभवं' ।[३]

इस कारिका की अन्य व्याख्या करते हुए **आचार्य क्षेमराज** कहते हैं कि **शक्तियाँ मातृकाएं हैं** ।

१. **'शक्तियाँ'**—ब्राह्मी, वैष्णवी आदि शक्तियाँ—ये कादिक्षान्त वर्णमाला रूपा हैं । **वामेश्वरी, खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी** ।

(१) 'वामेश्वरी'—यत्र वमन्ति विश्वं भेदाभेदमयं भेदसारं च, गृणन्ति उच्चैर्गिरन्ति च भेदसारं, भेदाभेदमयं च अभेदसार आपादयन्ति इति संसार वामाचारा: वामा: शक्तय: तासाम् ईश्वरी स्वामिनी एकैव भगवती—तदधिष्टत्वात् वामा चक्रमपि वामेश्वरी चक्रम् अभिधीयते इति ॥

(२) 'खेचरी'—खे बोधगगने चरन्ति इति खेचर्य: प्रमातृभूमिस्थिता:, परशक्तिपात पवित्रितानां चिदानन्द प्रसरोद्गमनसारा अकालकलितत्वाद् भेदसर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वपूर्णत्वव्यापकत्वस्वरूपोन्मीलनपरमार्था: । माया मोहितानां तु आनन्दप्रदा: शून्य प्रमातृ भूमिचारिण्य: काल-कला-शुद्धविद्या राग नियति मयतया बन्धयित्र्य: ॥'[४]

(३) 'गोचरी'—गौ: 'वाक् तदुपलक्षितासु सञ्जल्पमयीषु बुद्ध्याहंकार मनोभूमिष चरन्ति इति गोचर्य: शक्तिपातवतां शुद्धाध्यवसायाभिमानसंकल्पप्ररोहिण्य:, परेषां तु विपर्यासिन्य: ॥[५]

(४) 'दिक्चरी'—दिक्षु च दशसु बाह्येन्द्रियभूमिषु चरन्ति इति दिक्चर्य: अनुगृहीतानां अद्वयप्रथनसारा:, परेषां तु द्वय प्रतीतिपातिन्य: ॥[६]

'शक्तिचक्रविभवप्रभव' की अन्य प्रकार से 'व्याख्या करते हुए स्पन्दसन्दोहकार कहते हैं—

'शक्तिचक्रस्य-आगमसंप्रदायप्रसिद्धनानादेवता परमार्थस्य रागद्वेषविकल्पादिप्रत्ययग्रामस्य, तथा देहाश्रिता तत्तद्देवता—परमार्थनानाधात्वादिगणस्य, यो विभव: तत्तदुपनिषत्सिद्ध: प्रभावविशेष:, ... प्रतिबन्धहेतुत्वं च, तस्य उभयस्यापि प्रभवम् । तदेतत् उपदेक्ष्यति—'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दा: ... संश्रयात् । (१।१९) इत्यादि । '... संसारवर्त्मनि ॥' (१।२०)-—इत्यन्तम् तथा—'सेयं क्रियत्मिका शक्ति: शिवस्य... (३।१६) इत्यादि । अन्यत्रापि आगमेषूक्तम्—

१-२. स्पन्दप्रदीपिका (श्लोक ३१)। ३-६. स्पन्दसन्दोह ।

'कुलसारमजानन्तो ह्यद्वये विपतन्ति ये ।
स्वचित्तोत्थविकल्पान्धा निरये निपतन्ति ते ॥

तथा— येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥

'शक्तिचक्र'—आगम प्रसिद्ध देवों के रागद्वेष विकल्पादि प्रत्यय ग्राम एवं देहाश्रित तत्तद्देवता परमार्थ नाना धात्वादि गण ।

'विभव'—उपनिषदों में वर्णित सिद्धिज प्रभाव विशेष ॥

(५) 'भूचरी'—भूः रूपादिपञ्चात्मकं मेयपदं, तत्र चरन्ति तदाभोगमय्य आश्यानीभावेन तन्मताम् आपन्ना भूचर्यः, इतरेषां सर्वतो व्यवच्छेदकतां दर्शयन्त्यः ।

इत्येवं वामेश्वरी शक्त्या प्रसारितानि आन्तराणि अपर-परापर-पर प्रथा हेतुत्वात् अघोर-घोर-घोरतर नाम निरुक्तानि चत्वारि खेचरी-गोचरी-भूचरी दिक्चरी चक्राणि तथाविध वीरव्रातसहितानि तानि । यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयत्त्यणून ।
रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्येऽपराः स्मृताः ॥

मिश्रकर्मकलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्ग निरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥

पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥

एतद् वामेश्वरी अधिष्ठितानि एव—खेचरी, भूचरी, गोचरी, दिक्चरी चक्राणि ।

(क) तत्र—आकाशे चरन्त्योऽशरीराः **खेचर्यः**, यदिच्छामात्राधिष्ठित मिथुनं संप्रयोगजः प्रबुद्धशुद्धविद्योदयो योगिनीगर्भोद्भूतो भवति । यथोक्तं श्रीतन्त्रालोके—

अन्याश्च गुरुतत्पत्न्यः श्रीमत्कालीकुलोदिताः ।
अनन्तदेहाः क्रीडन्त्यस्तैस्तैर्देहैरशंकितैः ।
प्रबोधित तदिच्छाके तज्ज्ञं कौलं प्रकाशते ॥

(ख) 'गोचरी'—गोचर्यस्तु गोशब्दवाच्य पशुहृदयसाराहरणरताः तेनैव क्रमेण स्वात्मनः पशूनां च तत्तत्सिद्धिसाधनप्रवण एकजन्मनः प्रभृति सप्तजन्मानमपि पशुमाहरन्त्यः ॥

'शक्तिचक्र' की निम्नांकित रूप से भी व्याख्या की गई है—**'शक्तिचक्र'** = 'स्वतन्त्राद्वय निजमहाप्रकाशानुप्रवेशकारि स्वमरीचिनिचय' (स्पन्द प्र०) ।

'विभव'—'स्वामोदजृंभात्मकविभव' (स्पन्द प्र०)

'शक्तिचक्रे'—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचर्यादि बाह्यान्तरताभेदभिन्न योगिनियों का समूह एवं तदुपलक्षित वीरव्रात । **'विभव'**—उनका विभव । अर्थात् 'अतीतानागत-

ज्ञान-अणिमादिकप्राप्ति स्वविषयाभोगसमयपूर्णप्रथावाप्त्याद्यनन्त क्षुद्राक्षुद्रसिद्धि लाभ या ऐवर्य प्राप्ति ।'—

'अनन्त क्षुद्राक्षुद्रसिद्धि लाभम् ऐश्वर्य प्राति पूरयति यः, स शक्तिचक्रविभवप्रः स च असौ ... भवति तेन तेन रूपेण इति कृत्वा, **'तं' = शक्तिचक्रविभव प्रभवं'** इति ।'

इसी की पुष्टि में विभूतिस्पन्द में कहा गया है—

(१) यथेच्छाभ्यर्थितो धाता ... (३।१)

(२) कुतः सा स्यादहेतुका । (३।८) आदि ।

इस श्लोकाष्टक द्वारा इस दृष्टि को ही प्रतिपादित किया गया है । ('स्पन्द-संदोह'—**आचार्य क्षेमराज**)

आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दसन्दोह' में इस आद्य कारिका के सात अर्थ बताए हैं । इस कारिका का अर्थबोधन कराने हेतु इसकी सप्तविध व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं ।

(ग) 'दिक्चरी'—दिक्चर्यस्तु भ्रान्तचक्रवत सर्वत्र चरन्त्यः परापरसिद्धिप्रवणाः ।

(घ) 'भूचरी'—भूचर्यस्तु स्वंस्वभावतयैव कुंकुमनारिकेलादिवत् तत्तत्पीतादिभूमि-जाताः पूर्णत्वादिनानाभेदितत्तद्देवतांशकोद्भूताः ॥

(१) **'शक्ति'**—ब्राह्मयादि देवी (कादि क्षान्त मातृका वर्ग) ब्रह्मादिकारणमाला । **'चक्र'**—उनसे सम्बद्ध चक्र । 'शक्तयो ब्राह्म्यादि देव्यो (कादि क्षान्त तत्तद्वाचकात्मनः) ब्रह्मादिकारणमाला च' तासां सम्बन्धिचक्रं स्वभावशून्यपशुप्रमातुः अद्वयरूपोर्ध्वभूम्यता-रोहणक्षमो भेदमयाधरसरणिसंचारचतुरश्च व्यूहः' तस्य यो विभवः तथाकार्यकारित्वं तस्य प्रभावं । तद्वक्षयति—'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य ... (३।१३) इत्यादि । 'बन्धयित्री ... (३।१६) तन्मात्रोदयः ... (३।१७) प्रचक्ष्महे (३।१८) इत्यन्तं च ॥' ('स्पन्दसन्दोह')

आचार्य क्षेमराज ने इस प्रथम कारिका की व्याख्या को 'आदिसूत्र की व्याख्या' का अभिधान दिया है ।

शाङ्कर अद्वैतवाद का खण्डन—आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दसंदोह' में कहा है कि इस श्लोक भाग के द्वारा कारिकाकार ने परमात्मा को 'विश्वोत्तीर्ण' एवं 'विश्वमय' दोनों सिद्ध किया है । उन्होंने वेदान्त सम्मत उस निष्क्रिय ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं किया है जिसके विषय में कहा गया है कि—'विश्वं यत्र तदेव ब्रह्म' अर्थात् 'जो विश्व नहीं है (जो विश्वातीत है) वही ब्रह्म है ।'

'एवमनेन श्लोकभागेन ... विश्वोत्तीर्णोविश्वमयश्च उत्तमाकुलत्रिकाद्याम्नायोपदेशदिशा स्वस्वभाव एव शङ्करः इति उपपादितम न तु वेदान्तवादितवत—'विश्वं यत्र तदेव ब्रह्म'।[१]

'विश्वं यत्र' में जो अभाववाद का आभास मिलता है उसका कारिकाकार ने अपनी निम्न कारिका द्वारा प्रतिषेध भी किया है—

---

१. स्पन्दसन्दोह—क्षेमराज ।

'नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता ।' (१।१२) और आगे इसी की पुष्टि में पुनः कहा है—'न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते ॥' (१।१३) न तो 'विश्वातीत' ही परम तत्त्व है और न तो 'विश्वमय' ही—(१) '**नापि** सिद्धान्तदृष्टिवत् विश्वोत्तीर्णमेव परं तत्वम् इत्येवं रूपं—

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदा व्यभिचारिणी (१।१७)' इस वाक्य के द्वारा, विरुद्धत्वापत्ति के कारण, 'विश्वातीत' को 'परमपद' नहीं कह सकते ।

(२) '**नापि** अप्रकटिताकुलस्वरूपकुलप्रक्रियाशास्त्रवत् विश्वमयमेव पूर्णरूपम् इत्येवं स्वभावम्—'। 'यदा क्षोभः प्रलीयेत् तदा स्यात्परमं पदम् । (१।९) इस कारिका के द्वारा 'विश्वमय' स्वरूप को भी 'परमपद' नहीं कह सकते अतः परमपद वह है जो-विश्वातीत एवं विश्वमय दोनों हैं ।[1]

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ' वाक्य की अर्थ विशेषता—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि कारिकाकार ने समस्त शास्त्रार्थ को केवल एक वाक्य द्वारा पर्या-लोचति करके सर्वदा एवं सभी दशाओं में कारिकाकार ने 'अख्यातिवाद' का भी (इस कारिका द्वारा) खण्डन किया है क्योंकि—'न तु सा दशास्ति यत्र शिवता न स्फुरति इति उपदिष्टं भवति' अर्थात् ऐसी कोई दशा ही नहीं है जहाँ शिवत्व स्फुरित न होता हो । स्वच्छशास्त्र भी कहता है—

यत्र यत्र निलीयेत् मनस्तत्रैव भावयेत् ।
चलित्वा यास्यति कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥[2]

कारिकाकार स्वयं कहते हैं—'न साऽवस्था न यः शिवः ।' (२।४) (२९) ॥ शिव-सूत्रकार भी इस सिद्धान्त का संसार का जागरण (Waking of the universe) जो कि शिव में पृथ्वी पर्यन्त ३६ तत्त्वों से निर्मित है, शिव की शक्तियों के कारण होता है ।

देवियाँ श्रीमन्मंथानभैरव चक्रेश्वर का आलिंगन करके संसार की सृष्टि आदि क्रीड़ाओं का निष्पादन करती हैं फिर **'परमात्मा से ही सृष्टि-संहार निष्पादित होते हैं'—ऐसा क्यों कहा गया?** इसी का उत्तर देने के लिए कारिकाकर ने 'शक्तिचक्रविभव प्रभवं शङ्कर स्तुमः' कहा । परमेश्वर के भीतर परमेश्वर के साथ अभिन्नतया स्थित शक्तियों का चक्र है । इसीलिए परमात्मा को अनन्त शक्तिमान कहा गया है ।[3] भाव यह है सृष्टि की विधात्री इन शक्तियों का भी विधाता परमेश्वर है । इसे दिखाने के लिए ही कारिकाकार ने परमात्मा को 'शक्तिविभवप्रभव' कहा ॥

'शक्तिचक्र'—आभासपरमार्थ विश्व ।

'विभव'—परस्परसंयोजनावियोजना-वैचित्य के अनन्त प्रकार **'प्रभव'** = कारण। वही भगवान् विज्ञान देहात्मक एवं स्वात्मैकात्म्यपूर्वक स्थित विश्वरूप आभासों को

१-२. स्पन्दसन्दोह—क्षेमराज । ३. स्पन्दनिर्णय ।

अनेकविध वैचित्र्यों के साथ संयुक्त एवं वियुक्त करते हुए विश्व के उदय एवं हेतु का कारण बनता है ।[१] श्री **भट्टकल्लट** ने कहा भी है—'विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्योत्पत्तिहेतुत्वम्' 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नम्' ऐसा कहकर एवं—'न सावस्था न यः शिवः' कहकर अगम ने शिव को जगदात्मा कहा है ।

'विभव' = माहात्म्य ।। **'प्रभव'** = 'तत्र प्रभवतीति प्रभवं' शक्ति चक्र का विभव क्या है? 'स्वतन्त्र्य' ('पशु' जीव स्वतन्त्र नहीं परतन्त्र हैं) ।

'शक्तिचक्र' = रश्मिपुञ्ज । **'विभव'** = अन्तर्मुख विकास । **'प्रभवः'** = विभव से होने वाला उदय या अभिव्यक्ति । (रश्मिपुञ्ज के अन्तर्मुख विकास से होने वाले उदय या अभिव्यक्ति वाले ।) अन्तर्मुखतत्स्वरूपनिभालन से परमेश्वर के स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान अनायास होता है ।[२]

चिदानन्दघन आत्मा के उन्मेष-निमेषों से अर्थात् स्वरूपोन्मीलन एवं निमीलनों से ('यदन्तस्तद्बहिः' की युक्ति के अनुसार) जगत् रूप शरीर के एवं बाह्य विश्व के भी प्रलय एवं उदय (मज्जनोन्मज्जन) में उत्पन्न होने वाले शक्तिचक्र के मूल कारण ।

'शक्तिचक्रविभव' = पर संवित् का स्फार ।।

आचार्य क्षेमराज प्रथम कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'यस्य स्वात्मनः संबंधिनो बहिर्मुखता प्रसररूपादुन्मेषाज्जगत् उदयोऽन्तर्मुखतारूपाच्च, निमेषात्प्रलयः तं विश्वसर्गादि कार्युन्मेषादिस्वरूप संविद्देवी महात्म्यस्य हेतुं शङ्करं स्तुमः ।।'[३]

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ'—

इस श्लोक द्वारा कारिकाकार ने शङ्कर-स्तुति के बहाने 'समावेश' को भी संकेतित किया है—

'अत्र च शङ्करस्तुतिः समावेशरूपा' ।[४]

'शक्तिचक्र के विभव से प्रभव है जिसका' (बहुव्रीहि समास) शक्ति चक्र विकास ही उस 'समावेश' का उपाय है । 'शक्तिचक्रविभवस्य'—परसंविद्देवता के स्फार के । ऐसे भक्तों के 'प्रभव' (प्रकाशक) । (तत्पुरुष स०) 'ततश्चक्रेश्वरो भवेत, (३।१९) सूत्र इसी समावेश का संकेतक है । यहाँ 'उपायोपेयभाव' दोनों का सामरस्य है ।[५]

बहुव्रीहि समास करने पर 'शक्तिचक्रविभवप्रभव' का अर्थ निम्नानुसार होगा— 'जिस शङ्कर की अभिव्यक्ति शक्ति-समूह के 'विभव' (महात्म्य । यश) द्वारा होती है ।'

ये इन आन्तरिक शक्तियों का विकास करने से ही शांकर समावेश रूप जीवन्मुक्ति प्राप्त हो पाती है । प्रथम कारिका में शांकर-स्तवन, शांकर समावेश का प्रतीक है और यही स्पन्दशास्त्र का अंतिम लक्ष्य भी है । इस परमलक्ष्य को कारिकाकार ने अपनी प्रथम कारिका में ही प्रस्तुत कर दिया है ।

'शक्तिचक्र के वैभव को उत्पन्न करने वाला है'—

१-५. स्पन्दनिर्णय ।

यह अर्थ करने पर शङ्कर की स्वातन्त्र्य शक्ति को संकेतित करके यह द्योतित किया गया है कि मात्र शङ्कर ही ऐसे हैं जो कि अपने वैभव में 'स्वतन्त्र' है । अन्य प्राणी स्वतन्त्र नहीं प्रत्युत परतन्त्र हैं । 'स्वातन्त्र्य' परमात्मा की एक शक्ति है जिसका अर्थ है— परमुखापेक्षिता से स्वतन्त्र ॥

जिसका जागरण या जिसकी अभिव्यक्ति महाप्रकाश के आन्तरिक उद्घाटन (Unfoldment) पर आश्रित है वह है—**'शक्तिचक्रविभव ।'**

कारिका का यह भी अर्थ किया गया है—

जो भक्तों के स्वस्वभाव (वास्तविक प्रकृति) को प्रकट करता है, जो कि परमशक्ति की अभिव्यक्ति का कारण है (या परा चेतना की अभिव्यक्ति का आधार है) जो अपने स्वस्वरूप को अभिव्यक्त करने या तिरोहित रखने पर भी आनन्दरूप है और जो कि विश्व की सृष्टि एवं संहार का कारण है—हम उन शङ्कर का स्तवन करते हैं ।

इस कारिका का यह भी अर्थ किया गया है—

हम उन शङ्कर का स्तवन करते हैं जो कि जागृतादि अवस्थाओं से अभिन्न रूप वाली चेतना की शक्ति की महानता के मूल कारण हैं, जिनके जागरण या बाह्यमुखी क्रियाओं से विश्व की सृष्टि एवं जिनके सोने या अन्तर्मुखी होने से विश्व का प्रलय हो जाता है ।

सारांश यह कि—बहिर्मुखता प्रसार रूप 'उन्मेष' से जगत् का 'उदय' (सृष्टि) होता है और अन्तर्मुखता रूप 'निमेष' से 'प्रलय' हो जाता है । विश्वसर्गादिकार्यरूप उन्मेष के स्वरूप वाली संविद्देवी के माहात्म्य के कारण भगवान् शिव हैं । हम उनकी स्तुति करते हैं ।[१]

स्वसम्बद्ध ध्वनियों से प्रादुर्भूत होने वाली मान्त्री शक्तियों के समूह को भी 'शक्तिचक्र' माना जा सकता है ।

'शक्तिचक्रस्य' = करणेश्वरी चक्र का । करणशक्ति वर्ग का ॥ **'यो विभवो'** = जो विचित्र सृष्टि संहारादिकारित्व । **'तस्य प्रभवं'** = उसका क्रमार्थावभासनकारित्व कृतमक्रम महाप्रकाशमय । कहा भी गया है—'सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्तिस्थितिसंहृती: ॥ लभते ... (१।६) यहाँ 'चक्र' का अर्थ है—आन्तर चक्र । अन्त:करण त्रय का करण वर्ग में परिगणिन भी किया गया है । करणवर्ग की प्रवृत्ति धर्मा है । करणेश्वरी चक्र सृष्टि आदि कार्यों में प्रवृत्त रहती है ।

'शक्तिचक्र' = मन्त्रगण में मुद्रासमूह । तस्य **'विभव'** = त्रिविध सिद्धि साधन समर्थत्व । तस्य **'प्रभवम्'** = प्रभवोपलक्षित उत्पत्तिविश्रान्तिस्थान । कहा भी गया है—'तदाक्रम्य बलं मन्त्रा: ... । (२।१) ... निरञ्जना: (२।१) त्रिविध = 'पर'—'अपर'—'परापर' ॥ त्रिधा सिद्धि ॥[२]

---

१. स्पन्दनिर्णय ।   २. स्पन्दसन्दोह ।

भट्टकल्लट ने 'स्पन्दकारिकावृत्ति' (स्पन्दसर्वस्व) में इस संपूर्ण कारिका की व्याख्या इस प्रकार की है—

'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य संकल्पमात्रेण जगदुत्पत्तिसंहारयो: कारणत्वं, विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्योत्पत्तिहेतुत्वं नमस्कारेण प्रतिपाद्यते ॥'[१] **भट्टकल्लट** स्पन्दशास्त्र में 'ईश्वरसंकल्पसृष्टिवाद' का प्रतिपादन करते हैं ।[२] वे कहते हैं कि इस कारिका में दो बातें प्रमुख रूप से कही गई हैं ।[३]

(क) स्वस्वभाव शिव के **'शिवात्मक संकल्प'** से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है ।[४] अत: शिव को जगत् की उत्पत्ति संहार का कारण सिद्ध किया गया है ।[५]

(ख) विज्ञानदेहात्मक (विमर्शात्मक स्फुरणा) शक्ति चक्र के ऐश्वर्य (अनन्तरूपों में प्रवहमान होने एवं एक ही साथ भेदशून्य सामान्य भूमिका में विश्रान्त भी रहने की एक साथ दो) भूमिकायें निभाने के स्वातन्त्र्य चमत्कार के भी वे मूलोद्गम शङ्कर ही हैं ।[६]

'तं शङ्करं'—(श्रेयस:कर्तारं) श्रेयसम्पाक ।

'स्तुम:' (प्रशंसाम:)—प्रशंसा करता हूँ । **जगतो** = (विश्वस्य)—संसार के ।

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां'—(शक्तिप्रसरप्रलयाभ्यां) शक्ति के प्रसार एवं शक्ति के संकोच ॥ **'प्रलयोद्भवौ'** = विनाश एवं प्रादुर्भाव ॥

'शक्तिचक्रविभवप्रभवं'—वक्ष्यमाणस्वरूप वाली शक्तियों के

चक्र = समूह ॥ **'विभव'**—ऐश्वर्य । **'प्रभवं'**—कारण ।

प्रश्न—शङ्कर भगवान् तो नित्य, अव्यभिचारी रूप से एकस्वभाव, अद्वैत ('एक एव') पदार्थ हैं फिर उनके साथ परस्परविरुद्ध अनित्य, निमेषोन्मेषात्मक अवस्थाओं का संबन्ध कैसे प्रतिपादित किया गया ?

'शङ्कर उन्मिषित भी होते हैं और नि़मिषित भी' यह कैसे संभव है? यदि कर्तृत्वप्रथा के कारण ऐसा कहा गया तो नित्यात्मक भगवान् के साथ अनित्यावस्था-योगित्व कैसा ? कैसे कहा गया ?—'यस्योन्मेषनिमेषाभ्याम्' ? यह क्यों कहा गया ?

उत्तर—इस संदर्भ में प्रयुक्त ये **'उन्मेष-निमेष'** शब्द उपचरित वृत्ति द्वारा **शङ्कर की इच्छामात्र के बोधक हैं** । यह तो उनका नित्यधर्म या स्वभाव है—'स च तस्य नित्योधर्म: स्वभावभूत: ॥' उन्मेषनिमेषशब्दवाच्यत्व उपचार की दृष्टि से संगत है ।

यह जगत् परमेश्वर की मायाशक्ति के द्वारा उद्भावित एक कार्य है और इसलिए इसका प्रादुर्भाव एवं प्रलय दोनों होने से यह अनित्य है ।

'उन्मेषोन्मेष'—ये दोनों ईश्वरेच्छामात्रनिमित्तक हैं । जो उदयात्मक उन्मेष है और जो प्रलयात्मक निमेष है ये दोनों ही ईश्वरेच्छामात्र है—'उदयात्मकोन्मेषहेतुत्वात् ईश्वरेच्छैव उन्मेषशब्देन, प्रलयात्मकनिमेषहेतुत्वात् निमेषशब्देन च उपचर्यते ॥'

१-६. स्पन्दकारिकावृत्ति (भट्टकल्लट) ।

वह शङ्कर की अव्यतिरिक्ता शक्ति है—'सा च अव्यतिरिक्ता शङ्करस्य शक्तिः ।' इस शक्ति का ज्ञान ही आत्मा के ऐश्वर्य एवं प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि का उपाय है । यहाँ पर सांसारिक पुरुषों में आविर्भूत इच्छा के साथ सादृश्य दिखाने हेतु 'इच्छा' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है जिस प्रकार पुरुष की अपनी इच्छावस्था में इष्यमाण पदार्थ अपने स्वरूप में पुरुष के साथ अव्यक्तिरिक्त रूप से स्थित रहता है । इसी प्रकार 'शक्ति' भगवान् की 'इच्छा' के रूप में उसमें अभिन्न रूप से स्थित रहती है । भगवान् के भीतर स्थित जो इच्छारूपकात्मक शक्ति है उसी के भीतर अनन्तावभासात्मक जगत् स्वरूपतः अव्यतिरिक्त रूप से स्थित रहता है 'भगवतः शक्तौ अनन्तावभासविशेषचित्रं जगत् ... स्वरूपात् अव्यतिरेकेणैव अवतिष्ठते ।'

वह यह शक्ति पारमार्थिकी 'शिवदशा' है । उसी की विद्वानों द्वारा इस प्रकार स्तुति की गई है— 'सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥'

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में भी कहा गया है—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥'

इस प्रकार एक ही अद्वैत पारमेश्वरी परमाशक्ति के इच्छा-ज्ञान एवं क्रिया विभिन्न व्यपदेश हैं और माया शक्ति के द्वारा 'इदन्ता' के रूप में आविर्भूत होते हैं इसी माया शक्ति के द्वारा परमार्थस्वरूप एक ही शिवतत्त्व में सदाशिवादि तत्त्वान्तर का प्रक्रिया-शास्त्र में व्यपदेश किया गया है । इस प्रकार के लक्षणों वाली पारमेश्वरी शक्ति अपनी लीला से उल्लासित जगत् के अवस्थाद्वय के कारण स्वयं भी दो स्वरूपों वाली कही जाती है । अतः इस कारिका के प्रथमार्द्ध का अर्थ निम्नानुसार है—

'जिसकी इच्छा मात्र से जगत् की सृष्टि एवं प्रलय हुआ करते हैं—मैं उसका स्तवन करता हूँ ।' ('यस्य इच्छामात्रेण जगतः प्रलयोदयौ तं स्तुमः ।) उन्मेष—उदय । निमेष—प्रलय । उन्मेष-निमेष दो नहीं हैं एक ही है और इस रूप में वह इच्छामात्र है । 'इच्छामात्रौ उन्मेषनिमेषौ' । **भट्टकल्लट** ने भी 'संकल्पमात्रेण ...' कहकर इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । इस कारिका द्वारा शङ्कर के पारमार्थिक धर्म के रूप में उन्मेष एवं निमेष को प्रतिपादित किया गया है ।

नित्य, अव्यभिचारी एक स्वभाव भगवान् शङ्कर के समान ही शक्ति को भी उसी स्वरूप का स्वीकार किया गया है क्योंकि दोनों में अभेद है ।

शिव की ऐश्वर्यमयता का प्रतिपादन—

'चक्रविभवं' द्वारा ईश्वर के निरतिशय ऐश्वर्य को सूचित किया गया है । भले ही जगत् शङ्कर एवं शक्ति से भिन्न प्रतीत हो किन्तु है उससे अभिन्न ही—

'परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तव सर्वेश यदीशितव्यशून्या ।
अपरापि तथैव ते ययेदं जगदाभाति यथा तथा न भाति ॥'

अन्यत्र भी कहा गया है—

'लिखते जगत्त्रितयचित्रमद्भुत
प्रतिभापरिस्फुरितशंसिते नमः ।
सुसितैकसूक्ष्मनिजशक्तिवर्तिका,
रचितावभासशतशोभि शंभवे ॥'

'शक्तीनां चक्रम्' = वह परमेश्वर से स्वरूप में अभिन्न 'शक्ति'—'इदम्' के परामर्शभेद से उत्पन्न नाना नाम रूप भेदों से अवभासमाना होने पर ही है तो एक, किन्तु बहुत्व में व्यक्त होने के कारण बहुरूपात्मिका होने से 'शक्तीनां चक्रम्' कही गई है ।

'शक्ति' शब्द भावाभिव्यक्ति के समय परमेश्वर से भिन्न दिखाई पड़ती हुई भी उनसे अभिन्न है—यही अभेदाभाव प्रतिपादन ग्रन्थकार का प्रयोजन है । यही ईश्वर का विभव है और उसी से ईश्वर वैभवशील कहलाता है । **पारमेश्वर** में भी कहा गया है—

'शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते ।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांश्च महेश्वरः ॥'

'विभवप्रभव'—इस प्रकार स्वशक्ति भूतविभव का **'प्रभव'** (उत्पत्ति का कारण), न कि स्वरूप व्यतिरिक्त एवं अन्य स्थल से प्राप्त वैभव का प्रभव ।

'यस्य'—जिस जगत्कारण रूप शङ्कर का । शङ्कर का—स्वशक्तिचक्रात्मक ऐश्वर्यभूत जगत् का प्रभव ॥

उन्मेष एवं निमेष का कार्य क्या है? अद्भ एवं विनाश—

'**उन्मेषे** क्रियाशक्ति प्रतिसंहारात् स्वरूपविकासे जगतः प्रलयो विनाशः, निमेषे प्रसृतक्रियाशक्तित्वात् स्वरूप संकोचरूपे जगतः उदय उद्भवः ।'

शक्तिचक्र का ऐश्वर्य—शक्तियों के समूह की विभूतियाँ—

'विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्य । उत्पत्तिहेतुत्वम्'

'विज्ञानदेहो' = विशुद्ध संविन्मात्रमूर्ति महेश्वर ।

'विज्ञानदेहात्मक' = विशुद्धसविन्मात्र वह महेश्वर जिसका स्वस्वभाव आत्मा हो वहः ॥ **'आत्मा'** = स्वभाव ॥ विज्ञानदेह महेश्वर केवल आत्मा ही है अन्य नहीं है । 'स च आत्मैव नान्यः ।' **'यस्य'** = जिसके । किसके ? विज्ञानदेहात्मकस्य शक्तिचक्रैश्वर्यस्य' —के स्वभाव वाले शङ्कर के । (**'यस्य'** शब्द इसी भाव का द्योतक है) क्योंकि इन पचासों कारिकाओं में प्रपंचित अर्थ की पर्यालोचना से यही **शिव-स्वभाव** द्योतित होता है ।

वृत्तिकार ने भी यही कहा है—**'अनेन स्वस्वभावस्यैव शिवात्मकस्य'** ।

'स्वस्य'= आत्मा का । **'स्व'** = आत्मीयभाव यथा स्वरूप अर्थात् स्वस्वभाव । प्रथम श्लोक का यही तात्पर्यार्थ है 'परमेश्वरः इच्छामात्रेण जगतः प्रलयोदयौ विदधाति, लब्धस्थितिकमपि जगत् तच्छक्तिविभूतिरेकैव मायावशात् तु नानात्वेन अवभासते ॥'

इस प्रकरण में ये ही दो अर्थ उपबृंहित किए गए हैं—'इदमेव अर्थद्वयम् अत्र प्रकरणे विस्तार्यते ॥'

(१) माया के वशीभूत होकर स्वरूपप्रत्यवमर्श के अनुल्लास के कारण, वेद्य पदार्थ (देहादि) के साथ अव्यतिरेक (एकात्मता) के साथ प्रतिभासमान आत्मा का व्यतिरिक प्रदर्शित किया गया है।

(२) 'वेद्य' (जगत्) की 'वेदक' के साथ तात्विक स्वभाव के कारण शक्तिभाव की दृष्टि से अपृथकता (अव्यतिरिक्तत्व) सिद्ध होती है।

—इन्हीं दोनों अर्थों को प्रथम श्लोक में विस्तारित किया गया है—इसके द्वारा चतुर्निष्यन्द **स्पन्दसिद्धान्त** इस श्लोक द्वारा आसूत्रित हुआ है।

उपाय एवं उपेय—इस दर्शन में उपाय-उपेय क्या है?

(१) **उपाय 'श्रेय:शास्त्ररूपं'** (२) **उपेय-'आत्मैश्वर्यप्रत्यभिज्ञारूपं'**—इन 'उपाय' एवं 'उपेय' क द्योतक 'शं' (शम्) है और इसी 'श' के कर्ता ही हैं—'शङ्कर' (तस्य कर्ता शङ्करः ... इयं संज्ञा परमेश्वरस्य) **'शङ्कर'**—परमेश्वर ॥ अतः इस स्पन्दशास्त्र के श्रेय के साक्षात् कर्ता परमेश्वर ही हैं—। इस प्रकार **ईश्वर एवं शास्त्र में कर्ता एवं कार्य का सम्बन्ध** है—यही 'स्तुमः' शब्द द्योतित करता है। **'स्तुमः'** कहकर जो स्तुति की गई है उसका प्रयोजन या अर्थ क्या है? 'उपादेय-वस्तु स्वरूप प्रतिपादनमेव स्तुत्यर्थः ।'—उपादेय-वस्तुस्वरूप की प्रतिपादन ॥ अतः शास्त्राभिधेय प्रतिपाद्य एवं प्रतिपादक भाव ही **सम्बन्ध** है। **प्रयोजन** क्या है ? आत्मैश्वर्य प्रत्यभिज्ञात्मक शङ्कर पदः 'प्रयोजनं च आत्मैश्वर्य प्रत्यभिज्ञात्मकं शङ्करपदादेव अवसीयते ॥' दूसरे के श्रेय के संपादक भी ईश्वर ही हैं—अतः इसमें अभिधेय-प्रयोजन दोनों में उपायोपेयभावलक्षण **सम्बन्ध** है। इस प्रकार **तीन प्रकार के सम्बन्ध हैं**।

इस शास्त्र का नाम है 'स्पन्द' 'अभिधानमस्य शास्त्रस्य स्पन्द' इति (१ नि० २१ का० २ पा०) ॥

स्पन्दतत्त्व—'स्पन्द' शब्द स्वस्वभाव परमर्शमात्र, नित्य, शून्यताव्यतिरेचनकारण-भूत, उतनी ही मात्रा में संरभात्मा एवं 'शक्ति' नामक अन्य नाम वाले पारमेश्वर धर्म के किंचित् स्पन्दनात्मक होने के कारण उसे **'स्पन्द'** कहा गया है (किंचिच्चलनात् स्पन्द इति')। इस प्रतिपाद्य 'स्पन्दतत्त्व' का प्रतिपादन करने के करण इस शास्त्र को भी 'स्पन्द' शब्द से पुकारा गया ('तत्प्रतिपादनहेतुत्वात् शास्त्रमपि इदं स्पन्दशब्देन अभिधीयते।')

इस शास्त्र का **'अधिकारी'** कौन है?—'विषय' (अधिकारी) ॥ अन्य शास्त्रों में तो विवक्षित या प्रतिपाद्य तत्त्व को विषय कहते हैं किन्तु यहाँ पर 'विषय' का अर्थ है **'अधिकारी'** ॥

(१) विशुद्ध श्रद्धा-भक्ति-प्रकर्ष (२) परमेश्वर पर शक्तिपात प्रोन्मील्यमान-स्वभावालोक वाला (३) तिरस्कृतसकल संदेहांधकार वाला होने के कारण प्रबुद्ध (४)

सम्यगुपनत दीक्षादिसंस्कारवान् (५) गुरुवचन चोदनमात्रावशेष (६) स्वात्मैश्वर्योपलब्धि के लक्ष्य वाला—व्यक्ति ही इस शास्त्र का अधिकारी ('विषय') है ।[१] **'तन्त्रालोक'** में कहा गया है कि 'स्पन्द' का विलास ही जगत् है । अनन्त **स्पन्दों की तरंगों से ही विश्व निर्मित है** ।

'काल प्राण में, प्राण स्पन्द में एवं स्पन्द शून्य में एवं शून्य चिति में प्रतिष्ठित है—समस्त षडध्वचक्रचिन्मात्र में प्रतिष्ठित है ।[२] 'शून्य' 'स्पन्द' एवं 'प्राण' में निखिल विस्तार **स्थित** है—

'स **स्पन्दे** खे स तच्चित्यां तेनास्यां विश्वनिष्ठितः ॥'[३]

यथा— वातग्निसंपर्कादयः पिण्डोऽग्निवद्भवेत् ।
दाहपाकप्रकाशादौ शक्तस्तद्वयं गणः ॥[४]

भला यह सोचिए कि जो दूसरों को चैतन्य बनाने में समर्थ है वह निःस्वभाव कैसे हो सकता है ? इसका अभिप्राय यह है कि सभी चेष्टायें ज्ञानपूर्वक हैं । ज्ञानहीन शरीर मृत्तिका का खण्ड मात्र रह जाता है । निश्चय ही चैतन्य जड़वर्ग का अधिष्ठाता एवं धारक है । अन्यथा पत्थर का टुकड़ा आकाश में स्थिर क्यों नहीं हो जाता ? अतः उद्योग एवं श्रद्धा दोनों के द्वारा इस तत्त्व का परीक्षण एवं समीक्षण करना आवश्यक है—

'स्वदेहसाक्षिकं चैतत् सर्वस्य ज्ञानचेष्टितम् ।
ज्ञानानधिष्ठितः कार्यो लुठत्येव यतो धृतः ॥
अतएव जडानामप्यधिष्ठातृकृता धृतिः ।
गम्यते गमने ग्रावा न धायेताऽन्यथा कथम् ॥'[५]

इस सिद्ध पुरुष की वाणी पर भी विचार कीजिए—'ब्रह्म नेत्र के समान ही अदृश्य है और नेत्र के समान ही द्रष्टा है अपने आप में ही इसकी उपलब्धि है यह घटादिक के समान दृश्य नहीं है—

'अदृश्यं नेत्रवद् ब्रह्म द्रष्टृत्वं चास्ति नेत्रवत् ।
स्वात्मन्येवोपलम्भोऽस्य दर्शनं घटवन्न तु ॥'[६]

इसकी स्थिति अकृत्रिम एवं स्वतन्त्र है । जैसे यह देहस्थ करणवर्ग को चैतन्य बनाने में स्वतन्त्र है वैसे ही संपूर्ण लोक-लोकोत्तर और दृश्य वर्ग को भी चेतन बनाने में समर्थ है ।[७]

'स्पन्दतत्त्व'—**क्षेमराज** 'स्पन्दनिर्णय' में कहते हैं कि—वह संवित् तत्त्व स्पन्द-शक्तिगर्भीकृत, अनन्त सर्गसंहारैकघन एवं अहन्ताचमत्कारानन्दरूपा है—

'सा चैष स्पन्दशक्तिगर्भीकृतानन्तसर्गसंहारैकघनाहन्ताचमत्कारानन्दरूपा ॥'

स्पन्दशास्त्र में परमशिव की स्वभावभूत **'स्वातन्त्र्य शक्ति'** का अभिधन ही 'स्पन्द' है ।

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' । २. तन्त्रालोक : विवेक ।
३. अभिनवसुखपाद—'श्रीतन्त्रालोक' । ४-७. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

(१) **अभिनवगुप्तपादाचार्य** 'परात्रिंशिका विवृति' में कहते हैं--

संवित्सतत्त्वं 'स्पन्द' इत्युपदिशन्ति । स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनं स्वरूपाच्च यदि वस्त्वन्तराक्रमणं तच्चलनमेव न किञ्चित्त्वं, नो चेत् **चलनमेव न किञ्चित्,** तस्मात् स्वरूप एवं क्रमादिपरिहारेण चमत्कारात्मिका—उच्छलता ऊर्मिरिति मत्स्योदरीति प्रभृतिशब्दै-रागमेषु निदर्शितः 'स्पन्द' इत्युच्यते—किञ्चिच्चलनात्मकत्वात् स च शिवशक्तिरूपः सामान्यविशेषात्मा ॥ (पृ० २०८ : परात्रिं० वि०)।

(२) **अभिनवगुप्तपादाचार्य**—'तन्त्रालोक' (द्वि०भाग प्र० आ०) में कहते हैं—जो इदमात्मक विमर्श है यही 'विशेष' नामक 'स्पन्द' है और इसे ही 'औन्मुख्य' भी कहते हैं—

ततः स्वातन्त्र्यनिर्मेये विचित्रार्थक्रियाकृति ।
विमर्शनं विशेषाख्यः स्पन्द औन्मुख्यसंज्ञितः ॥ (८१)

यह **इदमात्मक विशेष विमर्श** जिसे **'स्पन्द'** और **'औन्मुख्य'** संज्ञाओं से विभूषित किया गया है वस्तुतः यह विच्छिन्न विमर्श है । इदमात्मक विश्रान्ति की इस भूमि पर उल्लसित अहमात्मक परामर्श में अन्तर्लक्ष्य योगी ही विश्राम करता है—

'ततः समनन्तरोक्ताद्धेतोः स्वातन्त्र्योत्थापिते तत्तदर्थक्रियाकारिणि भावजाते यदिद-मिति विमर्शनं स विशेषाख्य स्पन्द... औन्मुख्यसंज्ञितः' ।[१]

इस पुरुष के स्वरूप (स्वभाव) को आच्छादित करने के लिए ये शब्दरूप शक्तियाँ सर्वदा उद्यत रहती हैं अर्थात् क्रियाशक्ति के द्वारा ये पुरुषरूप को सदैव आच्छादित करना चाहती रहती है क्योंकि बिना शब्दानुवेध के (अर्थात् बना वर्णानुगम के) किसी ज्ञान संवेदनरूप प्रत्यय का उदय नहीं हो सकता । वस्तुतः ये शब्द ही एक ही तत्त्व को वाच्य-वाचक विभाग से दो रूपों में बाँटकर प्रकट करते हैं ।

'वाक्यपदीय' में ठीक ही कहा गया है—'ऐसा कोई प्रत्यय नहीं होता जिसमें शब्द का अनुगम न हो । सभी ज्ञान शाब्दानुविद्ध देखे जाते हैं ।'

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वशब्देन दृश्यते ॥'

इस विश्व-व्यवहार का कारण 'वाक्' ही है । अन्यत्र भी कहा गया है—हे देव! चित् की उन्मुखता में सर्वदा बोध ही वाग् रूप होता है । वस्तुतः वही प्रत्यवमर्शिनी शक्ति है उसके बिना प्रकाश भी प्रकाशित नहीं हो सकता ।[२]

विशेष ध्यातव्य—यद्यपि प्राथमिक सूत्रों में 'स्पन्द' शब्द का प्रयोग तो नहीं किया गया है तथापि 'स्पन्दकारिका' 'स्पन्दशास्त्र' एवं 'स्पन्दसूत्र' में 'स्पन्द' शब्द व्यवहृत हुआ है—अतः उस पर भी यत्किंचित विचार कर लेना आवश्यक है । **'रामकण्ठाचार्य'** ने

---

१. तन्त्रालोक (अभिनवगुप्त) 'विवेक'।
२. उत्पलदेव—स्पन्दप्रदीपिका ।

'स्पन्दकारिकावृत्ति' **'ओं नमः स्वस्पन्दात्मसंविन्मूर्तये शंभवे'** तथा—**'परंशाक्तं तत्त्वं जगति जयति स्पन्द इति तत्'** इन मांगलिक स्तुतियों के द्वारा, **भट्टकल्लट** ने 'स्पन्द-कारिकावृत्ति' (स्पन्दसर्वस्व) का 'श्रीस्पन्दवपुषे नमः' द्वारा तथा 'स्पन्दप्रदीपिका' में उत्पलवैष्णव ने—

'यत् परापरभूस्पर्शि यत्संकल्पाल्लयोदयौ ।
स्पन्दसंज्ञं ज्ञरूपं तच्छक्तीशं स्वफलं नुमः ॥'

द्वारा 'स्पन्दतत्त्व' की स्तुति की है । अतः 'स्पन्दतत्त्व' विवेच्य है—स्पन्दतत्त्व—**'पराप्रावेशिका'** में **'स्पन्द'** को **'चित्' 'चैतन्य' 'स्वरसोदिता परावाक्' 'स्वातन्त्र्य' 'कर्तृत्व' 'स्फुरत्ता'** का पर्याय माना है—

(१) पराप्रावेशिका—'एष एव च विमर्शः चैतन्यं, स्वरसोदिता परावाक्, स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्व' 'स्फुरत्ता' स्पन्दः इत्यादि शब्दैरागमेषूद्घोष्यते ॥'—

इसे 'विमर्श' का भी वाचक कहा गया है ।

(२) 'स्पन्दनिर्णय'—क्षेमराज श्री भगवान् की 'स्वातन्त्र्यशक्ति' को ही इसलिए 'स्पन्द' कह रहे हैं क्योंकि यह स्वातन्त्र्य शक्ति—

'किञ्चिच्चलत्तात्मक' है—'श्री भगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिः किञ्चिच्चलत्तात्मक धात्वर्था-नुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता ।'

'स्पन्द' अचल एवं प्रशान्त परमेश्वर के भीतर शाश्वत एव अभिन्न समरसभाव से रहने वाली एक चंचलता जैसी कोई उमंग है । इसे परमेश्वर के प्रकाशरूप की विमर्श-रूपता भी कहा गया है—'स्पन्द' कोई 'क्षोभ' नहीं है । परमेश्वर की स्पन्दरूपात्मिका जो उमंग है वह उसकी अपनी ही परमेश्वरता के विलास का बोध (प्रत्यवमर्श) है—

'तन्त्रालोक' में कहा गया है—

किञ्चिच्चलनमेतावदनन्य स्फुरणं हि यत ।
ऊर्मिरिषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥

(३) तन्त्रालोक (विवेक) में कहा गया है कि—

किञ्चित् चलन ही **स्पन्द** है । अपनी ही परमेश्वरता के विलास का जो प्रत्यवमर्श (बोध) है वह प्रत्यवमर्श (अहन्ता-परामर्श) ही उसका आनन्द भी है । परमशिव स्वात्मानन्द में विभोर रहकर आनन्दातिशय से स्पन्दमान (छलकता हुआ) रहता है और उसका आनन्दस्पन्दन ही 'विश्व' बन जाता है । विवेक में कहा गया है—

'किञ्चिच्चलनं हि नामैतदुच्यते । यदबोधस्यानन्यापेक्षं स्फुरणं प्रकाशनम् । परतो-ऽस्य न प्रकाशः अपितु स्वप्रकाश एवेत्यर्थः ॥

'उन्मेषनिमेष'—अनुत्तर तत्त्व की सिसृक्षोन्मुख वह गतिमयता है जो कि अहं प्रत्यवमर्श रूप संकल्प से आकारित है । शक्ति तो सदा गतिमय एवं स्पन्दात्मिका है अतः उसका उदय या अस्तमन, संकोच या विकास कभी होता ही नहीं । क्रिया द्विमुखी

है—(१) अन्तरोन्मुखी (२) बाह्योन्मुखी । समस्त क्रिया संकल्पमूलक है । 'शङ्कर' अनुत्तर तत्त्व है शक्ति उसका सार या हृदय है—'सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'[१]

'स्पन्दशक्ति' उच्छलनात्मक है—'स्वात्मन्युच्छलनात्मकः'[२] स्पन्द एक साथ ही **स्वरूप का विकास एवं संकोच** दोनों कर सकती है ।

यहाँ **'उन्मेषनिमेष'** संकल्पात्मक गतिमयता मात्र का बोधक है । यह संकल्पात्मक गतिमयता ही शैव दर्शन में 'इच्छाशक्ति' है । 'इच्छा शक्ति' शिव (शङ्कर) का स्वभाव है—नित्य धर्म है । संकल्प या इच्छाशक्ति को ही यहाँ 'उन्मेष-निमेष कहा गया है । 'उन्मेष' या 'निमेष' दोनों संकल्प मात्र के ही द्योतक है ।

'उन्मेष' = यह वह अवस्था है जब कि पारमात्मिक संकल्प में विश्वोत्तीर्ण रूप (विशुद्ध चिन्मात्र स्वरूप) में अवस्थान की ओर उन्मुखता होती है । इस अवस्था में—विशुद्ध चिन्मयी रूप में रहने की ओर उन्मुखता होती है । इस समय समस्त 'इदं मम' (या प्रमेय मात्र) अहं रूप (विशुद्ध चिन्मात्र प्रमाता) में लीन रहता है । यही है पारमेश्वरानुग्रह या **'शक्तिपात'** है ।

'निमेष' उस अवस्था का द्योतक है जब कि परमात्मा के संकल्प में (स्वरूप को अनन्त भेद संकलित वैचित्र्यों में प्रसारित करने हेतु सिसृक्षा की उन्मुखता होती है । इस अवस्था में चिन्मात्र प्रमाता, अभिन्न प्रमेयता, माया शक्ति के कारण पृथक् विकास पा लेती है यही है **'तिरोधान'** ।

पारमात्मिकी संकल्प इन्हीं दो रूपों में व्यक्त होता है । वे हैं—

(१) अन्तर्मुखस्पन्द एवं (२) बहिर्मुखस्पन्द ।

'उन्मेषनिमेष शब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकं शङ्करसम्बंधिप्रतिपाद्यते । स च तस्य नित्यो धर्मः स्वभावभूतः तस्य उन्मेषनिमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वं च उपचारात् ॥'[३]

पारमेश्वर संकल्प—(१) 'अंतर्मुखस्पन्द' (२) 'बहिर्मुखस्पन्द' ।

'स्पदंशक्ति' की यह उभयोन्मुख गति युगपद चलती रहती है शिव एवं शक्ति की स्वतन्त्र इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया या स्वतन्त्र ज्ञातृत्व, स्वतन्त्र कर्तृत्व में (उन्मेष-निमेष दोनों स्थितियों में) कोई अन्तर, परिवर्तन नहीं आता । जगत् का आविर्भाव (सृष्टि) एवं प्रलय केवल जगत् का होता है न कि संवित् का । **उन्मेषावस्था** में स्वरूपातिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के प्रमेयजाल का अस्तित्व नहीं रहता । **यह जगत् की प्रलयावस्था है** यह स्वस्वरूप में लय की अवस्था है । **निमेषावस्था** में प्रमेयता का स्वरूप से पृथक् अस्तित्व न होने के कारण जगत् का आविर्भाव होता है । दोनों रूपों में परिवर्तन, परिणमन केवल जगत् का होता है । 'संवित्' का नहीं । संवित् सदा अक्षुण्ण रहती है ।

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४) २. तन्त्रालोक ।

३. स्पन्द वि०, पृ० ४ ।

परमात्मा की वास्तविक शक्ति एक ही है और उसका नाम है—**'स्वातन्त्र्य शक्ति'** । स्वातन्त्र्यशक्ति शाश्वत रूप में स्पन्दशीला है अत: उसका अन्तर्मुखी विकास (क्रिया) एवं बाह्यमुखी विकास (क्रिया) एक साथ चलता है । स्प० वि० (पृष्ठ ४) में कहा गया है—

(१) 'उन्मेषनिमेषशब्दाभ्यां तदुपचरितवृत्तिभ्याम् इच्छामात्रमेकशङ्करसम्बन्धि प्रतिपाद्यते ॥ (**'उन्मेष निमेष' = 'शांकरी इच्छा'**) ॥

(२) 'स च तस्य नित्यो धर्म: स्वभावभूत:'

(३) तस्य उन्मेष-निमेषशब्दवाच्यत्वं द्वित्वं च उपचारात् ॥'

'शक्तिचक्रविभवप्रभवं'—शक्तिसमूह के ऐश्वर्यों को जन्म देने वाला ॥ इस पदावली की व्याख्या दो प्रकार से की जा सकती है—

(क) **(तत्पुरुष समासगत व्याख्या)** = 'शक्तिचक्रविभवस्य प्रभवम्' । (त० समास) ॥

'शक्तिचक्र' = अनन्त शक्ति धाराओं की समष्टि । अनन्त प्रवहमान स्पन्द धाराओं का समूह ।

'विभव' = अन्तर्मुखी एवं बहिर्मुखी शक्ति-प्रवाह ।

'प्रभव' = मूलोद्गम । अर्थात् शङ्कर ।

(ख) **(बहुव्रीहिसमासगत व्याख्या)**—(बहुव्रीहि समास)

'शक्तिचक्र' = प्राण, बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि विशेष रूपों में प्रवाहित शक्तिपुञ्ज ।

'विभवात्' = यथार्थ अनुभूति प्राप्त करने के परिणामस्वरूप ।

'प्रभव:' = जिस शङ्कर की अभिव्यक्ति होती है ।

'माहेश्वरी', 'ब्राह्मणी', 'कौमारी', 'ऐन्द्री', 'याम्या', 'चामुण्डा', 'योगीशी' 'खेचरी', 'भूचरी', 'दिक्चरी', 'गोचरी' आदि शक्तियों का समूह ही 'शक्तिचक्र' है ।

'शक्ति' क्या है? 'शकनं शक्ति:'—'सामर्थ्यं विश्वनिर्माणादिकारि भैरवस्वरूपमेव' ॥[1]

अपनी ही शक्ति के यथार्थस्वरूप की अनुभूति व्यक्ति को जीव से शिव बना देता है । शक्तिभूमिका पर आरोहण शिवभाव में प्रवेश का पर्याय है । 'शक्ति' शिवमुख है—

'शक्त्यवस्थाप्रविष्टस्य निर्विभागेन भावना ।
तदासौ शिवरूपी स्यात् शैवीमुखमिहोच्यते ॥'[2]

एकत्व एवं अनेकत्व में सामञ्जस्य कैसे संभव है?—परमात्मा शिव प्रत्येक प्राणी के कलेवर में प्रवेश करके, ऐन्द्रिय शक्तियों के उन्मेष-निमेष द्वारा, पंचमहाविषयों को ग्रहण करने या ग्रहण न करने के द्वारा, प्राणियों के अदृष्टानुसार निश्चित देश, काल एवं रूप की परिधि में सृष्टि-संहार का निष्पादन करता है ।

१-२. विज्ञानभैरव ।

जो **संविद्रूपा सामान्य स्पन्द** है वह समस्त प्रमेयों की समष्टि रूप विश्व के पदार्थ में प्रवहमान है। संसार अनेकत्व एवं शिव के एकत्व परस्पर विरोधी तत्त्व हैं फिर अनेकत्व (विश्व) का एकत्व (शिव) के साथ सामञ्जस्य या अद्वैत अभेद कैसा?

(१) **शिव का स्वभाव** = एकत्व। = 'प्रमाता'

(२) **प्रमेय रूप जगत् का स्वभाव**—अनेकत्व = 'प्रमेय'

यह प्रमेयगत अनेकाकारता, अहं विमर्श की एकाकारता में अनादिकाल से अभिन्नतया अन्तर्निहित है। चूँकि विमर्शगत वस्तु का ही बाह्यावभासन संभव हो पाता है—अतः अनेकाकारता का बाह्यावभासन तो हो जाता है किन्तु किसी नव्य वस्तु का प्रादुर्भाव नहीं होता॥

भासमान अनेकता में भी एकत्व रूप परमात्मा तो एक ही है—

'स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः॥[1]

वह आत्मा एवं महेश्वर विश्व को अनेकात्मक नहीं अपने अहं से अभिन्न मानकर एक मानता है अतः अनेकता कहाँ हैं?—

'विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः॥'
(स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः॥)[2]

अनेकता तो स्वस्वरूप के अपरिज्ञान के कारण है—

'स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोनिकः पुमान्मतः॥'[3]

प्रकाशविमर्शमय, उन्मेष-निमेषमयी स्पन्द शक्ति से समवेत शिव ही परम चैतन्य है—चैतन्य का समुद्र है। चेतन वह है जो अपने को एवं पराये दोनों को जानता हो, और विभिन्न संवेदनाओं से युक्त हो। 'शङ्कर' प्रकाशविमर्शमय होने के कारण अपने स्वस्वरूप को और 'विश्वोऽहं' 'विश्वरूपोऽहं' 'इदमहं' 'अहमिदं' के रूप में अपनी शक्ति के स्फार को (अर्थात् विश्व को अपनी अभिव्यक्ति के रूप में) विश्वात्मक रूप में देखता हो—वही शङ्कर है।

(शिव का स्वस्वरूप = शक्ति का प्रसार = विश्व।)

'चैतन्य', 'आत्मा' और 'शङ्कर'—शिव अपनी शक्ति विराट् प्रसार रूप विश्व को अहं के रूप में विमर्शित करता है। यह विश्व का अहमात्मक विमर्शन—विश्व की अहं-रूप में अनुभूति—(विमर्श की क्रिया) शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही है। शिव की यह **'स्वातन्त्र्यशक्ति'** ही **'चैतन्य', 'विमर्श', 'हृदय', 'संवित्' 'उर्मि', 'चितिशक्ति'** आदि कहलाती है।

यह स्वतन्त्र चैतन्य सत्ता ही विश्व की आत्मा है, विश्व का हृदय है, अस्तित्वों का प्राण है। **शङ्कर का स्वभाव यह है** कि वह **स्वतन्त्र ज्ञाता एवं स्वतन्त्र कर्ता** है। स्वातन्त्र्य ही उसकी मुख्य शक्ति है। जो चेतन है वह आत्मा है, जो आत्मा है वह चेतन

१-३. प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेव।

है—यह कथन अनुपयुक्त है । उपयुक्त कथन यह है कि—**'चैतन्य ही आत्मा है ।'**

चेतन-अचेतन—घट को स्वविषयक एवं परविषयक चेतना नहीं है—न वह अपने को जानता है और न तो दूसरों को । इसीलिए वह अचेतन कहा जाता है—

'घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते, स्वात्मा न परामृश्यते, न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते, न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत् इत्युच्यते ॥'[१] चैत्र (नामक चेतन व्यक्ति) चेतन होने के कारण चैतन्य-विभूति से समवेत होने के कारण 'अहं' रूप वाली चेतना द्वारा स्वात्मरूप में एवं अपने से पृथक् नील, पीत, सुख, दुःख (या इनके अभावात्मक शून्य) को भी अवभासित (अनुभूत) करने में स्वतन्त्र है अतः **चेतने वाला होने के कारण** 'चेतन' रूप में अभिहित किया जाता है—

'चैत्रेण तु स्वात्मनि अहमिति संरभोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते... नील-पीतसुखदुःखतच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन अवभास्यते, ततः चैत्रेण चेत्यत इत्युच्यते ॥'[२]

'चैतन्य', शक्ति के प्रसाररूपात्मक विश्व का अहमात्मक विमर्शन है—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा'[३] चैतन्य की विशेषता यह है कि उसमें स्वप्रकाश्यता होती है किन्तु जड़ पदार्थों में नहीं—

'चैतन्यमजडा सैवं, जाड्ये नार्थप्रकाशता ॥'[४] 'अथापि जडमेतस्य कथमर्थ प्रकाशता ।'[५] आत्मा चैतन्य प्रधान होने के कारण ही 'चिदात्मा' कहलाती है—'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः'[६] । **उत्पलदेवाचार्य** कहते हैं—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक् स्वरसोदिता । स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥' (प्र० कारिका १।४४) 'स्वातन्त्र्य' ही इसका (आत्मा का = चैतन्य का) मुख्य लक्षण है—'स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यम्' (ई० प्र० १.५.१३) आत्मा का चैतन्य-प्राधान्य ही स्पन्द में आत्मा का विशेष लक्षण है ।

आत्मा का चैतन्य प्राधान्य—

आत्मात् एव चैतन्यं, चित्क्रियाचितिकर्तृता ।
तात्पर्येणोदितस्तेन, जडात्सहि विलक्षणः ॥ (प्र०का०)

एकात्मिका शक्ति एवं शक्तित्रय—परमात्मा से अभिन्न उसकी जो 'स्वातन्त्र्य शक्ति है वह जब विश्व के रूप में प्रकट होने की ओर उन्मुख होती है तो वह सर्वप्रथम जिस शक्ति का रूप धारण करती है उसका नाम है **'इच्छाशक्ति'** । यही इच्छा शक्ति अपने विकास के अग्रिम चरणों में **'ज्ञानशक्ति'** एवं **'क्रियाशक्ति'** के रूप में प्रकट होती है । ज्ञान **एवं क्रिया का युग्म विभूति सागर है** क्योंकि प्रमेयों की आवश्यकता के अनुसार उनमें अनन्त शक्ति-प्रवाहों के अनन्त निर्झर फूट पड़ते हैं और शिवतत्त्व से पृथ्वी तत्त्व तक समस्त विश्व-वैचित्य आकार ग्रहण कर लेता है । (१) **'ज्ञानशक्ति'**—(१) वर्ण (२) पद (३) मन्त्र के रूपों में एवं (२) **'क्रियाशक्ति'**—(१) कला (२) तत्त्व एवं (३) भुवन के रूपों में—प्रसृत होकर विश्वाकारित हो उठती है । इस प्रकार समस्त

१-३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१३) । ४-६. प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेव ।

वाचक विश्व (वर्ण, पद, मन्त्र) एवं **वाच्य विश्व** (कला, तत्त्व, भुवन) विश्वाकार में प्रसृत हो जाता है ।

(१) या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ॥[1]

(२) एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ॥[2]

(३) तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ।
द्विधा च नवधा चैव पञ्चाशद्धा च मालिनी ।
वर्गाष्टकमिह ज्ञेयमघोराद्यमनुक्रमात् ॥[3]

'स्पन्द' और उसकी अनन्तता—'स्पन्द' उच्छलनात्मक है, पूर्ण अहं विमर्श-स्वरूप है, (एकोऽहं बहुस्याम' की इच्छा को रूपायित करने वाली मौलिक स्फुरण रूप अहं विमर्श है)—शाश्वत स्फुरणशील है, शक्तिप्रसारोन्मुख संकल्प है, विश्वात्मक प्रसरण की इच्छा है, सिसृक्षा के प्रति क्रियात्मक संकल्प है या अहं प्रत्यवमर्ष है जो कि—'उन्मेष-निमेष' के मार्ग पर यात्रा करता है और किंचिच्चलनात्मक है ।

'यदयमनुत्तरमूर्तिर्निजेच्छया जगदिदं स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्दः ....(ष०त०सं०१) ॥ (**क्षेमराजा**चार्य)

यही **'स्पन्द' 'सार'** है, एवं परमेष्ठी का **'हृदय'** है—'सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥' (ई०प्र० १.५.१४) यह 'किंचिच्चलन'—अर्थात् स्वतन्त्र रूप में स्फुरित होने की क्षमता—से युक्त है । जो चिद्रूप है वह स्फुरणशील है अतः संवित् तत्त्व बिना स्फुरणा के रह ही नहीं सकता क्योंकि अन्यथा वह चिद्रूप रह ही नहीं सकता ।

'शङ्कर' नामक अनुत्तर तत्त्व की सारभूता शक्ति, या उसका हृदय ही विमर्शरूपा पराशक्ति **'स्पन्दशक्ति'** है । इस स्पन्द शक्ति में (अनन्त शक्तिमयता होने के कारण) विश्वमयता एवं विश्वोत्तीर्णता दोनों निहित है ।

(१) **विशुद्ध ज्ञान स्वरूप प्रकाशमयता** एव = **'विश्वातीत'** ।

(२) **क्रिया प्रधानविमर्शरूपता** = 'विश्वमय'—दोनों उसके स्वरूप है । 'अभेद' अहं ही 'भेदात्मक' विश्व बन जाता है ।

प्रकाशपक्ष एवं विमर्श पक्ष में से क्रियाप्रधान विमर्श पक्ष ही **'सामान्यस्पन्द'** है—

'हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ॥
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे ...... (तं० ४.१८२-८३)

इस क्रिया प्रधान विमर्श पक्ष ('सामान्य स्पन्द') के द्वारा अन्तर्मुखी समस्त अवभासों में एक स्पन्द शक्ति ही उद्भासित होती है?—

---

१. मालिनीविजय (३.५)। २. मालिनीविजय (३.८) ।
३. मालिनीविजय (३.२९) ।

अतएव स्थिता संविदन्तर्बाह्योभयात्मना ।
स्वयं निर्भास्य तत्रान्य आसयन्तीव भासते ।। (तं०४।१४४)

'शक्ति' ही जगत् है—'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥

(१) **'पशुपति भूमिका'** (सामान्यभूमिका) में वह शक्ति 'चित्' 'आनन्द' 'इच्छा' 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' के रूप में स्थित है ।

(२) **पशुभूमिका** (विशेष भूमिका)—(जीवभाव में) वही एकात्मिका शक्ति प्राण, अन्तःकरण, बाह्य इन्द्रियाँ आदि अनन्त प्रमेय के रूप में स्थित हैं ।

(३) उसकी आनन्दशक्ति = 'स्वातन्त्र्य' है ।
(४) आनन्द का चमत्कार = इच्छाशक्ति है ।
(५) प्रकाशरूपता ही = चित् शक्ति है ।
(६) विमर्शमयता ही = ज्ञानशक्ति है ।
(७) प्रत्येक आकार को अवभासित करने की सामर्थ्य = क्रियाशक्ति है ।

तस्य च (१) स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः (२) तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः (३) प्रकाश-रूपता चिच्छक्तिः (४) आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः (५) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ॥' (तं०सा० ६५) ।

अविरत रूप में प्रवहमान स्वातन्त्र्यशक्ति या 'स्पन्द' के अन्तर्मुख एव बहिर्मुख दोनों प्रसार एक साथ प्रवृत्त रहते हैं ।

शिव की शक्तियाँ—'स्वातन्त्र्यशक्ति' परमात्मा से अभिन्न है और वह विश्व के रूप में प्रसृत होने के लिए उन्मुख है । यह शक्ति विश्वोन्मुखता की स्थिति में सर्वप्रथम **'इच्छा'** के रूप में प्रकट होती है—**'इच्छाशक्ति'** का रूप धारण करती है । यही **इच्छा शक्ति** उत्तरोत्तर अपना प्रसार करती हुई **'ज्ञानशक्ति'** एवं **'क्रियाशक्ति'** का रूप धारण करती है । **'शक्तिचक्र'**—
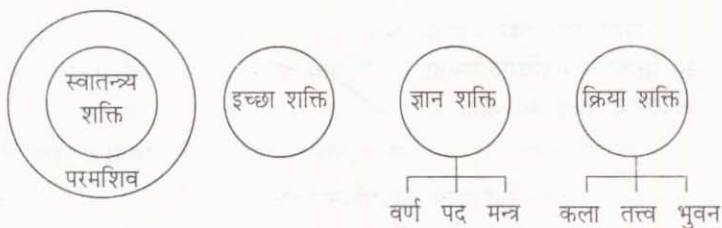
(१) या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षो प्रतिपद्यते ।।[1]

(२) एवं सैषा द्विरूपापि पुनर्भेदैरनेकताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।।[2] (शक्तिधाराओं का विस्फोट)

---

१. मालिनीविजय (३.५)।   २. मालिनीविजय (३.८) ।

शक्ति से अभिन्न एवं शक्ति के कुक्षि में स्थित विश्व

शिव

शक्ति

पारमेश्वरी शक्ति की सिसृक्षा

(शक्तिधाराओं का विस्फोट)

अंतर्गर्भित विश्व (अव्यक्त जगत)

मातृका (शब्दराशि) की अधिष्ठात्री शक्तियाँ (अष्टवर्ग की अधिष्ठात्री शक्तियाँ)

विश्व का बाह्यावभासन (व्यक्त जगत)

माहेश्वरी ब्राह्मणी कौमारी वैष्णवी ऐन्द्री याम्या चामुण्डा योगीशी

(अन्त:करण एवं बहिष्करणों से सम्बद्ध शक्तियाँ)

खेचरी, भूचरी, दिक्चरी, गोचरी,

प्राण, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ पञ्चतन्मात्रायें महाभूत

विश्व

(ब्रह्मा से लेकर पृथ्वी एवं पृथ्वी के पदार्थों से लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्रमेय समूह)
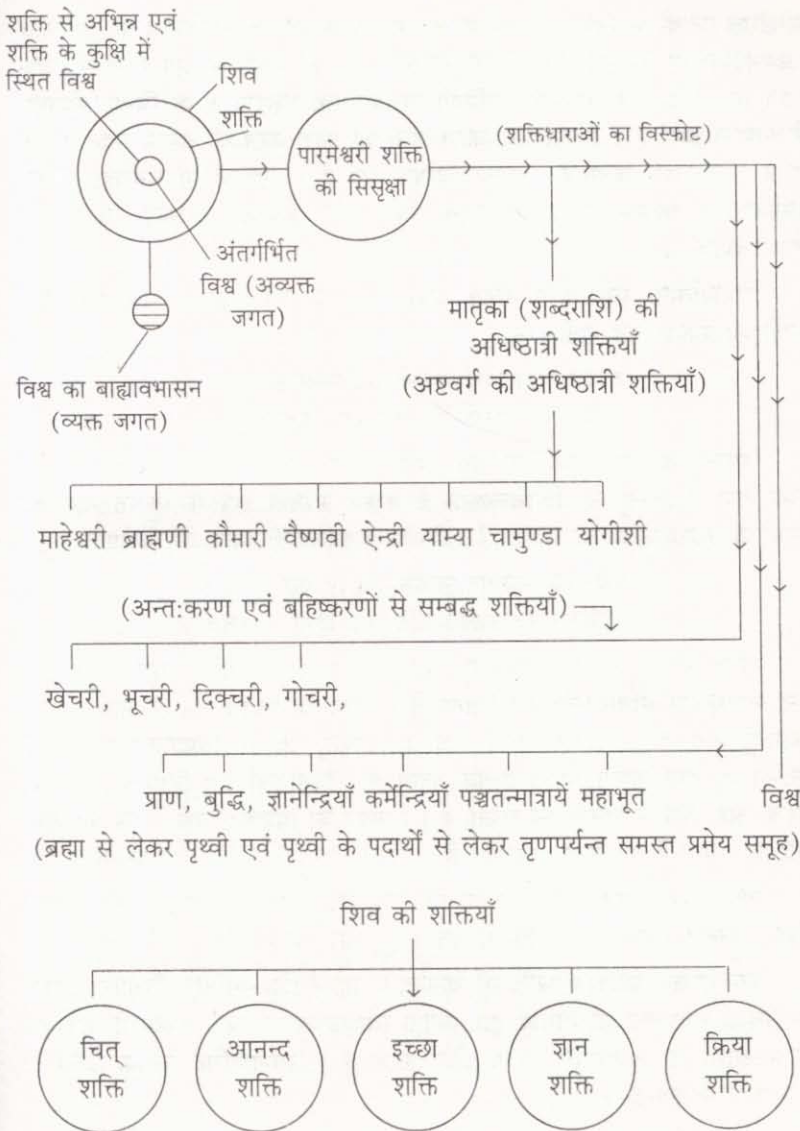
क्रिया प्रधान जो 'विमर्श' 'सामान्य स्पन्द' है उसके द्वारा अंतर्मुखी 'अहं' में—'इदं' के रूप में अवभासित विश्व की अंतर्मुख अहंरूपता में—अभिन्नतयावस्थित, विश्व कल्पना का बहिर्मुख 'इदं', रूप में अवभासन—विश्रान्ति की अवस्था में पड़ा रहता है ।

'विमर्श' में जिस भाव (सत्ता) का प्रकाश हो उसी का बाह्यावभासनबहिर्मुखी प्रकाशन—संभव है अन्य का नहीं । विमर्शात्मक स्पन्दशक्ति की 'स्वातन्त्र्यशक्ति'

अवभासित पदार्थ का अपने में लय भी कर सकती है और अपने एकत्व को अनेकत्व में अवभासित भी कर सकती है । दोनों को धारण भी कर सकती है और दोनों से पृथक् भी रह सकती है । **'स्पन्दशक्ति' रूपिणी विमर्शात्मक स्फुरण । के बिना 'प्रकाश' की कल्पना व्यर्थ है ।** विमर्शहीन प्रकाश बिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता रखने पर भी जड़ है । **'विमर्श' क्या है**—इसका स्वभाव क्या है । 'विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति' आत्मानं परीकरोति उभयं एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्याभावयति इत्येवं स्वभावः ॥'[१]

विमर्शात्मक स्फुरण से रहित 'प्रकाश' (शिव) की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि विमर्शशून्य प्रकाश जड़ होता है—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थो परक्तोऽपि स्फटिकादि जडोपमः ॥'[२]

'स्पन्द' के 'किंचिच्चलन' का अर्थ—'किंचिच्चलन' ही स्पन्द का स्वभाव बताया गया है किन्तु यह **किंचिच्चलन है क्या?** स्वतन्त्र रूप में स्फुरित होने की सामर्थ्य ही किंचिच्चलन का स्वभाव है । निरपेक्ष स्वातन्त्र्य ही स्पन्द की विशेषता है ।

'किंचिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत् ।
उर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥' (तं० ४.१८४)

संवित् समस्त कालों में प्रमेय एवं प्रमाता दोनों रूपों में सतत स्फुरण युक्त है । **स्पन्द या स्फुरण संवित् पयोधि की तरंग है ।** स्पन्द एवं संवित् एक ही अभिन्न ज्ञान-क्रियामयी सत्ता है । यही है संवित् तत्व का संवित्, जो कि विमर्शमय एवं सतत् स्पन्दमय है, इसी कारण संवित् प्रत्येक पदार्थ का (विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय भावों में) स्वतन्त्र 'अहं' रूप में विमर्श कर सकता है । रत्नाकर की विशेषता यही है कि वह कभी तरंगों से तरंगित है एवं कभी अतरंगित है : 'निस्तरंगतरंगादिवृत्तिरेव ही सिन्धुता ॥'[३]

संवित् का संवित्तत्व यही है कि वह विश्व का अहंरूप में विमर्श करे 'इदमेवं संविदः संवित्तत्वं यत्—'सर्वम् आमृशतीति' (लं० वि०४।२१४) ।

आनन्दात्मक स्वातन्त्र्य शक्ति की चमत्क्रिया यही है कि—संविद्रूप विश्वात्मा अपनी स्पन्दात्मिका स्वतन्त्रता की सामर्थ्य द्वारा अपना स्वरूपाच्छादन करके अक्रम में क्रम एवं क्रम में अक्रम का अवभासन नामक क्रीड़ा करता है । **'स्पन्दशक्ति'** प्रत्येक क्रिया के निष्पादन में स्वतन्त्र है—

(१) 'सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम् ॥'[४]
(२) एष प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निजरूपम् ।
पुनः प्रकटयति झटिति अथ क्रमवशादेष परमार्थेन शिव रसम् ।[५]

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१३) । २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.११)।
३. तं० ४.१८५ । ४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४)।
५. तं०सा० पृ० ७ ।

यह शक्ति ही स्फुरत्ता एवं महासत्ता है—'सा स्फुरत्ता महासत्ता'[१] यह समस्त सत्ताओं को सत्ता प्रदान करती है। यह आकाश कुसुम को भी व्याप्त करती है 'सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति।'[२] यही देशकाल और आकार को रूप प्रदान करती है। प्रमाता, प्रमेय प्रमाण, प्रमा सभी कल्पनायें मात्र हैं। यह प्रत्येक-प्रत्येक पदार्थ में अपने को अवभासित करती है और उनसे पृथक् रूप में भी सत्तासीन है।

'स्पन्द' अनन्त रूपात्मिका है। यह अद्वैत, एकात्म, अभेद एवं एक स्पन्दशक्ति प्रसार की भूमिका पर अनन्त रूप धारण करती है विश्व के प्रत्येक पदार्थ शक्ति के ही रूप हैं।

चैतन्य या आत्मा विश्व की आत्मा है। चैतन्य ही आत्मा है। जिस प्रकार राहु का सिर कहना मात्र एक औपचारिकता है वस्तुत राहु एवं सिर दोनों एक ही वस्तु हैं उसी प्रकार चैतन्य एवं आत्मा दोनों अभिन्नतया एक ही है—

'चैतन्यं चितिः, चेतन आत्मा इति राहोः शिर इतिवत् काल्पनिकम्, वस्तुत एकमेव सर्वम्। चितिक्रिया प्रकाशविमर्शः तस्य भावः चैतन्यम् स्वातन्त्र्यम्॥'[३]

शिव की एक निजी अभिन्न शक्ति है उसी का नाम है—**स्वातन्त्र्य शक्ति'**।

शिव एवं शक्ति की अभिन्नता—चैतन्यरूपा शक्ति चिदघन शिव की चिति शक्ति है और शिव से अभिन्न है। दोनों परस्पर उसी प्रकार अभिन्न हैं यथा वह्नि एवं उसकी दाहकता— 'न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता।
उभयोरस्ति तादात्म्यं वह्निदाहकयोरिव॥'

शिव भी एक है और उसकी महाशक्ति भी एक ही है किन्तु यह शक्ति अनन्त रूपों में विभक्त होकर नाना वैचित्र्यमय एवं अनन्तरूपात्मक विश्व बन जाती है—

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान्।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि! भेदैरानन्त्यसंभवैः॥'[४]

'चैतन्य', 'विमर्श' एवं 'स्पन्द'—विश्व की शाश्वत, अखण्ड एवं सर्वव्यापी मूल चेतना (चैतन्य) तो आत्मा है—**'चैतन्यमात्मा'**[५] किन्तु शक्ति एवं शक्तिमान अभिन्न होने के कारण चैतन्य की यह महासत्ता शिव भी है और जीव भी। 'विमर्श' प्रकाश (शिव) की अहमात्मक विमर्शन वाली शक्ति है जो कि 'अहमिदं' 'इदमहं' का विमर्शन करता है। पति भूमिका में सगुण शिव का विमर्शन विश्व के संबन्ध में यही होता है कि—**'अहमिदं'** (मैं ही विश्व हूँ) बाद का विमर्श होता है **'इदमहं'**॥

'स्पन्द' शक्ति—स्पन्द का स्वरूप है—**पूर्णतम अहंविमर्श,** 'पूर्णतम' इसलिए कि अहमाकार अनुभूति तो प्रत्येक जीव की होती है किन्तु यह अनुभूति भेदोन्मुख,

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४)। २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४)।
३. शिवसूत्रविमर्शिनी (१.१.२१)। ४. स्व०तं० (११.२७१)।
५. शिवसूत्र।

द्वैतपरक एवं भेदजन्य है किन्तु स्पन्द एवं 'स्वप्रतिष्ठ, स्पन्दवान' (शिव) का अहंविमर्श समष्टि-परक ('विश्वरूपोऽहं' 'अहमिदं') होता है । **स्पन्द शक्ति की अभिज्ञा,** प्रत्यभिज्ञा एवं पहचान है—पूर्णतम अहं विमर्श—विश्वाकार अहं की अनुभूति । **अहं विमर्श** (मूल स्फुरण)—एक शक्ति का अनन्त रूपों में स्फुरण = 'शक्ति' का विश्व के अनन्त रूपों में अवभासन । अखण्ड रूप में स्फुरणशील होने के कारण इस शांभवी शक्ति को **'स्पन्द'** कहते हैं ।

'स्पन्द' का स्वरूप लक्षण—(१) 'स्पदि' (किंचित् चलन = स्वल्प = स्फुरण = थोड़ी सी गति, = कम्पन, हिलना,) धातु से निष्पन्न 'स्पन्द' शब्द शिव की सिसृक्षोन्मुख (अहं विमर्शात्मक) सूक्ष्म अहंविमर्शात्मक स्फुरण है—

चिद्घन का विश्वात्मक शक्ति-प्रसारण है—सृष्ट्योन्मुख संकल्पोन्मुखता है—चिद्रूप शिव की विश्वात्मक अभिव्यक्ति का स्फुरण है—भगवन् की बाह्य विश्व के रूप में स्वतन्त्र शक्ति के आत्मप्रस्तार की ओर संकल्पात्मक औन्मुख्य है ।

इसी संकल्पात्मक औन्मुख्य को कारिकाकार ने । **'उन्मेष निमेष'** कहा है । 'उन्मेष निमेष' आँखों का उन्मीलननिमीलन नहीं है और स्पन्द का वात्याचक्र द्वारा वृक्षादि का हिलाये जाने की भाँति भी नहीं है—प्रत्युत् यह वह गतिशीलता है जो अहंप्रत्यवमर्श-स्वरूप है—अनुत्तर तत्त्व की वह संकल्पात्मक गतिमयता है ।

स्वातन्त्र्य → शिव से पृथ्वीपर्यन्त ३६ तत्त्व 'स्वातन्त्र्यशक्ति' → सृष्टि → अहमस्मि → अहमिदम् → इदमहम् → अहं च इदञ्च पृथक्-पृथक् (विज्ञानाकल, प्रलयाकल सकल आदि प्रमाताओं की सृष्टि) समस्त विमर्शों का आदि स्रोत एवं जगदाभास का कारण स्वातन्त्र्य शक्ति है और 'स्वातन्त्र्यवाद' ही स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा दोनों का मुख्य सिद्धान्त हैं—**उत्पलदेवाचार्य** 'अजडप्रमातृसिद्ध' की वृत्ति में कहते हैं—

'संवित्प्रकाश एव स्वात्मोच्छलत्तया स्वमायाशक्त्युल्लासिते विश्ववैचित्र्ये जडाजडभावराशिद्वयेन वेद्यवेदकात्मकेन स्वरूपानतिरिक्ते-नातिरिक्तमेव प्रस्फुरेत् इति स्वातन्त्र्यवादस्य प्रोन्मीलितं सूचितवान् आचार्यः ॥

(श्लोक १३)
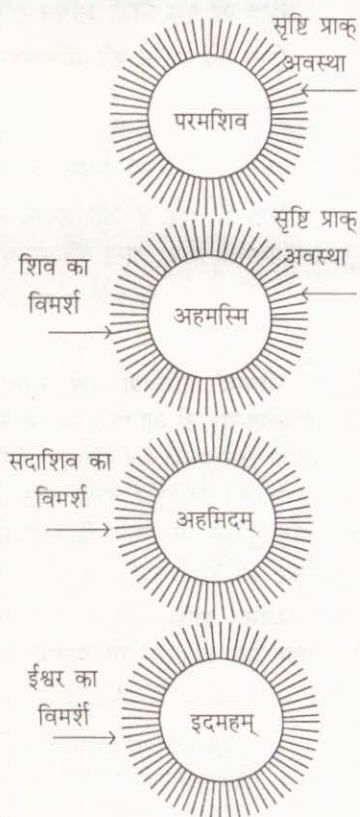
स्पन्द तत्त्व का स्वरूप

यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ २ ॥

जिस स्पन्द तत्त्व में यह सम्पूर्ण कार्य जगत् (ज्ञानरूप से शक्त्यात्मक होकर) अवस्थित है, उसके (निमेष दशा में भी ज्ञानरूप होने के फलस्वरूप) अनाच्छादित रहने के कारण, (उसका कभी, किसी भी प्रकार) कहीं भी निरोध नहीं है ॥ २ ॥

"To him in whom this whole objective would take, the stand and from whom it comes out, an obstruction is nowhere possible because of his unenshrouded nature."

* **सरोजिनी** *

प्रश्न यह है कि जिस शक्ति-चक्र-विभव-प्रभव शङ्कर के उन्मेष से जगत् का उदय एवं निमेष से जगत् का प्रलय हो जाता है उस शङ्कर स्वरूप विराट् एवं सर्वशक्तिमान आत्म संवित् का वैभव सांसारिक अवस्था में आच्छादित क्यों हो जाता है? 'ननु संसारावस्थायां कथं तस्करताऽऽत्मनि?'[१]

इसी शंका का निवारण करने के लिए कारिकाकार ने द्वितीय कारिका कही है: 'इत्याशंकोत्थदुर्दोषपरिहाराय तूच्यते ॥'[२]

'यत्र' = जहाँ । जिस स्पन्दतत्त्व में ।[३]
जिस चिद्रूप स्वात्मा में ।[४] **'स्थितं'** = अवस्थित ।

'इदं सर्वं' = मातृमेयमानात्मक समस्त इस (जगत्) को ॥[५] इस समस्त जगत् को ।[६] **'कार्यं'**—(कारण रूप परमात्मा से समुत्पन्न) कार्यरूप जगत् को ॥ **'स्थितं'** = निमेषावस्था में ज्ञान रूप से एवं शक्त्यात्मक स्वरूप में अवस्थित ॥[७]

'यस्माच्चनिर्गतम्' = जिसके अन्तर्गर्भ से यह समस्त अंतर्लीन विश्व प्रकट होता है। **निर्गतम्** = अन्दर से बाहर निकलता है । (उद्भूत होता है ।) **'अनावृत'** = अनाच्छादित (Unconcealed, unveiled) अनावृत क्यों हैं? क्योंकि शिव आनन्दघन एवं प्रकाशस्वरूप है इसीलिए उनका नाम ही है 'प्रकाश' ।

'तस्य' = उन प्रकाशघन, आनन्दकन्द, महाप्रकाश का (जिसके प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित होता है और स्थिति-लाभ करता है—'यत्प्रकाशेन प्रकाशमानं सत्स्थितिं लभते'[८]—वही है महाप्रकाशस्वरूप शिव ।) **'अनावृतरूपत्वात्'** = (उसका) स्वरूप अनाच्छादित होने के कारण । बोधरूप होने से अनाच्छादित स्वस्वरूप होने के फलस्वरूप ।

'न निरोधोऽस्ति' = निरोध (Obstruction) व्यवधान, विघ्नव्युत्सर्ग' (निःशेषेण रोधः निरोधः = अवरोधः) ॥

१-३. स्पन्दप्रदीपिका—उत्पलाचार्य ।   ४-५. स्पन्दनिर्णय ।
६-७. स्पन्दप्रदीपिका ।   ८. स्पन्दनिर्णय ।

बात यह है कि बोध की स्वयं की स्वतन्त्र सत्ता तो होती नहीं। अवबोधस्वरूप आत्मा दोनों अवस्थाओं में अनावृत है। प्राचीन आचार्य का वचन है—'स्वर्णाभूषणों में विचित्रता स्वर्ण से पृथक् नहीं हुआ करती। नित्यस्वरूप की विश्वरूपता भी ऐसी ही है। आभूषण-रहित स्वर्ण पिण्डात्मक है। वेद्यरहित आत्मा चिदात्मक है ॥—

'यथा हेम्नो रूपकेषु वैचित्र्यं स्वान्न रिच्यते।
अथ नित्यस्वरूपस्य तथा ते विश्वरूपता ॥
यथा गलितरूपस्य हेम्नः पिण्डात्मना स्थितिः।
तथा गलितवेद्यस्य तव शुद्धचिदात्मता ॥'

'ज्ञान सम्बोध' नामक ग्रन्थ में कहा गया है—[१] कि—विश्व का आश्रय आकाश है, आकाश का आश्रय विश्व नहीं है। ज्ञान आकाश के समान अनन्त है और 'ज्ञेय' विश्व के समान अल्प है—यह किंचित न्यूनसत्ताक है। यथा आकाश में किसी के द्वारा परिच्छेद या प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि वह व्यापक है उसी प्रकार यह ज्ञानस्वरूप भी प्रतिबन्ध-शून्य है— विश्वस्याश्रय आकाशं न विश्वं नभसो भवेत्।
ज्ञानं नभ इवानन्तं ज्ञेयं विश्ववदल्पकम् ॥
आकाशस्येव वाऽन्येन प्रतिबन्धो न केनचित्।
व्यापित्वात् तद्वदस्यापि ज्ञानस्याऽप्रतिबन्धता ॥[२]

'यस्माच्च निर्गतम्' = जिसके भीतर से बाहर निकला है। यदि प्रथम कला (पूर्णा-हन्ता) में उसके सामरस्य में विश्व अवस्थित न होता तो किस प्रकार अविद्यमान जगत् की सृष्टि हो पाती ? अतः सृष्टिप्राक् स्वरूपाभिन्न विश्व की सत्ता अभ्युपेया है— 'यदा प्रथमायाः शिवात्मनः सामरस्यभूमेः पूर्णाहन्तात्मसामरस्यावस्थितं विश्वं यदि न भवति अविद्यमानं कथं सृजेत् ?'[३] जिस प्रकार न्यग्रोध के बीज में विशाल न्यग्रोध वृक्ष शक्त्यात्मना अवस्थित रहता है किन्तु बाहर से उसमें अवस्थित नहीं दिखाई देता ठीक उसी प्रकार **शक्ति के गर्भ में यह विश्व बीजात्मना स्थित रहता है** भले ही प्रलयकाल में वह कहीं भी बाहर स्थित दिखाई न दे—

'यथा न्यग्रोधबीजस्य शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥[४]

यह निःशेष षड्त्रिंशदात्मक जगत् मुकुरनगरवत् शक्ति की स्वात्मभित्ति में स्वात्म-स्वरूपवत् अवस्थित है—

सर्वं स्वात्मस्वरूपं मुकुरनगरवत्स्वस्वरूपात्स्वतन्त्र
स्वच्छस्वात्मस्वभित्तौ फलयति धरणीतः शिवान्तं सदा या।
दृग्देवी मन्त्रवीर्यं सतत समुदिता शब्दराश्यात्मपूर्णा,
हन्तानन्तस्फुरत्ता जयति जगति सा शांकरी स्पन्दशक्ति ॥[५]

---

१. ज्ञान सम्बोध।
२. स्पन्दप्रदीपिका में उद्धृत्।
३. स्पन्दसन्दोह।
४. प० त्री० २४।
५. आचार्य क्षेमराज—स्पन्दनिर्णय।

इसीलिए कहा गया है कि यह समस्त जगत् मात्र विश्वगर्भा एवं जगज्जननी 'शक्ति' है—'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥' चिदात्मा देव ही अन्तःस्थित एवं बहिःस्थित है—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥[१]

महाचिति अपने ऐश्वर्य से स्वरूपात्मक आत्मभित्ति में विश्वाकार को प्रतिविम्बित करती है—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,
यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्या,
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ॥

'तस्य'—इस वक्ष्यमाण तत्त्व का[२] **'न क्वचित्'** = किसी भी देश, काल, आकार या अवस्था विशेष में ।[३] **'निरोधः'** = अवच्छेद । इदन्ता-इयत्ता व्यपदेश हेतु वेद्यवस्तुधर्म ॥

'अस्ति' = विद्यमान है । किस कारण से? **'अनावृतरूपत्वात्'** = जात्याद्यभिमानरूप मल द्वारा 'अनावृत' अनाच्छादित रूप होने के कारण ।[४] उसके अनावृतत्त्वोपपत्ति प्रतिपादन के लिए निम्न विशेषणों को प्रस्तुत करते हुए कारिकाकार कहते हैं—'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं, यस्माच्च निर्गतम् ।'[५] **'इदम्'** = वेद्यतयावस्थित । **'सर्वम्'** = 'यत्र यत्र दर्शने यथा-यथा परिकल्पितं'—ऐसे समस्त परिकल्पित कर्त्रधीन कार्य ।[६] 'यत्र' = जिसमें । वेदकत्व एवं कर्तृत्व के रूप में अवस्थित आधेय समस्त पदार्थ सार्थ सामान्याधारभूत एक तत्त्व में । **'स्थितं'** = उन-उन पृथिव्यादिघटपटगवादि रूप से लब्धप्रतिष्ठ । जिसके भीतर समस्त वस्तुओं का प्रकाशमान होने के कारण स्वरूपसत्तासादन ।[७]

सूर्यादि प्रकाशान्तर्गत जो घट परादिद्रव्य स्थित हैं वे अपने उन-उन रूपों में प्रकाशमान होने के कारण ही अपनी सत्ता में आसीन हैं । इसी प्रकार समस्त 'कार्य' भी स्थित है ।[८] **'यस्माच्च'** = प्रधानादिकारणान्तर परिहार के[९] कारण; एककर्तृभूत एक कारण से ॥ **'निर्गतम्'** = उद्भूत ॥[१०]

शङ्कर के यथार्थ स्वरूप के लिए कोई भी व्यवधान नहीं है—अर्थात् किसी भी देशकाल या आकार में उसके लिए कोई निरोध नहीं है—प्रसर-व्याघात नहीं है क्योंकि वह अनावृतरूप है और अस्थगितस्वभाव है ।[११]

चेतना के प्रकाश के निरोधक कौन हैं? इसके निरोधक निम्न हैं—(१) प्राण, (२) पुर्यष्टक, (३) सुख, नीलादिक । जो कुछ भी प्रकाशित है—वह प्रकाशाभिन्न शङ्कर के स्वरूप का है ।[१२] **आचार्य क्षेमराज** शंका उपस्थित करते हैं कि यदि 'उत्पन्नस्य

---

१. ई०प्र० (१।५।७) । २. अभिनवगुप्तपादाचार्य : (तं०सा०)।
३-१०. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति । ११-१२. स्पन्दनिर्णय ।

स्थित्या आत्मा प्रकाशो भवति'—यह प्रमाणसिद्ध है तो इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इसी के उत्तरस्वरूप **क्षेमराज** कहते हैं कि 'यस्माच्च'—पदावली इसी का उत्तर है ।

योगियों की स्मृति, स्वप्न, विचारणा-शक्ति (Ideation) रहस्यात्मक सृष्टि की शक्ति को घ्यान में रखते हुए संसार एवं चेतना में आकस्मिक सम्बन्ध का प्रत्याख्यान अनुचित है क्योंकि यह सम्बन्ध तो स्वात्मानुभूतिजन्य हैं । शिव या शक्ति को छोड़कर संसार, पदार्थ या परमाणु आदि को सृष्टि-विधायक मानना अनुचित है 'चितः स्वानुभव-सिद्धं जगत्कारणत्वं उज्झित्वा अप्रमाणकं अनुपपन्नं च प्रधान परमाण्वादीनां (कारणत्वं) न तत्कल्पयितुं युज्यते ॥'[१] अतः (१) जगत् कर्तृत्व आत्मा का कार्य है । (२) जगत्कर्तृत्व परमाणु एवं प्रधान का कार्य नहीं है 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है—'अवस्था युगलं[२] चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ॥' (१।१४)

'सर्व' = 'सर्व' शब्द यहाँ पर उपादानादि नैरपेक्ष्य समन्वित कर्तृत्व को संकेतित करता है ।[३]

क्षेमराज प्रश्न उठाते हैं कि 'निर्गत' शब्द की सार्थकता क्या है? इसकी सार्थकता तभी सिद्ध होगी जब कि सृष्टि के पूर्व जगत् कहीं स्थित हो और वह अन्दर से बाहर निकले । क्या सृष्टि के पूर्व जगत् कहीं स्थित था ? इसका उत्तर देते हुए **क्षेमराज** कहते हैं कि—जगत् सृष्टि के पूर्व कहीं अन्यत्र स्थित नहीं था अपितु चिदात्मा में ही स्थित था क्योंकि यदि जगत् चिदात्मा में अहं प्रकाश से अभिन्न न होता तो उपादान निरपेक्षता संभव नहीं थी । किन्तु शक्ति उपादाननिरपेक्ष रहकर जगत् को प्रकट करती है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥ (प०त्री०२४)
'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य' (ई०प्र० १।५।१०)

यदि यह जगत् अहन्ता से अभिन्न चेतना के रूप में स्थित नहीं था तो यह उस चेतना से कैसे निर्गत हुआ ? यह बिना किसी उपादान की अपेक्षा के कैसे उत्पन्न हुआ? इसी का उत्तर—'यथा न्यग्रोध... चराचरम्' श्लोक द्वारा दिया गया है । यथा विशाल वट वृक्ष शक्त्यात्मना अपने बीज में स्थित पाया जाता है उसी प्रकार यह समस्त संसार शक्ति में बीजात्मना स्थित है और उससे अभिन्न है । यह चिदात्मा अपनी शक्ति के भौतिक रूपान्तर (Materialisation) के द्वारा जगत् को विकसित करता है ।[४]

यदि जगत् सृष्टि के पूर्व कहीं किसी में स्थित था तो किसमें स्थित था और किससे आविर्भूत, हुआ?[५] यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि यह 'चिदात्मा' एवं 'प्रकाशवपु' से, हिमालय से निर्गत गंगा की भाँति, बाहर निकलता है—स्वात्मा से निकलकर उससे पृथक् हो गया है—तो यह कथन भी ठीक नहीं है । झोले से निकले अखरोट की भाँति यह जगत् चिदात्मा से नहीं निकला है । यह (जगत्) शक्ति के स्वात्मभित्ति से एवं उससे अभिन्नरूप में बाहर निकलता है । यह दर्पणनगरवत स्थित है— 'स एव भगवान् स्व

१-५. स्पन्दनिर्णय ।

स्वातन्त्र्याद् अनतिरिक्ताम् अपि अतिरिक्तां इव जगद्रूपां स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् प्रकाशयन् स्थितः ।' **प्रमाता चिति प्रमेय जगत् से पृथक् नहीं हैं । उत्पन्न विश्व प्रलयावस्था में भी परमात्मा से अभिन्न रहता है ।** तात्पर्य यह है कि—

स्थान, समय, आकार आदि के स्वरूप को कोई भी वस्तु परमात्मा का अवरोधक नहीं है । यह विश्व उसका कार्य है और उसके प्रकाश के द्वारा यह विश्व प्रकाशित होता है, स्थित रहता है और उससे अभिन्न रहता है । यहाँ तक कि प्रलय की दशा में भी परमात्मा का प्रकाश ही सभी पर प्रभावशील है । यह व्यापक तत्त्व है । **यह विश्व परमात्मा में स्थित है** और उससे अभिन्न है 'एतद् विश्व अभेदेन स्फुरत्स्थितं ततोऽयं चिदात्मा भगवान्निज रसाश्यानता रूपं जगदुन्मज्जयतीति युज्यते ॥' **यह विश्व प्रकाशात्म शिव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है ।**

यह जगत् "प्रकाश' से निर्गत है, यह प्रकाशस्वरूप है और 'प्रकाश' में ही स्थित है । इस अद्वैत तत्त्व का 'निरोध' संभव नहीं है क्योंकि यह आत्मानुभव-सिद्ध है । अतः जो तत्त्व सृष्टि, पालन एवं संहार तथा एकत्व को अभिव्यक्ति प्रदान करता है उसका कोई निरोधक नहीं है । वह अघटन घटनापटीयसी शक्ति है ।[१]

आचार्य क्षेमराज कारिका के मूल उद्देश्य पर पुनः ध्यानाकर्षण करते हुए कहते हैं कि योगी को सदैव अपने यथार्थ स्वरूप में समावेश-प्राप्त्यर्थ प्रयत्नशील रहना चाहिए चाहे यह कार्य—'यत्र स्थितं' (At the stage of ingoing) के स्तर पर हो और चाहे **'यस्माच्च निर्गतम्'** (At the stage of outgoing) के स्तर पर हो क्योंकि उसका स्वरूप निरोधातीत (निरोध का अवरोध से अप्रभावित) है । संक्षोभ का ध्वंस होते ही परम पद की प्राप्ति हो ही जायेगी । परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूप में निरोध या निषेध का विषय नहीं है क्योंकि **अनात्मवादी सौगत** भी यह मानता है कि 'वह तत्त्व' महा-प्रकाशस्वरूप एवं नित्य है ।[२] जो **अनात्मवादी** निषेधदृष्टि रखते हैं और परमात्मा की सत्ता का प्रतिषेध करते हैं उनकी या तो सत्ता (Existence) होगी या असत्ता (Non-existence) । यदि उसकी असत्ता हुई तो यह निषेध की तस्वीर निषेधकर्ता के बिना तो आधारहीन हो जायेगी । यदि अन्यथा हुआ तो उसकी या इसकी सत्ता परमात्मा की सत्ता को सिद्ध ही कर देगा जो कि उससे अपृथक् है ।[३] कारिकाकार कहते हैं कि शङ्कर तत्त्व यथार्थ स्वरूप से अपृथक् है और वह जगत् से अतीत है, विश्वरूप है एवं विश्व का सृजन, पालन एवं लय कर रहा है । उनके अनुसार समस्त ईश्वरवादी संप्रदायों में ध्यान का अंतिम विषय **स्पन्द तत्त्व** से भिन्न नहीं है । ध्यान में भिन्नता का आना स्पन्द तत्त्व के निरपेक्ष पूर्ण **स्वातन्त्र्य**[४] मात्र के कारण है । यह समस्त विश्व इस **'स्पन्द तत्त्व'** की क्रियाशक्ति का सार (Essance) है । यह बात भी 'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबल-शालिनः' के द्वारा समर्थित है । अर्थ यह है कि—उस यथार्थ तत्त्व पर विश्वास करने पर मन्त्र सर्वज्ञत्वादि शक्ति से उपहित हो जाते हैं ।' अतः पूर्वोक्त आक्षेपों के लिए कोई स्थान ही नहीं हैं ।[५]

१-५. क्षेमराज—स्पन्दनिर्णय ।

आचार्य क्षेमराज अन्त में कहते हैं कि मैं यह प्रार्थना करता हूँ कि बुद्धिमान एवं पक्षपातहीन पाठक स्वयं स्पन्द सूत्रों पर लिखी गई अन्य टीकाकारों की टीकाओं में से मेरी टीका एवं उनकी टीकाओं का, जो कि अभ्यर्थित रत्न के समान मूल्यवान् हैं—अन्तर समझें एवं विभिन्नताओं की प्रशंसा करें। मैं शब्द प्रतिशब्द उन विभिन्नताओं को इसलिए सुस्पष्ट नहीं करना चाहता क्योंकि अन्यथा ग्रन्थ का कलेवर अधिक बढ़ जाएगा।[१]

भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'कथं पुनः स्वस्वभावस्यैव संसारिणः शिवत्वेन निर्देशः ? इति यद्युच्यते, तत् तत्र स्थितम् इदं जगत्, यस्मात् च उत्पन्नं तस्य संसार्यवस्थायामपि अनाच्छादितस्वभावत्वात् न क्वचित् निरोधः अतः शिवत्वमुच्यते।'[२]

अभेदस्तर पर यह समस्त विश्व अहंरूप से एकात्मक होकर ही स्थित है।[३]

आचार्य क्षेमराज की दृष्टि—आचार्य क्षेमराज 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहते हैं कि भगवती महाचिति या भगवती 'स्वतन्त्रा' बाह्योपादान की अपेक्षा किये बिना ही सृष्टि-काल में स्वस्वरूपाभिन्न अन्तस्थ जगत् को प्रकट करने एवं प्रलयकाल में उसे आत्म-संहत कर लेने के व्यापारद्वय द्वारा वस्तुतः **अपने को ही अपने से पृथक् रूप में प्रस्तुतः करते हुए समस्त विश्वसत्ता का मूल कारण हैं—**

(१) 'चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः ॥'[४] (१)

(२) 'प्रकाशने स्थित्यात्मनि, परप्रमातृविश्रान्त्यात्मनि च संहारे पराशक्तिरूपा 'चितिः' एव भगवती 'स्वतन्त्रा' अनुत्तर विमर्शमयी शिवभट्टारिकाभिन्ना हेतुः कारणम् ॥'[५] क्योंकि—

(३) ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्। चिदेव भगवती स्वच्छस्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्तजगदात्मना स्फुरति। यतश्च इयमेव प्रमातृप्रमाणप्रमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने हेतुः।[६]

(४) स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ॥ २ ॥

स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवदन्येच्छया, तयैव च, न तु उपादानाद्यपेक्षया—'स्वभित्तौ' न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं 'विश्वं' दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव 'उन्मील-यति'।[७]

यह 'उन्मीलन' है क्या ?

(५) उन्मीलनं च अवस्थितस्यैव प्रकटीकरम्।

(६) इत्यनेन जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् उक्तम्।[८]

इसीलिए कहा गया है कि भगवान् 'विश्वशरीर' है—

---

१. क्षेमराज—स्पन्दनिर्णय।　　२-३. भट्टकल्लट : स्पन्दकारिकावृत्ति।
४-८. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

'एवं भगवान् विश्वशरीरः ॥'[1] 'श्री परमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं ॥' 'न सावस्थानयः शिवः ॥'[2]

कारणकार्यवाद (Cause and Effect Theory) के सिद्धान्तों में दार्शनिकों ने निम्न दृष्टियाँ प्रस्तुत कीं—

(१) असत् से सत् उत्पन्न हुआ—'असतः सज्जायत्'
(२) सत् से असत् उत्पन्न हुआ—'सतः असज्जायत् ॥'
(३) सत् से सत् उत्पन्न हुआ—'सतः सज्जायत्'
(४) सत् से अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न हुआ ।

सांख्यदर्शन 'सत्कार्यवाद' का प्रतिपादक है—

१. असदकरणात् २. उपादानग्रहणात् ३. सर्वसंभवाभावात् ४. शक्तस्य शक्य-करणात् ५. कारणभावात्—सत्कार्यवाद प्रस्थापित होता है—अर्थात् विश्वरूप कार्य मूलप्रकृतिरूप कारण में अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहता है ।

त्रिक दर्शन भी सत्कार्यवाद का पोषक है तथापि त्रिक दर्शन का अपना स्वतन्त्र कारणकार्यवाद का सिद्धान्त है । यह **'स्वातन्त्र्यवाद'** का प्रतिपादन करता है ।

'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' की ही भाँति 'यदन्तः तद्बहिः' भी एक शाश्वत नियम है । जिस प्रकार एक वट बीज में जड़, अंकुर, तना, शाखा, पत्ते, पुष्प एवं फल इत्यादि अवस्थित माने जाते हैं उसी प्रकार अनेकात्मक विश्व एकीभाव में स्पन्दात्मिका विमर्शभूमिका में अवस्थित हैं । समस्त प्रमेय पदार्थ विमर्श के रूप में अवस्थित है । आन्तर तत्त्व ही बाह्य रूप में अवभासित होता है । अन्तर्जगत का बाह्यावभासन जगत् है । संवित् तत्त्व प्रसारस्वभाव है । बाहर वही स्थित है जो अन्दर स्थित है । दोनों में पूर्णैक्य है । प्रत्येक प्राणी का जो आभ्यन्तरिक विमर्शन होता है उसमें प्रमेय पदार्थ उस विमर्श के रूप में ही अवस्थित रहते हैं 'घट' 'पट' कुंभकार एवं वयनजीवी के आन्त-र्विमर्श के बाह्यावभास के अतिरिक्त और क्या हैं? कुंभकार कुंभ की रचना के पूर्व कुंभ के आकार, गोलाई, आकृति रंग आदि का आन्तर विमर्शन करता है और उसका यह अन्तर्विमर्श ही बाह्य घट के रूप में आविर्भूत होता है । कुंभकार के अन्तर्विमर्श में निःशेष वाच्य पदार्थ उसके अहं—विमर्श से अभिन्न रूप में ही तो रहते हैं जिन्हें कि वह घट, शराव, सुराही आदि के रूप में आविर्भूत करता है । **भट्टकल्लट** प्रश्न करते हैं ? जब स्वस्वभाव शङ्कर ही संसारी बनकर जगत् के संसरणचक्र में आबद्ध हो जाते हैं तो उन्हें उस संसारी (पशु०) रूप में **'शिव'** कैसे कहा जा सकता है?—इसी प्रश्न का उत्तर देने हेतु कारिकाकार का कथन है कि अद्वैतात्मक भूमिका में जहाँ कि भेद ही नहीं है—यह समस्त जगत् 'अहं' रूप में स्थित है और जिसके द्वारा इसका आविर्भाव अहंरूपत्व का त्याग करके 'इदंरूप' में अवभासित होता है उस अहंविमर्शरूपात्मक स्वभाव के स्तर पर सांसारिक दशा में भी उस चिद्रूप संवित् तत्त्व पर कोई आवरण नहीं है अतः उसकी

१-२. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

स्वतन्त्रता के मार्ग में कोई-कोई प्रतिबन्धक भी नहीं है । इसी कारण उस परतत्त्व को **'शिव'** नाम से पुकारा जाता है ।

'कथं पुनः स्वस्वभावस्यैव संसरिणः शिवत्वेन निर्देशः—इति यद्युच्यते' तत् यत्र स्थितम् इदं जगत्, यस्मात् च उत्पन्नं तस्य संसार्यवस्थायामपि अनाच्छादितस्वभावत्वात् न क्वचित् निरोधः अतः शिवत्वमुच्यते ॥'

विमर्श में यह स्वातन्त्र्य है कि अपने आन्तरविमर्शस्वरूप वाच्यों को आकार दे कर इन्हें स्थूल रूप में प्रस्तुत कर दे । संवित् तत्त्व (सामान्य स्पन्द भूमिका) ही प्रमेयात्मक जगत् के प्रत्येक ४ पदार्थ के रूप में अवस्थित है । प्रत्येक पदार्थ में उसीका प्रवाह है । यह शंका उठने पर कि शरीर, इन्द्रिय, विषय, घट, पट आदि रूपों में जो स्वभावगत वैभिन्य है—भेदात्मकता है—अनेकत्व है उसे शिव रूप एकत्व की संज्ञा कैसे दी जाय? इसका उत्तर यह है कि प्रमेयगत अनेकत्व में भी अहं विमर्शगत एकाकारता तो निहित है ही जो कोई भी पदार्थ या सत्ता 'विमर्श' में विद्यमान है उसी का तो बाह्यावभासन होता है । एक ही तो अनेक में अवभासित हो रहा है—

१. 'तदैक्षत प्रजायेय । एकोऽहं बहुस्याम्'

२. 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ।

३. 'अहं ब्रह्मस्वरूपिणी । मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् । शून्यं चाशून्यं च । ... अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधामि । अहं विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि—श्रीदेव्यथर्वशीर्षम् ॥'

४. एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति ।

इन दृष्टियों से 'कारण' एवं 'कार्य' में, सूक्ष्म एवं स्थूल में, 'अहं' और 'इदं' में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं है । **'परात्रिंशिका'** में कहा गया है—

'यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥'

जिस प्रकार कि छोटे से बीज से बड़ का विशाल वृक्ष निहित रहता है उसी प्रकार हृदय बीज में यह समस्त चराचर जगत् निहित है । **अभिनवगुप्तपादाचार्य** कहते हैं—'यथा वटबीजे तत्समुचितेनैव वपुषा अंकुर-विटप-पत्र-फलानि तिष्ठन्ति एवं विश्वमिदं हृदयान्तः ॥' अभिनव गुप्त—'परात्रिंशिका विवृति' ।

आन्तर कल्पना ही बाह्य पदार्थ के रूप में रूपान्तरित होती है । यदि कुंभकार के आन्तर विमर्श में घट का विमर्शन हो ही नहीं तो घट बाह्य सत्ता की वस्तु कभी नहीं बन सकता । 'घट' कुंभकार के आन्तरविमर्श के बाह्य अवभास के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है । **'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी'** में इसी तथ्य को इस प्रकार कहा गया है—

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहिः ॥'

सारांश यह कि प्रमाता के आन्तर विमर्श में ही सारे वाच्य पदार्थ आन्तर्विमर्श के ही रूप में—अहं से अभिन्न रूप में ही—अवस्थित रहते हैं और अन्तःचेतना में विमर्श-स्वरूप प्रमेय (वाच्य पदार्थ) ही बाह्य पदार्थ के रूप मे (अभिव्यक्त होकर) अवभासित होते हैं। प्रमेयों की अनेकाकारता में भी प्रमाता के अहं परामर्श की एकाकारता विद्यमान है।

उन्मेष निमेषात्मक स्पन्द (स्वातन्त्र्यशक्ति = आनन्द शक्ति) का स्वभाव एवं कार्य यह है कि वह—

(१) आन्तरविमर्शस्वरूप भाववर्ग को नानात्मक बाह्य प्रमेयों के रूप में अवभासित करता है और

(२) अनेकात्मक रूपों में बाह्यावभासित भाववर्ग को पुनः विमर्शात्मक एकाकारता में लय कर देता है।

'इदं' रूप में भासमान (अवभासित) निःशेष प्रमेय वर्ग संविद्रूप 'अहं' का ही बाह्यावभासन है।

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

अंतस्थ भाव ही तो बाह्य भावजात है—

'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ॥ (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा) 'ज्ञानक्रियात्मक चैतन्य' प्रत्येक जड़ या चेतन पदार्थ का स्वभाव है और वह आवरण शून्य है—

चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वात् शिवत्वं केन वार्यते ॥ (शि०सू०वा०)

यथा दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरादिक का प्रतिबिम्ब दर्पणातिरिक्त न होते हुए भी पृथक्वत् दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार चित् शक्ति के दर्पण में प्रतिबिम्बित जगद्रूप प्रतिबिम्ब चिद्रूप ही है उससे अतिरिक्त नहीं—

'दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभाति।
भाति विभागनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥
विमलतम परम भैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ॥ (प०सा०)

'स्पन्दनिर्णय' में भी इसी तथ्य को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

'स एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामत्यतिरिक्ताभिव।
जगद्रूपतो स्वभित्तौ दर्पणनगरवत्प्रकाशयन् स्थितः ॥'

साधारण मुकुर में तो १. बिम्ब २. प्रतिबिम्ब ३. मुकुर तीनों पृथक् हैं किन्तु चिद्रूप मुकुर (चिद्दर्पण) में बिम्ब, प्रतिबिम्ब एवं चिद्दर्पण तीनों अभिन्न एवं एक ही है।

बाह्य जगत् ही विश्वशरीरी का अपना ही शरीर है—

१. 'एवं भगवान् विश्वशरीरः तथा 'चितिसंकोचात्मा' संकुचिद्रूपः'[१]

२. 'चेतनो' ग्राहकोऽपि वटधानिकावत् संकुचिताशेषविश्वरूपः ॥'[२]

३. 'श्री परमशिवः स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं'[३]

४. 'ननु जगदपि चितो भिन्नं नैव किञ्चित्'[४]

५. 'जगतः प्रकाशैकात्म्येन अवस्थानम् ।'[५]

६. 'एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिताः सर्वा इमा भूमिकाः स्वातन्त्र्य-प्रच्छादननोन्मीलनतारतम्यभेदिताः ॥'[६]

७. 'चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते । ... अयं मलावतः संसारी भवति ।'[७]

८. चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी ॥ ९ ॥[८]

कारिका का सारांश—जिस स्पन्दरूपात्मिका विमर्शभूमिका में यह निखिल प्रमेय रूप प्रपञ्च अभेदात्मना अवस्थित है और जिसके माध्यम से इसका बहिर्मुख निर्गमन होता है उस परा एवं शाश्वतिक सत्ता को कोई भी आवरण ढक नहीं सकता अतः उसके अनावृतस्वरूप होने के कारण उसके अपने स्वतन्त्र प्रसार (विकास या विस्तार) में कोई भी प्रतिबन्धक नहीं है ।

आचार्य भट्टकल्लट कारिकावृत्ति में प्रश्न उठाते हैं कि जब स्वस्वभाव शङ्कर ही संसारी बनकर आवागमन (संसरण) के चक्र में फँस जाता है तब उसे इस रूप में 'शिव' कैसे कहा जा सकता है? इसी पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए वृत्तिकार कहते हैं कि—

१. अनादि काल से ही यह समस्त **जगत् अभेदस्तर पर अहंरूप में अवस्थित है** तथा जिस परा सत्ता के द्वारा इस जगत् का आविर्भाव **अहंरूपता से पृथक् होकर इदं-रूपता के स्वरूप में अवभासित होता है** उस सत्ता के **'स्वभाव'** (अहंविमर्शात्मक एक-रूपता, एकाकारता) के ऊपर संसारी अवस्था में कोई प्रतिबन्धक आवरण नहीं पड़ा है अतः उसके पूर्ण स्वतन्त्र प्रसरण की दिशा में कहीं कोई भी निरोध (या प्रतिबन्ध या रुकावट) संभव नहीं है । इसी कारण इस परा सत्ता को 'शिव' कहा जाता है ।

अनाच्छादितस्वभाव होने के कारण शिव के प्रसार में कहीं कोई गतिरोध नहीं है और इसी अनावृतता, निर्बधकता, निरपेक्ष एवं स्वतन्त्र प्रसार के कारण इसे **'शिव'** कहा जाता है ।

इस कारिका में **'कर्तृत्व' एवं 'कार्यत्व'** का स्फुट विवेचन है—'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं, यस्माच्च निर्गतम् ।' (कार्य + कारण) कारणकार्यभाव १. कार्य-जगत् २. कारण-शिव ।

शिवत्व क्या है? निरपेक्ष पूर्ण स्वातन्त्र्य—'अतः शिवत्वमुच्यते ।' वह अनियंत्रित शक्तिधर, अनियंत्रित ईश्वर, अनियंत्रित अनुग्रहात्मा, अनियंत्रित स्रष्टा एवं अनियंत्रित संहर्ता है—

१-८. क्षेमराज—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

'नित्यं विसर्गपरमः स्वशक्तौ परमेश्वरः ।
अनुग्रहात्मा, स्रष्टा च संहर्ता चानियंत्रितः ॥' (त्रिकहृदय)

सोमानन्दपाद कहते हैं—'ईश्वरस्य स्वतन्त्रस्य केनेच्छा वा विकल्प्यते ?'

'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम्'

१. सभी पदार्थ सामरस्य में अवस्थित रहते हैं—(सोमानन्द)

'तस्मात्सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम्' (शि०दृ०)

२. सभी पदार्थ भगवान् की इच्छा-सामग्री से ही प्रकट होते हैं (सोमा०)

योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता ।
न चास्ति साधनं किंचिन्मृदादीच्छां विना प्रभोः ।
तथा भगवदिच्छेव तथात्वेन प्रजायते ॥' (शिवदृष्टि)

एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता । (सोमानन्द)

३. सभी पदार्थों, एवं भावों में शिवरूपता ही व्यक्त हो रही है (सोमानन्द)

'भगवदिच्छामात्रमेव विश्वरूपत्वं संपद्यते ॥ (शि० दृ०)
'एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता (शि० दृ०)

यहाँ तक कि **भेदप्रभेद भी शिवमय ही है**—'भेदा अपि तदात्मकाः ॥ (शि०दृ० वृत्ति) ॥ 'तथा नाना शरीराणि भुवनानि तथाविसृज्य रूपं गृह्णाति प्रोत्कृष्टाधममध्यमम् ॥

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि शिव ही जगत् रूप कार्य भी है और उसका कारण भी है—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च । मकड़ी और उसके जाले में क्या अन्तर है? कर्ता भी वही कार्य भी वही ॥ अतः 'न सावस्था न यः शिवः ॥ (स्पन्दकारिका) ॥

विमर्श और सृष्टि–उन्मेषवाद

उन्मेषवाद और 'विमर्श'—इस दर्शन में सृष्टिक्रम को पाँच कलाओं के क्रमानुसार उन्मेष संज्ञा दी गई है । 'उन्मेष' का अर्थ चक्षु-उन्मीलन ग्रहण करना यहाँ पर उपपन्न नहीं है प्रत्युत उन्मेष का अर्थ है—ज्ञान-प्रस्फुरण ॥

'दृश्य जगत' धाता के संकल्प का उन्मेष है—'सोऽकाम्यत्' 'बहुस्यां प्रजायेय' में इच्छासृष्टिवाद का प्रतिपादन किया गया है ।

'तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय'

१. 'यथा धाता पूर्वमकल्पयत् ॥'
२. कामस्तदग्रे समवर्तताधि ॥'
३. 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ।'

प्रपञ्च है धाता के संकल्प या समवर्तन का परिणाम ॥

सृष्टि के रूप में विशेष रूप से या समरूप से वर्तमान होना ही **'विवर्तन'** है । 'परमशिव' ज्ञानरूप चिन्मात्र 'ज्ञः' है । उसमें उन्मेषाविर्भाव होने पर **दो विमर्षों का उदय**

होता है—**१. 'अहम्' २. 'इदम्'** 'इदम्' के साथ-कला, काल, नियति, विद्या, राग एवं माया रूप कंचुकों का योग होने से जीवों का इदमात्मक विमर्श भेदात्मक, बन्धनात्मक एवं मितप्रमातृत्व का होता है । परमशिव का अहमात्मक विमर्श अभेद, अद्वैत, सामरस्यात्मक एवं मुक्तिस्वरूप होता है । विमर्शों के भेद के कारण ही विमर्श भी शुद्ध एवं अशुद्ध होते हैं । स्वप्न के अस्त होने पर स्वप्न का समस्त जगत् (ज्ञ: का सारा विमर्श) ज्ञ: में विलीन हो जाता है । विमर्श एवं विमर्शक में भेद नहीं है अत: अभेदस्तर पर विश्वप्रमाता एवं प्रमेय विश्व में कोई भेद नहीं रहता । दोनों अहं में विश्रान्त रहते हैं ।

१. 'यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यम्' २. 'यस्माच्च निर्गतम्'—इन वाक्यों पर ध्यान दें तो निष्कर्ष यह निकलेगा कि—

क) सृष्टि के **अभेद, भेदाभेद एवं भेद** किसी भी स्तर पर किसी नव्य पदार्थ या सत्ता की उत्पत्ति एवं उसका संहार नहीं होता । तिल में तेल की भाँति, अभेद के स्तर पर जो विश्व अभी कारण में अस्फुट था वही अब कारण से पृथक् होकर उत्पन्न कहलाने लगा किन्तु कोई नयी सृष्टि नहीं हुई ।

ख) 'आविर्भाव' उत्पत्ति नहीं प्रत्युत् प्रकटीकरण ('निर्गतम्') है ।

सांख्य का **सत्कार्यवाद** तथा उपनिषद का **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इस सिद्धान्त के निकट हैं । भेद यह है कि सांख्य का सत्कार्यवाद भेदाश्रित है जब कि स्पन्दशास्त्र का अभेदाश्रित । **शिव का 'स्वभाव'** अहंविमर्शरूप एकाकारता ही तो है ।

'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' 'यदन्तस्तद्बहि:' का सिद्धान्त ही स्पन्द को मान्य है । **'अहमस्मि' 'अहमिदम्' 'इदमहम्' 'अहञ्चइदञ्च पृथक्-पृथक्'**—ये सभी विमर्शों के रूप ही तो हैं और तदवत उनकी पृथक्-पृथक् सृष्टियाँ भी हैं । **शिव का 'स्वातन्त्र्य', 'स्वभाव' 'उन्मेषनिमेषात्मक स्पन्द-क्रीड़ा' क्या है? आन्तर विमर्श** में अहमाकार रूप में अवस्थित एकाकार विश्ववैचित्र्य को अनेक नामरूपात्मक स्वरूपों में अपने में अव-भासित करना एवं पुन: इस नानात्मक जगत् को अपने अहं में एकाकारित करके उसे उपसंहृत रखने की क्रीड़ा ही तो शिव का स्वभाव, शिव की क्रीड़ा, आन्तर स्पन्द आदि कहलाता है ।

'स्पन्द' की सृष्टि 'स्वातन्त्र्यवाद' एवं **'अवभासवाद'** के सिद्धान्तों पर समाश्रित है न कि—**'विवर्तवाद' 'परिणामवाद'** या **'असत्कार्यवाद'** पर ॥ 'इदम्' रूप में स्फुटत: भासमान समस्त प्रमेय पदार्थ शिव के 'स्वांग' हैं । मायाशक्ति के द्वारा उनका भिन्नतया-वभासन वैसा ही है यथा एक ही मिट्टी में अनेक घड़ों का मिट्टी से पृथक् सत्ता के रूप में अवभासन । एकता में अनेकात्मकता एवं अनेकात्मकता में एकात्मकता का अवभासन निरन्तर करते रहना ही तो शिव का 'स्वधर्म', 'स्वस्वभाव 'स्वातन्त्र्य' एवं 'विमर्श' है । 'विमर्श' उनकी शक्ति है अत: जगत् भी शिव की शक्ति का एक रूप है । कुंभकार के आन्तर विमर्श में घड़े के आकार-प्रकार आदि में सदा रहता है । **कुंभकार का घटाकार विमर्श ही घट है और शिव का अपने अहं में विश्वाकार भेदात्मक विमर्श ही विश्व है** । 'उत्पत्ति' नहीं होती अवभासन होता है—किन्तु **अवभासन**

'परिणाम' एवं **'विवर्त'** नहीं है। आन्तर विमर्श में निखिल वाच्य (प्रमेय) पदार्थ विमर्श के रूप में ही 'अहं' से अभिन्न रूप में अवस्थित रहते हैं किन्तु विमर्श अपने में स्थित इन अभिन्नाकार प्रमेयों को भिन्नाकार देकर विश्व के रूप में अवभासित कर देती है।

इसी तथ्य को **'परात्रिंशिका'** (२४) में इस प्रकार कहा गया है—

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदय बीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥ (२४)
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य निर्वाणगामिनी।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाज्याहुतिवर्जिता ॥ (२५)

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' (१।१.६.७) में कहा गया है—

'तदेवं व्यवहारेपि प्रभुर्देहादिमाविशन्।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद बहिः ॥'

आन्तर विमर्श ऐन्द्रजालिक का झोला नहीं—है कि उसमें अखरोट पिस्ता एवं बादाम के रूप में विभिन्न पदार्थ भरे हैं और सृष्टि के समय निकल पड़ते हों—'एतदुक्तं भवति न प्रसवेकादिवाक्षोटादि तत् तस्मात् निर्गतम्' (**क्षेमराज** 'स्पन्दनिर्णय') शाङ्कर भूमिका में विश्वस्पन्द में यह निखिल इदम् रूप जगत् एवं मितप्रमाता, प्रमेय एवं प्रमाणों से संपूरित कार्यजगत् अहं रूप में एकाकारावस्थित रहता है और यथासमय अहं परामर्श के द्वार से (स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा) इदन्ता का परामर्श उल्लसित हो उठने पर वही आन्तर प्रमेय बाह्य प्रमेय के रूप में विकसित हो उठता है—

१. वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥ (ई०प्र०१.५.१)

२. चिदात्मैव हि देवोन्तःस्थितमिच्छावशाद् बहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ (ई०प्र० १.५.७)

३. **'स्तवचिन्तामणि'** में यह भी कहा गया है—

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥'

परमात्मा इच्छा मात्र से आन्तरविमर्शगत पदार्थों को बाह्याकारों में रूपान्तरित करके अवभासित कर देता है जैसे बिना बाह्य उपादानों के योगीगण।

यथा मुकुर-प्रतिबिम्बित नगरादिक का प्रतिबिम्ब मुकुर से पृथक् न होते हुए भी पृथकवत् दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार चिद्दर्पण में प्रतिबिम्बित विश्वात्मक प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न न होकर भी भिन्नवत अवभासित होता है—

स एव भगवान् स्वस्वातन्त्र्यादनतिरिक्तामप्यतिरिक्तामिव जगद्रूपतां स्वभित्तौ दर्पण-नगरवत्प्रकाशयन् स्थितः। (स्पन्द नि०)

दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादिचित्रमविभागि।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ॥

विमलतम परमभैरव बोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ॥

—(प०सा०श्लोक १२,१३)

जिस **'स्पन्दतत्त्व'** की व्याख्या हेतु स्पन्दसूत्रों की रचना की गई है उसी में निखिल विश्व प्रतिष्ठित है । 'तन्त्रालोक' एवं 'विवेक' में कहा गया है—१. शून्य, स्पन्द एवं प्राण में समस्त विश्व, सारा विस्तार अवस्थित है । सृष्टि एवं संहार भी एक प्रकार के स्पन्द ही हैं । 'स्पन्द' अनन्त है अत: सृष्टि एवं संहार भी अनन्त हैं—

यह सब बाह्यसृष्टि है । सृष्टि बहि:स्पन्दमान है और अनन्त है । बाहर जो भी 'स्पन्द' है वह सब संवित् तत्त्व का ही उल्लास है । **बाह्यस्पन्द** के रूप में तो अपने शरीर का विकार भी व्यक्त होता है ।

अत: संवित्प्रतिष्ठानौ यतो विश्वलयोदयौ ।
शक्त्यन्तेऽध्वनि तत्स्पन्दासंख्याता वास्तवी तत: ॥ (आ०७।६३)

'सृष्टिसंहाराद्यात्मनां स्पन्दानां' 'यो हि नाम बहि: कश्चन परिस्पन्द: स संवित्सतत्त्व एव' ।

१. चित्, स्पन्द एवं प्राण की कारणाता से कार्य की ओर उन्मुखता की अन्तिम स्थूलता **'सुषि'** कही जाती है—

'चित्स्पन्दप्राणवृत्तीनामन्त्या या स्थूलता सुषि: ॥ (तं०)

शांकर वेदान्त का मत और स्पन्द दृष्टि—

(क) **स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा की सृष्टि सम्बधिनी दृष्टि**—इन दोनों शैव शासनों की सृष्टि-दृष्टि के मुख्य निम्न सिद्धान्त हैं—**१. परप्रमाता की दृष्टि से—'स्वातन्त्र्यवाद'**—एवं २. **प्रमेय की दृष्टि से-'आभासवाद'** या प्रतिबिम्बवाद । **'स्वातन्त्र्य' क्या है?** (**क्षेमराज**: शि०सू०वि०)—'सर्वज्ञानक्रिया संबन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते' ।

(ख) **जीव-विषयक विभिन्न दृष्टियाँ**—अद्वैतवेदान्त में आचार्य शङ्कर के पश्चात् जीव के विषय में दो प्रकार के सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित किया गया जो निम्नांकित हैं—

१. 'अवच्छेदवाद' २. 'आभासवाद' ।

१. **'अवच्छेदवाद'**—इस मत के अनुसार अन्त:करण आदि से विशिष्ट चेतन ही प्रमाता है । समस्त कार्यकलापों का निर्विशेष द्रष्टा रूप 'साक्षी' अन्त:करण आदि उपाधियों से उपहित है । एक ही अन्त:करण **प्रमाता का विशेषण एवं साक्षी की उपाधि है ।**

२. **'आभासवाद'**—आभासयुक्त अन्त:करण जीव का विशेषण है और आभास युक्त अन्त:करण **साक्षी की उपाधि है ।**

आचार्य शङ्कर ने तो किसी भी वाद का समर्थन नहीं किया किन्तु स्वामी विद्यारण्य ने आभासवाद की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है ।

जगत् का कारण तत्त्व—

१. **आचार्य शङ्कर**—ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है ।

२. **संक्षेपशारीरककार**—शुद्धब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है ।

३. **विवरणकार**—माया शबलित सगुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है ।

४. **तत्त्वनिर्णयकार**—ब्रह्म और माया दोनों जगत् का उपादान कारण है ।

५. **सिद्धान्तमुक्तावलीकार**—मायाशक्ति जगत् का उपादान कारण है ।

६. **पञ्चदशीकार**—माया तो शुद्ध सत्त्वमयी है किन्तु अविद्या रजोगुण एवं तमोगुण प्रधान है ।

संक्षेपशारीरककार—यथा मृतिका की चिकनाहट घट के उत्पादन के प्रति द्वारकारण होती है उसी प्रकार शुद्धब्रह्म के उपादान होने में माया द्वारकारण है ।

वाचस्पतिमिश्र—जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म प्रपञ्चरूप से परिणत होता है अतः ब्रह्म ही उपादानकारण है । माया तो सहकारी कारण है ।

'स्वशक्त्या वटवद ब्रह्मकारणं शङ्करोऽबवीत् ।
जीवभ्रान्तिर्निमित्तं तद् बभाषे भामतीपतिः ॥
अज्ञातं नटवद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् ।
जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा ॥

—अमलानन्द, 'कल्पतरु' ।

ब्रह्माद्वैत एवं ईश्वराद्वयवाद—

त्रिकदर्शन का 'ईश्वराद्वयवाद'—त्रिक शासन पूर्णतः अद्वैतवादी है । इसके मत में एक परमेश्वर मात्र ही 'तत्त्व' है । **'अज्ञान'** या **'माया'** या **'जगत्'** आत्मा का स्वातन्त्र्य-शक्ति की क्रीड़ा या स्वेच्छापरिगृहीत अपर रूप है ।

परमेश्वर एक नट के समान स्वेच्छावश नानात्मक भूमिकायें ग्रहण करके विश्व के रूप में प्रकट होते हैं । जगत् और उसकी उत्पत्ति **'स्वातन्त्र्य शक्ति' का विजृंभणमात्र है** ।

अद्वैतवादी 'ब्रह्मवाद' में विश्वोत्तीर्ण, सत्य, निर्मल, निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्मकर्तृत्वहीन है किन्तु त्रिक नय के अद्वैतवादी ईश्वराद्वयवाद में परमेश्वर में **स्वातन्त्र्य-शक्ति** की नित्य विद्यमानता परमेश्वर में नित्य कर्तृत्वपरता का सूचक है । आत्मास्वरूप शिव सृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह एवं विलय इन सभी पञ्चकृत्यों का संपादक है । **शाङ्कर मत** का ब्रह्म निष्क्रिय होने के कारण इन व्यापारों का निष्पादक नहीं है । दोनों अद्वैतवादी दृष्टियों में यह एक प्रधान भेद है ।

परमेश्वर एवं विश्व के मध्य सम्बन्ध की दृष्टि से भी दोनों दृष्टियों में भेद है । **अभिनवगुप्त** इस सम्बन्ध को 'दर्पणबिम्बवत्' मानते हैं और यही त्रिक दृष्टि है किन्तु शाङ्कर अद्वैत में जगन्मिथ्यात्व स्वीकार किया गया है ।

अभिनवगुप्त कहते हैं यथा स्वच्छ दर्पण में ग्राम, नगर, वृक्षादिक पदार्थ प्रति-

बिम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण में तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं उसी प्रकार पूर्ण संविद्रूप परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह जगदाभास अभिन्न होने पर भी घट पटादि रूप से अवभासित होता है । लोक में प्रतिबिम्बित पदार्थ की सत्ता बिम्बाश्रित होती है किन्तु त्रिकनय में ('स्वातन्त्र्यशक्ति' के चमत्कार द्वारा) बिना बिम्ब के ही जगद्रूप प्रतिबिम्ब स्वतः आविर्भूत होता जाता है । **द्वैतभावना कल्पित है अद्वैतभावना ही यथार्थ है** । इसी आभास या प्रतिबिम्ब सिद्धान्त के मानने के कारण त्रिकदर्शन की दार्शनिक दृष्टि—'आभासवाद' मानी जाती है—'आभासरूपा एवं जडचेतन पदार्थाः ॥ (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।२।१) **अभिनव** विवृतिविमर्शिनी में कहते हैं—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,
यद्वद विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधःपुनर्निजविमर्शनसारयुक्त्या,
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ॥

'स्वातन्त्र्यवाद'—त्रिकनय में 'स्वातन्त्र्यवाद' भी स्वीकृत है और यही त्रिकनय का प्रधान सिद्धान्त है । विश्व चिन्मयी शक्ति का स्फुरण है—अतः इसे 'परिणाम' एवं 'विवर्त' दोनों न मानकर सत्य ही माना जाना चाहिए । 'परिणामवाद' में वस्तु का अपना स्वरूप तिरोहित होकर दूसरे आकार को ग्रहण कर लेना माना जाता है यथा दूध का पर स्वरूप दही । दही पुनः दूध नहीं बन सकता । प्रकाशवपु शिव के प्रकाश के तिरोधान होने पर तो विश्व अंधा हो जाएगा । परिणामतः 'विवर्तवाद' एव 'परिणामवाद' दोनों स्वीकार्य नहीं है । स्वीकार्य है तो अघटन घटनापटीयसी, कर्तुं—अकर्तुं—अन्यथाकर्तुं की शांभवी स्वातन्त्रशक्ति का सिद्धान्त **'स्वातन्त्र्यवाद'** इसका स्वरूप क्या है? **अभिनवगुप्तपादाचार्य** कहते हैं—

'अविद्या अनिर्वाच्या वैचित्र्यं चाधत्ते इति व्याहतम् । परमेश्वरी शक्तिरेव इयमिति हृदयावर्जकः क्रमः । तस्मात् अनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः भगवान् स्वातन्त्र्यादेव प्रकाशते इत्ययं **स्वातन्त्र्यवादः** प्रोन्मीलितः ॥ (अभिनवगुप्त—प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी)

यही शक्ति 'विमर्श' भी है जिसका स्वरूप इस प्रकार है-'विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहारेण च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्' ('परा प्रावेशिका') ॥

यदि यह कहा जाय कि परमात्मा नहीं उसकी शक्ति में कर्तृत्व है अतः त्रिक को ईश्वर (परमशिव) एवं वेदान्त के निष्क्रिय ब्रह्म में क्या भेद है?—तो इसका उत्तर यह है कि—

१. **ब्रह्म की शक्ति 'माया'** (कर्तृत्वशक्ति) ब्रह्म में न समवेत है । न चित् है और सत्यासत्य या नित्य है प्रत्युत् अनिर्वचनीय है इसीलिए वेदान्त **'अनिर्वचनीयतावाद'** सिद्धान्त का पोषक है ।

२. **परमशिव की शक्ति 'स्वातन्त्र्यशक्ति' (माया)**—परमशिव में समवेत, उसमें अभिन्नतयावस्थित, नित्य एवं सर्वकर्तृत्वशालिनी परा चित् शक्ति है और—

१. न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः ।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

२. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथाभावात् इच्छया कर्तुमीहते ।
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ॥—'शिवदृष्टि'—सोमानन्द ३।२।३

३. शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं ।
न चेदेवं न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥—'सौन्दर्यलहरी'

'स्वातन्त्र्यशक्ति'—परमशिव की आत्मा है । उसकी **पराशक्ति** है । इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि शक्तियाँ उसी के विजृंभणमांत्र है । यह शिव की स्वाभिन्न समवायिनी नित्य शक्ति है । इसका अपराभिधान **'आनन्द'** है **'स्वातन्त्र्य'** शिव का **निरपेक्ष, निर्बंध, नित्य, स्वभावगत, स्वधर्म रूप** इच्छा का अनभिहत प्रसार है—

स्वातन्त्र्यवाद—

'स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तयेच्छाप्रसरस्य अविघातः'[१] यह परमात्मा का ऐश्वर्य रूप स्वातन्त्र्य ही नित्योदितपरावाक् है—

इसके नामान्तर निम्नानुसार है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ (४४।४५)[२]

इसी **'स्वातन्त्र्य' की हानि 'आणवमल'** का मूल है और द्विरूपात्मक तथा बन्धनात्मक है—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य, स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥'[३] (१५)

चिद्वपुः एवं स्वतन्त्र विश्वात्मा की चिकीर्षा ही जगत् का कारण है एवं यह कर्तृतारूपता ही क्रियाशक्ति है । चिद्रूप परमात्मा की चिकीर्षा क्रिया (स्वातन्त्रशक्ति) ही उसकी मुख्य शक्ति है—

इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना ।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया ॥ ५३ ॥[४]

अर्थात्—'चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना कर्तुमिच्छैव जगत्प्रतिकारणता कर्तृता-रूपा सैव क्रियाशक्तिः । एवं चिद्रूपस्यैकस्य कर्तुरिव चिकीर्षाख्या क्रिया मुख्या ॥'

इस चिद्वपु को **स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा**, स्वपरामर्शविग्रहा कहा गया है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञावि०वि० (१।१) । २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (४४, ४५) ।
३. प्र० का० (१५) । ४. प्र०का०वृत्ति ।

'सेयं स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्वपरामर्शविग्रहा' ।[१]

'मालिनीवार्तिक' में **अभिनवगुप्त** कहते हैं कि परमात्मा की मुख्य शक्ति तो मात्र **'स्वातन्त्र्यशक्ति'** है—'स्वतन्त्र इति तस्येच्छाशक्तिः स्वातन्त्र्यसंज्ञिता । स्वतन्त्र परमात्मा की इच्छा ही **'स्वातन्त्र्य'** है । वह परमेश्वर में विश्रान्त है । उसकी **'स्वातन्त्रमहिमा'** शिव के स्वस्वरूप से अपृथक् रूप में स्थित है—'स्वातन्त्र्यमहिमा वास्य स्वरूपादपृथक्स्थितिः' **उसका 'स्वातन्त्र्य' है क्या?** परमेश्वर का अपने में ही 'प्रोच्छलत्स्थिति' ही उसका स्वातन्त्र्य हैं— 'तत्स्वातन्त्र्यात्स्वतन्त्रं तत्स्वात्मनि प्रोच्छलत्स्थितम्' ।[२]

यह **शक्ति विश्वरूपिणी** है—

'देशकालक्रियाकारकल्पनापथवर्जितः ।
देवदेवस्तथैवास्य शक्तिः सा विश्वरूपिणी ॥'[३]

यह **स्वतन्त्र महेश्वर ही 'विश्वात्मा'** है—

एवं महेश्वरो देवो विश्वात्मत्वेन संस्थितः ॥ (२।१)[४]

'स्वातन्त्र्यशक्ति' द्वारा जो 'स्वात्मप्रच्छादन क्रीड़ा' निष्पादित की जाती है वह 'मल' के नाम से प्रसिद्ध है—

स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव 'मलं' विदुः ॥[५]

किन्तु इस **स्वातन्त्र्यशक्ति** से **दीक्षा** एवं **भुक्ति** भी निष्पादित होती है ।

संविदश्च स्वस्वातन्त्र्यायास्तथारूपावभासनम् ।
दीक्षेति किल मन्तव्यं मुच्यन्ते जन्तवो यया ॥[६]

इसी शक्ति में विश्रान्त साधक ही मुक्त कहा जाता है—

'तत्र विश्रान्तिमापन्नो मुक्त इत्यभिधीयते ॥ [७]

जीव एवं परमात्मा की स्वरूप-कल्पना—(केवलाद्वैतवाद के सिद्धान्त) सिद्धान्त—१. 'प्रतिबिम्बवाद', २. 'अवच्छेदवाद', ३. 'जीवैक्यवाद', ४. 'आभासवाद'।

१. प्रतिबिम्बवाद—

अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'ईश्वर' एवं 'बुद्धि' में प्रतिबिम्बित चैतन्य को 'जीव' कहते हैं किन्तु अज्ञान की उपाधि से रहित बिम्ब शुद्ध चैतन्य है । (संक्षेपशारीरक)

स्वातन्त्र्यादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर **'बिम्ब' स्थानापन्न** है एवं परमात्मा के कारण अविद्या में चिदाभास **जीव** है (**विवरणकार**) ॥ अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है एवं जीव प्रतिबिम्बरूप है यही है—**'प्रतिबिम्बवाद'** ।

इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरुचि है । समस्त प्रतिबिम्ब स्थलों में प्रायः रूपवान् पदार्थ का रूपवान् आधार में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है यथा—

---

१. परात्रिंशिकातात्पर्यदीपिका ।   २-७. मालिनीवार्त्तिक ।

रूपवान् चन्द्र का प्रतिबिम्ब रूपवान् जल में ही पड़ता है किन्तु ब्रह्म के रूपहीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब संभव है और न रूपहीन अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति ही है।

२. 'अवच्छेदवाद'—वाचस्पतिमिश्र—

वाचस्पतिमिश्र अवच्छेद को ही युक्तियुक्त मानते हैं। इस पक्ष में एक ही चैतन्य अज्ञान के आश्रय एवं विषय के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य **ईश्वर** है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य ही **'जीव'** है या अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव और अविद्यावच्छन्न चैतन्य **'ईश्वर'** है। अज्ञान के नानात्मक होने से इस मत में जीव भी नानात्मक हैं। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत् का उपादान कारण है। ईश्वर उपचारमात्र से कारण माना जाता है। ('सिद्धान्तबिन्दु' पृ० ८०)।

३. एकजीववाद—

वेदान्त का यही मुख्य सिद्धान्त है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य **'ईश्वर'** है और अज्ञानोपहित चैतन्य **'जीव'** है। जीव ही अपने अज्ञानवश **जगत् का उपादान कारण एवं निमित्तकारण** है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्ति पूर्ण है क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। गुरु की कृपा तथा शास्त्र विहित श्रवणादि उपायों से एक ही आत्मा का मोक्ष होता है। **वामदेवादियों** की मोक्षवार्ता अर्थवाद मात्र है। इसी सिद्धान्त का अपरपर्याय **'दृष्टिसृष्टिवाद'** है।

कुछ वेदान्तियों के मतानुसार—

कुछ वेदान्तियों की सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कौन्ती-पुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राधेय (राधापुत्र) रूप से प्रतीति होती है उसी प्रकार **अविकृत ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव प्राप्त करता है**। व्याधकुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वशीभूत होकर अपने शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव को विस्मृत किए हुए हैं। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वे मुक्त हो जाते हैं।

४. आभासवाद—

अद्वैतमत में एक आत्मा ही सत्य है। आत्मा न तो अन्तर्यामी है और न तो साक्षी ही है। अज्ञानरूप उपाधि से युक्त आत्मा अज्ञान के साथ है। ईश्वर एक है।

अद्वैतवाद के दो पक्ष है— १. आत्मा-परमात्मा की एकता
२. ब्रह्म-जगत् की एकता

वेदान्त में **'प्रतिबिम्बवाद' 'दृष्टिसृष्टिवाद' 'अवच्छेदवाद' 'अजातिवाद'** आदि अनेक दृष्टियाँ हैं। **पैगम्बरी 'एकेश्वरवाद** (Monotheism) (तौहीद) और **औपनिषदिक अद्वैतवाद** (Monism) में यथेष्ट भेद है।

जगत् का स्वरूप—'जगत' प्रातिभासिक है पारमार्थिक सत्य नहीं है। सत्य की तीन कोटियाँ हैं—१. व्यावहारिक २. प्रतिभासिक ३. पारमार्थिक। इनमें जगत् की सत्ता

का सत्य व्यावहारिक है तथापि जीव एवं जगत् ब्रह्म से कोई पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।

शांकर दृष्टि में ब्रह्म और जगत् की एकता—१. यह सम्पूर्ण विश्व जो अज्ञान के कारण नानात्मक प्रतीत हो रहा है समस्त भावनाओं के दोषों से रहित (निर्विकल्प) ब्रह्म ही है—जगत् ('रज्जौ यथाऽहेभ्रमः' भी है) भ्रम भी है किन्तु ब्रह्म से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं है।

'यदिदं सकलं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यस्तराशेषभावनादोषम् ॥'

२. मृत्तिका का कार्य होने से घट उससे पृथक् नहीं हो सकता क्योंकि सब ओर से मृत्तिका रूप होने के कारण घट का रूप मृत्तिका से पृथक् नहीं है अतः मृत्तिका में मिथ्या कल्पित नाममात्र घर की सत्ता ही कहाँ हैं?[१]

आचार्य शङ्कर का जगन्मिथ्यात्ववाद—

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः, कुंभोऽस्ति सर्वत्र मृत्स्वरूपात्।
न कुंभरूपं पृथगस्ति कुंभः, कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः ॥

३. मृतिका से घट का रूप कोई दिखा नहीं सकता। अतः घट तो मोह से कल्पित है। वस्तुतः सत्यात्मक तो मृत्तिका मात्र है।[२]

सत-ब्रह्म का कार्य यह सकल प्रपञ्च सत्स्वरूप ही है क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् वही तो है उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो कहता है कि उससे पृथक् भी कुछ है उसका मोह दूर नहीं हुआ है एवं उसका यह कथन सुषुप्त पुरुष के प्रलाप के सदृश है—

१. केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं, घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहामृदेव सत्यं परमार्थभूतम् ॥

२. सद्ब्रह्म सकलं सदैव, तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो, विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥

'यह संपूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा अति श्रेष्ठ अथर्व श्रुति कहती है अतः यह विश्व ब्रह्ममात्र ही है क्योंकि अधिष्ठान से आरोपित वस्तु की पृथक् सत्ता हो ही नहीं सकती।[३]

'यदि यह जगत् सत्य हो तो आत्मा की अनन्तता में दोष आता है और श्रुति अप्रामाणिक हो जाती है एवं ईश्वर भी मिथ्यावादी ठहरते हैं। ये तीनों बातें सत्पुरुषों के लिए शुभ नहीं है।

'यदि विश्व सत्य होता तो सुषुप्ति में भी उसकी प्रतीति होनी चाहिए थी किन्तु उस समय इसकी कुछ भी प्रतीति नहीं होती अतः यह स्वप्नवत् असत एवं मिथ्या है—[४]

१. ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी, श्रोती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा।
तस्मादेतद् ब्रह्ममात्रं हि विश्वं, नानाधिष्ठानाद्भिन्नतारोपितस्य ॥

१-४. विवेक चूड़ामणि।

२. सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मनोऽनन्तत्वहानिर्निगमाप्रमाणता ।
असत्यवादित्वमयीशितुः स्यान्नैतत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥

३. यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम् ।
यन्नोपलभ्यते किंचिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा ॥[१]

अतःपरमात्मा से पृथक् जगत् है ही नहीं । उसकी पृथक् प्रतीति तो गुणी से गुण आदि की पृथक् प्रतीति के सदृश मिथ्या ही है । आरोपित वस्तु की वास्तविकता ही क्या? वह तो अधिष्ठान ही भ्रम से उस प्रकार भासित हो रहा है । अज्ञानी जनों को अज्ञानवश जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब ब्रह्म ही है जिस प्रकार भ्रम से प्रतीति हुआ रजत = वस्तुतः सीपी है । **'यह जगत् है'** इसमें **'इदम्'** रूप से सदा ब्रह्म ही कहा जाता है, ब्रह्म में आरोपित जगत् तो नाममात्र ही है ।

१. अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनः,
पृथक्प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत् ।
आरोपितस्यास्ति किमर्थवत्ता-
धिष्ठानमाभाति तथा भ्रमेण ॥

२. भ्रान्तस्य यद्यदभ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैवतत्तद्रजतं हि शुक्तिः ।
इदंतया ब्रह्म सदैव रूप्यतेत्वारोपित ब्रह्मणि नाममात्रम् ॥[२]

'परिणामवाद'—अवस्थान्तरपरिणमन ही 'परिणाम' है—

(क) अतत्त्व-प्रथा = **'विवर्त'** (ख) सत्तत्त्व-प्रथा—**'परिणाम'** परिणाम में एक रूप का तिरोभाव एवं रूपान्तर का आविर्भाव होता है—परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति, रूपान्तरं च प्रादुर्भवतीत्युक्तम् ॥[३] असत्य रूप में निर्भास ही 'विवर्त' है 'विवर्तो हि असत्य रूपनिर्भासात्मेत्युक्तम् ।' (अभिनवगुप्तः ई०प्र०वि०वि०)

शुक्ति में रजताभास **'विवर्त'** है और दूध का दही में परिणमन **'परिणाम'** है । 'परिणाम' अपने उपादान का समसत्ताक होता है किन्तु 'विवर्त' अपने उपादान का 'विषम-सत्ताक' होता है यथा रज्जु में अहि का भ्रम ॥

भास्करराय का 'अविकृत परिणामवाद'—भर्तृहरि, शान्तरक्षित ('तत्त्वसंग्रह') एवं **भवभूति 'विवर्त'** एवं **'परिणाम'** को एकार्थक मानते रहे जब कि दोनों शब्द विषमार्थी है ।

अविकृत परिणामवाद—भास्करराय जगत् को 'परिणाम' मानते हैं किन्तु प्रचलित परिणामवाद के सिद्धान्त से पृथक् अर्थ में । भास्करराय कहते हैं—

१. मृत्तिका एवं घट में कोई भेद नहीं है उसी प्रकार जगत् और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है । ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी सत्य है । भेदभावना ही मिथ्यात्व है—

१-२. विवेकचूड़ामणि ।
३. ई०प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति वि० (पृ ८, अ १, वि० १)

'वस्तुतस्तु जगतो ब्रह्मपरिणामकत्वं स्वीकुर्वतां तांत्रिकाणां मते जगतः सत्यत्वमेव मृदघटयोरिव ब्रह्मजगतोरत्यन्ताभेदेन ब्रह्मणः सत्यत्वेन जगतोऽपि सत्यत्वावश्यंभावात् भेदतमात्रस्य मिथ्यात्वस्वीकारेणाद्वैतश्रुतीनामखिलानां निर्वाहः । भेदस्य मिथ्यात्वादेव भेदघटिताधाराधेय भावसंबन्धोऽपि मिथ्यैव ।'[१]

२. **'वाचारंभणं विकारः'** (छा०उ० ६.१.४) तथा 'ब्रह्मसूत्र'—

'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र०सू० १,४,२६) की व्याख्या करते हुए **भास्करराय** ने **'वरिवस्यारहस्यम्'** में श्रुति एवं व्यास दोनों को परिणामवादी सिद्ध किया है । आचार्य रामानुज, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य, भास्कराचार्य, श्रीपति, श्रीकण्ठ आदि सभी आचार्यों ने 'परिणामवाद' का ही प्रतिपादन किया है । **'वामकेश्वरतन्त्र'** भी 'परिणामवाद' का प्रतिपादक है—

१. 'तस्यां परिणतायां तु न कश्चित्पर इष्यते' (वामकेश्वरीमतम्)

२. तच्च दृश्यं तत्परिणाम एव, तस्यां परिणतायां ॥

३. 'परिणामवाद एवाभिप्रेतः' (वरिवस्यारहस्यम् भास्कर) कहकर भास्कर ने तो इसको प्रतिपादित किया ही है ।

भास्करराय—तांत्रिक मत परिणामवादी है ।

आचार्य शङ्कर का विवर्तवाद एवं परिणामवाद दोनों में विश्वास—वेदान्ती शङ्कराचार्य तो 'विवर्तवादी' हैं किन्तु भक्त शङ्कराचार्य परिणामवादी हैं । आचार्य शङ्कर 'सौन्दर्यलहरी' में इसी 'परिणामवाद' का प्रतिपादन करते हैं—

'मनस्त्वं व्योमस्त्वं, मरुदसि मरुत्सारथिरसि ।
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि, परिणतायां नहि परम् ॥
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा ।
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन विभृषे ॥'[२]

आभासवाद एवं प्रतिबिम्बवाद—शैव तांत्रिक दृष्टि आभासवाद की भी पोषक है । संकुचित रूप से जो किसी भी भाव, सत्ता या पदार्थ का प्रकाशन होता है उसका अभिधान है—'आभास': 'आभासनं—आ ईषत् संकोचेन भासनं प्रकाशना ॥'[३]

आचार्य अभिनवगुप्तपादाचार्य ने प्रतिबिम्ब को **'आभास'** संज्ञा दी है । 'भासन-सारतैव हि **प्रतिबिम्बता** ।' 'इह अवभासनसारमेव **प्रतिबिम्बतत्त्वम्**' ।

निष्कर्ष—'आभास' के दो पक्ष हैं—

(क) विमर्शसमवेत 'प्रकाश' का संकुचित या अपूर्ण आत्मप्रकाशन

(ख) विमर्शसमन्वित 'प्रकाश' रूपी मुकुर में अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्तवद जड़चेतन निखिलविश्व का प्रतिबिम्बन ॥

---

१. सौभाग्यभास्कर (पृ० १५१) । २. सौन्दर्यलहरी ।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा वि०वि० (२ वि० २) ।

उत्पलदेवाचार्य ने 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' (३२) में 'अवभास' की दृष्टि का प्रतिपादन किया है— 'वर्तमानावभासानां, भावानामवभासनम् ।
अन्तःस्थितवतामेव, घटते बहियत्मना ॥'[१]

अर्थात् 'प्रत्यक्षेऽपि यावदर्थानां भेदेनावभासः प्रमात्रन्तर्लीनानामेव सतां युक्तः ।[२] अन्तःस्थित सत्ता का बहिःप्रकाशन ही आभासन है यथा कच्छप का अपने अंगों को अपने भीतर सिकोड़कर पुनः उन्हें बाहर निकालना ॥ चिदात्मा भी इसी प्रकार स्वलीन सत्ता का बहिःप्रकाशन किया करता है—

आभासवाद—चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ ३८ ॥[३]

अर्थात्—चित्तत्वमेवेश्वरत्वात्स्वात्मरूपतयोपपन्नाभासरूपमनन्तशक्तित्वादिच्छावशा-न्मृदादिकारणं विनैव बाह्यत्वेन घटपटादिकमर्थराशिं प्रकाशयेत् ॥[४] **'अवभास' का स्वभाव क्या है?** 'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ॥' 'विमर्श' ही प्रकाश की मुख्य आत्मा है और अवभासों का स्वभाव भी—'प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शः' (स्वभावमवभासस्य विमर्शं')[५] परमात्मा व्यावहारिक जगत् के व्यवहारानुसार ही स्वेच्छापूर्वक आन्तर अर्थजातों को बाहर प्रकाशित किया करता है—

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥' (५८)[६]

प्रतिबिम्बवाद—'जगत्' शिव से पृथक् बाहर कुछ भी नहीं है । दर्पण से अलग प्रतिबिम्ब की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती अतः दर्पण से पृथक उसका स्वतन्त्र देश भी नहीं होता । प्रतिबिम्ब कोई कठिन वस्तु नहीं अन्यथा उसका दर्पण से पृथक् देश होता है। प्रतिबिम्ब में घनता न होने से इसका कोई पूर्ववर्ती रूप भी नहीं होता । काल पूर्वापरभावसत्ताक होने से प्रतिबिम्ब में काल भी नहीं है । घनता न होने से उसमें परिमाण भी नहीं है । उसी एक ही दर्पण में अनेक प्रतिबिम्बों के एक साथ पड़ने पर भी उनमें परस्पर संश्लेष नहीं होता । अन्य पदार्थों का भी एक साथ ही प्रतिबिम्बत होने के कारण अन्योन्य संग न होना भी सही नहीं है । इसे अवस्तु भी नहीं कह सकते । आभास-मात्रसार होने के कारण उसमें निजी स्वतन्त्रता भिन्न सत्ता की विद्यमानता देखना भी उपपन्न नहीं है 'दर्पणविधि' पर ध्यान दें—

'न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा ।
न चान्योन्यासंगो न च तदपहानिर्न घनता ॥
न चावस्तुत्वं स्यान्न च किमपि सारं निजमिति ।
ध्रुवं मोहः शाम्येदिह निरदिशद्दर्पणविधिः ॥'[७]

साधारण रूप से जो प्रतिबिम्ब क्रिया होता है उसमें बिम्ब पृथक् होता है—वह

१-६. प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेवाचार्यः ।
७. अभिनवगुप्तपाद—तंत्रालोक (ई०प्र०वि०वि०) ।

वस्त्वन्तररूप है—किन्तु विमर्श शक्ति अपने स्वातन्त्र्य के ऐश्वर्य से पृथक् बिम्ब के बिना ही स्वस्वरूपभित्ति पर विश्वाकार में अपने को प्रतिबिम्बित करती है—

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह,
यद्वद्विचित्र रचना मुकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारवृत्या,
विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।'

'अवभासन' है क्या? 'अवभासनं विकल्पघनीभावेन स्फुरणम् 'उल्लेखन' क्या है? उल्लेखनं मनसि कल्पनम्' (भास्करी) जगत् अवभासन एवं उल्लेखन है ।

आत्मा की सभी अवस्थाओं में अविचल एकरूपता

जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ।
निवर्तते निजान्नैव स्वभावादुपलब्धृतः ॥ ३ ॥

जाग्रत् आदि भेदात्मक अवस्थाओं के मध्य भी वह (अभिन्न रूप में रहने वाला संवित् तत्त्व) अभिन्न रूप में है । (अपनी स्वरूपावस्था में ही समान रूप से) (वेदक के रूप में) प्रसरण करता रहता है । (अतएव इन विभिन्न अवस्थाओं की विद्यमानता में भी वह वेदक संवित् तत्त्व) अपने स्वस्वरूप से कभी निवृत्त (च्युत) नहीं होता ॥ ३ ॥

*** सरोजिनी ***

तन्त्रालोक में पाँच अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है—'जाग्रत स्वप्न सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम् । इति पञ्च पदान्याहुः ॥' (तं० १०.२२८)

शिवसूत्रकार कहते हैं कि 'ज्ञान' ही जागृतावस्था है—'ज्ञानं जाग्रत्' (१।८) वस्तु शून्य शाब्दिक ज्ञान 'विकल्प' है । 'स्वप्नो विकल्पः ॥ (१।९) पञ्चकंचुकावृत अविवेकी ज्ञान ही 'सुषुप्ति' है 'अविवेको माया सौषुप्तम्' (१।१०) ।

निजात् स्वभावात् नैव निवर्तते—**भट्टकल्लट** (स्पन्दकारिकावृत्ति)—

१. न तस्य स्वरूपम् आव्रियते यस्माद् उपलब्धृरूपत्वं त्रिष्वपि पदेषु साधारणम्

२. न तस्य स्वरूपान्यथाभावः ॥'

'निजात' = अपने आत्मीय । उपाधि शून्य स्वस्वरूप । **'स्वभाव'** = स्वरूप **'न निवर्तते'** = अन्यथा स्वरूप ग्रहण नहीं करता है ॥ (रामकण्ठ) ॥ उसका स्वभाव कैसा है? **'उपलब्धृतः'** = उपलंभक, ज्ञाता । अनुभविता ॥ (रामकण्ठ) ॥

उत्पलदेव इस कारिका के प्रारंभ में प्रश्न उठाते हैं—

'सर्ववृत्युपसंहारो निरोधो मास्तु तस्य तु ।
जाग्रदाद्यस्ववस्थासु कुतः स्यादनिरुद्धता ?' ('स्पन्दप्रदीपिका')

उत्पलाचार्य कहते हैं कि 'भले ही उसका (ज्ञानस्वरूप आत्मा का) सर्ववृत्युपसंहाररूप निरोध न हो किन्तु जाग्रत्; स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में वह अनिरुद्ध कैसे रह सकता है? इसी प्रश्न के उत्तर में ग्रन्थकार ने तृतीय कारिका कही है । ग्रन्थकार

का कथन है कि—यह सत्य है कि जाग्रत आदि अवस्थायें परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु वे सभी आत्मसंवित् से अभिन्न ही हैं। अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होने पर भी 'स्पन्दतत्त्व' अपने निज उपलब्धिमात्र स्वभाव से च्युत नहीं होता क्योंकि वह उपलब्धा है। उपलब्धा तीनों अवस्थाओं में समान रूप से रहता है। भेद अवस्थाओं में होता है अवस्थाता में नहीं। विष-वृक्ष का अंकुर क्या छोटा क्या बड़ा विष में भेद नहीं होता—

'अवस्थास्वेव भेदोऽयं नावस्थातुः कदाचन।
यथा विषस्यांकुरादौ तच्छक्तेर्न तु भिन्नता॥ इति॥'[१]

जाग्रत् एवं स्वप्न में संवेदन प्रसिद्ध है। सुषुप्ति के उत्तरकाल में भी सुख-निद्रा का संवेदन होता है। संवेत्ता अक्षुण्ण है। जल की लहरियों के साथ प्रतिबिम्ब हिलता है' किन्तु चन्द्रमा के साथ उस क्रिया का स्पर्श नहीं होता—

'वेल्लत्सु प्रतिबिम्बेषु जलस्पन्दानुवर्तिषु।
यथेन्दोर्न क्रियावेशस्तथाऽत्र परमात्मनः॥'[२]

अवस्थायें नाचती हैं, अपना रूप बदलती हैं, किन्तु परमात्मा से उनका संबन्ध नहीं है। अंग की कोई भी चेष्टा अंग से भिन्न नहीं प्रत्युत् अभिन्न है उसी प्रकार कोई भी भेद परमात्मा की अंग-चेष्टा ही है। द्रष्टा इन्द्रियों से अर्थ-ग्रहण करता है तो 'जाग्रत्', और उनके बिना केवल मन से अर्थ-ग्रहण करता है तो '**स्वप्न**' और जहाँ न अर्थ है न स्मरण वह है '**सुषुप्ति**'। किन्तु आत्मा शुद्ध बोधैकस्वरूप है—ज्यों का त्यों है। यही उसकी तुरीयता है—[३]

अक्षैर्योऽर्थग्रहो द्रष्टुस्तज्जाग्रदिति कथ्यते।
यत्तैर्विनार्थस्मरणं मनसा स्वप्नसंज्ञितम्॥
यत्रार्थस्मरणे नस्तत् सौषुप्तमुदाहृतम्।
शुद्धबोधेकरूपो योऽवस्थाता सैव तुर्यता॥[४]

किसी किसी का कथन है कि अवस्थाएँ तो विश्व के अन्तर्गत हैं किन्तु अवस्थाता नहीं। प्रत्यभिज्ञा आदि युक्ति से उसका खण्डन करने के लिए ही कारिकाकार ने अग्रिम कारिका कही है— अवस्था एवं विश्वान्तर्नावस्थातेति ये जगुः।
प्रत्यभिज्ञादियुक्त्येयं तन्निरासाय कारिका॥[५]

'जाग्रदादि' = जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति (तुरीय, तुरीयातीत) अवस्थायें।

यद्यपि ईश्वर तत्त्व किसी के द्वारा भी निरुद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु जाग्रतादि अवस्थाओं में वह गुप्त रहता है और किसी के अनुभव में नहीं आता।

ग्रन्थकार तर्क करता है कि प्रतिपक्षी मेरे कथन को स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि ऊपर उठाई गई शंका अद्यावधि अनुत्तरित है। इसी तारतम्य में ग्रन्थकार आगे कहता है कि यद्यपि व्यक्तिगत विभिन्नताओं के प्रवाह में जो कि जाग्रत आदि अवस्थाओं से पृथक्

१-५. उत्पलाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका।

नहीं हैं तथापि पृथकत्व प्रतीत होता है लेकिन वह तत्त्व अपने प्रत्यभिज्ञा (Cognition) के सत्स्वरूप से कभी अपने को पृथक् नहीं करता अर्थात् अपने सत्स्वरूप से च्युत नहीं होता ॥[१]

विभेदेऽपि—भिन्न होने पर भी, पृथक् होने पर भी । प्रसर्पति = (प्रकृष्टेन सर्पति) —प्रसरण करती है, चलती है ।

'निवर्तते' = यद्यपि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थायें पृथक्-पृथक् हैं अतः स्पन्द तत्त्व, एक होता हुआ भी व्यवहार में पृथक्-पृथक् अवस्थाओं में व्यवहार करने के कारण, एकाधिक सा प्रतीत होता है किन्तु सत्य तो यह है कि यह स्पन्द तत्त्व स्वस्वभाव से उपलब्धृरूप से—स्वसंवित्स्वरूप से कभी निवर्तित (च्युत या पृथक्) नहीं होता—'तत् स्पन्दतत्त्वं निजादात्मीयात् स्वभावादुपलब्धृरूपात् स्वसंवित्स्वरूपान्नैव निवर्तते ॥'[२] ऐसा क्यों ? क्योंकि वह सभी अवस्थाओं में (बिना परिवर्तन या पार्थक्य के, बिना किसी विभेद के) स्वस्वरूप में विद्यमान मिलता है । अतः स्पष्ट है कि तीनों अवस्थाओं (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) में स्पन्द तत्त्व का उपलब्धृरूपत्व सामान्य रूप से (अपृथक् रूप से, अपरिवर्तित दशा में) विद्यमान रहता है । जाग्रत एवं स्वप्न दशाओं के अनुभवों में तो स्पन्दतत्त्व की एकता की धारा अविच्छिन्न रहती ही है किन्तु जब व्यक्ति सो जाने के समय अपने को भूल जाता है—उसे अपनी विद्यमानता की भी स्मृति नहीं रह जाती—आत्मप्रत्यभिज्ञा भी सुषुप्त हो जाती है—ऐसी सुषुप्ति की दशा में भी (जब व्यक्ति सोकर उठता है तो जो यह कहता है कि 'मैं अत्यन्त सुखपूर्वक सोया'—इस अनुभूति के कारण यही सिद्ध होता है कि सारी अवस्थाओं के पृथक्-पृथक् होने पर भी उनमें एक वस्तु अवश्य है जो कि अविच्छिन्न निरन्तरता बनाए रखती है अतः) स्पन्द तत्त्व अपरिवर्तित रूप में अखण्डतः एक ही रहा आता है । संवेदन भले ही पृथक्-पृथक् हो जायें, अवस्थायें भले ही पृथक्-पृथक् हो जायें किन्तु अवस्थातीत स्पन्द तत्त्व या संवेत्ता प्रारंभ से अन्त तक सभी अवस्थाओं में अक्षुण्ण रूप में एक ही रहा आता है 'संवेत्ता निर्दिष्ट एव भवति ।[३]

'विभेदे' (विशेषेण भेदो विभेदः तस्मिन्) = विशिष्ट प्रकार के भेदों के होने पर ।[४] **'अभिन्ने'** = वह स्पन्दतत्त्व ताद्रूप्य में अवस्थित होने के कारण आद्योपान्त निरन्तर एकरूप, तद्रूप एवं स्वस्वरूपावस्थित रहा आता है—

'किंभूते? तदभिन्ने? तस्यैव ताद्रूप्येणावस्थानात् ।'[५]

'तत्तत्वं ... सर्वस्यात्मभूताच्च अनुभवितृरूपात् स्वभावान्नैव निवर्तते ॥ यदि हि स्वयं निवर्तेत तज्जाग्रदाद्यपि तत्प्रकाशं बिना कृतं न किंचित् प्रकाशेत् । उपलब्धृता च एतदीया जागरास्वप्नयोः सर्वस्य स्वसंवेदनसिद्धा, सौषुप्ते यद्यपि सा तथा न चेत्यते तथापि एव च स्वभावात् न निवर्तते ॥'[६]

---

१. अचार्य क्षेमराजः—स्पन्दनिर्णय ।   २. स्पन्दप्रदीपिका ।
३-५. स्पन्दप्रदीपिका ।   ६. स्पन्दनिर्णय ।

आचार्य क्षेमराज इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यद्यपि चेतना की जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की धारायें पृथक्-पृथक् हैं एवं योगियों को अवधान, धारणा, एकाग्रता ध्यान एवं समाधि आदि के रूप में भी वे पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर होती हैं तथापि वह स्पन्द तत्त्व जो कि समस्त विश्व के जीवन का प्राणतत्त्व है (वह) अपरिवर्तित रूप में नित्य, एकरस एवं अखण्डप्रवाहित रहा करता है क्योंकि यदि वही निवर्तित हो जाय-तब तो जाग्रत = स्वप्न-सुषुप्ति की अवस्था में प्राणी में जाग्रत अवस्था वाली प्रत्यभिज्ञा-शक्ति (Cognitive Power) तो विद्यमान नहीं रहती तथापि इस अवस्था में भी उसका वहाँ अस्तित्व विद्यमान ही रहता है क्योंकि उसे सुषुप्ति के पूर्व की, स्वप्न की, एवं सुषुप्तिगत सुस्वाप की अनुभूतियाँ सोने के बाद पुनः जागने पर भी अविच्छिन्न रूप में बनी रहती है। स्पन्द तत्त्व अपने यथार्थ स्वरूप या बोधस्वरूपता से कभी पृथक् नहीं हुआ करता चाहे उसके माहात्म्य के कारण जागृत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि अवस्थायें भले ही नष्ट क्यों न हो जायें।

'एव'—यहाँ 'एव' शब्द 'अपि' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] भाव यह है कि—उनकी (उन अवस्थाओं की) अनुपस्थिति में भी वह नित्य स्पन्द तत्त्व अपने स्वस्वरूप से च्युत नहीं होता—निरुद्ध नहीं होता।

'तदभिन्ने' का अर्थ क्या है? 'उससे भिन्न नहीं' अर्थात् इसका प्रथम तात्पर्य है—'नानुभूयते न निरुध्यते। न निरोत्स्यते।'[२]

'तदभिन्ने' = 'उससे भिन्न नहीं'। अर्थात् जागृदादि अवस्थाओं में तो परस्पर भिन्नता है किन्तु 'स्पन्दतत्त्व' में भिन्नता नहीं है।

'तदभिन्ने' = जागृदादि अवस्थाओं से अभिन्न। अर्थात् जागृदादि अवस्थायें भले भिन्न-भिन्न हो तथा स्पन्दतत्त्व भी अभिन्न होने के कारण इन अवस्थाओं से भिन्न हो तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि तत्त्वतः ये **जागृदादि अवस्थायें भी स्पन्द तत्त्व से अभिन्न हैं** क्योंकि वे उसी का आश्रय लेकर जीवित रहने के कारण स्पन्द से एकरूप हैं। शिवस्वभाव से अभेदात्मक रूप में प्रकाशमान होने के कारण अवस्थायें भी प्रकाशरूप हैं—'तस्मात् शिवस्वभावाद् अभेदेन प्रकाशमानत्वात् प्रकाशरूपेत्यर्थः।'[३] जो एकात्मक है वह किस प्रकार उसके निवृत्त हो जाने पर भी स्थित रह सकेगा ? किसी भी एक वस्तु की सत्ता एक दूसरे के बिना असंभव है।[४]

'अभिन्न' = शिवतत्त्व। **स्वस्वभाव** = आत्मा।

'स्वस्वभाव' = निर्मलचिन्मात्ररूप। जो पदार्थ इदन्तापन्न प्रमेयों का प्रकाशक होने के कारण उनकी स्थिति (अस्तित्व) का मूलाधार हो, जो कर्ता होने के कारण प्रमेयों का कारण (उत्पत्तिस्थान) हो और जो अपनी अनवच्छिन्न महिमा से महिमान्वित निर्मल-चिन्मात्रैकरूप हो—वही है **'स्वस्वभाव'**। 'यः पदार्थः सर्वस्य इदन्तापन्नतया प्रमेयभूतस्य ... प्रकाशकत्वेन स्थितिहतुत्वात् आधारभूतः .... अनवच्छिन्नमहिमा निर्मलचिन्मात्रैकरूपः

१-४. स्पन्दनिर्णय।

स इह **स्वस्वभावशब्देनाभिहतः** न तु जात्याद्यवच्छिन्नाभिमानसंकोचितात्मनो मायाशक्त्य-पह्नुत स्वैश्वर्यसंविदः कार्यवर्गान्तःपातिनः प्राणिप्रबन्धस्य स्वरूपं स्वस्वभावः' इति युक्तम् उक्तम् 'आत्मैव शङ्कर' इति ॥[१] **'न निवर्तते'** = अन्यथा ।

नहीं हो जाता, पृथक् नहीं हो जाता (नान्यथा भवति। न च्यवते ।)[२] **'स्वस्वभावात्'** = स्वरूप द्वारा उसका 'स्वभाव' है कैसा? उत्तर—**'उपलब्धृतः'** अर्थात् उसका स्वभाव उपलंभक, ज्ञाता एवं अनुभविता का है अर्थात् वह 'उपलब्धृलक्षण' है । **'विभेद'**—व्यतिरेक । अवस्थाओं का अन्योन्य वैलक्षण्य । **'जाग्रदादि'** = जाग्रत आदि अवस्थायें । **'आदि'** = स्वप्न, सुषुप्ति की अवस्थायें । **'स्वप्न'** की अवस्था में स्मृति आदि एवं **'सुषुप्ति'** की अवस्था में मद, मूर्च्छा आदि अवस्थायें अन्तर्भूत हैं ।

'जाग्रत अवस्था' का क्या अर्थ है?—'यस्यां श्रोत्रादिभिः इन्द्रियैः शब्दादीन् इन्द्रियार्थान् गृह्णन् प्रसृतशक्तिः पुरुषः परिस्पन्दते' (अर्थात् जिसमें श्रवणेन्द्रिय आदि इन्द्रियों से शब्दादिक ऐन्द्रिय विषयों को ग्रहण करके बाहर फैली हुई पुरुष रूप शक्ति परिस्पन्दन करती है उसे जागृतावस्था कहते हैं) ।

'स्वप्नावस्था' किसे कहते हैं?—'स्वप्नः स्वापावस्था, यस्यां स्वव्यापारपरि-श्रान्तः श्रोत्रादिविहार-विरतावपि मनसैव असौ विषयान् परिगृह्णाति ।' (अर्थात् वह अवस्था जिसमें कि इन्द्रियों के द्वारा स्वव्यापार से परिश्रान्त होकर श्रवणेन्द्रियादिक इन्द्रियों के विरत हो जाने पर भी केवल मन के द्वारा विषयों का ग्रहण किया जाता है 'स्वप्नावस्था' कहलाती है) ।

'सुषुप्ति अवस्था' किसे कहते हैं? 'सुषुप्तं गाढ़निद्रारूपा सुखस्वापावस्था, मनो व्यापारस्यापि व्युपरमे सति यत्र व्यतिरिक्तं वेद्यसंवेदनं तात्कालिकं नास्ति ॥' (अर्थात् सुखपूर्वक सोने की वह प्रगाढ़ावस्था जिसमें मन भी व्यापार करना बन्द कर देता है और व्यक्ति को व्यतिरिक्त वेद्य-संवेदन का तात्कालिक ज्ञान भी नहीं होता 'सुषुप्ति की अवस्था' कहलाती है ।) ।

'विभेदेऽपि' = विभिन्न अवस्थाओं में प्रवर्तमान रहने पर भी । 'न निवर्तते' = अपने उपलंभक, उपलब्धा स्वभाव से निवर्तित नहीं होता । समस्त अवस्थायें (जागृतादिक अवस्थायें) उसके अन्तर्गत ही स्थित हैं । यदि यह उपलब्धा अवस्थात्मक होता तो अवस्थाओं के पृथक्-पृथक् रूप में स्थित होने पर वह भी पृथक्-पृथक् स्वरूपों में रूपान्तरित (विभिन्न रूपों में विभाजित) हो जाता किन्तु ऐसा नहीं होता—'यदि अवस्था-त्मक एव अयम् उपलब्धा स्यात् तत् अवस्थावत् सोऽपि विभिद्येत ॥'

'अपि'—भी । यह स्वभाव से (अवस्था व्यतिरेक से) निवर्तित नही होता । इसका प्रमाण यह है कि अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होने पर भी उपलब्धृलक्षण अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न होने पर भी उपलब्धृलक्षण अवस्थाता भिन्न-भिन्न रूपों में बदलता हुआ

१-२. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति ।

स्वरूपच्युत नहीं होता प्रत्युत् अभेदस्वरूप ही रहता है—यही सभी को अनुभव होता है—'अवस्थाभेदेऽपि उपलब्धृलक्षणस्य अवस्थातु: अभेद:, इति सर्वस्य अत्र स्वानुभव: प्रमाणम् ॥'[१]

'जो मैं सोया था वही मैं अब जाग रहा हूँ'—इस प्रकार की एकानुसंधानात्मक अनुभूति जागरादिक सभी अवस्थाओं में चलती रहती है । जिस प्रकार एक देह में अवस्थाव्यतिरिक्तरूप उपलब्धा एक ही रहता चला आता है । उसी प्रकार समस्त देहों में भी एक ही आत्मा रूप उपलब्धा निरन्तर एक ही रहता चला आता है ।[२]

प्रत्येक प्राणी में जो 'अहमस्मि' की पृथक्-पृथक् अनुभूति होती है यह पार्थक्य-संवलित अस्मद् प्रत्यय मायीय है न कि तात्त्विक । योगशास्त्रों में प्रख्यात जागरादिक अवस्थाओं में भी उस आत्मसंवित् में अभेदता बनी ही रहती है क्योंकि संवित् तत्त्व वहाँ भी उपलब्धक के रूप में ही स्थित रहता है । क्योंकि—योगशास्त्र की साधनावस्थाओं-एवं जागरादिक अवस्थाओं में भी साम्य है, अभेद है—अभिन्नता है ।

('एताभि: अवस्थाभि: योगशास्त्र प्रसिद्धास्वपि जागराद्यवस्थासु तस्य अभेद: प्रतिपादितो वेदितव्य । तास्वपि तस्य उपलब्धृत्वेन व्यापकतया अवस्थानात्') ।

१. जागरावस्था एवं धारणा में अभेद—[३]

'तत्र ध्येये अर्थे झगिति प्रवृत्तिमात्रं **जागरावस्था, धारणा इति** क्वचित्प्रसिद्धा ।'

२. स्वप्नावस्था एवं ध्यान में अभेद—[४]

'तत्रैव विसदृशप्रत्ययपरिहारेण समान प्रत्यय प्रवाहैकतानतानुसंधानं **स्वप्नावस्था** ध्यानम् इति याम् आहु: ।

३. 'सुषुप्तावस्था एवं समाधि में अभेद—[५]

'क्रमेण ऐकाग्यातिशयात् प्रत्ययान्तरासंकीर्णसूक्ष्मध्येयाभासमात्रविशेषता चित्तस्य सवेद्यसुषुप्तावस्थायां वितर्कविचारानन्दास्मितानुरूपानुगमलक्षस्य संप्रज्ञातस्य समाधे: आनन्दास्मितामात्रानुगतम् अवस्थाविशेषम् आचक्षते । यस्तु—'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्त्य:' (पा० १७)— इति कृतलक्षण: असंप्रज्ञातसमाधि:, तत अप-वेद्य सुषुप्तम् ॥ (सर्वासु एतासु च अनुभावितृरूपस्य व्यापकस्य एकस्य स्वभावस्य सत्ता स्थितैव) ॥[६] सारांश यह कि इन समस्त योगावस्थाओं एवं जीवों की जागरादिक सभी अवस्थाओं में अनुभविता, अद्वैत, सर्वव्यापक संवित्तत्त्व रूप स्वस्वभाव की सत्ता अखण्ड रूप में प्रवाहित है और वह अभेदरूप है ।

४. सालम्बन समाधि—'यत: सालम्बने तावत् समाधौ व्यतिरिक्तवेद्यसद्भावात् लौकिकावस्थावत् वेदकस्य उपलब्धु: सत्वं स्फुटम् एव ।[७]

५. निरालम्बन समाधि—'यत्र तु निरालम्बनत्वात् अभावरूपत्वं तत्र तत्कालमेव

१-७. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति ।

वेद्यासंवेदनमात्रं न तु वेदकस्य वेदकत्वाभावः सुषुप्तादिवत्' ततो निःसृतस्य सा अवस्था स्मर्तव्यतया वेद्यत्वम् आपन्ना व्यापकस्य सद्भावम् अभिव्यञ्जयत्येव ।'[१]

कहा भी गया है—'जाग्रदादिनापि भेदे प्रवर्तमाने न तस्य स्वरूपमाव्रियते ॥'[२]

परिणामवाद एवं विवर्तवाद—

आचार्य क्षेमराज 'स्पन्दनिर्णय' में प्रश्न उठाते हैं कि—'जाग्रदादिविभेदेऽपि' शब्दावली में कारिकाकार का ध्वन्य क्या है? १. **'परिणाम'** या कि २. **'विवर्त'**?

१. परिणामवाद का खण्डन—आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि कारिकाकार ने परिणामवाद का प्रतिपादन नहीं किया है अतः 'तावन्न परिणामोऽस्ति ॥' किरणागम में भी कहा गया है कि—'परिणामोऽचेतनस्य चेतनस्य न युज्यते' अर्थात् परिणाम तो केवल अचेतन का हो सकता है किसी चेतन का नहीं ।[३]

यदि अवस्थाओं की यह अभिव्यक्ति थोड़ी भी चित् तत्त्व से भिन्न होती तो **अपर भी** पूर्ववर्ती के विकास पर वही हो जाएगा क्योंकि वह विकास है और ऐसी स्थिति में कोई भी प्रकाशित नहीं हो सकता । अतः परिणाम के लिए कोई स्थान नहीं है । **आचार्य क्षेमराज** कहते हैं—'अवस्था प्रपञ्चोऽपि यदि चिन्मात्रात्परिणामतया मनागपि अतिरिच्येत् चिद्रूपं वा तत्परिणतौ मनाग् अतिरिच्येत् तन्नकिञ्चिच्चकास्यादिति तावन्न परिणामोऽस्ति ॥'[४]

२. विवर्तवाद का खण्डन—भासमान यह विश्व एवं उसकी अवस्थायें असत्य नहीं है क्योंकि तब तो स्वयं ब्रह्म भी असत्य सिद्ध हो जाएगा क्योंकि विश्व भगवान् का रूप ही तो है 'न च भासमानौऽसौ असत्यो ब्रह्मतत्त्वस्य अपि तथात्वापत्तेः—इत्यसत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्त इत्यपि न संगतम् ।'

फिर कारिकाकार का ध्वनित क्या है? वस्तुतः कारिकाकार 'विभेदेऽपि तदभिन्ने' पदावली का प्रयोग करके 'भगवान् के अति दुर्घटकारित्व' को प्रकाशित करना चाहता है—'अनेन चातिदुर्घटकारित्वमेव भगवतो ध्वनितम् ॥'[५]

आचार्य क्षेमराज यह भी व्याख्या करते हैं कि कारिकाकार ने 'जागरादिविभदेऽपि तदभिन्ने' पदावली का जो प्रयोग किया है और उसके द्वारा विभेद होते हुए भी स्वाभेद प्रदर्शित करना और इस प्रकार भेदाभेदोभय की अभिव्यक्ति करना (१) पर (२) अपर एवं (३) परापर—इस शक्तित्रय से युक्त भगवान् का ही जगत् के रूप में स्फुरित होना प्रमाणित करता है । 'विवर्त' मिथ्यावाद का पोषक है । किन्तु सत्य तो यह है कि जागरादि अवस्थाओं में अवस्थित होने पर भी यह संवित् तत्त्व स्वस्वभाव का परिशीलन करता हुआ कोई अन्य नहीं है प्रत्युत मात्र शङ्कर ही है । अतः विवर्त का तो प्रश्न ही नहीं उठता ॥[६]

'अभिन्ने' पद, परमात्मा द्वारा असंभव वस्तुओं को भी उत्पन्न करने की क्षमता का

१-६. क्षेमराज—'स्पन्दनिर्णय' ।

द्योतक है । परमात्मा (१) परा (२) अपरा एवं (३) परापरा शक्तियों के रूप में प्रकट होता है क्योंकि वह जाग्रदादि अवस्थाओं की स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्ता (Individuality) एवं उसके साथ अपनी अभेदात्मकता व्यक्त करता है । परमात्मा जागृदादि अवस्थाओं में रहता हुआ भी अपने स्वस्वरूप की गवेषणा एवं साक्षात्कार करता रहता है ।।[1]

आचार्य रामकण्ठ—'स्पन्दकारिकाविवृति' में कहते हैं कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत आदि विभिन्न अवस्थाओं में तो आत्मा एक रूप रहती ही है किन्तु अन्य अवस्थाओं में भी वह अविचल, अप्रभावित, अरूपान्तरित, अपरिवर्तित एवं एक रस तथा एक रूप (समस्वभाव, स्वस्वभाव) रहती है यथा—

१. स्मृत्यावस्था में—'स्मृत्यावस्था अनुभूतविषयासंप्रमोषात्मिका स्वप्न सदृशी, मनसैव विषयग्रहणसाम्यात् ।।

२. मदावस्था में—'मदः पानातिशयजः चित्तेन्द्रियवृत्ति प्रमोषरूपो विकारः' ।

३. मूर्च्छावस्था में—'मूर्च्छा विषादविषादिभोजनादिजनित मोहात्मा' ।

इसी प्रकार वेद्यों के ग्रहणाभाव साम्य से सुषुप्ति तुल्य अन्य चेतनावस्थायें भी हैं वे सभी इन्हीं में अन्तर्भूत हैं । किन्तु इन किसी भी अवस्था में आत्मा क्यों न हो किन्तु वह अपने नित्यात्मक स्वस्वभाव, स्वस्वरूप का त्याग कभी नहीं करती—'एतन्निमित्तके विभेदे प्रवर्तमानेऽपि, निजात् उपलब्धुः स्वभावात् असौ न निवर्तते ।।

यदि आत्मा भी अवस्थाओं के साथ अपना रूप, या अपनी अवस्था परिवर्तित कर देती तो—तब तो अवस्थाओं के साथ वह भी बदल जाती—'तत् अवस्थात् सोऽपि विभिद्येत, किन्तु ऐसा होता नहीं ।

कारिकाकार ने 'अपि' शब्द का प्रयोग क्यों किया ? रामकण्ठ कहते हैं कि—एकस्वभाव, समधर्मा रहकर प्रसरण करती है और 'अयं स्वभावात् अवस्था व्यतिरिक्तात् न निवर्तते इति + अपि शब्दस्य अर्थः'—इसीलिए यहाँ 'अपि' शब्द प्रयुक्त हुआ है । **'तदभिन्ने'** क्यों कहा? अवस्थाता होते हुए भी आत्मा अनेक भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में अपने स्वभाव से निवर्तित नहीं होती इसीलिए 'तदभिन्ने' (उनसे भिन्न रूप में किन्तु अपने सत्स्वभाव में अभिन्न रहकर) कहा गया अवस्थाभेदों में भी अवस्थाता अभेदात्मक ही रहता है । **'स्वभाव' क्या है?** 'स्वस्वभाव एव शङ्कर इति सम्यक् उपपादितं स्वानुभावा-नपह्नविनः प्रबुद्धान प्रति ।'

अवस्थात्रय में भी एकत्व

द्वितीय कारिका में आन्तर एवं बाह्य दोनों अवस्थाओं में एक ही स्वभाव (स्पन्दतत्त्व) की व्याप्ति का प्रतिपादन किया गया था ।

समस्त भेदों में भी अभेद—

प्रश्न--जब जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में भिन्नता है फिर सभी में स्वभावगत एकता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है?

---

१. स्पन्दनिर्णय ।

कारिकाकार इसके उत्तर में कहते हैं कि—

(१) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि विभिन्न अवस्थाओं में भी भेद-विमुक्त सत्ता समान रूप से वेदक (प्रमाता) के रूप में अवस्थित रहता है ।

(२) इन विभिन्न अवस्थाओं के प्रसरण के समय भी वह सत्ता अपने अनुभूत्यात्मक (अनुभविता) स्वभाव से च्युत नहीं होता ।

भट्टकल्लट कहते हैं कि—

'जाग्रदादिनापि भेदे प्रथमाने न तस्य स्वरूपम् आव्रियते, यस्मात् उपलब्धृरूपत्वं त्रिष्वपि पदेषु साधारणाम्, न तस्य स्वरूपान्यथाभावः, यथा विषस्याङ्कुरादिषु च पञ्चसु स्कन्धेषु ॥'

सारांश = १. जाग्रत आदि भेदों के अस्तित्व का भान होने एवं उनका विस्तार (प्रसार) होने पर भी अनुभविता के स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं आती । अवस्थायें भिन्न-भिन्न हो सकती हैं किन्तु उन भिन्नताओं के अनुभव होते रहने पर भी अनुभविता भिन्न-भिन्न नहीं हो जाता प्रत्युत् एक ही रहता है । उसका स्वरूप आवृत्त नहीं हो जाता ।

२. अनुभविता के स्वरूप में उसी प्रकार कोई भेद या भिन्नता नहीं आ पाती जैसे कि विष के बीज में उत्पन्न मूल, शाखा, पत्र, फूल एवं फल आदि में व्याप्त विष एवं विष के बीज में व्याप्त विष में कोई भेद नहीं होता ।

३. प्रमाता की विभिन्न अवस्थायें निम्नांकित हैं—

'जाग्रत स्वप्नः सुषुप्तं च तुर्यं च तदतीतकम् ।
इति पञ्च पदान्याहुः ... ... ॥' (तं० १०.२२८)

'तदभिन्ने प्रसर्पति'—। जाग्रत आदि भेदसमन्वित अवस्थायें भेदशून्य 'तत्त्व' से अभिन्न है किन्तु वह 'तत्त्व' भेद कल्पना द्वारा (लीला रूप में) भेदों को प्रस्तुत करता है ।

'तदभिन्ने' = जाग्रदादि अवस्थाओं में पारस्परिक भेद तो है किन्तु उनमें भेद-विमुक्त परासत्ता वेदक के रूप में व्याप्त रहती है ।

जाग्रदादि = जाग्रत् आदि अवस्थायें—
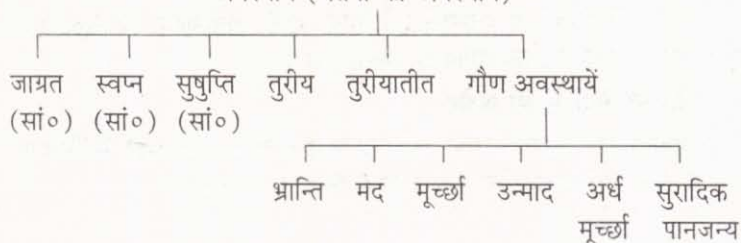
'तुरीय' = अहंविमर्शात्मक शाक्तभूमिका ।

तुरीयातीत = पूर्ण शिवभाव की अवस्था ॥

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति = (स्पन्द दार्शनिक एवं स्पन्दाचार्यों का अभिष्ट) निर्विकल्पचिद्घनता की भूमिकायें । भेदकल्पना से शून्य अवस्था चिद्घन अवस्था ॥ शाश्वत जागरण की अवस्था ।

१. 'सर्वसाधारणार्थ विषयं बाह्येन्द्रियजं ज्ञानं लोकस्य जाग्रत **'जागरावस्था'** ।—शि०सू०वि० ।

२. ये तु मनोमात्र जन्या असाधारणार्थविषया विकल्पाः स एव स्वप्नः **स्वप्ना-वस्था'** ।—शि०सू०वि० ।

३. अविवेको विवेचना भावोऽख्यातिः एतदेव सौषुप्तम् ॥—शि०सू०वि०—**क्षेमराज** ॥

अवस्थाएँ

जाग्रत	स्वप्न	सुषुप्ति
(योगियों की धारणा-वस्था)	(योगियों की ध्याना-वस्था)	(योगियों की समाधि की अवस्था)
(यौगिक)	(यौगिक)	(यौगिक)

१. जाग्रतत्स्वप्नसुषुप्तिभेदे तुर्याभोगः संभवः ॥ —शि०सू० ।

२. 'ज्ञानं जाग्रत' (शिवसूत्र) । (१.८)

१. 'ज्ञानं जाग्रत' १।८ ॥

२. स्वप्नो विकल्पाः ।१।९।

३. अविवेको माया सौषुप्तम् ।१।१०

इन अवस्थाओं की सविस्तार व्याख्या—

१. जाग्रत—ज्ञानं बाह्याक्षजं जाग्रत् सर्वसाधाणार्थकम् ॥ १।४६ ॥

२. स्वप्न—स्वप्नः स्वात्मैव संप्रोक्तो विकल्पाः स्वात्मसंभवाः ॥

३. सुषुप्ति—अविवेको निजाख्यातिर्मायामोहस्तदात्मकः ।

सौषुप्तं योगिनामेतत्त्रितयं धारणादिकम् ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञायां जागराद्यपि लक्षितम् ॥ ४८ ॥
शून्ये वुद्ध्याद्यभावात्मन्यहन्ताकर्तृतापदे ।
अस्फुटारूपसंस्कारमायिणि ज्ञेयशून्यता ॥ ४९ ॥
साक्षाणान्तरी वृत्तिः प्राणादिप्रेरिका मता ।
जीवनाख्याथवा प्राणेऽहन्ता पुर्यष्टकात्मिका ॥ ५० ॥
तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।
सवेद्यमपवेद्यं च मायामलयुतायुतम् ॥ ५१ ॥

मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात् ।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥ ५२ ॥
सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतरा स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्व प्रमातॄणां स जागरः ॥ ५३ ॥
इति विस्तरतः प्रोक्ते लोकयोग्यनुसारतः ।
जगरादित्रयेऽमुष्मिन्नवधानेन जाग्रतः ॥ ५४ ॥

४. **तुर्या**— शक्तिचक्रानुसंधानाद्विश्वसंहारकारणात् ।
तुर्याभोगमयां भेदरख्यातिरख्यातिहारिणी ॥ ५५ ॥

५. **तुर्यातीत**—स्फुरत्यविरतं यस्य स तद्धाराधिरोहतः ।
तुर्यातीतमयं योगी प्रोक्त चैतन्यमामृशन् ॥
वरदराज—'शिवसूत्रवार्तिकम्'

सुषुप्ति—ज्ञानज्ञेयस्वरूपायाः शक्तेरनुदयो यदा ।
चिद्रूपस्याविवेकः स्यादसावेवाविमर्शतः ॥
सैव मायावृत्ति जालपोषकत्वात्प्रकीर्तिता ।
अर्थस्मृतीस्वात्मसंस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता ॥—शि०सू०वा०
यस्तु अविवेको विवेचनाभावोऽख्यातिः,
एतदेव मायारूपं सौषुप्तम् ॥ (शिवसूत्रविमर्शिनी)
अर्थस्मृती स्वात्मसंस्थे चिद्रूपे सा सुषुप्तता ॥ (शि०सू०वा०)
ग्राह्यग्राहकभेदासंचेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तम्,
इत्यप्यनया वचो युक्त्या दर्शितम् ॥ (शि०सू०वा०)
दृष्टि स्वभावस्य विभोरन्तर्नव तयोदयः ।
विकल्पानां स्मृतः स्वप्नस्तदबाह्यार्थनिरासतः ॥ (शि०सू०वा०)

जाग्रत अवस्था—जिस अवस्था में पशुप्रमाता की इन्द्रियाँ सामान्य लोगों के विषयों को ग्रहण करने हेतु स्पन्दायमान हो उसे जाग्रत् अवस्था कहते हैं । इस अवस्था के प्रमेय प्रमाता की कल्पना या स्वप्नाश्रित संस्कारों से न उत्पन्न होकर जागतिक स्तर पर एक व्यावहारिक सत्य के रूप में स्थित रहते हैं और एक ही साथ अनेक प्रमाता उनको इन्द्रियगोचर कर सकते हैं । अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियों की वृत्तियों से उत्पन्न सुख, दुःख, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, ईर्ष्या, प्रेम, राग, विराग के ज्ञान की इसी व्यावहारिक सत्य की अवस्था को जाग्रत् अवस्था कहते हैं ।

स्वप्नावस्था—जाग्रतावस्था के बाधित होने पर एवं बाह्य जगत् से ऐन्द्रिय सम्बन्धों के टूट जाने पर जो अन्तर्मुखी काल्पनिक अवस्था उत्पन्न होती है और जिसमें प्रमाता, प्रमेय, प्रमा, द्रष्टा-दृश्य-दर्शन केवल मन की वृत्तियाँ होती हैं और जो जागने पर बाधित हो जाती है वही संकपविकल्पात्मिकावस्था स्वप्नावस्था है ।

यह अन्य प्रमाताओं को अज्ञात एवं अननुभूत रहती है, रजोगुण प्रधान है, स्वल्पस्थायी है और जाग्रतावस्था में अस्पन्दित है ।

सुषुप्ति की अवस्था—यह तमोगुण प्रधान अवस्था है । तमोगुण का आधिक्य इतना प्रवर्द्धित हो जाता है कि प्रमाता शरीर, मन, बुद्धि सभी को विस्मृत करके गंभीर मोह में संलीन हो जाता है । इस अवस्था में एतत्कालिक सुख-दुख का स्मरण तो नहीं रहता किन्तु—'मैं सुखपूर्वक सोया'—इत्याकारक स्मृति-रेखायें अवश्य (स्मृति पटल पर) खिंच जाती है ।

१. जाग्रत में जाग्रत	२. जाग्रत में स्वप्न	३. जाग्रत में सुषुप्ति
२. स्वप्न में जाग्रत	२. स्वप्न में स्वप्न	३. स्वप्न में सुषुप्ति
३. सुषुप्ति में जाग्रत	२. सुषुप्ति में स्वप्न	३. सुषुप्ति में सुषुप्ति

ये समस्त अवस्थायें एक ही प्रमाता की अंगभूत अवस्थायें हैं—एक ही अवस्थाता न होता तो इन भिन्न अवस्थाओं का एक ही अवस्थाता प्रमाता अनुभव नहीं कर सकता था 'एकमेव ह्यवस्थातारमधिकृत्यासां तथाभावो भवेदिति भावः ॥' (तं०वि०)

ये पाँचों अवस्थायें एक ही वेदक में होती है—

'इति पञ्चपदान्याहुरेकस्मिन् वेदके सति ॥' (तं०)

'एकस्मिन् वेदके सतीति । अनेकस्मिन् वेदके अन्यस्य जाग्रदन्यस्य स्वप्न इत्य-वस्थानामवस्थात्वं पञ्चात्मकत्वं च न स्यात् ।' (तं०वि०) ।

इन समस्त अवस्थाओं में अनुभविता, ज्ञाता, वेदक या उपलब्धक प्रमाता तो एक ही रहता है । अवस्थायें परिवर्तित होती रहती हैं किन्तु अवस्थातीत आत्मा परिवर्तित नहीं होती—समरूप रहती है यदि एक ही अनुभावी या अवस्थाता न रहे तो इन अवस्थाओं का ज्ञान एवं उसकी स्मृति किसे होगी? ये पाँचों अवस्थायें स्वयं प्रमाता की स्वेच्छागृहीत अवस्थायें हैं । अवस्थाओं में बदलाव आता है किन्तु इन अवस्थाओं का अनुभावक कभी नहीं बदलता । चैतन्यसत्ता एक है और विभिन्न अवस्थाओं का अनुभव भी वही एक सत्ता करती है—अवस्थाओं की भिन्नता के साथ चैतन्यों (वेदकों प्रमाताओं) में भिन्नता नहीं आ जाती ॥

'माण्डूक्योपनिषद्' में आत्मा को चतुष्पाद बताते हुए एवं उनका विभिन्न अव-स्थाओं में अवस्थान इस प्रकार समझाया गया है और विभिन्न अवस्थाओं में भी एक अभिन्न प्रमाता की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

१) **आत्मा का प्रथमपाद**—१. 'वैश्वानर', २. स्वरूप—बहिःप्रज्ञ, ३. अंग—७, ४. मुख—१९, ५. **भोक्ता**—स्थूल, ६. इस आत्मा की अवस्था—जाग्रत् अवस्था ।

२) **आत्मा का द्वितीय पाद**—तैजस । अन्तप्रज्ञ । ७ अंग । १९ मुख । भोक्ता—सूक्ष्म विषयों का । अवस्था—'स्वप्नावस्था' ।

३) **आत्मा का तृतीय पाद**—'प्राज्ञ' । **भोक्ता** = आनन्द का । **मुख**—चेतना **स्वरूप** = ज्ञान । **अवस्था**—सुषुप्ति । **सुषुप्ति अवस्था** = 'यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कश्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् ॥' **स्थिति**—'एकीभूत' ।

एक ही आत्मा के तीन भेद है किन्तु उनमें चैतन्य एक ही है ।

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्त:प्रज्ञस्तु तैजस: ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृत: ।। (माण्डूक्योप०)

१. **'विभुविश्व'** = बहिष्प्रज्ञ २. **'तैजस'** = अन्त:प्रज्ञ ३. **'प्राज्ञ'** = घनप्रज्ञ । **विश्व का स्थान** = दक्षिणनेत्र । **तैजस** = मन के भीतर । **प्राज्ञ** = हृदयाकाश में । (एक ही आत्मा शरीर में ३ प्रकार से स्थित है) **'विश्व'** = स्थूलभुक । **तैजस**—सूक्ष्मभुक् । **प्राज्ञ** = आनन्दभुक् । इनको जानने वाला ज्ञाता भोगों को भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता ।

आत्मा का तुरीय स्वरूप—'तुरीय' का स्वरूप क्या है?—'नान्त: प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयत:प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय: ।।' ('माण्डूक्योपनिषद') ।

विश्व और तैजस—स्वप्न एवं निद्रा से आच्छादित । **'प्राज्ञ'** = स्वप्नशून्य किन्तु सनिद्र । **तुरीय**—न निद्रा न स्वप्न । **स्वप्नावस्था**—अन्यथा गृह्णत: स्वप्नो ।। (अन्यथा ग्रहण) । **निद्रावस्था**—निद्रातत्त्वमजानत: ।। (तत्त्व का अज्ञान)

स्वप्न + निद्रा दोनों का अन्त = तुरीय पद ।।

जो आत्मा विभिन्न अवस्थाओं में अवस्थित रहने के कारण भिन्नात्मक दृष्टिगोचर होती है उसे तात्विक दृष्टि से अभिन्न एवं अद्वैतभाव से देखने वाले ही परमार्थदर्शी हैं—

एतैरेषोऽपृथग्भावै: पृथगेवेति लक्षित: ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशंकित: ।। (मा० का०)

तुर्यपद तो अहंविमर्शात्मक शाक्तभूमिका है । स्थायी अवस्थान प्राप्त करने पर यही तुर्यातीत पूर्णशिवभाव है । स्पन्द दार्शनिक इसी तुर्यपद शाक्तभूमिका प्राप्त करने पर बल देकर शिवभाव तक ले जाने का प्रयास करते हैं । तुर्य + तुरीयातीत = निर्विकल्प चिदघन अवस्थायें । इसमें भेदकल्पना की संभावना नहीं । चिदघनावस्था सततोदीयमान रहने के कारण **शाश्वत जागरण** की अवस्था है ।

साधना-स्तर पर सांसारिकों की जागरण, स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्थायें—ध्यान, धारणा एवं समाधि की अवस्थायें हैं ।

शङ्कराचार्य कहते हैं—'निद्रा समाधि-स्थिति:' ।
आराधना—यद् यद् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनम्' ।
प्रदक्षिणा—संचार: पदयो: प्रदक्षिणविधि: ।
अपनी वार्ता—'स्तोत्राणि सर्वागिरो'
अपनी आत्मा—शिव । **अपनी बुद्धि** = पार्वती ।

शिवसूत्रकार ने भी—'कथा जप:, 'उद्यमो भैरव:, 'ज्ञानं जाग्रत' 'स्वप्नो विकल्प: ।' अविवेको माया सौषुप्तम् । इच्छा शक्ति: उमा कुमारी, 'दृश्यं शरीरं, 'वितर्क आत्मज्ञानम्, 'चितं मन्त्र:', 'प्रयत्न: साधक: । 'विद्या शरीरसत्ता मन्त्र रहस्यम्, 'शरीरं

हविः' 'ज्ञानं अन्नम्' आत्मा चित्तम्' ज्ञानं बन्धः । 'नर्तक आत्मा' 'रंगोऽन्तरात्मा' आदि रहस्यात्मक सूत्रों के द्वारा साधना-प्रयुक्त शब्दों में गुह्य प्रतीकार्थों को ग्रहण किया है।

'विज्ञानाकल' 'प्रलयाकल' एवं 'सकल' ये सभी आत्माओं के ही भेद तो हैं किन्तु चिदात्मा सभी में एक ही है भिन्न भिन्न नहीं ।

१. जाग्रत में जाग्रत्, जाग्रत् में स्वप्न, जाग्रत् में सुषुप्ति ।
२. स्वप्न में जाग्रत्, स्वप्न में स्वप्न, स्वप्न, में सुषुप्ति ।
३. सुषुप्ति में जाग्रत्, सुषुप्ति में स्वप्न, सुषुप्ति में सुषुप्ति ।

अवस्थायें भी होती हैं । ज्ञान की सप्त अवस्थाओं में भी इन सूक्ष्म अवस्थाओं का अन्तर्भाव है ।

समस्त अवस्थाओं एवं मनोदशाओं में एक ही स्पन्दतत्त्व की अनुस्यूतता

अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः ।
सुखाद्यवस्थानुस्यूते वर्तन्तेऽन्यत्र ताः स्फुटम् ॥ ४ ॥

यह तथ्य तो सम्यक् रूप से स्पष्ट है कि 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ' मैं अनुरक्त हूँ'—आदि जो संवेदन (विकल्पात्मक ज्ञान) हैं ये किसी अन्य वेदक सत्ता के साथ संबंधित हैं । वह (वेदक सत्ता) इन सभी से पृथक् होने पर भी इन सभी सुखादिक अवस्थाओं में अनुस्यूत है ॥ ४ ॥

*** सरोजिनी ***

स्पन्दात्मक स्वभाव समस्त अवस्थाओं में अनुस्यूत है । 'जो मैं पहले सुखी था वही मैं पीछे दुःखी या अनुरक्त हूँ'—इस प्रकार की अनुभूतियों में 'अहं प्रतीति' के रूप में एक ही संवेत्ता की अनुस्यूतता पाई जाती है । (भट्ट कल्लट) स्पन्दप्रदीपिकाकार इस कारिका का प्रतिपाद्य विषय बताते हुए कहते हैं—

'अवस्था एव विश्रान्तर्नावस्थातेति ये जगुः ।
प्रत्यभिज्ञादियुक्त्येयं तन्निरासाय कारिका ॥'

अवस्थाओं का परिवर्तन मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का होता है चैतन्य का नहीं । एक ही चैतन्यात्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं । तीनों अवस्थाओं में उस स्पन्दतत्त्व के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं पड़ता अन्यथा सोकर उठने पर तीनों अनुभूतियों को कैसे समानरूप से व्यक्त कर पाता ? समस्त अवस्थाओं में एक ही अवस्थाता अवस्थित है । सुख, दुःख, प्रसाद, विषाद आदि सभी मनोदशाओं में 'अहंप्रतीति' के रूप में एक ही वेदक अनुस्यूत है । **'स्वभाव'** सारी अवस्थाओं से भिन्न है ।

विवृतिकार + रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि जागरादि अवस्था विशेष में उपलब्धा संवित् तत्त्व 'स्वभाव' से निवर्तित नहीं होता क्योंकि 'स्व' की अर्थात् अपने (उपलब्धा स्वरूप के) ज्ञान की, 'भाव' (अर्थात् स्वानुभवरूप) की एकरूप अवस्थिति की अखण्ड अविच्छिन्नता (या निरन्तरता) इसे प्रमाणित करती है । किन्तु प्रश्न यह उठता है कि

'अनुभविता' 'उपलब्धा' अविच्छिन्न संवित् तत्त्व तो अनेक धरातलों पर भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है फिर उसकी अभिन्नता सिद्ध कैसे की जा सकती है? विवृतिकार पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि अनुभविता इन अवस्थाओं में तो इन निम्न प्रकार के प्रत्ययों से घिरा रहता है—

१. 'मैं मनुष्य हूँ' मैं ब्राह्मण हूँ, मैं देवदत्त हूँ, मैं युवक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मैं कृश हूँ, मैं स्थूल हूँ—इत्यादि । ये सभी प्रत्यय **देहालम्बन** हैं ।

२. 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ'—इत्यादि । ये प्रत्यय **बुद्ध्यालम्बन** हैं ।[१]

३. 'मैं बुभुक्षित हूँ, मैं पिपासु हूँ',—इत्यादि । ये प्रत्यय **प्राणालम्बन** हैं ।[२]

४. 'मैं कुछ भी नहीं जानता'—इस प्रकार के शून्यता प्रमाता के प्रत्यय हैं । ये प्रत्यवमर्शप्रत्येय सुषुप्तादि अवस्थाओं से प्रतिबुद्ध प्रमाता के प्रत्यय **शून्यालम्बन** हैं ।[३] और देह, बुद्धि, प्राण आदि तो अनित्य हैं और इनसे सम्बद्ध आलम्बन भी अनित्य हैं । फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उपलब्धा, अनुभविता, एकात्मप्रत्ययसार, अद्वैत एवं अभेद कहा जाने वाला आत्मतत्त्व स्वभाव से निवर्तित नहीं होता?—

इसी प्रश्न के उत्तर में कारिकाकार ने चौथी कारिका—'अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादिसंविदः' कही है ।[४]

उत्पलदेवाचार्य कहते हैं कि—किसी-किसी का यह कथन है कि अवस्थायें तो विश्वान्तर्गत हैं किन्तु अवस्थाता तो विश्वान्तर्गत नहीं है अतः अवस्थाओं को भी स्वभाव से अभिन्न कैसे कहा जा सकता है ? प्रत्यभिज्ञा आदि युक्तियों से इसका समाधान करने हेतु कारिकाकार यह चौथी कारिका प्रस्तुत करते हैं—

'अवस्था एव विश्वान्तर्नावस्थातेति ये जगुः ।
प्रत्यभिज्ञादियुक्त्येयं तन्निरासाय कारिका ॥'[५]

'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं रागी हूँ'—आदि प्रत्यय एवं अनुभव, संवेदन मात्र अवस्थायें हैं । वे भिन्न-भिन्न संवेदनों से पृथक् संवेत्ता या अवस्थाता (सुख दुःखादि के उपलब्धा) में उपराग रूप से सुस्पष्ट रूप में अवस्थित है । किन्तु ध्यातव्य यह है कि संवेत्ता के बिना भिन्न-भिन्न संवेदनों की सिद्धि कभी हो ही नहीं सकती—'संवेत्तारं विना संवेदनस्याभावात्' ।[६]

(क) **क्षणिकज्ञानवादियों का खण्डन**—क्षणिकज्ञान वादियों के मत में अनेक नदियाँ समुद्र में मिलकर तादात्म्य के कारण एक जान पड़ती हैं किन्तु यह संवेत्ता केवल अवस्थाओं का तादात्म्य नहीं है—

नद्योऽब्धाविव तादात्म्यं प्रत्प्रतिष्ठाः प्रयान्ति वा ।
क्षणिकज्ञानिनां ह्येव न तु ता एव केवलाः ॥

१-३. स्पन्दकारिकाविवृति । ४. स्पन्दकारिकाविवृति ।
५-६. स्पन्दप्रदीपिका ।

क्योंकि—कार्यकारणभाव (या बाध्यबाधकभाव तब तक सिद्ध ही नहीं हो सकता जब तक कि पूर्वदशा एवं उत्तरदशा का एक ही प्रमाता न हो—)

कार्यकारणभावो हि बाध्यबाधकताऽपि च ।
पूर्वापरैकमातारमन्तरेण प्रसिद्ध्यत: ॥[१]

जब प्रत्येक क्षण विलक्षण (पृथक्-पृथक्, पूर्वापरा सम्बद्ध) होंगे, प्रत्येक संविद् पृथक्-पृथक् होगी तो पूर्ववर्ती प्रमाण से उत्तरवर्ती प्रमेय को बोध कैसे होगा?

सम्बन्ध का ग्रहण किए बिना प्रमाण की गति क्या होगी? संवेत्ता के बिना मिथ्याज्ञान का मिथ्यात्व सिद्ध कैसे होगा? एक क्षण के अनन्तर यदि शुक्तिका रजत हो जाय तों उसे रोक कौन सकेगा?[२]

वस्तुत: संवेत्ता के एक हुए बिना प्रमाण-अप्रमाण का भेद ही नहीं रहेगा । ऐसी स्थिति में तो **घट की सिद्धि होगी किन्तु पट का अनुभव होगा ।**[३]

'यह वही व्यक्ति है; यह वही वस्तु है; यह वही दृश्य है'—इत्यादि प्रत्यय भी क्षणिकवादियों के मतानुसार संभव नहीं हैं । अत: पूर्वविज्ञान की स्मृति जिसे 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं—यह 'सर्वथा प्रामाणिक है क्योंकि लोकसिद्ध है और दैनन्दिन अनुभवगत है । इसलिए नित्यस्वभाव आत्मा ही संवेत्ता है । वास्तविक बात तो यह है कि एक प्रमाता आत्मा की सिद्धि के बिना प्रमाण भी अप्रमाण हो जाएगा क्योंकि सब कुछ क्षणिक और अनिश्चित रहेगा । क्षणिक ज्ञान में कार्य कारण की सिद्धि कैसे होगी? स्मृति-बीज कैसे होगा? कारण का नाश केसे हो गया ? यदि नाश नहीं हुआ तो विनाशी कार्य का कारण केसे हुआ ? अभाव से भाव-परम्परा कैसे चल सकती है? यदि कार्य का नाश नहीं होता तो वह क्षणिक कैसे हुआ? जो दूसरे क्षण रह सकता है वह सौ क्षण तक भी रह सकता है । अभिप्राय यह कि **भाव स्थिर हैं । स्वरूपत: भाव का अभाव नहीं होता– 'नासतो विद्यते भाव: नाभावो विद्यते सत: ।'** आत्मज्ञान में कुछ भी क्षणिक दृष्टिगत नहीं होता । निश्चय के बिना बाध्य-बाधक भाव भी सिद्ध नहीं होता । स्थिरता के बिना शुक्ति में रजत-भ्रान्ति मिटाने का क्या अर्थ होगा? अत: ज्ञान एक है, नित्य है और वह क्षणिक एवं अनेक नहीं हो सकता ।

'प्रामाण्ये क्षणिकत्वेन प्रत्यक्षेणोपपद्यते ।
प्रागभावादुत्तरज्ञानदार्ढ्यात् प्रामाण्यसिद्धित: ॥
प्रतिक्षणमथान्यत्वात् सामान्यस्याग्रहे सति ।
विलक्षणा: क्षणा: सर्वे प्रामाण्ये किं निबन्धनम् ॥
सम्बन्धस्याग्रहश्चापि तेन मानस्य का गति: ।
मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यात्वं ब्रूहि वा किं निबन्धनम् ॥
क्षणान्तरे शुक्तिकायां रजतं केन वार्यते ।
भिन्नज्ञानस्य कर्तृत्वे सर्वं प्रामाण्यमाप्नुयात् ॥

१-३. स्पन्दप्रदीपिका ।

अन्यस्वरूपसंसिद्धावन्यसिद्धिर्भवेद्यदि ।
घटस्वरूपसंसिद्धौ पटस्यावगमो भवेत् ॥
योऽयं स एवाऽयमिति प्रत्ययः स्थिरकालजः ।
कर्तुं शक्यो न तद्वादि प्रामाण्यात् क्षणिकैस्ततः ॥
प्राग्विज्ञानस्मृति प्रत्यभिज्ञा नित्यं प्रतिष्ठिताः ।
अतो नित्य स्वभावस्यैवात्मनः कर्तृतोदिता ॥
एक प्रमात्रभावात् स्यात् क्षणिकत्वाद् निश्चयात् ।
प्रमाणमप्यप्रमाणं स्याद् बौद्धान्यं हि निराश्रयम् ॥

बौद्धायन संहिता में भी कहा गया है कि—

कार्यकारणाभावस्तु नास्ति ज्ञाने क्षणक्षयः ।
क्षणं द्वितीयं नास्ते चेद स्मृति बीजं कथं भवेत् ?
जनकं तत् कथं नष्टमनष्टं वाप्यनष्टकम् ।
नष्टस्य जनकत्वं चेदभावादभावसन्ततिः ॥
जनकत्वेत्वनष्टस्य क्षणभंगः प्रहीयते ।
द्वितीयं यत्क्षणं तिष्ठेत्तदास्ते शतमप्यथ ॥
जनकत्वेऽर्थनिष्ठस्य अर्थे नाभावमेति तत् ।
तस्माद्भावाः स्थिरा सर्वे न च्यवन्ते स्वरूपतः ॥
आत्मावबोधविषये स्वस्थिराः क्षणिका न ते ।
बाध्यबाधकभावोऽपि न स्यान्निश्चायकं बिना ॥
शुक्तौ हि रजतज्ञानभ्रान्तिभंगोऽस्ति नान्यथा ।
तस्माज्ज्ञानं नित्यमेकं क्षणिकानि बहूनि नो ॥

'सत्कार्य सिद्धि' में कहा गया है—'यदि प्रत्येक विज्ञान स्वतन्त्र हो तो एक दूसरे का संवेदन नहीं हो सकता । अतः पूर्वावस्था एवं उत्तरावस्था दोनों का ज्ञाता एक प्रमाता होता है और वह विचित्र वृत्तियों के द्वारा व्यवहार का आश्रय बनता है । अनेक वृत्ति—ज्ञानों का अनुसन्धान एक अजन्मा ज्ञान को होता है ।' गीता का यह वचन सर्वथा सत्य है कि एक ही चेतन स्मृति ज्ञान और अपोहन का कारण है ।'

विरोधियों के कुतर्क पाषाणों को चबाने में कोई लाभ नहीं है । **'सत्कार्य सिद्धि'** में ठीक ही कहा गया है— 'न हि स्वनिष्ठे विज्ञाने इतरेतरवेदनम् ।
तस्मात् पूर्वापरावस्था प्रमाणं परिपिण्डितः ।
एकः प्रमाता चित्राभिर्वृत्तिभिर्व्यवहारभाक् ॥

प्रत्यभिज्ञा में भी कहा गया है—

एवमन्योन्यभिन्नानाम परस्पर वेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः ।
न चेदन्तः कृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥

गीता में भी कहा गया है—मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'

'इत्यलं कुतर्काश्मनां चर्बणेन' (कुतर्कों के पत्थर चबाना बन्द करो।)[१]

संवेत्ता का स्वरूप क्या है? 'किंभूते संवेत्तरि'? किस प्रकार के संवेत्ता में? यह वह संवेत्ता है जिसमें सुख-दु:ख, मोह—प्रबोध आदि समस्त अवस्थायें स्थित हैं। ये अवस्थायें उसमें सूत में मणियों की भाँति अनुस्यूत हैं।

'मैं पहले सुखी था, आज मैं दु:खी हूँ',–इस अनुभव में सुख एवं दु:ख में भेद तो है किन्तु 'मैं-मैं' में भेद नहीं है। इस स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा का उसीको अनुसन्धान हुआ करता है। इन अवस्थाओं में भी वह नहीं है क्योंकि ये अवस्थायें विकल्पमात्र हैं एवं अनित्य हैं। संवेत्ता इनसे अतिरिक्त है। अविद्यावरण तो केवल उपरागमात्र है यथा चन्द्रमा सूर्य पर ग्रहण। अंधकार से आच्छन्न होने पर रस्सी साँप नहीं बन जाती और न तो नष्ट होती है। इसी प्रकार आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं सकती—भर्तृहरि कहते हैं—[२]

नाच्छादितस्य तमसा रज्जुखण्डस्य विक्रिया।
नाशो वा क्रियते यद्वत्तद्वन्नाविद्ययाऽऽत्मनः॥

'संवित्प्रकाश' में भी कहा गया है कि स्फटिक का स्वभाव अत्यन्त निर्मल है किन्तु जपाकुसुम आदि का उपराग होने पर स्फटिक लाल दिखाई पड़ने लगता है। भगवान् संवेत्ता का अत्यन्त निर्मल शरीर भावसमासक्त होकर विविध प्रकार का उपलब्ध होता है। यथा स्फटिक रंगीन नहीं होता वैसे ही भाव युक्त होने पर संवित् वैसी ही नहीं हो जाता। **यह आत्म संवित् भी उपरक्त होने पर भी अपने निजरूप का परित्याग नहीं किया करता।** रूपान्तरित न होने पर भी रूपान्तरित के तुल्य दृष्टिगोचर अवश्य होता है। जो कुछ भी दिखाई पड़ता है सब कुछ उसीका तो विलास है—[३]

अत्यन्ताच्छस्वभावत्वात् स्फटिकस्य यथा स्वकम्।
रूपं परोपरक्तस्य नित्यमेवोपलभ्यते॥
तथा भावसमासक्तं भगवंस्तावकं वपुः।
अत्यन्तनिर्मलतया पृथक् तैर्नोपलभ्यते।
नैतावताऽसौ स्फटिकः पृथङ्नास्त्येव रञ्जकात्।
भावरूपपरित्यक्ता तव वा निर्मला तनुः॥[४]

उपराग की स्थिति में भी शुद्धत्व नष्ट नहीं होता—

उपरागेऽपि शुद्धत्वं न त्यक्तमनया प्रभो।
परित्यज्य निजं रूपं संविदाख्या कुतश्च यत्।
अथाऽप्राप्यैव तद्रूपं भवेद्रूपान्तरानुगा।
तद्रूपापि हि दृश्येत् कारणेऽस्यापि संभवात्॥[५]

शुद्धानुभव विविध आकारों द्वारा अपने आकार का परित्याग नहीं कर देता बल्कि

१-३. उत्पलदेवाचार्य। ४-५. स्पन्दप्रदीपिका।

अविच्छिन्न रूप में सदा निर्मल रहा करता है। **श्वेत वस्त्र पर कोई रंग चढ़ा, उतर गया दूसरा चढ़ा और पुनः उतर गया। श्वेत वस्त्र ज्यों का त्यों रह जाता है।** इसी प्रकार शुद्ध चेतन तत्तत् आकारों के राग से तत्तदाकार दिखाई तो पड़ता है किन्तु वस्तुतः रहता शुद्ध ही है। नील, पीत, सुख दुःख—सभी में चित् स्वरूप अखण्डित ही रहता है। चित्र-विचित्र उपाधि सम्पदा से विकल्प उसे विशिष्ट-विशिष्ट दिखाई देता है—[१]

सदैव शुद्धोऽनुभवो यं प्रत्याकारकर्बुरः।
आकारान्तरसंचारकाले तस्यापि निर्मलः॥
यथा जात्या सितं वस्त्रं रक्तं रागेण केनचित्।
तत्पदप्राप्त शुक्लत्वं पुना रागान्तरं श्रयेत्॥
एवं शुद्धा चितिर्जात्या यदाकारोपरागिणी।
तत्यागापरसंचारमध्ये शुद्धेव तिष्ठति॥[२]
नीले पीते सुखे दुःखे चित्स्वरूपमखण्डितम्।
विशिनष्टि विकल्पस्तच्चित्रयोपाधिसम्पदा॥[३]

आचार्य रामकण्ठ 'स्पन्दकारिकाविवृति' में कहते हैं 'अहं सुखी इत्यादयो याः संविदः ता अन्यत्र वर्तन्ते' ततः असौ स्वभावात् एकस्मात् न निवर्तते॥[४]

अर्थात् 'मैं सुखी हूँ'—आदि जो ज्ञान है वह अन्यत्र रहा करता है अतः आत्मतत्त्व अपने एकात्मक स्वभाव से कभी निवर्तित नहीं हुआ करता।

'मैं सुखी हूँ, मै दुःखी हूँ'—आदि संवेदन अन्तरंग है और वे बुद्धि पर अवलम्बित हैं। अन्य संवेदन देहादिक पर अवलम्बित हैं। उनका अपना सीधा सम्बन्ध उन्हीं से है—आत्मतत्त्व से नहीं।

'अन्यत्र'—अन्य जगह, अर्थात् शरीर, इन्द्रियमान, बुद्धि आदि जगहों में। **'वर्तन्ते'** स्थित हैं।

'स्फुटम्'—यह बात सुस्पष्ट हैं या 'स्पष्टतया'। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं प्यासा हूँ'—इत्यादि संविद—आत्मा में नहीं प्रत्युत् अन्यत्र बुद्धि, शरीर एवं प्राण आदि में रहते हैं तथापि सुखादिक से पृथक् उपलब्धा में भी अभेदात्मना रहते हैं—जैसे कि नदियाँ समुद्र में—'सरितः सागरे इव तत्र विगलितान्योन्यभेदा ऐक्येन अवतिष्ठन्ते, तादात्म्यं आपद्यन्ते।'[५]

'स्फुटम्' = स्वानुभवसंवेद्य होने के कारण सुप्रकट ही हैं।[६]

'संविदः' शब्द का (बहुवचनान्त) प्रयोग क्यों किया गया ? कारण यह है कि—एक ही उपलब्धृरूप संवित् 'अहमोऽस्मि' के रूप में पारमार्थिकी स्फुरण से भी संवलित होता है और वही माया शक्तिजनित एवं तथाविध स्वभाव-परामर्श के अभाव के कारण अनित्य सुखदुःखादि का वेदक होने के कारण—'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—

१-३. स्पन्दप्रदीपिका। ४. स्पन्दकारिकाविवृति।
५-६. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति।

इत्यादि संवेदन द्वारा बुद्धि आदि अवस्थाओं के साथ सामानाधिकरण्य स्थापित कर लेने के कारण अनेक संवेदनों के मध्य विचरण करता है अतः कारिकाकार ने 'संवदिः' (बहुवचनान्त) शब्द का प्रयोग किया है ।

आचार्य रामकण्ठ ठीक ही कहते हैं कि यदि सुखादिक वेद्य वस्तु के संबन्ध के कारण संवित् भी सुखादिवत् विभिन्नरूपों वाला बन जाता तो स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञानुसंधान न हो पाता । ऐसा न होने पर समस्त व्यवहारोच्छेद हो जाता किन्तु यह स्थिति तो अभीष्ट है नहीं ।

कारिकाकार 'अन्यत्र' शब्द के पूर्व 'एताः संविदः' विशेषण का प्रयोग करते हैं । ये संवेदन (ज्ञान) किस स्वरूप वाले 'अन्यत्र' में रहते हैं? ये 'सुखाद्यवस्था' में अनुस्यूत रूप वाले अन्यत्र' में रहते हैं । अर्थात् समस्त सुख-दुःख-मोहरूप विशिष्ट अवस्थाओं में उत्पादविनाशधर्मक होने के कारण अनित्य दशाओं में, वेद्यत्व के सामान्य होने के कारण शब्दादिविषय समानवृत्तियों में एवं 'अहमोऽस्मि' अनुभूति के ज्ञान से संवलित उपलब्धा के भीतर विद्यमान रहते हैं । 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इन प्रत्ययों में दो अर्थ स्फुरित होते हैं—

१. सुखाद्यात्मा **वेद्यरूप** एवं
२. अहमिति अपर **वेदक रूप**

'वेद्यत्वरूप'—घटादिक अनित्य पदार्थों के नानात्व को द्योतित करने वाला ।

'वेदकरूप' = पूर्वापरावस्था में व्यापक होने के कारण समस्त प्रमातृ प्रसिद्ध, समस्त व्यवहारों के कारणों के अनुसंधायक, नित्य स्थित एवं उपलब्ध रूप एकात्मक संवित् तत्त्व ।

अवस्थायें जाग्रदादि भेदों के कारण अनेक हैं किन्तु **संवित् तत्त्व** उसमें संचरण करने पर भी अभिन्नलक्षण एवं एक रूप वाला ही रहता है । 'मैं सुखी हूँ' एवं 'मैं दुःखी हूँ' ये दोनों अवस्थायें भिन्न-भिन्न हैं । एक ही संवेत्ता दोनों अवस्थाओं का संवेदन करता है किन्तु उसके स्वरूप में एकानुसंधातृनिबद्धावस्था होने के कारण एक से अधिक न होने की अभिन्नता (एकता) बनी रहती है । वह नित्य निरावणा रूप होने के कारण सर्वत्र अनिरुद्ध, स्वयंसिद्ध एवं तात्विक स्वभाव में मात्र शङ्कर है और वही समस्त अवस्थाओं में अनुस्यूत है—'स च अनुस्यूत एव सर्वासु अवस्थासु ।' उनको 'पर स्वभाव' कहा गया है—'स स्वभावः परः स्मृतः ॥'

आचार्य क्षेमराज का कथन है कि चौथी कारिका सौगतों के सिद्धान्त का खण्डन करने के उद्देश्य से कही गई है । सौगत तर्क की शक्ति पर, ज्ञान के सातत्य में विश्वास रखते हैं ।[१]

'ये सभी सुख-दुःख एक ही चेतना के विविध रूप हैं तथापि ये विभिन्न रूपों एवं विभिन्न आकारों में स्थित हैं' **मीमांसक कहते हैं**—'यह सभी कुछ आत्मा ही है जो कि

१. स्पन्दनिर्णय ।

सुखादि के द्वारा सदैव छायी रहती है तथा जो कि अपनी चेतना के द्वारा ही सत्ता में बनी रहती है ।' 'मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, मैं आसक्त हूँ'—ये एवं इसीप्रकार के अन्य ज्ञान केवल एक सत्ता में रहते हैं जिसमें कि आनन्दादिक अवस्थायें अनुस्यूत रहती हैं ।[१]

वहीं मैं, जो कि 'सुखी हूँ, दु:खी हूँ,' का अनुभव करता है, वही 'सुखानुशय (सुख के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध) के कारण रागी एवं दु:खानुशय के कारण द्वेषवश द्वेषी हो जाता है । उसके ये सभी प्रत्यय (ज्ञान) एक ही नित्य आत्मतत्त्व में पाये जाते हैं । एवं ये प्रत्यय एक नित्य एवं साक्षी रूप में स्थित आत्मतत्त्व में विश्राम ग्रहण करते हैं । अन्यथा अवबोधों के अन्तर्सबन्धों एवं उनके प्रभावों पर आधृत अन्य विचार अपने आप नष्ट हो जायेंगे तथा विचार गतिशील नहीं हो सकते ।[२]

'च'—और इस श्लोक में 'च' शब्द तीन बार प्रयुक्त हुआ है । वह सम्बन्ध को विकसित करता है क्योंकि यह एक वस्तु के साथ दूसरे का संबन्ध द्योतित करता है ।

'एक में' शब्द, 'उसमें' शब्द द्वारा, विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । अर्थ यह है कि—जिसमें सुखादिक अवस्थायें अनुस्यूत हैं । ये ऐसे अन्तर्विद्ध हैं यथा माला में मणियों के दाने ।[३]

'ता:' = वे । वे क्षणवादी दार्शनिक जो कि ज्ञान की क्षणभंगुरता में विश्वास रखते हैं सब कुछ क्षणिक मानते हैं । वे यह नहीं समझ पाते कि क्षण-क्षण परिवर्तित होने वाली घटनाओं की परिवर्तन परम्परा या क्षणभंगुरता की दृश्यावलियों को तो केवल वही देख सकता है जो कि इन सभी परिवर्तनों एवं क्षणक्षण की घटनाओं से अप्रभावित रहकर स्थायी सत्ता रखकर इनकी क्षण-क्षण में होने वाली विनाश लीलाओं को देख सके। यदि ऐसी कोई स्थायी एवं अक्षणात्मक सत्ता मान ली जाती है तो 'क्षणिकवाद सिद्धान्त' अपने आप खण्डित हो जाता है ।[४]

'ज्ञान' स्मृति से उत्पन्न होते हैं । 'स्मृति' भूतकालिक घटना का पुनर्जागरण है । **यदि प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षण में परिवर्तित हो जाती है तो 'स्मृति' संभव ही नहीं हो सकती क्योंकि तब तक स्मरण करने वाला संवेत्ता परिवर्तित हो जायेगा ।** अत: क्षण भर के पूर्व का संवेत्ता एक क्षण के बाद तो रह नहीं जायेगा (प्रत्युत एक क्षण के बाद एक नया संवेत्ता उत्पन्न हो जाएगा) अत: उसे भूतकाल की ये स्मृतियाँ कैसे हो सकती हैं?

आचार्य क्षेमराज एक प्रश्न यह भी उठाते हैं कि मूलभूत यथार्थतत्त्व वह तो हो नहीं सकता जिसमें कि सुखादिक अवस्थायें अनुस्यूत रहती हैं अत: वह सुखादि से अनुस्यूत चेतना आत्मा भी नहीं हो सकती क्योंकि आत्मा का स्वरूप लक्षण चैतन्य है—'चैतन्यमात्मा' ।[५] जब यह आत्मा अपनी निजी अशुद्धियों के द्वारा उपहित हो जाता है उस स्थिति में अपने यथार्थ स्वरूप को आच्छादित कर लेता है और ऐसी स्थिति में ही सुखदुखादि अवस्थाओं का अनुभव करता है । सुखदुखादि का अनुभविता 'पुर्यष्टक' है न

---

१. स्पन्दनिर्णय ।
२-४. क्षेमराजाचार्य—स्पन्दनिर्णय ।
५. शिवसूत्र ।

कि स्वस्वरूपावस्थित पूर्णचेतन संवित् तत्त्व । इस स्थिति में भी उसके लिए सुखदुखादि का स्थायी या नित्यात्मक अवरोध नहीं है क्योंकि वह उनसे मुक्त भी हो सकता है ।

कारिकाकार ने 'मैं कृश हूँ' 'मैं पृथुल हूँ'—इत्यादि न कहकर 'मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ'—इत्यादि का प्रयोग क्यों किया? इसलिए किया क्योंकि ग्रन्थकार यह प्रस्तुत करना चाहता है कि—'शिव के साथ मेरी निजी आत्मा स्वरूप से अभिन्न है'—यह अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है । यह अनुभव पुर्यष्टक की स्थिति में भी होता है । किन्तु ये अनुभव ज्ञानी एवं आनन्दमय शङ्कर के यथार्थ स्वरूप में कहीं भी स्थान नहीं पाते । शङ्कर ही यथार्थ सत्य है । यथार्थ तत्त्व सुखदुःखादि से उपहित नहीं है । साधक पुर्यष्टकत्व से मुक्ति की साधना का लक्ष्य रखकर आगे बढ़ता है । 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ'—आदि के प्रत्यय शरीर, इन्द्रिय, मन एवं जागतिक वासनाओं से ऊपर उठने पर नष्ट हो जाते हैं अन्तर्पथ की यात्रा के समय भी ऐसा ही होता है । 'सम्यक् पुर्यष्टक शमनाय एवं आस्थेय इति ॥'[१]

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि रहस्यगुरुप्रवर, अनुभवागमज्ञ, कारिकाकार ने युक्तियों, तर्कों एवं उपपत्तियों द्वारा समस्त वादों की अनुपपन्नता का अनुवदन करते हुए स्पन्दतत्त्व का ही प्रतिपादन किया है । 'स्पन्दतत्त्वमेवास्तीति प्रतिजानाति ।'[२] इसीलिए वे अगले श्लोक में कहते हैं कि जहाँ सुख, दुःख, ज्ञाता एवं ज्ञेय नहीं है एवं जहाँ क्षणभंगुरता (अनिव्यता) की भी अवस्था नहीं है वही पारमार्थिक तत्त्व है—

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च ।
न चास्ति मूढ़भावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥ (का०५)

निष्कर्ष—रामकण्ठ कहते हैं कि 'मैं सुखी या दुःखी हूँ आदि जो संवेदनायें हैं वे अन्यत्र स्थित हैं अतः यह स्पन्द तत्त्व अपने एकात्मक अविचल स्वस्वंभाव से कभी प्रत्यावर्तित या निवर्तित नहीं होता ॥[३] **'आदि'** = देहादिक आलम्बन ॥ ये संवेदनायें उपलब्धा स्पन्द से पृथक् तो हैं किन्तु इन भिन्न-भिन्न समस्त अवस्थाओं में एक ही संवित् तत्त्व अनुस्यूत है ।

१. एक ही संवित् तत्त्व उपलब्ध (अनुभवकर्ता) के रूप में अहं प्रतीति के साथ विद्यमान है ।[४]

२. वही माया शक्ति जनित तथाविध स्वभाव परामर्शाभाव के कारण सुखादिक अनित्य वस्तुओं का वेदक बनकर 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ'—इस प्रकार की अनुभूतियों से संक्रान्त होकर बुद्ध्याद्यवस्था सामानाधिकरण्य प्राप्त किए हुए स्थित है । ये समस्त संवेदनायें सुख, दुःख मोह आदि अवस्थाओं में स्थित हैं । इस संवेत्ता के दो रूप हैं—

१. एकः सुखाद्यात्मा वेद्यरूपः । (घरादि की भाँति)

२. द्वितीय है—अहमाकार संवेदन द्वारा अपर वेदक के रूप में ।

१-२. स्पन्दनिर्णय । ३-४. स्पन्दकारिकाविवृति ।

इस प्रकार—सुखी दु:खी होने की अनुभूति के उपर्युक्त दो अर्थ हैं 'द्वौ अर्थो स्फुरत: ।'

३. 'स च अनुस्यूत एव सर्वासु अवस्थासु' ।[1]

'स्पन्दशास्त्र' की मान्यता है कि—'जाग्रत,' 'स्वप्न', 'सुषुप्ति' आदि अवस्थाओं में एक ही अवस्थाता अवस्थित रहता है । अवस्थायें भिन्न हैं किन्तु अवस्थाता अभिन्नतया एक है । **भट्टकल्लट** कहते हैं—'मैं सुखी हूँ' 'मैं दु:खी हूँ'—'जो मैं पहले सुखी था वही मैं पीछे दु:खी या अनुरक्त हूँ'—इस प्रकार की अनुभूतियों में 'अहं प्रतीति के रूप में एक ही वेदक अवस्थित रहता है जो सभी अवस्थाओं में अभिन्न एवं एक है ।

'अन्यत्र'—जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति से अतिरिक्त ।

'स चानुस्यूत एवं सर्वास्ववस्थासु, यस्मात् 'य एव अहं सुखी स एव अहं दु:खी, रक्तो वा पश्चात् स्थित' इति अनुस्यूतत्वेन, अन्यत्र अवस्थाव्यतिरिक्ते । यदागम: .... स स्वभाव: पर: स्मृत: ।'

स्पन्दात्म 'स्वभाव' समस्त अवस्थाओं में अवस्थित रहता है । मैं जो पहले सुखी था वही अब दु:खी या अनुरक्त हूँ—इत्याकारक अनुभवों में 'अहं प्रतीति' के रूप में एक ही अनुभविता का अवस्थान रहता है । कहा भी गया है—

'वह स्वभाव सब वस्तुओं में भिन्न एवं उत्कृष्ट कहा गया है ।'

'क्षणवाद'—

बौद्धदार्शनिकों का विज्ञानवाद—ज्ञान क्षणिक हैं । एक ज्ञान केवल तीन क्षण तक स्थायी रहते हैं । इसके उपरान्त उनका समय, विषय एवं आकार-प्रकार परिवर्तित हो जाता है । इन ज्ञानों में समानता या एकरूपत्व प्रतीत होता है । उसका कारण यह है कि प्राथमिक ज्ञानक्षणों के संस्कार उत्तरवर्ती ज्ञान क्षणों का आविर्भाव करते हैं । संस्कारों का स्वभाव ही स्थितिस्थापकता है । इसी का परिणाम है कि प्राथमिक ज्ञानक्षणों के संस्कार परवर्ती ज्ञान क्षणों को पूर्ववर्ती ज्ञानक्षणों के गुण, धर्म, आकार-प्रकार प्रदान करके उन्हें तद्रूप बना देते हैं । ज्ञान क्षणिक हैं । उनमें एकरूपता का कारण संस्कार प्रवाहों की अविरल शृंखला है । 'ज्ञान' स्वयं प्रकाश है उन्हें अपने प्रकाशन के लिए अन्यापेक्षा नहीं है । 'ज्ञान' एक प्रकारक ही नहीं प्रमाता (ज्ञानक्षणस्वरूप प्रमाता) भिन्न है अत: ज्ञान एवं ज्ञान प्रवाह (विज्ञान) भी भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक ज्ञानक्षण स्वयंप्रकाश है अत: स्वभावभूत विश्वात्मा (स्पन्द = चैतन्य) आवश्यक नहीं है ।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—

१. प्राथमिक ज्ञान = 'निर्विकल्प ज्ञान'—इसके संस्कार—२. **सविकल्पात्मक** (द्वितीय) ज्ञान—(पूर्वानुभूत) नामरूपात्मक विकल्पों का सम्बन्धस्थापन । 'विकल्प' नामरूपात्मक हैं ।

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति ।

'नाम' + 'रूप' ⟶

'रूप'——'वेदना'——'संज्ञा'——'संस्कार'——'विज्ञान'
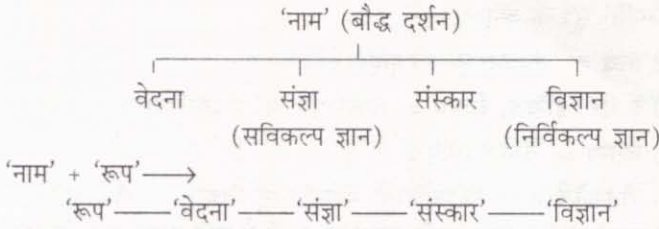
इन पाँच स्कंधों का समुदाय ही सन्तान रूप में प्रवाहित ज्ञानधारा है ।

'विज्ञान' एवं 'आलय विज्ञान'—'ज्ञान सन्तान' चेतन आत्मा का स्मरण आदि कार्यों को पूर्ण करता है । ज्ञानक्षण के दो प्रकार हैं—१. निर्विकल्प ज्ञान २. सविकल्प ज्ञान । निर्विकल्प ज्ञानक्षण = 'स्वलक्षणाभास'[१] (किसी वस्तु का प्रथम दृष्टया साक्षात्कार होने पर उस वस्तु से सम्बद्ध प्राथमिक ज्ञान) जिसमें वस्तु का नामरूपात्मक विकल्प से शून्य ज्ञान निहित हो । इसमें व्यावहारिक व्यापार संभव नहीं है ।

'ज्ञानसन्तान' किसे कहते हैं—प्रमाता के हृदय में भिन्न-भिन्न कालखण्डों में, भिन्नविषयक एवं भिन्नाकारों से सम्बद्ध ज्ञानक्षणों की अविरलधारा अजस्र रूप में प्रवाहित होती रहती है और वही है—'ज्ञानसन्तान' । बौद्धों की दृष्टि में यही ज्ञान सन्तान चेतन आत्मा का स्वरूप है और यही स्मरण, संकल्प, इच्छा, पूर्वानुस्मरण आदि का आधार है। इससे भिन्न किसी अन्य नित्य आत्मा की कल्पना व्यर्थ है । नामरूपात्मक विकल्प अनन्त हैं अतः तत्सम्बद्ध सविकल्प ज्ञानक्षण भी अनन्त है । 'मैं' की अनुभूति 'शरीर सन्तान' एवं विज्ञान सन्तान (ज्ञान सन्तान) से ही हो जाती है फिर आत्मा के कल्पना की क्या आवश्यकता है—

१. ज्ञान स्वलक्षणाभासात्मक होते हैं—'स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकम्' ।

'अहंप्रतीति' इत्यादि ज्ञान के लिए किसी नित्य आत्मा की व्यर्थ कल्पना अनावश्यक है क्योंकि यह कार्य तो स्वयं ज्ञान सन्तान ही कर देता है—। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१.२.२) में कहा गया है—

'नित्यस्य कस्यचिद्द्रष्टुस्तस्या त्रानवभासतः ।
अहंप्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी ।।'[२]

२. लोकायत की दृष्टि—चार्वाक, बृहस्पति प्रभृति नास्तिक दार्शनिकों ने अपने चिन्तन को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

१. 'शरीरात्मवाद' २. 'अपत्यात्मवाद' ३. 'इन्द्रियात्मकवाद' ४. 'प्राणात्मवाद' ५. 'मनसात्मवाद' ६. 'बुद्ध्यात्मवाद' । लोकायतिक दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त निम्न

---

१. नीलप्रकाशः 'स्वलक्षणाभसशनम्' । 'स्वम्' अन्यानुयायि स्वरूपसंकोचभाजि 'लक्षणं' देशकालाकाररूपं यस्य तस्य 'आभासः प्रकाशनम् अन्तर्मुखं यस्मिन्— 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' ।

२. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ।

हैं—('बृहस्पति' सूत्र के अनुसार)—

१) **तत्त्व** = 'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि' ।

२) **शरीर, इन्द्रिय, विषय** = 'तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।'

३) **चैतन्य** = 'तेभ्यश्चैतन्यम् ।'

४) **चैतन्योत्पत्ति** = किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम् । पाँच भूत—(अन्न के संघटन से मादक शक्ति शराब आदि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार भूतों के संघटन से) 'विज्ञान' (चैतन्य) उत्पन्न हो जाता है ।

५) **भूत ही चैतन्योत्पत्ति के कारण**—'भूतान्येव चेतयन्ते'

६) **आत्मा**—चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।

७) **जीव** = जलबुदबुदवज्जीवाः ।

८) **परलोकाभाव**—परलोकिकोऽभावात् परलोकाभावः ।

९) **मोक्ष**—'मरणोऽपवर्गः' ।

१०) **स्वर्गसुख** = धूर्त-प्रलाप । धूर्त प्रलापस्त्रयी स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात्।

११) **पुरुषार्थ**—अर्थ कामौ पुरुषार्थौ ।

१२) **विद्या** = दण्डनीतिरेवविद्या ।

१३) **प्रमाण**—प्रत्यक्षमेव प्रमाणम् ॥

१४) **अनुसर्तव्य मार्ग** = 'लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः ॥'

विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं कि 'चित्त' ही एकमात्र तत्त्व है अन्य नहीं—(यही चित्त **'विज्ञान'** भी कहा जाता है) ॥

'चित्तं वर्ततेचित्तंमेव विमुच्यते ।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेवनिरुध्यते ।

चित्त ही मात्र एक परम सत्य है । चित्त ही जन्म लेता है, मुक्त होता है, और वही निरुद्ध होता है ।

'विज्ञान' के निम्न प्रर्याय हैं—'लंकावतार सूत्र' ।

१. 'चित्त' २. 'मन' ३. 'विज्ञप्ति'

'विज्ञान' एवं आलय विज्ञान—

'चित्तं मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिताः ।
विकल्पधर्मतां प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजाः ॥'

('लंकावतार' ३।४०)

चेतन क्रिया से सम्बद्धता, अतः—'चित्त' मनन क्रिया से सम्बद्धता, अतः—'मन' एवं विषय—विग्रह की कारणता अतः यही—**'विज्ञप्ति'** कहलाता है—

'चित्तमालयविज्ञानं मनो यन्मन्यनात्मकम् ।
गृह्णाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते ॥

(लंकावतार गाथा १०२)

चित्त को छोड़कर कोई भी पदार्थ सत् नहीं है । 'तथता' 'शून्यता' 'निर्वाण' 'धर्मधातु' आदि सब उसी के पर्याय हैं । सभी उसी के नाम हैं । चित्त (आलय विज्ञान) ही **'तथता'** है—

'दृश्यते न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते ।
देहभोगप्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् ॥'

चित्त के दो रूप हैं—१. ग्राह्य विषय २. ग्राहक (विषयी)—

चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्तं हि दृश्यते ।
ग्राह्यग्राहकभावेन शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ (लंकावतार सूत्र ३।६५)

ग्राहक, ग्राह्य एवं ग्रहण तीन हैं किन्तु ये तीनों विज्ञान या चित्त के परिणमन होने के कारण यथार्थ न होकर मात्र काल्पनिक हैं । वास्तविक एवं पारमार्थिक तत्त्व तो मात्र बुद्धि है—'बुद्धिस्वरूपमेकं हि वस्त्वस्तिपरमार्थतः । प्रतिभानस्य नानात्वान्न चैकत्वं विहन्यते ।' (सर्वस० सं०) विज्ञान एक है भिन्न-भिन्न नहीं ।

विज्ञान के भेद है—१. चक्षुर्विज्ञान, २. श्रोत्रविज्ञान, ३. घ्राण विज्ञान, ४. जिह्वा विज्ञान, ५. काय विज्ञान, ६. मनोविज्ञान, ७. क्लिष्ट मनोविज्ञान, ८. आलय विज्ञान ।

आलय विज्ञान ही आत्मा है और इसका प्रवाह सतत चलता रहता है । यह समष्टि चैतन्य है और एकाकार, एकरस, परिवर्तनशील (किन्तु आत्मा तो परिवर्तनशील नहीं है) एवं सर्व प्राणिगत है । इसका विजृंभण ही है विश्व ॥

१५) **लोकायतिकों का जीवन-दर्शन**—

'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?'

१६) **पुनर्जन्म एवं कर्म फल का भोग**—'पुनरागमनं कुतः?' ॥

मीमांसा का सोपाधि आत्मवाद—कुमारिलभट्ट—'आत्मा' ज्ञान का कर्ता एवं ज्ञान का विषय दोनों है—ज्ञान का कर्ता एवं ज्ञान का कर्म दोनों है । प्रत्येक वस्तुज्ञान में आत्मा का ज्ञान नहीं होता । डेकार्टे (यूरोपीय दार्शनिक) ने कहा था ---- ('मैं सोचता हूँ अत, मैं हूँ') किन्तु कुमारिल मानते हैं समस्त मननात्मक ज्ञानों में आत्म-संवित्ति नहीं है ।

न्याय-वैशेषिक—आत्मा में क्रिया नहीं है । (प्रभाकर का भी यही मत है ।)

भाट्ट मीमांसक—आत्मा में क्रिया है । कर्म के दो प्रकार हैं—१. स्पन्द २. परिणाम । 'स्पन्द' (स्थान परिवर्तन) आत्मा में नहीं होता किन्तु परिणाम (रूप परिवर्तन) होता है । परिणामी वस्तु भी नित्य है (कुमारिलभट्ट) ॥ आत्मा परिणामी है तथापि

नित्य है । आत्मा में दो अंश है—१. चिदंश २. अचिदंश । चिदंश—आत्मा द्वारा प्रत्येक ज्ञान की अनुभूति क्षमता ।

अचिदंश—परिणमन, परिणाम ।

न्याय वैशेषिक—सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि आत्मा के विशेष गुण हैं—। **भाट्टमत**—सुख दुःख आदि आत्मा के अचिदंश के परिणाम हैं । **'वेदान्त' 'स्पन्द'**, **'प्रत्यभिज्ञा' एवं 'क्रम'** = आत्मा चैतन्यस्वरूप है ॥

कुमारिलभट्ट = आत्मा चैतन्यस्वरूप नहीं प्रत्युत् चैतन्य विशिष्ट है ।

आत्मा में चैतन्य आता कहाँ से है? शरीर-विषय-संयोग के द्वारा । आत्मा में 'चैतन्य समवादी धर्म के रूप में स्थित नहीं है—शरीर-विषय का संयोग होने पर आत्मा में चैतन्य का उदय होता है । **स्वप्नावस्था में शरीर-विषय-संयोग नहीं अतः आत्मा में चैतन्य भी नहीं रहता । 'आत्मा' जड एवं बोधात्मक दोनों हैं ।**

प्रभाकर—आत्मा में क्रियाशक्ति-क्रियावत्ता नहीं है । **कुमारिल** = प्रत्येक वस्तु ज्ञान में आत्मा का ज्ञान नहीं होता । आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं कर्म दोनों है । **'प्रभाकर'**—एक ही वस्तु एक साथ कर्ता एवं कर्म दोनों एक साथ कैसे हो सकती है? प्रत्येक वस्तु ज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा का ज्ञान भी कर्ता के रूप में प्रकाशित होता है । 'मैं लिख रहा हूँ' वाक्य में क्रिया के कर्ता के रूप में आत्मा ही प्रकट हो रही है । **कुमारिल**—आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं ज्ञान का विषय दोनों है । **प्रभाकर** = आत्मा को 'अहं' पद के ज्ञात (अहं प्रत्यय वेद्य) मानते हैं । प्रत्येक ज्ञान का कर्ता आत्मा है ।

कुमारिल = प्रभाकर का मत ठीक नहीं । आत्मा ज्ञान का कर्ता, ज्ञान का विषय दोनों है ।

'आत्मानं विद्धि' में—आत्मा ज्ञान का कर्ता एवं विषय दोनों है अतः कुमारिल का ही मत यथार्थ है न कि प्रभाकर का ।

कुमारिल—आत्मा का ज्ञान कैसे प्राप्य? (क) प्रत्येक वस्तुज्ञान में तो आत्मा का ज्ञान नहीं होता (ख) आत्मसंवित्ति में ही आत्मा का ज्ञान होता है ।

'मैं अपने को जानता हूँ, वाक्य में क्रिया का कर्म क्या है? **'अपने को'** । 'जानता हूँ' क्या है? क्रिया । 'आत्मा को' पद संकेतित करता है कि आत्मा का ज्ञान प्राप्त हो रहा है अतः कर्ता एवं कर्म दोनों आत्मा में स्थित है ।

मीमांसक मानते हैं कि कोई भी ज्ञान क्यों न हो उसके साथ कोई न कोई विशेषता (उपाधि) संलग्न रहती है । 'रजत' के ज्ञान के साथ रजतत्त्व की उपाधि संलग्न है । 'अहं सुखी च दुःखी च रक्तश्चेत्यादि संविदः' (स्पन्द का०४) में सुखत्व-दुःखत्व की उपाधियों के द्वारा किसी आत्मा के अस्तित्व का अनुमान लगता है । मैं 'अहं सुखी च दुःखी च' के परामर्शों में दो अनुभव स्थित है —१. 'अहं' २. 'सुखी च दुखी च' सुख, दुःख की अनुभूति गुण रूप उपाधियाँ हैं । इनकी प्रतीति जिससे होती है वह है 'अहं' । 'अहं' = सुखदुःख उपाधि से विशिष्ट आत्मा ।

सारांश—१. प्रत्येक ज्ञान के साथ कोई न कोई वैशिष्ट्य रहता ही है। रजत का ज्ञान होता है क्योंकि उसके साथ रजतत्व का वैशिष्ट्य है। किसी भी विशेषता या उपाधि का सम्बन्ध हुए बिना कोई ज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। 'मैं सुखी हूँ' वाक्य में सुखत्व उपाधि (विशेषता) है जिससे कि सुख का ज्ञान संभव हो पाता है। सुख 'सुखत्व' गुण है। गुण के बिना गुणी, धर्म के बिना धर्मी, विशेषण के बिना विशेष्य का अस्तित्व नहीं है। इस गुण, धर्म, विशेषण या वैशिष्ट्य का संवेदक ही 'आत्मा' है। 'सुखादिक गुणों का अनुभव बिना किसी अनुभविता के संभव नहीं है अतः 'सुखादि चेत्यमानं हि क्वतन्त्र नानुभूयते।' (ई०प्र०वि०)

आत्मा के चिदंश के द्वारा आत्मा ज्ञान का अनुभव करता है। **आत्मा अंचिदंश के द्वारा** सुखत्व आदि उपाधियों (विशेषताओं) को प्राप्त करता है। आत्मा सुख-दुख-हर्ष-ग्लानि-भय-इच्छा-ईर्ष्या द्रोह-मोह-असूया से तद्रूप या तत्स्वरूप नहीं है प्रत्युत् तद्विशिष्ट हैं। वह आत्मा सुख, दुःख, भय, प्रेम आदि के द्वारा परिणाम-भाव प्राप्त करती है। **कुमारिलभट्ट**—आत्मा स्वयं चेतन नहीं प्रत्युत् शरीर और विषय के साथ संयोग होने की अवस्था में **'चैतन्यविशिष्ट'** बन जाती है। इसीलिए स्वप्नावस्था में विषयादिक का सम्बन्ध च्युत हो जाने पर, आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। अतः आत्मा जड़ भी है और बोधात्मक भी है—

१. 'इदं सुखमिदं ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत्।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका॥

२. 'स आत्मा अहंप्रत्ययेनैव वेद्यः॥

३. चिदंशत्वेन दृष्टत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा।
विषयत्वं च अचिदंशेन, ज्ञान सुखादिरूपेण॥
परिणामित्वम्॥ (अद्वैत ब्रह्मसिद्धिः)॥

बौद्ध दृष्टि की पर्यालोचना—

'मैं' की अनुभूति से (संवेदन द्वारा) अनुमान के विषयीभूत और सुख-दुःख आदि उपाधियों से विशिष्ट वस्तु ही 'आत्मा' है।

१. बौद्धों का दर्शन प्रकृति के बुद्धितत्त्व (विज्ञान-चित्त) तक ही सीमित हो जाता है—उसके परे आगे बढ़ ही नहीं पाता।

२. यदि ज्ञान जड़ है तो किसी संवेदन को प्रकाश में कैसे ला सकता है?

३. यदि ज्ञान चेतन है तो किसी चेतन सत्ता को मानना पड़ेगा।

४. अपने को एवं विषय को प्रकाशित करना तो केवल चेतन सता के ही अधिकार मात्र में है जड़तत्त्व के अधिकार में नहीं किन्तु बौद्ध ऐसी चेतन सत्ता (आत्मा) स्वीकार ही नहीं करते। 'ज्ञान सन्तान एव सत्त्वम्' इति सौगता बुद्धि वृत्तिषु एव पर्यवसिताः॥' (प्र०हृ० सूत्र ८ की व्याख्या—**क्षेमराज**)—ज्ञान-सन्तान तो बुद्धि में पर्यवसित है फिर बुद्ध्यातीत तत्त्व की प्राप्ति कैसे होगी? ज्ञान वेद्य तो बन सकते हैं किन्तु

वेदक नहीं बन सकते । 'वेद्य' अर्थ-प्रकाशक नहीं हो सकता । वस्तु के अनुभव क्षण में स्मृति क्षण नहीं, तथा स्मृति क्षण में अनुभवक्षण नहीं, तो फिर स्मृति क्षण में अनुभव क्षण के वस्त्वाकार, वस्तुस्वरूप कैसे प्रकाशित होंगे? इसे संस्कारों से समझाया जाय तो अनुभवकालिक संस्कार तो तद्गतज्ञान (निर्विकल्पक ज्ञान) को ही स्मृति क्षण में प्रस्तुत करेंगे फिर सविकल्पक ज्ञान होगा कैसे?

स्पन्दशास्त्र कहता है कि इन दोनों (अनुभव क्षण रूप निर्विकल्पक ज्ञान एवं स्मृतिक्षण रूप सविकल्पक ज्ञान) ही ज्ञानक्षणों के मध्य इनसे पृथक् एवं स्वयंप्रकाश सत्ता 'स्पन्द' है जिसमें समस्त अनुभव, स्मृतियाँ, आकार, रूप, गुण, विशेषताएँ आदि बीज में स्थित जड़ तना, शाख फल आदि की भाँति मयूराण्ड रसन्याय से स्थित रहती है और यही चेतन सत्ता निर्विकल्प ज्ञान को सविकल्पक बनाती है ।

मीमांसा की आत्मविषयक दृष्टि की समीक्षा—यदि सुख-दुःख आदि से विशिष्ट 'मैं' की प्रतीति ही को आत्मा का स्वरूप मान लिया जाय तो चूँकि सुख-दुःख आदि वृत्तियाँ तो अन्तःकरण की वृत्तियाँ हैं अतः क्या इनसे अतीत स्तर पर आत्मा का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाएगा ? उपनिषदों में तो आत्मा को इन्द्रिय, अर्थ, मन, बुद्धि आदि सभी से परे माना गया है—

'इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥'

ऐसी स्थिति में सुख-दुःख-लाभ-हाँनि-ईर्ष्या-द्वेष-भय-मोह-प्रेम-द्रोह-आदि सभी से एवं मन-बुद्धि-चित्त तथा अहंकार से अतीत आत्मा के इस स्तर की व्याख्या कैसे की जा सकेगी?

यदि सुखदुःखादिक चित्त वृत्तियों की पराधीनता में ही आत्मा को अपनी सत्ता स्थिर रखनी है तो उसे चेतन एवं स्वतन्त्र कैसे कहा जा सकेगा ? यदि **कुमारिल भट्ट** आत्मा को चैतन्यस्वरूप न मानकर चैतन्य-विशिष्ट स्वीकार करते हैं तो फिर आत्मा में यह चैतन्य कहीं बाहर से आया हुआ स्वीकार करना पड़ेगा । बाहर से यह कहाँ से आया? चैतन्य को आत्मा का स्वस्वरूप न मानकर उसे उसका 'विशेषण' (गुण) बताना और आत्मा को उसका 'विशेष्य' बताना तथा—गुण-गुणी, धर्म-धर्मी, विशेषण-विशेष्य के सम्बन्ध में बाँधना आत्मा की चेतनता एवं स्वतन्त्रता पर कुठाराघात है । विश्वात्मा तो गुणों को सत्ता प्रदान करके भी स्वयं गुणातीत है—रूप देकर भी रूपातीत है—आकार देकर भी आकारातीत है—इन्द्रियाँ देकर भी इन्द्रियातीत है ।

मीमांसक भी आत्मा को सुखदुःखादिविशिष्ट 'अहं' की प्रतीति कहकर परतत्त्व को मात्र बुद्धि की सीमा तक ही सीमित मानकर प्रकृति के विकार बुद्धि को ही लक्ष्मणरेखा मानकर उससे परे चिन्तन नहीं कर पाते और बुद्धि के स्थूल धरातल पर ही अपनी तात्त्विक यात्रा समाप्त कर देते हैं ।

लोकायतों की दृष्टि की समीक्षा—चार्वाकी दृष्टि (बार्हस्पत दृष्टि) देहात्मवाद, प्रत्यक्षवाद एवं आधिभौतिक सुखवाद के स्थूलतम धरातल पर आधृत हैं । इसमें आत्मा,

धर्म, शुद्धाचरणा, शाश्वतिक मूल्य, पुनर्जन्म, कर्म फलों के भोग, स्वर्ग, तप, संयम नैतिकता आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इसका लक्ष्य मात्र एक है—

१. ऐन्द्रियसुखोपभोग २. भौतिक सुख-समृद्धि।

२. 'यावज्जीवेत सुखं जीवेत्' तक तो ठीक है किन्तु 'ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्'— समाज का आदर्श नहीं बन सकता।

३. चावल, महुआ, अंगूर आदि को सड़ाकर आसवन प्रक्रिया से जो शराब बनती है उसका मत्तकारी प्रभाव क्षणिक होता है किन्तु चेतना (चैतन्य) को भी शराब के नशे के समान कहना ठीक नहीं है—आत्मा या चैतन्य क्षणस्थायी नशा नहीं है प्रत्युत् प्रत्येक प्राणी का सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। यही उसकी चेतना—प्रत्यभिज्ञा एवं अस्तित्त्व है।

कारिकाकार का कथन है कि—'मैं सुखी हूँ—मैं दुःखी हूँ, मैं अनुरक्त हूँ'—इस प्रकार के दूसरे विकल्पज्ञान—शरीर आदि से भिन्न—किसी दूसरी की वेदक सत्ता के साथ ही सम्बद्ध है और वह वेदक सत्ता (आत्मा) स्वयमेव इन सभी से पूर्णतया भिन्न होने पर भी इन सभी में अनुस्यूत है।

'अन्यत्र' पद उस स्वभाव का द्योतक है जो स्वयं समस्त अवस्थाओं से भिंन्न है— 'स स्वभावः परः स्मृतः।' यही है आत्मा॥

निष्कर्ष–रामकण्ठाचार्य—'स्वयंसिद्ध, नित्यनिरावरणरूप, सर्वत्र अनिरुद्ध एवं तात्त्विक स्वस्वभाव शङ्कर ही वह आत्मा एवं स्वस्वभाव है और समस्त अवस्थाओं से पृथक् होते हुए भी सारी अवस्थाओं में से ही अनुस्यूत है। **उत्पलदेवाचार्य** के मतानुसार यद्यपि आत्मा के दो भेद हैं—१. मित २. अपरिमित 'द्विधा स एष एवात्मा मितोऽपरिमितस्तथा' १. (अणु) २. परमात्मा। किन्तु इनमें भी स्वभावतः ऐक्य है।

पारमार्थिक तत्त्व का स्वरूप

न दुखं न सुखं यत्र न ग्राह्यं ग्राहकं न च।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः॥ ५॥

जहाँ (जिस स्पन्दं तत्त्व में) न दुःख है, न सुख है, न ग्राह्य है और न तो ग्राहक (का भाव) है तथा जहाँ मूढ़भाव (अज्ञान, वेद्य-विमर्श की क्षमता का अभाव) भी नहीं है वही स्पन्दतत्त्व परमार्थतः सत् है॥ ५॥

* सरोजिनी *

सुख-दुःख, मोह आदि त्रिगुणात्मक अन्तःकरण के विषय हैं न कि स्पन्दतत्त्व के। संवित् भट्टारिका सूक्ष्म प्राण बनने के अनन्तर अन्तःकरण का रूप धारण करती है। अन्तःकरण ही सुखादिक के आश्रय है।

शङ्कर के रूप में स्थित स्पन्द तत्त्व का यहाँ निषेधपरक विवेचन किया गया है।

ग्राह्यं = आन्तरग्राह्य। बाह्य ग्राह्य। प्रमेय (Perceptible)

ग्राहक = प्रमाता । पुर्यष्टक । शरीर । इन्द्रियाँ आदि । (प्रमाता = Perceiver)

ग्राह्य— १. आन्तर ग्राह्य — सुख दु:ख राग द्वेषादिक

२. बाह्य ग्राहक — नील पीत आदि ।[१]

इसके पूर्व के श्लोकों में ग्रन्थकार महोदय समस्त सिद्धान्तों की, अधिकार में न आ सकने की स्थिति (Untenability) का विवेचन करने के उपरान्त अब स्पन्द तत्त्व का विवेचन कर रहे हैं । यह स्पन्द तत्त्व ही एक मात्र यथार्थ सत्ता है अन्य नहीं क्योंकि यह तर्काश्रित है । जहाँ सुख, दु:ख, ज्ञाता एवं ज्ञेय की सत्ता नहीं है और जहाँ मूढभाव (अज्ञान या Insentiency) या जीवन्तता का अभाव नहीं है वही वास्तविक रूप में स्थित तत्त्व है ।[२]

इस जगत् या जीवन में जो थोड़ा बहुत सुख-दु:ख, नील-पीत आदि बाह्य ग्राह्य एवं पुर्यष्टक, शरीर तथा इन्द्रियाँ आदि ग्राहक हैं वे पारमार्थिक सत्ता नहीं है । मैं तर्क के साथ कह सकता हूँ कि प्रमेय (Perceptible) चाहे वह आन्तरिक हो और चाहे वह बाह्य हो यथा सुख-दु:खादिक 'आन्तरिक' एवं नील-पीत आदि 'बाह्य' या प्रमाता हो यथा पुर्यष्टक शरीर एवं इन्द्रियाँ आदि ये प्रामाणिक रूप में अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखते क्योंकि ये सुषुप्ति की भाँति अनुभूयमान नहीं होते । वे जब भी कभी संचेत्यमान (अनुभूत) होते हैं तो केवल चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं क्योंकि मेरे दादा गुरु (Great grand teacher) **उत्पलाचार्य** ने कहा है कि—[३]

'प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो ना प्रकाशश्च सिध्यन्ति ।' (ई० प्र० १।५।३) इस प्रकार कहकर रहस्यतत्त्वविद 'अस्मत्परमेष्ठी' श्रीमत् उत्पलदेवपाद अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि वह वस्तु जो कि प्रकाश में आ सकती है वह प्रकाशक की ही प्रकृति या स्वभाव की है । **जिसमें प्रकाश नहीं है उसकी सत्ता होना भी संभव नहीं है ।** 'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तित:' भी यह प्रमाणित है । इस प्रकार सुख-दुखादि नीलादिक ग्राह्य एवं उसके ग्राहक जहाँ नहीं हैं । वहाँ प्रकाशैकधन तत्त्व स्थित है—

'दु:खसुखादि नीलादि तद्ग्राहकं च यत्र नास्ति तत्प्रकाशैकघनं तत्वमस्ति ।'[४]

शून्यवाद का खण्डन—आचार्य क्षेमराज स्पन्द तत्त्व को शून्य तत्त्व से पृथक् सिद्ध करने हेतु शून्यवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि—शून्यावस्था (State of vacuum) भी नहीं है । क्योंकि यथार्थ तत्त्व वह है जहाँ शून्यावस्था (शून्य स्थान) है ही नहीं ! 'शून्य' (Vacuum) या तो व्यक्त होगा या अव्यक्त । यदि यह व्यक्त नहीं होता तब यह कैसे कहा जा सकता है कि इसका अस्तित्त्व है । यदि यह अभिव्यक्त होता है तो यह अभिव्यक्ति स्वभावात्मक है । अभिव्यक्ति का लोप तो संभव नहीं है क्योंकि इसकी अनुपस्थिति में—अभिव्यक्ति का अभाव रह नहीं सकता ।[५]

१-५. स्पन्दनिर्णय ।

मूढभाव का द्वितीय अर्थ—वास्तविक तत्त्व तो वह है जहाँ कि ब्रह्म की अचेतनता का कोई रूप अस्तित्व नहीं रखता और जो कि प्रकाश के साथ एकरूप है और जो 'विज्ञान' ब्रह्म के साक्ष्य पर ज्ञानस्वरूप है—क्योंकि यहाँ तक वेदान्तियों का ब्रह्म भी, बिना स्वातन्त्र्यस्वरूपी स्पन्दतत्त्व की शक्ति के निष्प्राण (Insentient) है। प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि 'विचारणा या चिन्तन प्रकाश के स्वरूप का निर्माण करता है अन्यथा प्रकाश, चाहे वह वस्तुओं को प्रकाशित ही क्यों न करता हो स्फटिक की भाँति निष्प्राण वस्तु ही होगा।[१]

भट्टनायक कहते हैं—'ओ देव! ब्रह्म कितना फल वहन कर सकता है क्योंकि वह उदासीन है। यदि तुम्हारा नियामक पुरुषात्मक बल वहाँ न होता और तुम्हारी उपासना की सुन्दर नारी के रूप में तुम्हारी नियमन करने की पुरुषात्मक शक्ति न होती तो उदासीन (तटस्थ) ब्रह्म कितना फल वहन करता?

'नपुंसकमिदं नाथ परं ब्रह्म फलेत्किम्।
त्वपौरुषी नियोक्त्री चेन्न स्यात्वद्भक्तिसुन्दरी॥'

भट्टनायक वेदान्तियों के ब्रह्म को 'नपुंसक' कह रहे हैं। इस प्रकार वही मात्र यथार्थतः सत्तावान् है जोकि सहज (अकृत्रिम) पूर्णतम, तर्क-अनुभव-आगम-प्रमाणित है न कि नीलादिक बाह्य पदार्थ। क्योंकि गुरुदेव ने कहा है—[२]

'एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः॥ (अजड पृ० १३)

भर्तृहरि ने भी कहा है—

'यदासौ च यदन्ते च तन्मध्ये तस्य सत्यता।
न यदाभासते तस्य सत्यत्वं तावदेव हि॥'

निर्जीव (निष्प्राण = जड़) वस्तुएँ असत् (Non-existent = सत्ता शून्य) की भाँति हैं—यदि हम उनके आत्मतत्त्व की तुलना में देखें तो या प्रकाश की दृष्टि से उन्हें देखें तो। अपनी आत्मा का प्रकाश मात्र ही सत्तावान् है।[३]

इस प्रकार इस सूत्र में यह प्रतिपादित किया गया है कि सर्वोच्च सत्ता (Ultimate Reality) स्पन्द तत्त्व के रूप में विद्यमान है। **संवित्संतानवादियों, प्रमातृतत्त्ववादियों, नानात्ववादियों, अभाववादियों एवं ब्रह्मवादियों** का मत अनुपपन्न होने के कारण—'पारमार्थिकं' स्पन्दशक्तिरूपमेव तत्त्वमस्तीति प्रतिज्ञातम्॥'—अर्थात् स्पन्द शक्ति मात्र ही एक मात्र तत्त्व है।[४]

अन्य मत मतान्तरों की निरर्थकता (Absundity) को सिद्ध करने के उपरान्त सुख के रूप में चेतना के सातत्य के प्रतिपादकों के मतों का खण्डन करने के उपरान्त। आनन्द के कारण ही प्रमा होने के सिद्धान्त, प्रमाता एवं प्रमेयों के बहुत्व के सिद्धान्त,

---

१-४. स्पन्दनिर्णय।

विचारशून्य प्रकाश के रूप में वेदान्त के ब्रह्म के सिद्धान्त का खण्डन करके ग्रन्थकार ने स्पन्दतत्त्व को ही उच्चतम एवं सर्वान्त्यपरा सत्ता स्वीकार किया है ।

सारांश—[१] १. संवित्सन्तानवादियों का खण्डन
२. प्रमातृतत्त्ववादियों का खण्डन
३. नानात्ववादियों का खण्डन
४. अभाववादियों का खण्डन
५. ब्रह्मवादियों का खण्डन
६. स्पन्दतत्त्ववाद का मण्डन

स्पन्दतत्त्ववाद का प्रतिपादन—एक मात्र वही एक तत्त्व है जो कि अपनी स्फुरत्ता पर आधृत है । समस्त दुःख, सुख, ज्ञेय, ज्ञाता एवं उसका अभाव आदि शून्य बन जाता है क्योंकि समस्त विश्व इसका भोग समझा गया है । (पृ० ४०)

'स्फुरत्तासारे स्पन्दतत्त्वे स्फुरति दुःखसुखग्राह्यग्राहके'

शाङ्कर मार्ग में तो दुःख भी सुख, विष भी अमृत, संसार भी अमृत बन जाते हैं— 'दुखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः ॥' (उ०स्तो०)

शाङ्कर मार्ग क्या है? परा शक्तिरूप प्रसर ही शाङ्कर मार्ग है—'शाङ्करो मार्गः शङ्करात्मस्वभाव-प्राप्ति हेतुः पराशक्तिरूप प्रसरः ॥'

वह 'स्पन्दतत्त्व' परमार्थतः है क्योंकि वह नित्य है—'तत् स्पन्द तत्त्वं परमार्थत-तोऽस्ति नित्यत्वात्तस्य' । उसमें न आध्यात्मिक दुःखादिक है और न तो वैषयिक सुख । घटपटादि ग्राह्य भी नहीं हैं । मैं इन्हें ग्रहण करने वाले सविकल्पक ग्राहकरूप प्राकृत अहंकार हूँ—ऐसा भी नहीं है क्योंकि अहंकार तो अविद्या के बिना होता ही नहीं है । इससे अधिष्ठातारूप ग्राहक अहंकार का अभाव बताना अभीष्ट नहीं है क्योंकि उसको तो जानना ही है ।[२]

'तत्त्वगर्भ' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—परमार्थ में ग्राह्य एवं ग्राहक कुछ भी नहीं है । परमार्थ के ज्ञान के बिना अपनी छाया ही आभास के समान जान पड़ती है । **तब वह स्पन्दतत्त्व क्या पाषाण के समान मूढ़ या शून्य है? नहीं-नहीं वह जड़ नहीं है,** वह स्वप्रकाश एवं सर्वावभासक है । जिस प्रकार शीतकाल और ऊष्णकाल के मध्य न शीत है न ऊष्ण है वैसे ही सुख-दुःख के मध्य न सुख है न दुःख है परन्तु वह दोनों में है— परमार्थेन न ग्राह्यं ग्राहकं वा न किञ्चान ।
यस्मादृते तत् स्वाभासमस्वाभासमिवेक्ष्यते ॥
'न चस्ति मूढभावोऽपि ॥'

किसी मुनि ने कहा भी है—[३]

'यथा शीतोष्णयोर्मध्ये काले नोष्णो न शीतलः ।

---

१. स्पन्दनिर्णय ।　　　　२-३. उत्पलदेव—स्पन्दप्रदीपिका ।

एवं हि सुख दुःखाभ्यां हीनमस्ति पदं विभोः ॥'

'तत्त्वस्तुति' में कहा गया है—'जैसे आकाश में बिना अन्य भाव सम्बन्ध के सूर्य का उदय होता है इसी प्रकार वेद्य के बिना ही अपनी सत्ता का प्रकाश होता है—

'समुदेति यथा भावैर्बिना भानुर्नभस्तले ।
वेद्यं विनैव भगवन् भवान् केन स्वतोदयः ॥'

विशेषण के बिना सामान्य या व्यक्ति के बिना जाति का पृथक् निर्देश नहीं किया जा सकता किन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि सामान्य जाति है ही नहीं । स्वसंवेदन —संवेद्य, सविन्मयी स्थिति, नित्य शुद्ध निजस्वरूप है । उसमें सुख दुःख की कोई विशेषता नहीं है—[१]

यथोद्धृतविशेषस्य सामान्यस्य निजा स्थितिः ।
पृथङ् न शक्त्या निर्देष्टुं न च तत्रास्ति तावता ॥
एवं नित्या निजा शुद्धा सुखदुःखाविशेषिता ।
स्वसंवेदनसंवेद्या तव संविन्मयी स्थिति ॥'

और तो और **नागार्जुन** ने भी कहा है—'सब आलम्बन, धर्म, सभी तत्त्व एवं सभी क्लेशाशयों से संपूर्णतः शून्य है वह तत्त्व । किन्तु परमार्थतः शून्य नहीं है—

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥'

'आलोकमाला' में तो और विलक्षण ढंग से इसे प्रतिपादित करते हुआ कहा गया है कि—वह तमोवृत्ति के विरुद्ध है, अतः तमोवृत्ति कभी अवकाश नहीं देती । वह वस्तुतः सामान्य जनों के लिए कोई अविज्ञेय अवस्था है—उसे हम 'शून्यता' कहते हैं । लोक रुढि में जो नास्तिकता का बोधक—'शून्यता' शब्द है वह हमारे शून्य शब्द का अर्थ नहीं है—[२]

'विरुद्धत्वात्तमोवृत्तेर्नावकाशं ददाति या ।
सावस्था काऽप्यविज्ञेया मादृशा शून्यतोच्यते ॥
न पुनर्लोकरूढ्यैव नास्तिक्यार्थानुपातिनी ।

इस श्लोक के पूर्व स्वस्वभाव को शिव के रूप में प्रतिपादित करके इस श्लोक में उसके लक्षणों का अनुवाद (निरूपित विषय की व्याख्या या प्रमाण को प्रमाण के रूप में उसका पुनर्कथन या समर्थन) करते हुए परमार्थ सत्ता का प्रतिपादन करने हेतु ग्रन्थकार निम्न कारिका कहता है—'न दुःखं ... परमार्थतः ॥' 'यस्तु वेदकः स एक एव परमार्थ सन् इत्यर्थः' जो वेदक है वही मात्र सत् है ।'

'तत्' = वह । वक्ष्यमाण एवं स्वस्वभावशब्दवाच्य विशिष्ट वस्तु अर्थात् परमार्थ सत्ता । **'परमार्थतः'** = तत्त्वतः ॥ अर्थात् जिसके अतिरिक्त सभी पदार्थ असत्यसद्भाव हों, मिथ्या या असत्य हों । वह क्या है ? जहाँ न दुःख है और न सुख है, न ग्राह्य है न ग्राहक है और न तो मूढभाव ही है वही परमार्थ है ।

१-२. उत्पलदेव—स्पन्दप्रदीपिका ।

यहाँ पर सुखादिरूपता का प्रतिषेध होने के कारण इसके वेद्यत्व का भी प्रतिषेध किया गया है ।

वेद्य के अनेक प्रकार है यथा १. **बाह्य वेद्य** २. **आन्तर वेद्य** ॥ आभ्यन्तर वेद्य = अन्तःकरण द्वारा वेद्य होने के कारण **आभ्यन्तर वेद्य** कहलाते हैं । **'बाह्य वेद्य'** = शब्दादिक पदार्थ **'वेद्य'** पदार्थों को ही **'ग्राह्य'** भी कहते हैं । ये श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते हैं और अन्तःकरण के द्वारा सुखादिक के रूप में अनुभूति के विषय बनते हैं । 'वेद्यते इति वेद्यः' ॥

ग्राहक या वेदक भी मायीय प्रमाता है न कि तात्त्विक । बहु उपलब्धृमात्रस्वरूप है किन्तु वह तत्त्वतः नित्य है । इस प्रकार जहाँ पर देहादिक में अहंकार रखने वाला ग्राहक भी नहीं है ।[१]

कहीं-कहीं 'ग्राहकम्' पाठ भी है । **'ग्राहक'** = इन्द्रियाँ (जहाँ इन्द्रियाँ भी नहीं है ।) इस प्रकार जिस परम पद में—ग्राह्य-ग्राहक स्वरूप से व्यतिरिक्त ग्रहीतृमात्रस्वभाव पर तत्त्व हैं वही परमार्थ है ।[२]

'न च मूढभावोऽपि' = जहाँ मूढ़भाव भी नहीं है । अर्थात् यदि यह कहा जाय कि यदि सुख-दुःख, ग्राह्य-ग्राहक आदि कोई सत्ता उस पद में नहीं है तो मूढावस्था तो होगी ही?—इसी के निराकरणार्थ ग्रन्थकार कहता है कि वहाँ मूढ़ावस्था भी विद्यमान नहीं है ।[३]

मूढभाव = 'मूढस्य भावो मूढत्वं' अर्थात् वेद्यवेदनसामर्थ्याभाव । मूढ़भाव भी इसलिए विद्यमान नहीं है क्योंकि यदि वहाँ मूढ़भाव विद्यमान होता तो व्यक्ति को अनुभव में आता कि 'मैं मूढ़ था'—और ऐसा प्रत्यवमर्श होने पर **वेद्यता की सत्ता तो बनी ही नहीं रहती जो कि परमार्थ पद में है ही नहीं** । यदि वेद्यता बनी रहती तो मूढ़ावस्था का किस प्रकार वेदकैकस्वभाववस्तुरूपत्व हो पाता ? यदि वहाँ पर मूढ़ भाव की भी सत्ता विद्यमान नहीं रहती है तब तो उसकी प्रतिपत्ति के गोचरीभूत समस्त वेद्यवस्तुरूपता के प्रतिषेध के कारण वहाँ **अभाव की सत्ता विद्यमान मानी ही जानी चाहिए**—इसी पूर्वपक्ष के प्रतिक्षेपार्थ ग्रन्थकार ने कहा कि—'तदस्ति परमार्थतः ।'[४]

वह सद्वस्तु ('तत्') परमार्थतः (तत्त्वतः) सत्ताशील है । क्योंकि वह नित्यरूप से अविलुप्त है और उपब्धृमात्रलक्षणस्वभाव है ।

चूँकि कल्पनामात्रलब्धात्मक सुखादिक पदार्थ क्षणभंगुर वेद्य पदार्थ हैं अतः वेदक मात्र स्वभाव वाले आत्मा से ये वेद्य पदार्थ भिन्न होते हुए भी उनकी ही कल्पना होने के कारण उनसे भिन्न भी नहीं है—जो जो वेद्य भूमिका में हैं वे सभी अनित्य होने के कारण असत् है—'यत् यत् वेद्यभूमिकायां वर्तते तत् सर्वं असत् अनित्यत्वात्' ।[५]

पारमार्थिक सत्ता क्या है?—कारिकाकार ने परमार्थ सत् को दुःख, सुख, ग्राह्यता । ग्राहकता, मूढ़भाव इत्यादि सभी से परे माना है—

१-४. उत्पलदेव—स्पन्दप्रदीपिका ।   ५. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति।

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो न ग्राहको न च ।
न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थतः ॥' (५)

स्पन्द तत्त्व का यथार्थ स्वरूप—१. यह सुख, दुःख, ग्राह्यता, ग्राहकता, मूढ़ता आदि सभी से असंपृक्त है । ये इनका स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

२. यही तत्त्व परमार्थ सत् है क्योंकि वह नित्य है ।

३. सुख, दुःख आदि मानसिक संकल्प हैं, क्षुण्य हैं, और आत्मा के यथार्थ स्वरूप से पृथक् हैं ।

४. आत्मा सुख-दुखादि अनुभूति से परे होने के कारण नित्य, अक्षर, विभु, स्पन्दात्मक एवं चेतन है । लेकिन सुख दुःखादि की अनुभूतियों से परे होने के कारण वह प्रस्तर नहीं है ।

५. भट्टकल्लट—इन्हीं भावों को इन शब्दों में व्यक्त करते हुए कहते हैं कि 'तस्य चायं स्वभावो यत् सुखदुःखग्राह्यग्राहकमूढ़तादिभावैरस्पृष्टः । स एव च परमार्थतोऽस्ति नित्यत्वात् । सुखादयः पुनः संकल्पोत्थाः क्षणभंगुरा आत्मस्वरूपबाह्याः शब्दादिविषयतुल्याः । न च सुखादिस्वरूपो यदा नासौ तदा पाषाणप्रख्य एव ॥'[१]

'न दुःखं न सुखं यत्र न ग्राह्यो न ग्राहको न च'

कारिकाकार ने सुख, दुःख आदि चित्तवृत्तियों का उल्लेख किया है वे क्या है? स्पन्दात्मिका संवित् भट्टारिका जब विश्वरूप में प्रसृत होने हेतु उन्मुख होती है तब अपनी बहिर्मुखता के इस बाह्य स्तर पर सर्वप्रथम प्राण के रूप में परिणत होकर अन्तःकरण का रूप धारण करती है । त्रिगुणमय अन्तःकरण सुख, दुःख एवं मोह आदि अवस्थायें भी आत्मस्वरूप से पृथक् नहीं हैं क्योंकि ज्ञान रूपा परमेश्वरी से अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता नहीं है तथा ज्ञान सत्ता का आश्रय लिए बिना किसी भी वस्तु की सत्ता संभव नहीं है—

'तत्तद्रूपतया ज्ञानं बहिरन्तः प्रकाशते ।
ज्ञानादृते नार्थसत्ता ज्ञानरूपं ततो जगत् ॥'
'नहि ज्ञानादृते भावाः केन चिद्विषयीकृताः ।
ज्ञानं तदात्मतां यातमेतस्मादवसीयते ॥'

विशुद्ध चित् तत्त्व अखण्ड है, ज्ञानात्मक है, स्पन्दात्मक है, एकाकार है एवं सुख, दुःख, ग्राह्य, अग्राह्य उपाधियों से अतीत है । यह परमार्थ सत् है । प्रत्येक प्रमाता सुख, दुःख, नील, रक्त, अल्प, प्रचुर आदि वेद्य पदार्थों के रूप में स्वयं अवभासित हो रहा है । **चित् तत्त्व का स्वरूप** विश्वात्मक अहं विमर्श है ।

अहंविमर्श के दो प्रकार हैं—१. शुद्ध = आत्मरूप, २. अशुद्ध = प्रमेय रूप ।

क) शुद्ध अहं विमर्श—पति प्रमाता का है । शुद्ध अहं विमर्श में—समस्त

---

१. भट्टकल्लट—'स्पन्दसर्वस्व' ।

विरोधाभास, नि:शेष द्वैत, समस्त द्वन्द्व जाल, सारे भेद, विशुद्धचिद्रूप एकाकारता में (संसार में विलीन अनन्त सरिताओं की भाँति) अवस्थित रहती है ।

ख) अशुद्ध अहं विमर्श—माया शक्ति के कारण संकुचित (मित) अहं प्रतीति । इसका सम्बन्ध पशुप्रमाता के साथ है । इस स्तर पर विशुद्ध चित्त तत्त्व अपनी रूपान्तरित माया शक्ति के द्वारा अपनी अभिन्न शक्ति—**ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति एवं माया शक्ति** को संकोच भाव में तिरोहित करके गुणत्रय के समष्टिरूप अन्त:करण के स्वरूप को धारण कर लेता है । यह चित्त ही विभिन्न उपाधियों, अवस्थाओं, शरीरों द्वन्द्वों एवं भेदों को धारण करके एकता से अनेकता को ग्रहण करके उन स्वकल्पित एवं स्वारोपित (अ-यथार्थ) स्वरूपों को आत्मसत्ता से अभिन्न मानकर अहं रूप में स्वीकार करता रहता है ।

'इदं' को अहं मानकर चलता है । ज्ञानोदय के अनन्तर वह घट, पट, नील, सुख, दुखादि 'इदं' को अहं से पृथक् मानकर 'इदं' मानकर तथा अपनी सत्ता को 'अहं' मानकर तथा अपने को विशुद्ध आत्मस्वरूप से अभिन्न समझकर चलता है ।

'न चास्ति मूढ़भावोऽस्ति'—मूढ़ता है क्या? 'मूढ़स्य भावो मूढ़त्व वेद्यवेदन सामर्थ्याभाव: ।' (स्पन्दकारिका) । **'मूढ़ता'** = (गंभीरसंवेदनहीनता) ॥ प्रश्न यह उठता है कि आत्मस्वरूप में सुख दु:खादि संवेदनाओं का नितान्त अभाव (संवेदनहीनता वेद्य पदार्थों की अनुभूति का नितान्त अभाव) है तो क्या उसमें मूढ़भाव है? क्या वह प्रस्तर के समान समस्त संवेदनाओं की शक्ति से हीन है? स्पन्द शास्त्र में ही इसका उत्तर दिया गया है—'यत: तस्यापि अवस्थान्तरे मूढ़ोऽहमासम् इति प्रत्यवमर्शमानत्वात् वेद्यत्वं स्थितमेव केवलं तत्कालमनुपलंभ: ॥ (स्प० का०)'

कोई व्यक्ति संज्ञाहीन हो या प्रगाढ़ सुषुप्ति में लीन हो लेकिन सामान्य जागृतावस्था या संज्ञा में आने पर वह कहता है कि 'मैं गहरी निद्रा में या गंभीर संवेदनहीन अवस्था में अवस्थित था किन्तु पत्थर ऐसा कभी नहीं कहता । अत: मूढ़ता भी आत्मा का स्वभाव नहीं है । यदि आत्मा उस समय मूढ रही होती तो उसको उसका बाद में भान कैसे होता?

'तदस्ति परमार्थत:'—वही पारमार्थिक सत्य है—वही परमार्थत: यथार्थ है ।

आत्मतत्त्व की परमार्थ सत्ता—सूत्रकार की दृष्टि में समस्त उपाधियों से शून्य, विशुद्ध आत्मस्वरूप पदार्थ ही परमांर्थसत् है और उससे पृथक् समस्त कार्य प्रपञ्च सांवृत्तिक सत् है । पारमार्थिक सत् नहीं । जो वस्तु परमार्थत: सत है वह कभी असत् सिद्ध नहीं की जा सकती । यदि उसे असत् मान लिया जाय तो **असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होगी?**

स्पन्द तत्त्व सत् है और उससे कार्यरूप सत् का विकास होता है । **१. माध्यमिक शून्यवादियों ने** शून्य को सत्य (परमार्थ सत्) कहा । **२. विज्ञानावादियों ने** विज्ञान को सत्य कहा । **अभाववादी प्राचीन वेदान्तियों ने** परम सत्य को अभावस्वरूप माना ।

गौड़पादाचार्य परमार्थ का स्वरूप इस प्रकार उल्लिखित करते हैं—

'अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।'[१]

शङ्कराचार्य कहते हैं—'अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेद-स्तद्भेदस्तस्य कार्यम् ।' 'एकमेवा द्वितीयम् ॥' (छा० ३६।२।२)

आचार्य गौड़पाद 'परमार्थ' का यह स्वरूप मानते हैं—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥' (माण्डूक्यकारिका)

शङ्कराचार्य कहते हैं—'जब द्वैत असत् है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है । यह समस्त लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्या का ही विषय है—'यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्या विषय एवेति ।'[१] गौड़पादाचार्य द्वैत को यथार्थ नहीं प्रत्युत् चित्त का 'स्पन्द' मात्र मानते हैं—

'चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसंगं तेन कीर्तितम् ॥'[२]

जो पदार्थ कल्पित व्यवहार के कारण होता है वह परमार्थतः नहीं होता—'योऽस्ति कल्पित संवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ॥[३]

शैवी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा आन्तर शक्तिचक्र के साथ अचेतन इन्द्रियों को भी चैतन्य प्रदान किये जाने का प्रतिपादन

यतः करणवर्गोऽयं विमूढो मूढवत्स्वयम् ।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः ॥ ६ ॥
लभते तत्प्रयत्नेन परीक्ष्यं तत्त्वमादरात् ।
यतः स्वतन्त्रता तस्य सर्वत्रेयमकृत्रिमा ॥ ७ ॥

जिस स्पन्दात्मक शक्ति के द्वारा आन्तर शक्ति चक्र के साथ ही साथ चैतन्य शून्य इन्द्रिय-समूह को भी चेतन की भाँति सृजन, स्थिति एवं संहार का करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है उस (स्पन्दात्मक स्वभाव) तत्त्व की परीक्षा श्रद्धा-विश्वास एवं सम्मान के साथ प्रयासपूर्वक करनी चाहिए । क्योंकि उस (स्पन्दतत्त्व) की (आत्मधर्मभूता) यह स्वतन्त्रता-सर्वत्र अकृत्रिम (सहज या स्वाभाविक) है ॥ ६-७ ॥

* **सरोजिनी** *

पूर्व कारिका में स्पन्द तत्त्व की परमार्थता सिद्ध करके सूत्रकार इन दो सूत्रों में स्पन्दात्मक शैवी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा जड़ पदार्थों को भी चैतन्य प्रदान करने का विवेचन कर रहे हैं ।

यहाँ उपपत्तियों द्वारा परिघटित तत्त्व की प्रत्यभिज्ञा हेतु उपायों का साभिज्ञान

१-३. शांकरभाष्य—माण्डूक्यकारिका ।

निरूपण किया गया है—**'मूढ़'** = माया के वशीभूत होकर जडाभासीभूत अणु । **मूढत्व** = अचेतनत्व ॥ **यतः** = जिसके द्वारा । (यस्मात् स्पन्दतत्त्वात्) । **करणवर्गो**— इन्द्रियग्राम । इन्द्रियों का समूह । बाह्य इन्द्रियसमूह । **अयं** = यह । (यह इन्द्रिय समूह) । **विमूढ** = चैतन्य शून्य । विशेष रूप से चैतन्य विवर्जित । **सहान्तरेण चक्रेण** = देवियों की इन्द्रियों के साथ । (न कि आन्तरिक इन्द्रियाँ) इसका अर्थ पुर्यष्टक भी नहीं है । इसका अर्थ इन्द्रियाधिष्ठान भी नहीं है । **चक्रेण** = आन्तर वृत्त के साथ । प्रयत्न = उद्योगरूप उत्साह (उत्पल०) । **संहृतीः** = संहार । आदरः = श्रद्धाः 'अतः सततमुद्युक्तः' भी कहा गया है । **परीक्ष्यं** = परीक्षण का विषय बनाया जाना चाहिए । **तत्त्व** = स्पन्दात्मक संवित्स्वभाव, स्वस्वभाव, । **स्वतन्त्रता** = कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं की अघटन घटनापटीयसी शांभवी नित्य शक्ति जो शिव की स्वसमवेता शक्ति या आत्मधर्म है । **अकृत्रिमा** = सहज । स्वाभाविक ।

पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त श्रद्धा एवं उद्योगपूर्वक परीक्षित किया जाना चाहिये ॥ अर्थात्—वह तत्त्व अत्यन्त सावधानी एवं अत्यन्त प्रयासपूर्वक परीक्षित किया जाना चाहिए। इसके द्वारा करणग्राम अचेतन (विमूढ़) होते हुए भी आन्तर चक्रों के साथ चेतनवत् क्रिया करते हैं और वे सृष्टि-स्थिति-संहार के साथ प्रवृत्त होते हैं ।

पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित स्पन्द सिद्धान्त एवं परमतत्त्व का परीक्षण श्रद्धा एवं अध्यवसाय पूर्वक इसलिए किया जाना चाहिए क्योंकि इसके द्वारा करणवर्ग (इन्द्रियग्राम) अचेतन होकर भी चेतनवत् क्रिया करता है और यह स्पन्द तत्त्व समस्त भेदों के संहार के रूपों वाला है । 'उद्यमो भैरवः' (शिवसूत्र) कहकर शिवसूत्रकार ने इसी तथ्य को संकेतित किया है । यह भैरव के भैरव रूप का उद्यम है । यह अकृत्रिमा, स्वस्वभावा स्वातन्त्र्य शक्ति में अभिव्यक्त है ।

शङ्कर की आत्मस्वरूपा यह संवित् जो कि स्वस्वभावा, अकृत्रिमा, सहजा, स्पन्दतत्त्वरूपा एवं स्वातन्त्र्यसम्पन्ना है जड़ एवं चेतन सभी में स्फुरित हो रही है । भगवान् स्वातन्त्र्य शक्ति समवेत हैं—

'स्वतन्त्रः परिपूर्णोऽयं भगवान्भैरवो विभुः ।
तन्नास्ति यन्न विमले भासयेत्स्वात्मदर्पणे ॥

(परात्रिंशिका वि० = अभिनवगुप्त) ॥

'स्वातन्त्र्य' है क्या ? अभिनवगुप्त कहते हैं—'परमेश्वरस्य स्वात्मनि इच्छात्मिका स्वातन्त्र्यशक्तिः ॥' (परात्रिंशिका विवृति) ॥

इस श्लोक में **'अन्तरेण चक्रेण'** का अर्थ विचारणीय है ।

१. **इसका अर्थ है**—आन्तरिक इन्द्रियाँ नहीं है क्योंकि इन्द्रियों का उल्लेख तो 'करणवर्ग' में हो चुका है ।

२. **इसका अर्थ**—'पुर्यष्टक' भी नहीं हो सकता क्योंकि आन्तरिक इन्द्रियों ऊपर करणवर्ग से सम्बद्ध दिखाई गई हैं ।

३. **इसका अर्थ**—इन्द्रिय-विषय भी नहीं हो सकता क्योंकि वे योगहीन लोगों के

लिए केवल संस्कार या Impression मात्र हैं और वे चलने फिरने आदि क्रियाओं के प्रत्यक्ष संपादक के रूप में दृष्टिगत होते हैं ।[१]

योगी जो कि इन्द्रियों के विषयों का साक्षात्कार कर चुके हैं वे उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते क्योंकि वे स्वयं ही परतत्त्व का अवधानपूर्वक अनुशीलन कर चुके होते हैं ।

कुछ टीकाकारों का मत है कि **'करणवर्ग'** को 'मूढ़: अमूढ़वत्' के साथ जोड़ देना चाहिए न कि—'सहान्तरेण चक्रेण' (With sense of divinity)—यह कथन निराधार है क्योंकि यह इन्द्रिय वर्ग चेतना के भोग (आनन्द) से अभिन्न है ।[२]

ग्रन्थकार का कथन है कि—यह अपना स्वरूप इन्द्रियों की अधिष्ठात्री देवियों एवं इन्द्रियों के वर्ग को स्पंदित होने आदि क्रियाओं को करने हेतु प्रेरित करता है । यह उनके चलाने, रहने एवं नष्ट होने का भी सूत्रधार है । उसकी कृपा से करणवर्ग, जड़ होते हुए भी, उन कार्यों को संपादित करता हुआ प्रतीत होता है । ये पवित्र इन्द्रियाधिष्ठातृ देवियाँ सृष्टि के कार्यों को संपादित करती हैं ।[३]

यद्यपि रहस्यवादी दृष्टि के अनुसार जड़ इन्द्रियों का समूह वहाँ नहीं है किन्तु ज्ञान के शरीर से युक्त इन्द्रियाँधिष्ठातृ देवियाँ (Sense-devinities) ही वहाँ रहती हैं । इन्द्रियों के—अपने वैभव की रश्मियों के गोलक का निरीक्षण करते हुए एवं उनके चलने आदि क्रियाओं का अधिष्ठातृत्व करते हुए योगीगण अपने स्वरूप का परीक्षण कर सकते हैं । यह उनका स्वरूप शङ्कर से अभिन्न है । उपाय अत्यन्त सरल है—[४]

> निज निजेषु पदेषु पतन्त्विमा:,
> करणवृत्तय उल्लसिता मम ।
> क्षणमपीश मनागपि मैवभू,
> त्वदविभेदरसक्षति साहसम् ॥ (उ०स्तो० ८।७)

हे देव! मेरी इन्द्रिय-क्रियायें अपनी पूर्ण क्रीड़ा में अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ें किन्तु मैं एक क्षण के लिए भी ऐसे आवेश में न आ सकूँ कि आपके साथ ऐकात्म्य के आनन्द का त्याग हो सके ॥[५]

चार्वाक मत का खण्डन—ग्रन्थकार ने इसके द्वारा चार्वाक मत का भी खण्डन कर दिया जो कि चेतना को इन्द्रिय धर्म मानता है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की स्वानुभूति यह साक्ष्य देती है कि वास्तविक प्रत्यय चैतन्य (Real self) की शक्ति के कारण ही इन्द्रियाँ शक्तिमान बनती है ।[६]

छठवें सातवें कारिका द्वारा इसका उपपादन किया जा रहा है कि वह तत्त्व जड़ नहीं है—'यत: करणवर्गोऽयं....सर्वत्रेयमकृत्रिमा ।'[७]

इसी स्पन्दतत्त्व से यह बाह्य करणवर्ग अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय एवं अन्त:करण चक्र के साथ मूढ़ चेतन होने पर भी विचेतन के समान स्वयं प्रवृत्ति, स्थिति एवं संहार की अवस्थाओं को प्राप्त करता है । आप देखते ही हैं कि चुम्बक के सान्निध्य से लोहा

१-६. स्पन्दनिर्णय । ७. स्पन्दप्रदीपिका ।

क्रियाशील हो जाता है। वायु एवं अग्नि के संपर्क से लौहपिण्ड अग्निवत दाह-पाक के प्रकाशन में समर्थ हो जाता है—

एषोपपत्तिहेतुस्तु दृष्टान्तो भ्रामको मणिः ॥ (—स्पन्द प्रदीपिका।)

पञ्चम कारिका में इस परमार्थ सत् आत्मा अर्थात् शिव में समस्त वस्तु संपादन की स्वतन्त्र शक्ति की सामर्थ्य का प्रतिपादन करने के उपरान्त अब उपादेयतमत्व का उपदेश देने हेतु कारिकाकार कारिका युगलक क्र० ६ एवं ७ कह रहे हैं। (**रामकण्ठाचार्य**) ॥

कारिका ७—**'तत् तत्त्वं'** = स्वस्वभावाख्य वस्तु परमार्थसत् रूप में अवस्थित है। **'प्रयत्नेन'** = प्रकृष्ट यत्न के द्वारा अर्थात् संतत अविलुप्त उद्योग के द्वारा। **'आदरात्'** = श्रद्धातिशय के कारण **'परीक्ष्यं'** = समस्त अनुभवात्मक दशाओं में वक्ष्य-माणोपदेशानुसार क्रम से, वेद्य-वेदकलक्षण वाले दो तत्त्वों का विभाजन करके, वेदक के स्वरूप का परामर्श करने की क्रिया के द्वारा आत्मा के रूप में उसका स्फुटीकरण (परीक्षण) करना चाहिए।

'यतः तस्य द्वयम्'—जिससे कि उसका यह। प्रस्तुत व्याख्यान। 'स्वतन्त्रता: 'स्वतन्त्रता। स्वेच्छामात्राधीनसकलकार्यकर्तृत्वरूपा।' **'सर्वत्र'** = समस्त देहों में या दशा विशेष में अवस्थित **'अकृत्रिमा'** = सहज ही। अर्थात् उपादान, सहकारी कारणा आदि की बिना कोई अपेक्षा किये हुए, क्योंकि संसारी प्राणियों को भी उस स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा के द्वारा ही सारे व्यवहारों की सम्पदा प्राप्त हुआ करती है और माया-व्यामोह के वशीभूत होने के कारण सत्यस्वभाव के परामर्शाभाव के कारण सारे संसारी प्राणी समस्त क्रियाओं में परतन्त्र की भाँति व्यवहार करते हैं। क्योंकि उन्हें समस्त अभीष्ट-प्रतिपादन के लिए व्यतिरिक्त कारणों (उपादान कारण, सहकारी कारण, निमित्त कारण आदि) की अपेक्षा रहती है। इसीलिए कहा गया है कि स्वाभाविक स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए उस तत्त्व की परीक्षा करनी चाहिए ॥ इसका तात्पर्य यह है कि—

सुख-दुख-मोह-ग्राह्य-ग्राहक रूपों के प्रतिषेध के कारण उस अवस्तुभूत प्रमेय को नहीं जानना चाहिए—वह एतदर्थ अवगन्तव्य नहीं है—यही उपदेश दिया गया है।

'इदम्'—यह ॥ 'यह' शब्द द्वारा निर्दिष्ट स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करने हेतु 'यत:' शब्द से विशिष्ट विशेषण की अब व्याख्या की जा रही है।

किस तत्त्व की परीक्षा की जानी चाहिए?

कारिका ८—**'यतो'** = जिसके द्वारा (यस्मात्)। **'अयं कारण वर्गः'** = यह इन्द्रिय-समूह। अर्थात् श्रोत्र, नासिका, रसना, पाद, पाणि आदि बाह्येन्द्रियाँ, मन आदि आभ्यन्तर १३ इन्द्रियों का समूह ('त्रयोदशकरण समूहः')।

'प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः लभते'—**'प्रवृत्तिः'**—कार्योन्मुखता ॥ जिघृक्षितार्थोन्मुखता से युक्त उन्मेषावस्था। (स्पन्दकारिकाविवृति—रामकण्ठाचार्य।)। **'स्थितिः'**—गृहीतार्थ-विश्रान्त्यवस्था। **'संहृतिः'** = कृतकृत्य होने के कारण बाह्यार्थपरित्याग में स्वव्यापार से उपरत प्रत्यस्तमयावस्था ॥ **'लभते'** = प्राप्त करता है। (रामकण्ठाचार्य)।

किस प्रकार का 'इन्द्रिय समूह ? विमूढ़ । जड़ । किस प्रकार प्राप्त करता है? **'अमूढ़वत्'** = चेतनवत् ॥

तात्पर्य यह है कि—जिसके संस्पर्शबल से प्राकृत एवं जड़ बाह्याभ्यन्तर इन्द्रिय-ग्राम प्रवृत्ति आदि चेतन व्यापार निष्पादित करने में समर्थ होते हों उस तत्त्व को आत्मतत्त्व के रूप में स्फुटीकृत करे । वह इन्द्रियों में चैतन्य संपादित करने की स्वातन्त्र्य शक्ति की भाँति समस्त विषयों को स्वातन्त्र्य प्राप्त कराने में समर्थ है । अतः उसकी परीक्षा भी की जानी चाहिए ।[१]

उसकी परीक्षा की जानी चाहिए जिसके द्वारा, अभ्यासदशा में ही स्वातन्त्र्य के अभिव्यज्यमान होने पर परशरीरावेशादि क्रीड़ा निष्पादित होती है । वह यह है कि—

'न च सुखादिरूपो यदा नासौ' एवं—'तस्मात्तत्त्वं यत्नेन परीक्षितव्यम्' ।[२]

यह वही स्वातन्त्र्य स्वरूपा शक्ति है जिसका बाह्यावभासन ही विश्व है, जो स्वात्म-संवित्ति है, अद्वैत है, एक है और शिव का विमर्शात्मक हृदय एवं सारे अस्तित्वों का 'सार' है—

यस्यामन्तर्विश्वमेतद्विभाति, बाह्याभासं भासमानं विसृष्टौ ।
क्षोभे क्षीणेऽनुत्तरायां स्थितौ तां वन्दे देवीं स्वात्मसंवित्तिमेकाम् ॥[३]

इसे 'स्वातन्त्र्य शक्ति' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें किसी भी क्रिया के संपाद-नार्थ परापेक्षा नहीं है—यथा योगी—

योगिनामपि मृद्बीजे विनेवेच्छावशेन तत् ।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थ क्रियाकरम् ॥[४]

जड़ादिक पदार्थों में यह शक्ति नहीं है यह कर्तृत्व एवं चैतन्य शक्ति भी उन्हें इसी स्वातन्त्र्य शक्ति से प्राप्त होती है—

जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः ।
कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः ॥[५]

स्वातन्त्र्य की अन्य विलक्षणतायें निम्न हैं—

१. आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक् स्थितिः ।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता ॥ ४६ ॥

२. स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्याददृयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसंकल्पै निर्माय व्यवहारयेत् ॥ ४७ ॥

३. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ ४.३८ ॥[६]

(यह इच्छा ही 'स्वातन्त्र्यशक्ति' है ।)

१-२. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति । ३. परात्रिंशिकाविवृति ।
४-६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ।

४. परमेश्वरस्य हि यस्मादीश्वरतामयी शक्तिरैश्वर्यरूपं
स्वातन्त्र्यमेव वाच्यवाचकात्मविश्वपदार्थमयं भावजातं भवति ॥[1]

'स्वातन्त्र्यमेव जगदात्मना प्रथते' [2] —

५. तस्मात् संवित्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं यत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु ॥ (तं० १।६१)

६. एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ॥ (तं० १।६७)

'स एव शक्तिमान स्वतन्त्रोऽनुत्तरभट्टारकः स्वस्वातन्त्र्येणोद्भासितस्य विश्वस्य स्वात्मभित्तिसंलग्नतया धारणपोषणस्वभावत्वाद् भैरवो विश्वभरितस्वभावः ॥'[3]

अभिनवगुप्तपाद—'श्रीबोधपञ्चदशिका' में इसके विशेष निम्न धर्मों की ओर इंगित करते हैं—

क) अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत् ।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥ ७ ॥

ख) स्वातन्त्र्य अपरिज्ञेय परा शक्ति है—

यदेतस्यापरिज्ञानं तत्स्वातन्त्र्यं हि वर्णितम् ।
स एव खलु संसारो मूढानां यो विभीषकः ॥ (११)

स्वातन्त्र्यवाद—

प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादि स्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयाप्यतिरिक्तमेव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपानान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः ।

'शक्ति' तथा 'शक्तिचक्र' 'आन्तरचक्र'—

क) **विश्व का वमन—बहिः प्रकाशन करने के कारण** या संसार रूप वाम (विपरीत) आचरण करने के कारण 'वामेश्वरी' का रूप ग्रहण करती हुई ।

ख) **'खेचरी', 'गोचरी' 'दिक्चरी' भूचरी** रूप प्रमाता तथा अन्तःकरण, बाह्यकरण एवं वस्तुस्वभावरूप में स्फुरित होती है ।

ग) पशुभूमिका में शून्यपद ग्रहण करके पारमार्थिक **'चिद्गगनचरी'** का स्वरूप छिपाकर, किंचित्कर्तृत्वादिरूप कलादिक शक्त्यात्मक **'खेचरी' चक्र** के रूप में प्रकाशित होती है ।

घ) अभेदनिश्चयादिरूप पारमार्थिक स्वरूप को छिपाकर, भेदनिश्चय भेदाभिमान एवं भेदकल्पना से समन्वित अन्तःकरणों की देवी के रूप में—**'गोचरीचक्र'** बनकर प्रकाशित होती है ।

१-३. बोधपंचदशिका वि० (हरभट्ट) ।

ङ) अभेदप्रथात्मक पारमार्थिक रूप से जिसका आच्छादित हो चुका है एवं भेदालोचन आदि जिसमें प्रधान है ऐसी बाह्य करणों की देवीस्वरूपा **'दिक्चरीचक्र'** के रूप में भी वही शक्ति उदित होती है ।

च) सर्वात्मरूप को छिपाकर, भेदाभासस्वभाव' प्रमेयरूप—**'भूचरीचक्र'** के रूप में पशुहृदयों को मूढ़ बनाती हुई भी वही शोभित होती है ।

छ) वही पतिभूमिका मे सर्वकर्तृत्वादिशक्तिरूप **'चिद्गगनचरी'**, अभेदनिश्चयादि रूप **'गोचरी'**, अभेदालोचनाद्यात्मिका **'दिक्चरी'** और निजांगस्वरूप अद्वैत प्रथासारभूत प्रमेयात्मक **'भूचरी'** के रूप में पति-हृदय को विकसित करती हुई भी वही स्फुरित होती है ।

वही अज्ञातस्वरूपा रहने पर बन्धनप्रदा एवं ज्ञात होने पर मुक्तिप्रदा है—

'पूर्णाविच्छिन्नमात्रर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥' (भट्टदामोदर)

निज शक्तियों से जनित व्यामोहितता—ही संसारित्व है—एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्' जब यह शक्ति स्व शक्तिव्यामोहित नहीं होती तब तो शरीरी परमेश्वर परमेश्वर ही है अन्यथा पशु है—

'एवं संकुचितशक्तिः प्राणादिमानपि यदा स्वशक्तिव्यामोहितो न भवति तदा अयम् ... शरीरी परमेश्वरः ।

'मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः ॥'

'शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशत्तत्त्वमयं शिवरूपतां पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति ।' (जो लोग ३६ तत्त्वमय शरीर को या घटादि को भी शिवस्वरूप देखते हैं वे भी सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं ।') (प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' सूत्रः १३) ॥

१. **'खेचरी'**—'खे बोधगगने चरतीति' (प्र०ह०सू०१२) । जो ज्ञान के अनन्तान्तरिक्ष में विचरण करती है वही है **'खेचरी'** । इन समस्त शक्तियों का अपने मूल रूप में जो स्वरूप होता है उसे **'चिद्गगनचरी'** (चिदाकाश में सदा विचरण करने वाली शक्ति) कहते हैं ।

जब परमात्मा सर्वकर्तृत्वादिक पाँच शक्तियों को सीमित करके उन्हें **'कला'** **'विद्या'** **'राग'** **'काल'** **'नियति'** (पञ्च कंचुकों में संकुचित) रूप में प्रस्तुत करता है और यह असंकुचित शक्तियाँ किंचित्कर्तृत्व, किंचित् ज्ञातृत्व आदि अवस्थाओं को धारण करके पशुभूमिका में अवतरित होती हैं तब इन्हीं शक्तियों की समष्टि को **'खेचरी'** कहते हैं । इस स्थिति में पशुओं का ज्ञान क्षेत्र संकुचित करके यह खेचरी अपने **'चिद्गगनचरी'** स्वरूप को छिपाकर शिव को पशुभूमिका पर लाकर पशुओं को **'शक्तिदरिद्री'** बना देती है ।

किन्तु शक्तिवर्ग का यह बन्धनकारी रूप ही उसका सत्स्वरूप नहीं है । यही शक्ति चक्र सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापकत्व, अमित तृप्ति आदि अपनी पञ्चधा विभक्त अपनी अनन्त एवं असीम शक्तियों में स्पन्दित होकर **'चिद्गगनचरी'** के रूप में 'पति-प्रमाता' ('शङ्कर') को सर्वशक्ति सम्पन्न एवं निर्बंध एवं पूर्ण स्वतन्त्र भी बनाती है ।

२. **'गोचरी'**—शक्ति का यह स्वरूप वाणी के **'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' 'वैखरी'**—इन चार वाग्विस्तारों एवं अन्तःकरणों में विचरण करती हैं । यह एक ओर भेद व्याप्ति द्वारा **पशुप्रमाता** को लौकिक संकल्पविकल्पों के चक्रव्यूह में फँसा देती है और वहीं दूसरी ओर पतिप्रमाता (शिव) के हृदय में अभेदात्मक महाव्याप्ति के रूप में अविरत् स्फुरित होती रहती है ।

३. **'दिक्चरी'**—शक्ति का यह स्वरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों के संचरण-अंतरिक्ष में प्रसरण करती हुई पशुप्रमाताओं की इन्द्रियों को संसारोन्मुख बनाती है और उनसे प्रमेयों को भेददृष्टि से ग्रहण कराकर भेदावभास उत्पन्न करती है और दूसरी ओर यही शक्ति वर्ग पति प्रमाता को अन्तर्मुखी एवं अतीन्द्रिय अवबोधों के द्वारा प्रत्येक वस्तु को 'अहं' के रूप में ग्रहण कराता है ।

४. **'भूचरी'**—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध-पञ्च महाविषयों (पञ्च तन्मात्राओं = पञ्च सूक्ष्म महाभूतों) की प्रमेय-भूमिकाओं में व्याप्त रहने वाला यह शक्ति वर्ग एक ओर पशुप्रमाताओं को भिन्नाकारक घट पटादि अनन्त प्रमेयों के मकड़जाल में फँसा देता है और दूसरी ओर यही शक्ति वर्ग पति-प्रमाता (शिव) को उन्हीं अनन्त प्रमेयों को स्वांगरूप में अनुभव करा देता है ।

निःशेष 'शक्तिचक्र' एवं 'आन्तर चक्र' स्पन्दात्मिका संवित् तत्त्व के साथ अभिन्न है और अविराम स्पनदात्मक एवं नित्य रूप से चेतन है ।

'विमूढोऽमूढ़वत्'—यही नित्य चैतन्यस्वरूप शक्तिसमष्टि निःशेष इन्द्रिय समूह में एवं इन्द्रियेतर शरीर, प्राण एवं पुर्यष्टक आदि में चैतन्यावेश कराकर उनको चेतनवत् बना देता है और इसी चैतन्य भाव के कारण पशुप्रमाता भी इन करणों के द्वारा सृष्टि-संहारादिक व्यापारों का निष्पादन करता है ।

१. **'प्रवृत्ति'**—'प्रवृत्ति' क्या है? शब्द, स्पर्श, 'प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः' = रूप, रस, गंध रूप अपने ग्राह्य विषयों के ग्रहण-काल में इन्द्रियों की विषयोन्मुखी (ग्राह्योन्मुखी) अवस्था को प्रवृत्ति या उन्मिषित अवस्था = सृष्टि दशा कहते हैं—'प्रवृत्तिः' जिघृक्षितार्थो-न्मुखतासमुन्मिदवस्था ॥'

२. **'स्थिति'**—स्थिति क्या है? स्थिति है गृहीत अर्थों की विश्रान्ति अवस्था—'स्थितिः गृहीतार्थविश्रान्त्यवस्था' ।

स्वानुकूल ग्राह्य विषयों को ग्रहण करने के पश्चात् कतिपय कालखण्ड तक उन्हीं में लीन होकर विश्राम करने की अवस्था की संज्ञा है—**'स्थितिदशा'** ।

३. **'संहृति' (संहार)**—अपने कार्य-निष्पादन या उद्देश्यपूर्ति के अनन्तर कृत-कृत्य हो जाने से उन्हीं गृहीत ग्राह्य पदार्थों से पृथक् होकर, अपने व्यापारों से मुक्त होने की अवस्था को इन्द्रियों की संहारदशा कहा जाता है । यही इन्द्रियों की 'प्रत्यस्त-मयावस्था' भी है ।—'संहृतिः' कृतकृत्यत्वाद् बाह्यार्थपरित्यागे स्वव्यापारोपरमः 'प्रत्यस्त-मयावस्था' ।

सारांश—समस्त शक्तिचक्र, बाह्य इन्द्रिय समूह, समस्त जड़ प्रमेय वर्ग आदि को अस्तित्व प्रदान करने वाला मात्र स्पन्द तत्त्व (अहं प्रत्यवमर्शात्मिका संवित् शक्ति) ही है।

पूर्ववर्ती कारिकाओं में स्पन्द तत्त्व को पारमार्थिक सत्ता के रूप में स्थापित, प्रतिष्ठित एवं सिद्ध करने के अनन्तर अग्रवर्ती कारिकाओं (६.७) में कारिकाकार ने विश्व के प्रत्येक अणु-परमाणु में एक ही स्पन्दात्मिकी संवित् शक्ति के स्वातन्त्र्य-विस्तार का विवेचन किया है। यही परस्वतन्त्र पारमेश्वरी 'स्पन्दशक्ति' अपनी अप्रतिहत 'स्वातन्त्र्य शक्ति' के द्वारा जड़ प्रमेयों में भी व्याप्त है।

कारिकासूत्रकार कहते हैं—

जिस स्पन्दात्मक आत्मबल के स्पर्श मात्र से आन्तर शक्ति चक्र (खेचरी आदि शक्तिचक्र) के साथ ही साथ समस्त इन्द्रिय-समूह को अचेतन होने पर भी चेतन की भाँति सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने की शक्ति प्राप्त होती है उस स्पन्दात्मस्वभाव **तत्त्व का परीक्षण** एवं आदर प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि उस स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की स्वतन्त्रता स्वाभाविक रूप से 'प्रत्येक अणु में व्याप्त है। (६।७)॥

सरांश = १. स्पन्दात्मक आत्मबल खेचरी, गोचरी, दिक्चरी भूचरी शक्ति समूह को एवं अचेतन इन्द्रियों को सृष्टि-स्थिति-संहार करने की शक्ति प्रदान करता है।

२. स्पन्दात्मक आत्म तत्त्व का प्रयत्नपूर्वक सादर परीक्षण करना चाहिए।

३. ऐसे स्पन्दात्मक आत्म तत्त्व की अकृत्रिमा स्वतन्त्रता विश्व के प्रत्येक अणु में (प्रत्येक शरीर एवं प्रत्येक अवस्था में) संचरित हो रही है।

४. सहज स्वातन्त्र्य (स्वतन्त्र अहं प्रत्यवमर्श) ही प्रत्येक पदार्थ का वास्तविक स्वभाव बनकर अवस्थित है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ का स्वस्वभाव सहजस्वांत्र्य है।

'यतः' = चूँकि। जिसके द्वारा। **'करणवर्ग'** = इन्द्रियों का समूह।

'विमूढ़' = अचेतन। **अमूढ़** = चेतन। **सहान्तरेण चक्रेण** = आन्तर शक्ति चक्र के ही साथ। **प्रवृत्ति-स्थिति-संहतीः** = सृष्टि-स्थिति-संहार। **तत्** = उस। स्पन्दात्मक स्वभाव। **आत्मा तत्त्व** = आत्मा। **यतः** = क्योंकि। **इयम्** = यह।

अकृत्रिमा = स्वाभाविक।

प्रश्न—यः 'अन्येषां चैतन्यापादने समर्थः कथं निःस्वभावः ?'

जो जड़ पदार्थों को भी चैतन्य प्रदान करता है वह स्वयं स्वभावहीन—चैतन्यहीन कैसे हो सकता है ? यह कथमपि संभव नहीं है।

भट्टकल्लट कहते हैं—यतः करणवर्गस्य अन्तश्चक्रसहितस्य विमूढस्याप्यमूढवत् उत्पत्तिस्थितिनिरोधाः, सोऽन्येषां चैतन्यापादने समर्थः कथं निःस्वभावः ? तस्मात् तत् तत्त्वं यत्नेन परीक्षितव्यं योगिना, यथास्य करणादिषु चैतन्य दाने स्वातन्त्र्यम्, तथा परपुरादिष्वपि संभाव्यते, स्वातन्त्र्यस्य स्वस्वभावभूतस्य सर्वत्राकृत्रिमस्याभ्यासात् यतो व्यक्तिः॥ ६-७॥

(क) 'करणवर्ग'—करण साधन है। 'साधकतमं करणम्'। वह साधन जो किसी कार्य के निष्पादन में सर्वाधिक उपयोगी एवं आवश्यक साधन हो उसे 'करण' कहते हैं। करणों का समूह निम्नांकित है—

१) अन्त:करण—४ = १. मन २. बुद्धि ३. चित्त ४. अहंकार।
१. मन २. बुद्धि ३. अहंकार।

२) बाह्यकरण—क) पञ्च कर्मेन्द्रियाँ—१. पैर २. हाथ ३. जिह्वा ४. पायु और ५. उपस्थ।

(ख) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ—१. कर्ण २. त्वचा ३. नेत्र ४. रसना ५. नासिका।

ये सारे करण अचेन (मूढ़) हैं। विशेष स्पन्दों के प्रवाह ही इनमें क्रिया निष्पादन की क्षमता प्रदान करते हैं अन्यथा स्वत: तो ये अचेतन होने के कारण निष्क्रिय हैं। मृत्यूपरान्त एवं विकारग्रस्त होने पर या चैतन्य का संपर्क टूट जाने पर ये कोई कार्य निष्पादित नहीं कर पाते।

(ग) 'आन्तरचक्र'—प्रथम कारिका (प्रथम स्पन्द सूत्र) में भी चक्र का उल्लेख हुआ है—'तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुम:।' पारमेश्वरी शक्ति के विविध प्रवाह निम्नांकित हैं—

१. **मातृका (शब्द समूह) का रूप धारण करके** अ से क्ष पर्यन्त आठ वर्गों की अधिष्ठात्रियाँ बनी हुई हैं जो निम्न है—क) 'माहेश्वरी' ख) 'ब्राह्मणी' ग) 'कौमारी' घ) 'वैष्णवी' ङ) 'ऐन्द्री' च) 'याम्या' छ) 'चामुण्डा' ज) 'योगीशी'।

२. **अन्त:करणों एवं बहिष्करणों का स्वरूप धारण करके समस्त** शारीरिक एवं मानसिक कार्यों का निष्पादन करते हैं जो निम्न है—क) खेचरी ख) भूचरी ग) दिक्चरी घ) गोचरी शक्ति।

३. प्राण, बुद्धि, अन्त:करण, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत।

विरंचि से तृण पर्यन्त समस्त सत्ताएँ परमात्मा की अनन्त शक्तियों के अनन्त रूप ही तो हैं। इन्हीं अनन्त शक्तियों का अभिधान है—'शक्तिचक्र'।

'तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम्।
माहेश्वरी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा॥
ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मता:॥'
(मा०वि० ३.१३-१४)

'प्रत्यभिज्ञाहृदय' के बारहवें सूत्र में **क्षेमराज** ने भी इनका उल्लेख किया है—'किञ्चचितिरेव भगवती विश्व वमनात् संसारवामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती, खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी रूपै, अशेषै: प्रमातृ अन्त:करण बहिष्करण भावस्वभावै: परिस्फुरन्ती—

क) पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता **किञ्चित्कर्तृत्वाद्यात्मक** कलादिशक्त्यात्मना **खेचरी क्रमेण**।

ख) गोपित पारमार्थिक चिद्गगनचरीत्वस्वरूपेण चकास्ति ।

ग) भेदनिश्चयाभिमान विकल्पन प्रधानान्तःकरणदेवीरूपेण गोचरीक्रमेण गोपिताभेदनिश्चयाद्यात्मकपारमार्थिकस्वरूपेण प्रकाशते ॥ ('प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' **क्षेमराज**)

आत्मबल प्राप्त होने पर 'पशु' भी 'पशुपति' बन जाता है—

नहीच्छानोदनस्यायं प्रेरकत्वेन वर्तते ।
अपित्वात्मबलस्पर्शात्पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥ ८ ॥

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि (मितप्रमाता) पुरुष मात्र पारमेश्वरी आकांक्षा के अंकुश का प्रेरक बनकर ही नहीं रहता प्रत्युत् आत्मबल का संस्पर्श प्राप्त करने की दशा में (वह) पुरुष उसी (पति प्रमाता = परशिव) के समान हो जाया करता है ॥ ८ ॥

*** सरोजिनी ***

'नहि' = न खलु ।

'नहि' = नहीं । **'नोदन'** = (नुद्यते अनेन इति) प्रेषण ।

(नुद + ल्युट्) । प्रेरणा । चलाने का, हाँकने का काम । (हाँकने का पैना) । प्रतोद । (अंकुश) । **अयं** = इस आन्तर पुरुष को । **'बल'** = सामर्थ्य ।

'अपितु' = प्रत्युत । बल्कि । **'हि'** = ही, केवल (स्पन्द प्र०) ।

आत्म बल = अपनी शक्ति । आत्मा की शक्ति । **'इच्छानोदन'** = इच्छा प्रेषण । इच्छा ही नोदन है—प्रतोद है । **'अयं'** = लौकिक पुरुष । **नोदन** = प्रेरक (Pusher) लौकिक पुरुष इन्द्रियों को अपने विषयों में प्रवृत्त होने हेतु प्रवृत्त नहीं करता इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर नहीं लगाता । स्पन्दनिर्णय (**क्षेमराज**)

यह जीवात्मा (पुरुष) केवल इच्छा-प्रेषण या करण-समूह की प्रेरणा का स्वतन्त्र कर्ता ही नहीं है प्रत्युत् अपने निरावरण चिद्रूपत्व, ज्ञत्व, कर्तृत्व आदि शक्ति के स्पर्श से वही हो जाता है अर्थात् यह स्वयं सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है । **आत्मा में पूर्ण स्वातन्त्र्य निहित है** । (स्प०प्र०) ।[1]

'प्रेरकत्वेन वर्तते' = इन्द्रिय वर्ग के प्रति उत्प्रेरक होने से यह पुरुष संसारी प्रमाता बनता है । **वर्तते** = (अवतिष्ठते) स्थित है । यह आन्तर पुरुष अपनी इच्छा से जड़ करण वर्ग को अपने विषय में उत्प्रेरित नहीं करता प्रत्युत यह आत्मबल के स्पर्श से करता है । पर प्रमाता, सर्वकर्ता ईश्वर का जो यह स्वभाव है कि वह बिना करणों की अपेक्षा के ही समस्त वस्तुओं का संपादन कर डालता है उसके संपर्क से या स्पर्श से उसके समान ही बन जाता है ।[2] **तत्समो भवेत्** = स्वस्वभाव में स्थित परमात्मा इस जगत् की सृष्टि स्थिति-संहृति तीनों करने में स्वतन्त्र है । इसी प्रकार यह संसारी पुरुष भी

१-२. स्पन्दप्रदीपिका ।

स्वस्वभाव में स्थित होकर करणवर्ग को स्वविषयों में प्रवृत्त कराने में स्वतन्त्र है । अत: वह तत्सम है । यथा ईश्वर सर्व व्यापिका ज्ञान क्रिया आदि शक्तियों से विश्व को प्रवृत्त करके सभी कुछ जानता है एवं सभी कुछ करता है उसी प्रकार पुरुष उसकी शक्ति के संस्पर्श से ज्ञातृत्व-कर्तृत्व की सामर्थ्य प्राप्त करके (माया के कारण) निश्चित विषयों द्वारा और ज्ञान-क्रिया शक्तियों द्वारा अंतरवर्ती एवं बाह्यवर्ती करणों द्वारा प्रसृत स्वविषयों को जानता भी है और संपादित भी करता है । यही है दोनों में—पुरुष एवं परमात्मा में—साम्य ॥

इसीलिए कहा गया है—'न च इच्छाप्रेरणेन करणानि प्रेरयति ।' संसारी पुरुष करणवर्ग को अपने-अपने व्यापार में प्रवर्तित करते हुए ईश्वरभूमिका प्राप्त करने के कारण परमात्मा की ही भाँति स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लेता है । अत: संसारी पुरुष एवं ईश्वर में अभेद सिद्ध है ।[१]

आचार्य उत्पल इस कारिका के प्रतिपाद्य विषय के विषय में कहते है—

'तदिच्छायास्तु सामर्थ्यं करणानां स्वतन्त्रता ।
सर्वत्रोक्तास्य या सा तु भक्तियुक्तिरतस्त्वियम् ॥'[२]

यह बात कैसे हो गई कि उस तत्त्व से चैतन्य सदृश शक्ति प्राप्त करके इन्द्रियाँ स्वयमेव प्रवृत्यादि शक्तियाँ प्राप्त कर लेती हैं? यही ग्राहक—कारणों को प्रेरित करता है । तत्त्व की प्रयत्नपूर्वक परीक्षा की जानी चाहिए यह कैसे ? क्योंकि अपनी इच्छा बाहर ही अनुधावन करती रहती है न कि तत्त्व-परीक्षा में । ऐसी आशंका होने पर ही ग्रन्थकार कहते हैं—

'नहीच्छानोदनस्यायं .... पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥'[३]

अर्थात् सांसारिक प्राणी इच्छा के संचालक के रूप में अर्थात् संचालक या निर्देशक की भाँति क्रिया नहीं किया करता प्रत्युत् वह अपनी आत्मशक्ति (Vitality of self) की प्रेरणा से उस (तत्त्व) के समान हो सकता है ।[४]

सांसारिक प्राणी इच्छाओं का अंकुश या संचालक बनकर कोई कार्य नहीं करता, वह इच्छाओं के अभिप्रेरण (नोदन) का सूत्रधार नहीं है अर्थात् वह इन्द्रियों को अपने विषयों की ओर प्रवृत्त करने में संचालक की भूमिका का निर्वहन नहीं करता प्रत्युत् वह उस स्पन्दशक्ति की किञ्चिन्मात्र प्रेरणा से उस तत्त्व के तुल्य हो सकता है जो कि चेतना से अभिन्न आत्मा की शक्ति को जन्म देता है । यहाँ तक कि जड़ भी चेतन हो सकते हैं जब कि वे अहंता के अमृत की एक बूँद से अभिषिक्त हो जायँ । तत् से वह तत्त्व स्पन्दन करने में केवल इन्द्रियों को ही नहीं प्रत्युत् कृत्रिम प्रमाता (Perceiver) को भी सक्षम बनाता है और शंका की जाती है कि वह चेतना को प्रेरित करके इन्द्रियों का

---

१. स्पन्दकारिका विवृति । २. स्पन्दप्रदीपिका ।
३-४. स्पन्दनिर्णय ।

संचालन भी करता है। इसी कारण वह सोचता है कि 'मैंने इन्द्रियों को निर्देशित किया।' वह उस तत्त्व की प्रेरणा के बिना अपने अस्तित्व का त्याग करने हेतु बाध्य हो जाता है । अत: उस तत्त्व की परीक्षा अवश्य की जानी चाहिए । वह तत्त्व अपनी प्रकाश-रश्मियों के वर्ग से आविर्भूत अन्त:प्रवाही तरंगों (Inflow of currents) द्वारा इन्द्रियों एवं प्रमाता (Perceiver) को चेतना, सजीवता (Sentiency) में परिवर्तित कर देता है । इस प्रकार यह सब कुछ सोपपत्तिक (Logical) है । यदि इसका प्रत्यक्ष विरोध करते हुए आक्षेपक (Objector) अपने इस विचार पर दृढ़ है कि इन्द्रियाँ इच्छा रूपी अंकुश के स्वरूप वाली किसी अन्य इन्द्रिय से निर्देशित होती हैं तब तो वह इच्छा रूपी इन्द्रिय के स्वरूप का होने के कारण अपने संचालन के लिए अन्य इन्द्रिय की अपेक्षा करने लगेगा और फिर वह भी किसी दूसरे इन्द्रिय की अपेक्षा करने लगेगा तब तो अनन्त श्रेणी-परम्परा उत्पन्न हो जाएगी जो कि कभी समाप्त ही नहीं होगी ।[१]

मनुष्य अपनी इच्छा को याथार्थ्य या परासत्ता के परीक्षणार्थ प्रस्तुत नहीं कर सकता क्योंकि परासत्ता अज्ञेय (Inconceiveble) है अत: अपनी इच्छा के द्वारा उसे नहीं समझा जा सकता । किन्तु जब वही प्रमाता अपनी इच्छाओं को शान्त कर लेता है, **स्पन्द तत्त्व का संस्पर्श कर लेता है या अन्तर्मुखी आत्मा को छू लेता है,** विषयों की सोत्कण्ठ शोध (Hot pursuit of the objects) द्वारा, इसे पूर्ण एवं अभीष्ट परितृप्ति (Satiation) हेतु अनुमति प्रदान करते हुए जब स्पन्दतत्त्व का स्पर्श करता है और चैतन्य द्वारा अपनी इन्द्रियों को समलंकृत करते हुए अग्रपद होता है तब वह 'उसके' सदृश हो जाता है ।[२] ऐसी स्थिति में वह इसके अन्त:प्रवाह (Inflow) के द्वारा उस तत्त्व के सदृश सर्वत्र स्वातन्त्र्य प्राप्ति कर लेगा । इसीलिए कहा गया है याथार्थ्य (Reality) की परीक्षा की जानी चाहिए ।[३]

यहाँ पर 'स्पर्श' शब्द आत्म शक्ति के संदर्भ में प्रत्युक्त किया गया है ।

१. चिद्रूप आत्मा का जो स्पन्दतत्त्वात्मक बल है उसके स्पर्श से स्वल्प मात्रक आवेश से भी साधक 'उसके' समान हो जाता है—

'आत्मनश्चिद्रूपस्य यद्बलं स्पन्दतत्त्वात्मकं तत्स्पर्शात् तत्कृतात् कियन्मात्रात् आवेशात् तत्समो भवेत् ॥'[४]

२. अहन्ता के रस से अभिषिक्त अचेतन भी चेतन हो जाता है—

'अहन्तारसविप्रुड अभिषेकात् अचेतनोऽपि चेतनताम् आसादयति ।'

३. सांसारिक पुरुष तत्त्वपरीक्षणार्थ इच्छाओं को प्रवर्तित करने में सक्षम नहीं है क्योंकि तत्त्व अविकल्प्य (inconceivable) है अत: वह अपनी इच्छा से तत्त्व को विषय बनाने में समक्ष नहीं है—

'नायं पुरुष: तत्त्वपरीक्षार्थं इच्छां प्रवर्तयितुं शक्नोति—

१-४. स्पन्दनिर्णय ।

न इच्छया तत्त्वं विषयीकर्तुं क्षमः, तस्य अविकल्प्यत्वात् ।'[१]

४. विषयानुवर्तिनी इच्छाओं का शमन करके, स्पन्दतत्त्व का स्पर्श करके ही योगी साधक 'स्वातंत्र्य' प्राप्त कर सकता है तथा 'उसके' समान हो सकता है अन्यथा नहीं—[२]

'विषयानुधावन्ती' इच्छां तदुपभोगपुरःसरं प्रशमय्य यदा तु अन्तर्मुखं आत्मबलं स्पन्दतत्त्वं स्वकरणानां च चेतनावहं स्पृशति तदा तत्समो भवेत् । तत्समावेशात् तद्वत् सर्वत्र स्वतन्त्रतां आसादयति एव यस्मात् एवं तस्मात् तत्त्वं परीक्ष्यम् ॥'[३]

आचार्य उत्पलदेव कहते हैं यह जीवात्मा पुरुष केवल इच्छा-प्रेषण या करण-समूह की प्रेरणा का स्वतन्त्र कर्ता नहीं है प्रत्युत् अपने निरावरण चिद्रूपत्व ज्ञत्वं एवं कर्तृत्व आदि के बल के स्पर्श से वही हो जाता है अर्थात् यह स्वयं ही सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता है ।[४] 'आत्मनो बलमात्मबलं निरावरण चिद्रूपं ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणम् । तत्स्पर्शात्त-दवष्टाम्भात् तत्समो भवति । सर्वज्ञः सर्वकर्ता स्यादित्यर्थः ॥'[५]

'मितात्मा' एवं 'अमितात्मा' (अणु + परमेश्वर) दोनों में एकरूपता है क्योंकि—'कर्तृत्व' 'स्वातन्त्र्य' 'चैतन्य' 'ईश्वरता' एवं 'अहंता' ये पर्यायवाची शब्द हैं और दोनों में स्थित है—

'ईश्वरता कर्तृत्वं स्वतन्त्रता चित्स्वरूपा चेति ।
एतेऽहन्तायाः किल पर्यायः सद्भिरुच्यते ॥' (विरूपाक्षपञ्चाशिका)

पुरुषस्तत्समो भवेत्—'पशु' पशुपति (शिव) के समान बन जाता है । **आचार्य क्षेमराज—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'** में कहते हैं—

'चितिः संकोचात्मा चेतनोऽपि संकुचित विश्वमयः ॥' (सू०४) अर्थात् 'जिस प्रकार संसार भगवान् का शरीर है उसी प्रकार संकुचित चिति शक्तिस्वरूप जीवात्मा भी संकुचित विश्वमय शरीर धारण करने वाला है ।' श्री परमशिव अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में अवस्थित विश्व को 'सदाशिव' आदि के रूप में प्रकाशित करने की इच्छा करते हुए प्रथमतः चिदैक्य संकोचमय अनाश्रित शिव या शून्यातिशून्य रूप में प्रकाशात्मक तथा प्रकाशमानरूप से स्फुरित होते हैं । फिर घनीभूत चिद्रसमय निखिल तत्त्व, भुवन, भाव एवं भिन्न-भिन्न प्रमाताओं के रूप में अपने को विकसित करते हैं । यथा भगवान् विश्वरूप शरीर वाले हैं वैसे ही संकुचित चिद्रूप प्रमाता भी बटबीज के समान संकुचित समस्त विश्वरूप होता है वह पृथक् रूप से शरीरी भी है और अशरीरी भी तथा समष्टि रूप से समस्त शरीरों का शरीरी आत्मा है ।[६] **ग्राहक संकुचित विश्वमय ही है** । ग्राहक जीव भी प्रकाश तत्त्व के साथ ऐकात्म्य प्राप्त होने से उक्त आगम की युक्ति से विश्वरूप शरीरधारी शिव से अभिन्न ही है । मायाशक्ति से स्वरूप के अभिव्यक्त न होने से संकुचित सदृश प्रतीत होता है । **संकोच भी चिदैक्य रूप** से विकसित होने के कारण चिन्मय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । सभी जीव विश्वशरीरी शिवभट्टारक ही है—'इति सर्वो ग्राहको विश्वशरीरः शिवभट्टारक एव' (**क्षेमराज**-प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ॥

१-३. स्पन्दनिर्णय । ४-५. स्पन्दप्रदीपिका । ६. क्षेमराज—प्र०हृ० (पृ० ११)

स्पन्दशास्त्र में कहा भी गया है—(श्री स्पन्दशास्त्रेषु—'यस्मात् सर्वमयो जीवः) कि जीव सर्वात्मक है और—'न सावस्था न यः शिवः ।' भी कहकर जीव को शिव ही बताया गया है ।—'शिवजीवयोरभेद एव उक्तः ।' एतत्परिज्ञान 'मुक्तिः' । एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः ॥' जीवेश्वर का ऐक्यानुसंधान ही मुक्ति एवं इसका अज्ञान ही 'बन्धन' कहा गया है ।

जीव का जो संकुचित चित्त है वह भी पराभट्टारिका चिति शक्ति ही तो है—

'चितिरेव चेतनपदादवरूढा चेत्यसङ्कोचिनी चित्तम् । (५)
'न चित्तं नाम अन्यत्किंचित् अपितु सैव भगवती तत् ॥

तथा हि सा स्वयं स्वरूपं गोपयित्वा यदा सङ्कोचं गृह्णाति तदा द्वयी गतिः । कदाचित् उल्लसितमपि सङ्कोचं गुणीकृत्य चित्प्राधान्येन स्फुरति कदाचित् सङ्कोचप्रधानतया ।'

जीव जो सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से आबद्ध है वह भी शिव की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियों के ही रूप हैं—'स्वातन्त्रात्मा चितिशक्तिरेव ज्ञानक्रियामायाशक्तिरूपा पशुदशाया सङ्कोचप्रकर्षात् सत्त्वरजस्तमः स्वभावचित्तात्मतया स्फुरति ।' इसीलिए कहा गया है कि—

जो लोग संसार में परम तत्त्व का अनुसंधान करने वाले हैं उनके लिए जीवों के स्वरूप में वर्तमान शिव ज्योति का लोप नहीं होता—

अतएव तु ये केचित् परमार्थानुसारिणः ।
तेषां तत्र स्वरूपस्य स्वज्योतिष्ट्वं न लुप्यते ॥

परमात्मा ही तो जीव है क्योंकि—'यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिं अवलम्बते तदा तदीया इच्छादिशक्तयः असंकुचिता अपि सङ्कोचवत्यो भान्ति तदानीमेव च इयं मलावृतः संसारी भवति ।' शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।'

'तथापि तद्वत् पञ्चकृत्यानि करोति ॥' (प्र०हृ०१०)

संसारी दशा में भी आत्मा की शिवत्व के अनुरूप क्या पहचान है? 'संसारी दशा में भी आत्मा शिव के सदृश पञ्चकृत्य करता है ।

शिवसूत्र में भी कहा गया है—'शिवतुल्यो जायते' (२५) 'स्पन्दसूत्र' में कहा गया है—'तत्समो भवेत्' (स्पन्दसूत्र ८) अर्थात् तुर्यपरिशीलनप्रकर्षात् प्राप्ततुर्यातीतपदः परिपूर्णस्वच्छ स्वच्छन्दचिदानन्दघनेन शिवेन भगवता तुल्यो, देहकलाया अविगलनात् तत्समो जायते ।' **'कालिकाक्रम'** में भी कहा गया है—

तस्मान्नित्यमसंदिग्धं बुदध्वा योगं गुरोर्मुखात् ।
अविकल्पनभावेन भावयेत्तन्मयत्वतः ।
यावत्तत्समतां याति भगवान्भैरवोऽब्रवीत् ॥'

'शिवसूत्रवार्तिक' (वरदराज) में भी कहा गया है—

तुर्याभ्यासप्रकर्षेण तुर्यातीतात्मकं पदम् ।
संप्राप्तः साधकः साक्षात्सर्वलोकान्तरात्मना ॥
शिवेन चिन्मयस्वच्छस्वच्छन्दानन्दशालिना ।
तुल्योविगलनाद्देहकलाया गहने शिवः ॥

जीवों में इच्छा-स्वातन्त्र्य है या नहीं ?

यदि चिदात्मा परमात्मा या पराभट्टारिका स्पन्दात्मिका संवित् शक्ति या स्वातन्त्र्य शक्ति या विमर्श ही सभी का कारण है और सारी इच्छायें उसकी इच्छाशक्ति की दास हैं तो मितप्रमाता की क्या भूमिका है ?

क्या पशुप्रमाता में इच्छा-स्वातन्त्र्य है या कि वह केवल परमेश्वरी 'इच्छाशक्ति' (विमर्श, स्वातन्त्र्यशक्ति) के आदेशानुसार ही उनकी प्रेरणा से इन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में नियोजित करती है?

पशुप्रमाता में इच्छा-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन (स्पन्द सूत्र ८)—कारिकाकार कहता है कि मितप्रमाता पुरुष केवल पारमेश्वरी इच्छा के अंकुश का प्रेरक मात्र बनकर ही नहीं रह जाता प्रत्युत् वह स्वात्म बल के स्पर्श होने की अवस्था में स्वयं पतिप्रमाता (शिव) के समतुल्य बन जाता है ।

१. **उत्पलदेवाचार्य** कहते हैं—'अयं पुरुषो जीवात्मा नेच्छानोदनस्य नेच्छा प्रेषणस्य करणचक्र चोदकस्यैव केवलं प्रेरकभावेन वर्तले ॥'—'स्पन्दप्रदीपिका'

२. **रामकण्ठाचार्य** कहते हैं—१. 'ननु स्वव्यापारे करणवर्गं प्रवर्तयन् पुरुषः ईश्वर-भूमिकासादनात् तद्वत् स्वातन्त्र्यम् आप्नोति ॥ इति तयोः ईश्वरपुरुषयोः अभेदं एव प्रतिपादितः स्यात्' कथं भेद निबन्धनम् ईश्वरसाम्यं पुरुषस्य प्रतिपादितं तस्यां दशायाम्? २. 'परमेश्वरो जगदिदं प्रवृत्ति-स्थिति-संहृतीः यथेष्टं लंभयितु स्वतन्त्रः । तत्रैव स्थित्वा पुरुषोऽपि अयं संसारी करणवर्गं स्वविषये प्रवृत्यादि लंभयितुं स्वतन्त्रः तेन तत्समो भवेत् ॥ ३. 'यथा ईश्वरः सर्वव्यापिकाभ्यां ज्ञान-क्रियाख्याभ्यां शक्तिभ्यां विश्वं प्रवृत्यादि प्रापयन् सर्वं जानाति च करोति च' तथा पुरुषः तलस्पर्शादेव अजातज्ञत्व-कर्तृत्व-सामर्थ्यो मायावशात् नियतविषयाभ्यां ज्ञानक्रियाशक्तिभ्यां अन्तर्बहीरुपकरणवर्गतया प्रसृताभ्यां स्वविषयं जानाति च करोति च, इति तत्साम्यम्—'स्पन्दकारिकाविवृति'

३. **भट्टकल्लट** कहते हैं—'न च इच्छा प्रेषणेन करणानि प्रेषयति, अपितु स्व-स्वरूपे स्थित्वा केवलं यादृशी तस्येच्छा प्रवर्तते तथाविधमेव सामर्थ्यम् किंतु तस्य सर्वत्र' —'स्पन्दसर्वस्व' । वृत्तिकार कहते हैं कि यही नहीं समझ लेना चाहिए कि मितप्रमाता (पशुप्रमाता) पारमेश्वरी इच्छांकुश के कारण इन्द्रियों की अपना कार्य निष्पादित करने मात्र की प्रेरणा देता है और उसका कोई भी इच्छा स्वातन्त्र्य या क्रिया-स्वातंत्र्य नहीं है । इसके विपरीत सत्ता तो यह है कि पशुप्रमाता अपने स्वरूप में अवस्थित रहकर अपनी इच्छा के अनुरूप बाह्याभ्यन्तर कार्यों का निष्पादन करता है । इन दशाओं में मितप्रमाता (पशु) की किंचन इन्द्रियों को विषयोन्मुख करने की ही सामर्थ्य नहीं होती प्रत्युत् उसे (पशु-प्रमाता को) प्रत्येक क्षेत्र में स्वातंत्र्यपूर्ण कार्य करने की पूर्ण क्षमता भी अधिगत रहती है ।

सारांश यह कि प्रत्येक पशुप्रमाता अपनी स्वतन्त्र इच्छा द्वारा अपनी इन्द्रियों को उनके-उनके विषयों में संलग्न करने का अधिकार एवं शक्ति रखता है अन्यथा वह कर्मस्वातन्त्र्याभाव में कर्मफलों से भी मुक्त रहता ।

प्रमातृसप्तक

अनाश्रित शिव	सदाशिव	ईश्वर	शुद्धविद्या	विज्ञानाकल	प्रलयाकल	सकल
(शून्य प्रमाता)	(बुद्धि प्रमाता)	(प्राण प्रमाता)	(देह प्रमाता)			

अनाश्रितः शून्यमाता बुद्धिमाता सदाशिवः ।
ईश्वरः प्राणमाता च विद्यादेहप्रमातृता ।।

'शुद्धविद्या' से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त 'शुद्धाध्वा' है । 'मन्त्र' 'मन्त्रेश्वर' 'मन्त्रमहेश्वर' 'शुद्धाध्वप्रमाता' हैं ।

शिव के दो रूप हैं

'अनाश्रित शिव'	'पञ्चकारण रूप शिव'
(पञ्चकारण रूप शिवों में आश्रित न रहने या स्वशक्ति मात्र का आश्रय होने के कारण 'अनाश्रित' कहलाते हैं)	(शिव । शक्ति । सदाशिव । ईश्वर शुद्धविद्या) (साश्रित)

उपर्युक्त समस्त प्रमाताओं एवं प्रमेयों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है । इन सभी पर प्रकाश डालने के बाद आठवीं कारिका का भाव सुस्पष्ट हो पायेगा ।

१. **प्रतिप्रमाता**—आचार्य उत्पलदेव 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञां (३.२.३) में कहते हैं— 'स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।' अर्थात् प्रमाता जिस अवस्था में समस्त भावमण्डल को अपने शरीर का अभिन्न अंग जैसा मानता है—अर्थात् अहंविमर्शात्मक स्वभाव से अपने को अभिन्न मानता है । उसे ही 'पतिप्रमाता' कहते हैं । यही है 'पतिप्रमातृभाव' । इस प्रमाता का समस्त भाववर्ग पर स्वामित्व स्थापित रहने के कारण ही इसे 'पति' कहते हैं । 'पति' रक्षक को भी कहते हैं । यह भावमण्डल का सर्वोच्च रक्षक है अतः इसे 'पति' कहना उपयुक्त है ।

२. **पशुप्रमाता**—यह आत्मा जिस अवस्था में मायीय आवरण से आच्छादित रहने के कारण (विश्व के स्वांग होने पर भी) विश्व को अपना अंग नहीं प्रत्युत स्वातिरिक्त अन्य पदार्थ मानती है उसे ही 'पशुप्रमाता' कहते हैं—यही है पशु—'मायातो भेदिषु क्लेश कर्मादिकलुषः पशुः ।।' (ई०प्र० ३.२.३) यह भाववर्ग का स्वामी नहीं उसका दास होता है । भावों के क्षोभ को ही बन्धन कहते हैं । 'पशु' इसी बन्धन का कैदी होता है और संसृति-चक्र में फँसकर अनन्त काल तक बन्धन में पड़ा रहता है ।

'संसारी' (पशु रूप ग्राहक) और 'पतिप्रमाता' स्वरूपतः अभिन्न होने के कारण समतुल्य हैं । इन दोनों की 'इच्छाशक्ति' 'क्रियाशक्ति' एवं 'ज्ञानशक्ति' भी यत्किञ्चित् समतुल्य हैं । दोनों की क्रियाओं में अन्तर है तो केवल यह कि पति भूमिका पर 'इच्छा' 'क्रिया' एव 'ज्ञान' तीनों निरपेक्ष, नित्य, स्वतन्त्र, देशकालातीत, आत्मस्वरूप, सर्वव्यापी, अमित अनादि, अनन्त, सर्वात्मक तथा सर्वानुस्यूत है। किन्तु पशुभूमिक मितात्मा की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया देशकालावच्छिन्न, अनित्य, अस्वतन्त्रात्मक, सादि-सान्त, मितानुस्यूत एवं व्यष्टिगत होता है । चिद्रूपता पर पड़े आवरण के परिमाण एवं मात्रा के अनुसार ही इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया पर आवरण पड़ता है । किसी के ऊपर यह आवरण झीना होता है तो किसी के ऊपर अत्यन्त मोटा । इसी अनुपात में प्रत्येक मितात्मा की इच्छा-ज्ञान-क्रिया में शक्ति, सामर्थ्य, चेतना और स्वातन्त्र्य का निवास होता है ।

समस्त विश्व-वैचित्र्य और अनन्त भाव राशि शिव की असीम एवं अनन्त शक्तियों का विश्वात्मक प्रसार मात्र है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं—

'एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून ।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥'[१]

जगत् परमात्मा का संकल्पावभासन मात्र है । 'स्वातन्त्र्यशक्ति' की ही यह विशिष्ट क्षमता है कि वह तात्त्विक दृष्टि एवं स्वरूप की दृष्टि से एक (अद्वैत) होते हुए भी अनेकाकार ग्राह्यों को अवभासित करती है । यही है उसका क्रियास्वरूप स्वातन्त्र्य । यह शक्ति मितात्मा ग्राहकों (पशुओं = अणुओं = जीवों) में नहीं है । 'ग्राहके' 'ग्राह्य' एवं 'ग्रहण'—इन तीनों में एक ही सत्ता भासमान है । 'पतिप्रमाता' 'पशुप्रमाता' एवं समस्त ग्राह्य वर्ग (प्रमेय समूह) (जड़ पदार्थ) एक ही मूल सत्ता के रूपान्तर हैं ।

संवित्तत्त्व (१) विभु होने के कारण सर्वव्यापक (२) नित्य होने के कारण आदि-अन्त-शून्य (३) विश्वाकार होने के कारण—चेतन और जड़ तथा विश्व वैचित्र्य एवं अनन्त आकार-प्रकारों को अवभासित करता है—

'विभुत्वात्सर्वगो नित्यभावादाद्यन्तवर्जितः ।
विश्वकृतित्वात्वाच्चिदचित्तद्वैचित्र्यावभासकः ॥
ततोऽस्य बहुरूपत्वम् ... ... ॥'[२]

विश्वसिसृक्षु परमात्मा प्रथमतः अपने से अपृथक् विश्व को अपने से भिन्न वस्तु के रूप में प्रकाशित करता है और इसे ही 'आदिसर्ग' कहा गया है—'विश्वनिर्माणेच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यति रिक्तमेव विश्वं प्रकाशयेत् । अयमेव हि आदिसर्गः ॥' अनन्त शक्तियों से संयुक्त शिव जगत् का बाह्यावभासन करते समय संकल्पोन्मुखता के काल में उसका अवभासन अभिन्न अहंविमर्श के रूप में ही करता है । 'स्वातन्त्र्यशक्ति' रूपान्तरित होकर 'मायाशक्ति' का रूप ग्रहण करती है और स्वरूप पर आवरण डालकर (आत्म-स्वरूप को आच्छादित करके) स्वात्मचैतन्य के मुकुर में अनन्त ग्राह्यग्राहकों को अव-भासित करती है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (२.४.२) । २. तन्त्रालोक (१.६१-६२) ।

'सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गतः ।
आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तगः ।
जडानडस्याप्येतस्य द्वैरूप्यस्यास्ति चित्रता ॥' (तं० १।१३४-५)

'पतिप्रमाता' 'पशुप्रमाता' एवं 'जड़ प्रमेय' तीनों अपने सभी रूपों में स्पन्दात्मक स्वभाव के ही स्वस्वरूप हैं । इनका स्वरूप निम्नानुसार है—

१.	पतिप्रमाता	विशुद्ध, चिद्रूप, अनावृत	ज्ञातृत्व कर्तृत्व स्वातन्त्र्य शक्ति	विश्वात्मक निराकार	स्वांग रूप में विश्व का ग्रहण	भेदशून्य
२.	पशुप्रमाता	चिद्चिद् अर्द्धावृत अर्द्धानावृत	संकुचित ज्ञान संकुचित क्रिया	देह, प्राण पुर्यष्टक शून्य	सर्व, रूपों से अभिन्नता	देवता मनुष्य पशु पक्षी
३.	प्रमेय जड़वर्ग	अचित् पूर्णावृत चैतन्य वाला	ज्ञेय कार्य	जड़ पञ्चभूत	विमूढ़ता में स्थिति के कारण विसंज्ञ	समस्त स्थावर प्रकृति अनन्तभेद

क्षोभावसान से परमपद की प्राप्ति का प्रतिपादन—

निजाशुद्ध्यासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः ।
यदा क्षोभः प्रलीयेत् तदा स्यात् परमं पदम् ॥ ९ ॥

अपनी (अपने स्वातन्त्र्य से समुत्पादित) (मलात्मक) अशुद्धि से असमर्थ तथा (वासनात्मक) कर्तव्यों की आकांक्षायें रखने वाले (मितप्रमाता) का 'क्षोभ' जब (स्व-स्वरूप में) लयीभूत हो जाता है । तब उसको 'परमपद' प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

इस कारिका के प्रतिपाद्यविषय के बारे में स्पन्दप्रदीपिकाकार कहते हैं—

'अनेन सर्वं स्वातन्त्र्यमुक्तस्य च तद्भवेत् ।
अभिमानात्मकक्षोभक्षयेन त्वन्यमाह च ॥'

* **सरोजिनी** *

'निजाशुद्धि' = 'निजा सहजा । अनादिर्याऽशुद्धिरविद्याऽविवेकमूला भोगाभिलाष-मलरूपतयाऽसमर्थस्य संकुचितशक्तेः ॥' (स्पन्दप्रदीपिका)

निजा = स्वात्मीया । **अशुद्धि** = 'आणव मल' । 'मायीय मल' । 'कार्म मल' । **अशुद्धि** = अशुद्धियाँ । आणव, मायीय एवं कार्म अशुद्धियाँ ।

'स्वस्वातन्त्र्योल्लासिता या इयं स्वरूपाविमर्शस्वभावा इच्छाशक्तिः संकुचिता सति अपूर्णामन्यतारूपा 'अशुद्धि'—तन्मलोत्थित कंचुकपञ्चकाविलत्वात् ।'[१]

१. **आणव मल**—अपनी स्वातन्त्र्योल्लासित स्वरूपाविमर्शस्वभावा जो 'इच्छा शक्ति है जब वह संकुचित होकर अपूर्णामन्यतारूपा हो जाती है तब इसी मलपंकिल इच्छाशक्ति ही 'अशुद्धि' कहलाने लगती है । यह अशुद्धि तीन प्रकार की है—१. इच्छा-शक्ति की अशुद्धि, २. ज्ञानशक्ति की अशुद्धि, ३. क्रियाशक्ति की अशुद्धि ।

२. **मायीय मल**—ज्ञानशक्ति की अशुद्धिः 'मायीयमल'—जब ज्ञानशक्ति अपने सर्वज्ञत्व की अनन्त शक्ति को छोड़कर किंचिज्ज्ञत्व (स्वल्प ज्ञातृत्व) को ग्रहणकर लेती है तब उसके इस संकोच-ग्रहण को ज्ञानशक्ति की अशुद्धि या मायीय मल कहते हैं[२]—

ज्ञानशक्तिः क्रमेण भेद—सर्वज्ञत्व-किंचिज्ज्ञत्व अन्तःकरणबुद्धि इन्द्रियतापत्तिपूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम् अशुद्धिरेव ॥[३]

३. **कार्ममल**—क्रियाशक्ति की अशुद्धि—'कार्ममल'—जब क्रियाशक्ति की सर्व कर्तृत्व की शक्ति किंचित्कर्तृत्व में रूपान्तरित हो जाती है तब कार्ममल स्वरूप यह क्रिया-शक्ति अशुद्धस्वरूप हो जाने के कारण अशुद्ध हो जाती है । इसे ही क्रियाशक्ति की अशुद्धि कहा जाता है—क्रियाशक्तिः क्रमेण भेदसर्वकर्तृत्वकिंचित्कर्तृत्वकर्मेन्द्रियरूप-संकोचग्रहण पूर्वं अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलं अपि अशुद्धिः ।

निजाशुद्धिरूप जो 'मल' है कोई पृथग्भूत तत्त्व नहीं हैं 'निजाशुद्धि शब्देन 'मलं' नाम द्रव्यं पृथग्भूतं अस्ति इति ये प्रतिपन्नाः ते दूष्यत्वेन कटाक्षिताः ॥'[४]

मलों से रहित प्राणी ही मुक्त है—वही भैरव है—

मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टम् ।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ॥ (वि०भै०१३८) ।

क्षोभ = प्रकृति का क्षोभ । सीमित प्रमेयों के साथ अपनी एकात्मता या अभिन्नता । अशुद्धि जनित विकार । अशुद्धि = देह में अहंभाव ।

आचार्य क्षेमराज कहते हैं कि—परमेश्वर के स्वभाव का होने पर संसारी (शरीर-धारी) प्राणी या आत्मा अपनी पूर्णता के साथ क्यों नहीं दिव्यालोक से प्रकाशित होता? वह क्यों आन्तर आत्मबल के स्पर्श की अपेक्षा रखता है?—इसी शंका का निवारण करने के लिए ग्रन्थकार ने निम्न श्लोक कहा—

'निजाशुद्ध्या समर्थस्य .... परमं पदम् ॥'[५]

अब तक आत्मा के पूर्ण स्वातन्त्र्य का निरूपण किया गया । यदि इसके अभि-मानात्मक क्षोभ का क्षय हो जाय तो कहना ही क्या ?

अनादि अशुद्धि अविवेकमूला अविद्या भोगाभिलाषा मल से आत्मा की शक्ति को संकुचित एवं सामर्थ्यहीन बना देती है । फिर उसको अपनी भोगाभिलाषाओं को पूर्ण

१-५. स्पन्दनिर्णय ।

करने हेतु अनेक कर्तव्य करने की इच्छा होने लगती है । यही अज्ञान है 'अनादिर्याऽ-शुद्धिरविद्याऽविवेकमूला भोगाभिलाषमलरूपतयाऽसमर्थस्य संकुचितशक्तेः ।।'[१]

श्रीसात्वत नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है कि—अज्ञान, परिच्छिन्नता, सुख-दुःख—ये सर्वज्ञ आत्मतत्त्व में इसलिए आ जाते हैं क्योंकि वह कर्मचक्र का आलम्बन ले लेता है । इसे ही दूसरे शास्त्रों में गमनागमन, प्रकृति, अशुद्धि, कर्मवासना, माया, अविद्या, भ्रम, मोह, अज्ञान एवं मल आदि नामों से कहा गया है—[२]

'अज्ञता व्यापकत्वं च सुखदुःखादिवेदनम् ।
सर्वज्ञस्यात्मतत्त्वस्य कर्मचक्रावलम्बनात् ।।
गतीस्वेषा प्रकृत्याख्या शुद्धिः प्राक्कर्मवासना ।
मायाऽविद्या भ्रमो मोहोरज्ञानं मलमिति क्वचित् ।।'[३]

गीता में भी कहा गया है कि—प्रकृति एवं पुरुष दोनों अनादि हैं । सारे विकार एवं सारे गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ।।
'अनादित्वे समानेऽस्या विशेषोऽयं विचारतः ।।'[४]

प्रकृति और पुरुष की अनादिता समान होने पर भी मायारूप प्रकृति का लय हो जाता है और आत्मसंवित् ज्यों की त्यों रहती है ।

'संवित्प्रकाश' में कहा गया है कि—माया का मायापन यही है कि तत्त्वसाक्षा-त्कार होते ही मिट जाती है । रज्जु का, ज्ञान होने पर, सर्प, माला आदि मानने का प्रश्न ही कहाँ ?' और भी कहा गया है—'तुम्हारे अतिरिक्त जो कोई अन्य वस्तु है' इस प्रकार प्रतीत होता है कि वह विचार करने पर गंधर्व नगर के समान विलीन हो जाती है । केवल तुम्हीं शेष रहते हो । इसलिए तुम्हारा नाम शेष है ।'[५]

मायात्वमेतदेव स्यान्नाशस्तत्त्वप्रदर्शनात् ।
नहि विज्ञातरज्ज्वात्मा सर्पादीन्मन्यते पुनः ।।
त्वत्तो द्वितीयमिहवस्तु यदस्ति किञ्च,
तत्तद्विचार पदवीमवतारितं चेत् ।
गंधर्वपत्तनमिवोपलयं प्रयाति,
त्वं शिष्यसे ध्रुवमतस्तव शेषसंज्ञा ।।[६]

विद्याधिपति का कहना है कि—समाधि का स्वभाव है—विषय का भोग । जब युक्तिपूर्वक समाधि लगाने से वह विषय प्रकाश को खा जाती है तब आपकी पदवी हो जाती है । सर्वभोक्ता और केवल आप ही अभुक्त रह जाते हैं ।

भक्षणप्रकृतिना समाधिना युक्तितो विषयधाम्नि भक्षिते ।
सर्वभक्षपदवीमुपेयुषः शिष्यते परमभक्षितो भवान् ।।

१-६. उत्पलदेवाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका ।

वह जादूगर के जादू के समान या ऐन्द्रजालिक की माया के समान अपने बाधक में ही रहती है। अर्थात् माया मायावी की बुद्धि में कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करती—अपने आश्रय को दुःख नहीं देती।

सा चेन्द्रजालिनो मायेवाऽऽस्थिता बाधकात्मनि ॥
यथाऽग्निर्धूमलेखेव मलवद्दर्पणस्य वा।
बुदबुदाः सलिलस्येव तच्छान्तौ निर्विकारिता ॥

जैसे अग्नि से धूम्र, जैसे दर्पण पर मल, जैसे पानी में बुलबुले—ऐसा ही उसका स्वरूप है—फिर निर्विकार ही निर्विकार है—

'बुदबुदाः सलिलस्येव तच्छान्तौ निर्विकारिता ॥'[1]

क्षोभ है क्या? क्षोभ है अशुद्धिजन्य विकार। उसका केवल एक ही रूप है—देह में अहंभाव। विवेक से आत्मबल का स्पर्श होने पर वह नष्ट हो जाता है। तब परम पद की प्राप्ति अर्थात् अपने स्वरूप में स्थिति होती है।[2]

षड्धातुसमीक्षा में कहा गया है—मोहमूलक कर्म संसार के कारण होते हैं। मोह का मिट जाना और कर्म का मिट जाना एक ही बात है। वही सच्ची शान्ति एवं स्वस्थता है—[3]

'कर्माणि मोहमूलानि संसृतेः कारणं यतः।
तत्क्षयात् कर्मनिर्मुक्तः स्वस्थः शान्ततमस्ततः ॥'

नारदसंग्रह में कहा गया है कि—जैसे भुना हुआ बीज अंकुरित नहीं होता वैसे ही विकल्परहित चित्त पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है। यह क्षोभक्षय अभ्यास से धीरे-धीरे होता है—[4]

'यथा सुभर्जितं बीजं नेह भूयः प्ररोहति।
विकल्पक्षीणचित्तस्य तथा भूयो न संसृतिः ॥'

स्वात्मसंबोध में कहा गया है—जैसे किसी पात्र से अग्नि हटा दी जाए तो भी वह धीरे-धीरे ठण्डा हो जाता है वैसे ही अज्ञान पंक के धुल जाने पर यथा समय कैवल्य की प्राप्ति होती है—

'यथाग्निपोत्रं ज्वलनोद्धृतं सच्छैत्यं प्रयायाच्छनकैर्न सद्यः।
अज्ञानपंकेऽभिन्नोऽपि तथा निरस्ते कालेन कैवल्यमुपैति देही ॥'[5]

षाड्गुण्यविवेक में भी कहा गया है कि—'बोध विचित्र पदार्थों के निर्माण हेतु किसी दूसरे सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। वह स्वयं संकल्प से ही सहस्त्रों रूपों की सृष्टि कर लेता है।

'अविद्याकृतसंकोचगृहीताहंयुतास्य या।
तयाऽभिन्नोऽपि भिन्नोऽयं तत्त्वतः स्वप्नभीतवत्।
अभीत एव यः स्वप्ने विभ्यदभ्येति संभ्रमम्।

१-५. उत्पलदेवाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका।

तस्य स्वप्नादभिन्नस्य को भेदः पारमार्थिकः ॥
तथाहि मिथ्यैव भयं ममेति यदि बुद्ध्यते ।
स्वप्नतत्त्वं परामृश्य भीतिभिन्नैर्न बाध्यते ॥
एवं त्वन्मय एवाऽहमिति भावनया त्वपि ।
प्रलीनाहंकृतिग्रंथिः पश्यत्येव त्वदात्मताम् ॥'[१]

आत्मा और परमात्मा में केवल इतना ही भेद बतलाया गया है कि अविद्या के कारण अहंभाव का संकोच होने से यह आत्मसंवित् परमात्मा से अभिन्न होने पर भी भिन्न रूप में भासित है । यथा कोई स्वप्नावस्था में कोई डर जाय । वस्तुतः स्वप्नद्रष्टा निर्भय है किन्तु वह भय के कारण व्याकुल हो जाता है । क्या स्वप्नद्रष्टा और स्वप्न-दृश्य में कोई पारमार्थिक भेद है? जब किसी वस्तु को 'मेरी' मान लिया जाता है तब मिथ्या भय का उदय होता है । 'यह पदार्थ स्वप्नवत् है'—यह समझते ही भय भाग जाता है । इसी प्रकार 'मैं परमात्मरूप ही हूँ'—इस भावना से जिसकी अहंकार-ग्रंथि नष्ट हो जाती है, वह अपने को परमात्मस्वरूप ही देखता है ॥'[२]

संवित्प्रकाश में कहा गया है कि—यह समस्त कर्म तुम्हीं करते हो और तुम्हीं हो । अहंकार नहीं है तो केवल तुम्हीं शेष हो । अहंभाव ही आत्मा का परमात्मा से भेद कराने वाला तत्त्व है । वह भावना के अभ्यास से नष्ट हो जाय तो एकता ही एकता ही है—[३]

'कर्मेदं त्वकृतमपि त्वन्मयं येन माधव ।
विहीनाऽहंकृति ततस्त्वमेव परिशिष्यते ।
एतावतैव भेदोऽय यदहम्मानिताऽऽत्मनि ।
सा चेद्विलीना त्वद्भक्त्या नष्टो भेदः स्थितैकता ॥'[४]

निश्चय ही पुरुष अपनी इन्द्रियों को अपने व्यापारों में संलग्न करने हेतु उन्हें स्वव्यापार में प्रवर्तित करने के लिए ईश्वर भूमिका प्राप्त करने के कारण उसी प्रकार 'स्वातन्त्र्य' प्राप्त कर लेता है । अतः ईश्वर एवं पुरुष दोनों में अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया है । फिर ईश्वर से साम्य रखने वाले पुरुष की ईश्वर से भिन्नता उसका भेद-निबन्धन कैसे प्रतिपादित किया गया ?

ग्रन्थकार का कथन है कि यह सत्य है कि उस अवस्था में दोनों में अभिन्नता विद्यमान है किन्तु यह पुरुष अपनी सहज देहादि में आत्मप्रतिपत्ति (आत्मा से अभिन्नता का स्वीकरण) मूलक रागादिक अशुद्धियों (मलों) के कारण क्षणिक सुख लव का 'अभिलाषी' (इच्छुक) बनकर उसके द्वारा, उन क्षणिक सुखों को पाने हेतु विषयावाप्ति हेतु 'कर्तव्यों' (क्रियाओं) के निष्पादन में 'असमर्थ' (अशक्त) होकर यह शक्तिदरिद्री (पुरुष) सुखादिक की इच्छा होने के बाद भी अपने अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर पाता । इस प्रकार के इस पुरुष का जब (जिस समय) 'क्षोभ' (प्रतिनियत शरीरादिक आलम्बनों में अहं प्रत्ययात्मक मायीय उपप्लव) विगलित (विनष्ट, विलीन, प्रलयीभूत) हो जाता है

१-४. उत्पलदेवाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका ।

अर्थात् जब कृत्रिम आलम्बनों से मुक्त होकर स्वाभाविक अहं प्रत्यय के सूर्यालोक से क्षोभ रूपी प्रालेयपटल (हिमसंतति) विगलित हो जाती है—तब निरुत्तर ('परमं') स्थान सद्भाव के द्वारा प्रकाशित हो उठता है ।

तात्पर्य यह है कि आत्मा एवं पुरुष में तथा पर एवं अपर संवित् तत्त्वों में अभेदावस्था अधिकाधिक संवर्द्धित होती रहे । भाव यह कि स्वस्वभाव में प्रतिष्ठान हो और अभेदापत्ति हो—

'अभेद: ... ... स्वस्वभावे प्रतिष्ठानम्' ।—

अशुद्धि: = भिन्नभिन्न दर्शनों में पुरुष की भिन्न-भिन्न अशुद्धियों का उल्लेख किया गया है ।

इस प्रकरण में तो अचित्स्वरूप, अनित्य एवं परतन्त्र देहादिक आत्मेतर पदार्थों में जो भ्रमात्मक अहंप्रत्यय प्रवर्तित होता है अत: उनके विगलित होने पर स्वस्वभावाभि-व्यक्तिलक्षणा परा शुद्धि प्राप्त हो जाती है । कहा भी गया है—

'जाते देहप्रत्ययद्वीपभंगे,
प्राप्तैकध्ये निर्मले बोधसिन्धौ ।
अव्यावर्त्यैवेन्द्रियग्राममत्त,
विंश्वात्मा त्वं नित्यमेकोऽभासि ॥'

यह भी कहा गया है—

'नात्माधीनत्वेऽपि विश्वं नियोक्तुं,
सर्वो हस्तादीनिवेष्टे यथेष्टम् ।
बालो राजेवात्मशक्त्यप्रबोधात्,
त्वय्यन्त:स्थे सर्वशक्तिस्तु सर्व: ॥'[१]

'यदो**क्षोभ:** प्रलीयेत्'—जब देहादिक अहं प्रत्यय रूप क्षोभ लीन हो जाता है तब आत्मा परमपद में प्रतिष्ठित हो जाती है ॥'

'अशुद्धि' = देहाद्यात्मप्रतिपत्तिमूलरागादिरूपा' (रामकण्ठ) ।

अशुद्धि = मल । 'क्षोभ' = प्रतिनियत शरीराद्यालंबनाहंप्रत्ययात्मा मायीय उप-प्लव' (**रामकण्ठाचार्य**) ॥ परमपद = निरुत्तर स्थान (रामकण्ठ) इस श्लोक में स्वस्वभाव में प्रतिष्ठा का ही प्रतिपादन किया गया है—'स्वस्वभावे प्रतिष्ठानम् इति अनेन श्लोकेन प्रतिपादितम् ॥ (रामकण्ठ) ॥

'अशुद्धि' = अचित्स्वरूपों में अनित्य वस्तुओं में (देहादि में) अहं प्रत्यय (राम-कण्ठ) ।

क्षोभ की शान्ति से स्पन्दोपलब्धि का प्रतिपादन—आठवें स्पन्दसूत्र में कहा गया था कि—'अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत्' यदि पशु एवं पशुपति में,

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

अणु और शिव में कोई भेद नहीं है तो यह अणु शिव ही क्यों नही बन जाता उसके समान ('पुरुषस्ततसमो भवेत्') क्यों बनता है? पतिप्रमाता एवं पशुप्रमाता में तात्त्विक भेद तो नहीं है किन्तु फिर दोनों में भेदाभास होता क्यों है ?

क्षोभ और अशुद्धि—सूत्रकार इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अपने 'स्वातन्त्र्य' से उत्पादित सहज अशुद्धि (मल) के द्वारा असमर्थ बने हुए एवं संसार की वासनात्मक अभिलाषाओं में फँसे हुए मितप्रमाता (पशुप्रमाता) का 'क्षोभ' जब स्वस्वरूप में ही लयीभूत हो जाए तब उसे 'परमपद' की प्राप्ति होती है। **भट्टकल्लट** का कथन है—

१. मितप्रमाता को आत्मबल का पूर्ण स्पर्श होने ही नहीं पाता क्योंकि वह वासनात्मक अभिलाषाओं के चक्रव्यूह में फँसा रहता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि स्वभाव से उत्पन्न अशुद्धि (मल) द्वारा प्रमाता ओत-प्रोत रहता है ।

२. देहादिक अनात्म पदार्थों में 'अहं'—इत्याकारक अभिमान, से जात विकल्प परम्परा ही 'क्षोभ' है। यही 'क्षोभ' मालिन्य, मल, अज्ञान एवं अशुद्धि है। इस क्षोभ के स्वस्वरूप में लय हो जाने पर तब प्रमाता को 'परमपद' की प्राप्ति हो जाती है।

३. 'परमपद' का प्रतिबन्धक कौन है? 'क्षोभ' ही प्रतिबन्धक है। विद्वानों ने स्पन्द सूत्र में प्रयुक्त 'अशुद्धि' 'कर्तव्याभिलाषा' 'क्षोभ' इन तीनों का अर्थ लिया है—'आणव मल' 'कार्य मल' एवं 'मायीय मल'। 'अशुद्धि' = आणव मल। 'कर्तव्य' = कार्ममल 'क्षोभ' = मायीय मल।

अशुद्धि क्या है? 'देहाद्यात्मप्रतिपतिमूलरागादि रूप मल'—**रामकण्ठाचार्य**

क्षोभ क्या है? 'प्रतिनियत शरीराद्यालम्बनाहंप्रत्ययात्मा मायीय उपप्लवः ।'

—**रामकण्ठाचार्य**।

अशुद्धि किसे कहते हैं? 'अनादिर्याऽशुद्धिरविद्याऽविवेकमूला भोगाभिलाषमलंरूप'

—**उत्पलदेव**।

क्षोभ किसे कहते हैं? 'क्षोभो विकारोऽशुद्धिजनितो देहाहम्प्रत्ययरूपो ।'

—**उत्पलदेवाचार्य**।

'अभिमानात्मकक्षोभ'—**उत्पलदेवाचार्य**।

इसी क्षोभ के निलीन हो जाने पर 'परमपद' की प्राप्ति होती है। यह 'परमपद' क्या है? **रामकण्ठाचार्य** कहते हैं—'प्रलीन देहाद्यहंप्रत्ययलक्षणक्षोभो निवातनिश्चल जलधिवत सुप्रशान्त स्थितिः आत्मैव परमपद शब्द प्रतिपादितः ॥'—**रामकण्ठाचार्य**॥

'परमपद' = 'निरुत्तर स्थान'—**रामकण्ठाचार्य**।

भट्टकल्लट इस स्पन्दसूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'स चास्य आत्मबलस्पर्शः सहजया अशुद्ध्या व्याप्तस्य कार्यमिच्छतोऽपि न भवति, किन्तु यदा क्षोभः 'अहमिति' प्रत्ययभावरूपोऽस्य प्रलीयेत्, तदास्य भवति परमे पदे प्रतिष्ठानम् ।'

अन्तरात्मा की रंगभूमि पर विश्वाभिनय—पतिभूमिका में प्रतिष्ठित विश्वात्मा एवं पशुभूमिका में प्रतिष्ठित जीवात्मा (पशुपति एवं पशु) एक ही सत्ता के दो रूप हैं—१. पूर्ण स्वतन्त्र २. संकुचित स्वातन्त्र्योपहित ये ही इसके दो रूप हैं। 'रंगोऽन्तरात्मा' एवं 'नर्तक आत्मा' कहकर शिवसूत्रकार ने पशुपति को विश्व रूपी महानाट्य का अभिनेता कहा है। परप्रमाता की नाट्यलीला ही विश्व एवं उसकी सृष्टि है। विश्वरूप महानाट्य का अभिनय करने के लिए यह नाटककार अपनी 'शिव' निर्बध 'स्वातन्त्र्य शक्ति' को 'माया शक्ति' का स्वरूप प्रदान करके, पूर्ण स्वतन्त्र होते हुए भी स्वात्मविस्मृति रूप अख्याति को धारण करने में 'मितस्वतन्त्र' पशु बनकर, अपनी चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया की महती शक्तियों को पञ्चकचुकों में रूपान्तरित करके, असीमता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, सर्वकर्तृता आदि को स्वेच्छया भुलाकर, ससीम, अल्पज्ञ आदि बनकर, सर्वशक्तिमान से 'शक्तिदरिद्री' बनकर, पशुपति से पशु बनकर आरोहण भूमिका से अवरोहण भूमिका में पदार्पण करके स्वात्मभित्ति के दर्पणस्वरूप रंगमंच पर विश्वमयता के अवभासन के रूप में विश्वनाट्य का मुकुरनगरवत् अभिनय करता है।

अभिनेता शिव का विश्वाभिनय—शिव की 'आनन्दशक्ति' के द्वारा ही विश्वोल्लासन होता है अत: विश्व अनन्त आनन्दामृत का उच्छलन है। वही शिव अभेदव्याप्ति को छिपाकर भेद व्याप्ति ग्रहण कर लेता है, शिव होकर भी, विश्वनाट्य के रंगमंच पर, जीव बन जाता है। मुक्त होकर भी वह बद्ध बन जाता है। यह 'अशुद्धि' 'क्षोभ' 'अख्याति' 'स्वरूपगोपन' 'आत्मविस्मृति' अवभास अवरोहण' आदि नाटककार एवं नट परमशिव का एक स्वेच्छाभिनीत अभिनय है। शिव से धरणी पर्यन्त वही विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वात्मक शिव ग्राह्य, ग्राहक आदि अनेक आकारों में अवभासित होकर स्फुरित है उसके अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं—

'भगवानविश्वशरीर:' 'श्री परमशिव: स्वात्मैक्येन स्थितं विश्वं' 'श्रीमत्परमशिवस्य पुन: विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादि धरण्यन्तं अखिलं अभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुत: अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्री परमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रै: स्फुरति ॥' (प्र०ह०सू० ३) ॥

वही शिव भी है और वही पशु भी है। जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी स्वेच्छा से अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' द्वारा अपनी अभेद व्याप्ति को निमज्जित करके और भेद व्याप्ति को ग्रहण करके और अपनी अनन्त व्यापक शक्तियों को संकुचित करके पशुभूमिका पर अभिनय करने लगता है तो वही मलावृत संसारी कहलाने लगता है—

'चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृत: संसारी ।' (प्र०ह० ९)

आचार्य क्षेमराज इसी तथ्य को अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—

'यदा चिदात्मा परमेश्वर: स्वस्वातन्त्र्यात् अभेद व्याप्तिं निमज्जय भेदव्याप्तिम् अवलम्बते तदा तदीया इच्छादिशक्तय: असंकुचित अपि संकोचवत्यो भान्ति, तदानीमेव च अयं मलावृत: संसारी भवति ।' इसके परिणामस्वरूप—

क) **इच्छाशक्ति**—(संकुचित होकर) अपूर्णम्मन्यता रूप 'आणवमल'

ख) **ज्ञानशक्ति**—(संकुचित होकर) सर्वज्ञत्व से अल्पज्ञत्व रूप, एवं सङ्कोच-ग्रहण से संकुचित बनकर 'मायीयमल' बन जाती है ।

ग) **क्रियाशक्ति**—(संकुचित होकर) अल्पकर्तृत्व बनकर 'कार्ममल' बन जाती है । इस प्रकार—

सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व शक्तियाँ संकुचित होकर 'कला' 'विद्या' 'राग' 'काल' एवं 'नियति' बन जाती है । श्री सर्वस्वतन्त्र आत्मा शिव संसारी (पशु) बन जाता है । 'शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ।।' ('प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' सूत्र ९ क्षेमराज)

'अशुद्धि'—'निजाशुद्ध्यासमर्थस्य' में अशुद्धि क्या है और शिव की सामर्थ्य (स्वातन्त्र्य शक्ति) क्या है ?

स्वातन्त्र्यवाद—'स्वातन्त्र्यवाद' एवं 'आभासवाद' प्रत्यभिज्ञा की सृष्टि-दृष्टि की व्याख्या के दो सिद्धान्त हैं । परप्रमाता की दृष्टि से तो 'स्वातन्त्र्यवाद' एवं 'प्रमेय' की दृष्टि से 'आभासवाद' चरितार्थ है—ज्यादा संगत है—अधिक उपपन्न है ।

'स्वातन्त्र्य' शिव की वह पराशक्ति है जो कि उससे अभिन्न है और जिसका अपर पर्याय 'आनन्द' है । अति दुर्घटकारित्व इसी स्वातन्त्र्य की विशेषता है । यह शिव का ऐश्वर्य है जो कि स्वातन्त्र्य से अपृथक् है । परमात्मा की इच्छा का निर्बाध, अप्रतिहत, निर्बंध, एवं अविराम प्रसार उसका 'स्वातन्त्र्य' है । 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (१।१) में कहा गया है—'स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छा प्रसरस्य अविघातः ।'

यही स्वातन्त्र्य अति दुर्घटकारित्व का चमत्कार है—'एतदेव स्वातन्त्र्यं यदतिदुर्घटकारित्वम् ।'

स्वातन्त्र्य—परमात्मा के नित्योदित 'परावाक्' को उसका 'स्वातन्त्र्य' एवं 'ऐश्वर्य' कहा गया है । यही विमर्शात्मा चिति भी है । शब्दतत्त्व (परावाक्) सृष्टि के प्रसार की आदि कोटि एवं सृष्टि-सङ्कोच की चरम कोटि है । शिव ही प्रकाशात्मा चिति हैं । दोनों अविनाभूत हैं । अविभक्त (अन्तर्लीन) विमर्शात्मक शिव 'परमशिव' कहलाते हैं और यह उनकी निष्कल अवस्था है ।

'चिद्रूपाह्लादपरमो निर्विभागः परस्तदा' ('शिवदृष्टि') प्रकाशविमर्शात्मक संवित्स्वरूप भगवान् परमशिव अपनी इसी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' से रुद्रादिक प्रमाता एवं नीलसुखादिक प्रमेयों के रूप में प्रकाशित होते हैं । यद्यपि शिव का यह अवभासन अनतिरिक्त है तथापि अतिरिक्तवत् आभासित होता है । इस अवस्था में शिवस्वरूप आच्छादित नहीं होता । यही है संवित्स्वरूप शिव के स्वातन्त्र्य की महत्ता ।

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी' में कहा गया है—'तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संवित्स्वरूप नान्तरीयक स्वातन्त्र्य महिम्ना प्रकाशते इत्ययं 'स्वातन्त्र्यवादः' प्रोन्मीलितः ।।'

इसी स्वातन्त्र्यशक्ति की महिमा से शिव 'स्वतन्त्र' कहा जाता हैं—

'स्वतन्त्रश्चितिचक्राणां चक्रवर्ती महेश्वरः ।
संवित्तिदेवताचक्रजुष्टः कोऽपि जयत्यसौ ॥'

उत्पलदेवाचार्य ने 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति' में 'स्वतन्त्रता' के निम्न पर्याय प्रस्तुत करके इसके अनेक पक्षों एवं स्वरूपों पर प्रकाश डाला है । वे कहते हैं कि—'चिति', 'प्रत्यवमर्श, 'आत्मा' 'परावाक्' 'स्वातन्त्र्य' 'ऐश्वर्य' 'स्फुरत्ता' 'महासत्ता' 'सार' 'हृदय' आदि इसके अनेक अभिधान है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा, परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्य' तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता, देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता, हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

अभिनवगुप्त 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' में 'स्वतंत्रता' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—(१) 'स्वातन्त्र्यं संयोजनवियोजनानुसंधानदिरूपं, (२) 'आत्ममात्रतायामेव जडवत् अविश्रान्तत्वम् (३) 'अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्वम्' (४) 'अनन्यमुखप्रेक्षित्वम्— इति ।'

इन सभी अभिधानो (संज्ञाओं/पर्यायों) में 'स्वातन्त्र्य' ही प्रमुख है—'स्वातन्त्र्य-मेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)—उत्पलदेवाचार्य ।

आचार्य अभिनवगुप्त इसकी व्याख्या करते हुए 'स्वातन्त्र्य' का यह स्वरूप बताते हैं—(१) 'चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सततम् अनस्तमिता नित्या अहमित्येव, एतदेव परमात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम ऐश्वर्यम्, ईशितृत्वम्, अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते ॥'[१]

(२) 'अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्यं चैतन्यं च ॥[२]

'स्वातन्त्र्य' के विभिन्न स्वरूपों की मीमांसा—'स्वातन्त्र्य' मात्र दुर्घटकारित्व का ही सूचक नहीं है । इसी कारण इसके अनेक अभिधान बताए गए हैं यथा—'चिति' 'प्रत्यवमर्श', 'परावाक्' 'हृदय' 'सार' 'ऐश्वर्य' 'आनन्द' आदि । इनमें अन्य अभिधानों का क्या स्वरूप है?

(१) **विमर्श**—'विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः ।'[३]

(२) **'प्रत्यवमर्श'**—'प्रत्यवमर्शश्च अन्तरभिलापात्मकशब्दनस्वभावः तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारादि मायीय सांकेतिकशब्दजीवितभूतं, नीलम् इदं, चैत्रोऽहम् इत्यादि प्रत्यवमर्शान्तरभितिभूत-त्वात् ।[४]

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलदेवाचार्य) । २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ।
३. ई०प्र०वि० । ४. ई० प्र० वि० ।

(३) **परावाक्**— परावक्ति विश्वम् अलपति प्रत्यवमर्शेन इति **वाक** ।[१]

(४) **स्वरसोदिता**—अतएव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सततम् अनस्तमिता नित्या अहमित्येव, एतदेव परमात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम्, ऐश्वर्यं, ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते ॥[२]

(५) **'आनन्द' ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं चैतन्यं**—अनन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं चैतन्यं च ॥[३]

(६) **स्फुरत्ता**—इह घटः कस्मात् अस्ति' खपुष्पं च कस्मात् नास्ति?—इति उक्ते वक्तारो भवन्ति, घटो हि स्फुरति मम, त तु इतरत इति, तत् एतत् घटत्वमेव यदि स्फुरत्वं स्फुरणसंबन्धः ॥'[४]

(७) **स्पन्द**—स्पन्दनं च किंचित् चलनम्, एषैव च किञ्चिद्रूपता यत् अचलमपि चलम् आभासतें इति, प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति ॥ उक्तम्—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः ।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरहक्रियः शिवः ॥

तथा— अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ (स्प० २२)

लोकेऽपि विविधवैचित्र्य योगेऽपि स्वरूपात् अचलन् जनो गंभीरः स्पन्दवान् इति उच्यते ॥[५]

(८) **'सत्ता'** (महासत्ता) = सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्: 'महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते ॥'

(९) **सार**—विमर्शशक्तिः ग्राह्यग्राहकाणां यत् प्रकाशात्मकं रूपं तस्यापि अप्रकाश-वैलक्षण्या क्षेपिका इयमेव इति श्रीसारशास्त्रेऽपि निरूपितम्—**'यत्सारमस्य जगतः** सा शक्तिर्मालिनीपरा ।'[६]

(१०) **हृदय**—'हृदयं' च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनं, तस्यापि प्रकाशात्मत्वं, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परम मन्त्रात्मकं तत्र तत्र अभिधीयते । सर्वस्य मन्त्र एव हृदयम् । मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शन च पुरावाक्छक्तिमयम् ।

अन्ततः पुनः कहना चाहूँगा कि स्वातन्त्र्य निरपेक्ष कर्तृत्व शक्ति है—अनन्य-मुखप्रेक्षित्व है और यही आत्मा का लक्षण भी 'स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखमेक्षित्वलक्षणम् आत्मनः स्वरूपम्—

(१) प्रकाश की मुख्य आत्मा क्या है?—'प्रत्यवमर्श'

१-६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ।

'प्रकाशस्य मुख्य आत्मा प्रत्यवमर्शः ॥'[१]

'आत्मद्रव्यस्य भावात्मकमप्येतज्जडाद्‌भेदकतया विमर्शाख्यं मुख्यं रूपमुक्तम्'[२] स्वभावमवभासस्य **विमर्शं** विदुरन्यथा ।[३] **'स्फुरत्ता' क्या है?** स्फुरत्ता स्फुरणकर्तृता अभावा-प्रतियोगिनी अभावव्यापिनी ।[४]

सत्ता क्या है? सत्ता भवत्ता भवनकर्तृता नित्या ।[५]

प्रत्यवमर्शात्मा क्या है? देशकालास्पर्शात्सैव (स्फुरत्ता) प्रत्यवमर्शात्मा चिति-क्रियाशक्ति ॥[६]

हृदय क्या है? (प्रत्यवमर्शात्मा चितिक्रियाशक्तिः) सा विश्वात्मनः परमेश्वरस्य स्वात्मप्रतिष्ठारूपा हृदयमिति ।[७]

क्या 'मायाशक्ति' इस 'प्रत्यवमर्श' 'हृदय' 'स्वातन्त्र्य' 'सार' आदि से कोई भिन्न सत्ता है? नहीं 'माया' है तो 'शक्ति' का ही रूप । यह भी परमशिव की ही एक शक्ति है किन्तु भेद यह है कि यह भेदावभासिनी शक्ति है—

'प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं **भेदेनाभास्यते** ॥'[८]

स्वातन्त्र्य के लक्षण—'स्वातन्त्र्य' आत्मा का स्वरूप है । यह अनन्यमुखप्रेक्षित्व है— 'स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम् ॥'[९]

सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व परिपूर्णत्व ही **स्वातन्त्र्य** है—

'चैतन्यमात्मा...चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियामयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते ॥'[१०]

शैवशास्त्र में 'स्वातन्त्र्यशक्ति' के अनेक लक्षणों का उल्लेख किया गया है जिनमें प्रमुख लक्षण निम्न हैं—

१) 'स्वातन्त्र्य' एवं 'चैतन्य' पर्यायवाची हैं ।

२) अनन्यमुखापेक्षी सर्वकतृत्व । दुर्घटकारित्व । अर्थात्—सृष्टि-स्थिति-संहार-पिधान-अनुग्रहः ५ कार्य पूर्णज्ञातृता, पूर्णकर्तृता, आत्मनिर्भरता । अहं विमर्शात्मिका विश्वात्मक स्फुरणा, पूर्णाहन्ता इसके प्रधान लक्षण है ।

सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व क्या है? 'ज्ञानं एवं 'क्रिया' का क्या अर्थ है? पशु-भूमिका पर **'ज्ञान'**—किंचित ज्ञातृत्व एवं **'क्रिया'** किंचित्कर्तृत्व है किन्तु पति भूमिका पर यह सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व अद्वितीय, अप्रतिम, अनुपमेय महाशक्ति है । यह अनन्य-मुखापेक्षी 'ज्ञातृत्व' एवं अनन्यमुखापेक्षी नित्यात्मक, सार्वभौम, सार्वदेशिक, सार्वकालिक सर्वात्मक ज्ञान एवं क्रिया है । यह 'ज्ञान' बुद्धि का विलास नहीं है—प्रकृत्योदभूतअनित्य ज्ञान नहीं है—सेन्द्रिय ज्ञान नहीं है प्रत्युत् आत्मोदभूत या चैतन्यस्वरूप ज्ञान है, परमात्मा की **'ज्ञानशक्ति'** है, और 'क्रिया' भी सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सार्वभौम, सर्वातिशायी,

---

१. उत्पलदेवाचार्यः प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति । २. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ।
३. प्रत्यभिज्ञाकारिका । ४. प्रत्य० का० वृत्ति ।
५. प्र०का०वृ० । ६. प्र०का०वृ० ।
७. प्र०का०वृ० । ८. प्र०का०वृ० ।
९. अभिनव गुप्त । १०. शि०सू०वि० ।

निर्बंध, निर्बाध, देशकालातीत, नित्य एवं चितिस्वरूप है न कि मात्र ऐन्द्रिय, अनित्य, संकुचित, अपूर्ण, सापेक्ष, प्रतिबंधित, देशकालावच्छिन्न एवं पशुभूमिक ॥

यह स्वातन्त्र्यमयी विश्वात्मक स्फुरणा, आत्मस्वातन्त्र्य, आत्मनिर्भरता, अपराश्रयता, तथा इसका आत्मभूत पूर्ण ज्ञातृत्व एवं पूर्णकर्तृत्व जो कि अहंविमर्शात्मक स्फुरणा है । शब्दान्तर में 'चैतन्य' एवं 'स्वातन्त्र्य' पद वाच्य है ।

शैव दर्शन में ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व का स्वरूप—सामान्य ज्ञातृत्व (ज्ञान) एवं कर्तृत्व (क्रिया) से भिन्न है । सामान्यस्तरीय ज्ञान एवं क्रिया यहाँ ज्ञान-क्रिया नहीं है । ज्ञान एवं क्रिया का अर्थ है—विश्वात्मक स्तर पर प्रत्येक पदार्थ (प्रत्येक सत्ता) का देशकालनिरपेक्ष संपूर्ण ज्ञान एवं निरपेक्ष तथा देशकाल से अप्रभावित, निर्बंध, सब कुछ कर सकने एवं करने की पूर्ण कर्तृत्व शक्ति ही **'क्रिया'** है । अन्यनिरपेक्ष स्वतन्त्र ज्ञातृत्व एवं स्वतन्त्र-कर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकतृत्व—'कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं, की पूर्ण शक्ति ही 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' है ।

पशुप्रमाता का ज्ञान एवं क्रिया—	**प्रति प्रमाता का ज्ञान एवं क्रिया–**
१. अन्य सापेक्ष, देशकालसापेक्ष, परिस्थितिमूलक, खण्डित, अनित्य, सेन्द्रिय, अपारमार्थिक, किंचित् क्षमतामूलक (सर्वात्मक ज्ञान एवं सर्वात्मक क्रिया के विपरीत) विशेष ज्ञान एवं विशेष क्रियामूलक, मित 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' ।	१. निरपेक्ष, देशकालसीमातीत, त्रिकालाबाधित, परिस्थितियों से अप्रभावित, अखण्ड, निम्न, इन्द्रियातीत, पारमार्थिक, सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्वमूलक, सर्वात्मक, सार्वदेशिक, सार्वकालिक, सामान्य, सर्वजननीन, व्यापक, असीम एवं अक्षर ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व ॥
२. इन्द्रियसंभूत ।	२. इन्द्रिय निरपेक्ष एवं आत्मस्वरूप, शक्ति स्वरूप ।
३. पञ्चकञ्चुकाविष्ट । ससीम	३. पञ्चकञ्चुकों की सीमा-रेखा से अप्रतिबंधित । असीम ॥
४. पशु-सम्बद्ध । सादि	४. पति (शिव) से सम्बद्ध, अनादि ।
५. कृत्रिम एवं सायास ।	५. सहज एवं स्वाभाविक ।
६. देहात्मबोधात्मक । सान्त	६. आत्मस्वभावात्मक । अनन्त
७. ससीम, सादि, सान्त	७. अनन्तप्रवाही, अनाद्यन्त
८. अन्तःकरणस्वरूपात्मक (देहात्मक, प्राणात्मक, मनसात्मक, इन्द्रियात्मक, बुद्ध्यात्मक, मित अहङ्कारात्मक), संकुचित, पशु भूमिक, अनात्मविमर्शात्मक देहादिमूलक, व्यष्ट्यात्मक,	८. स्वरूपात्मक, विराट्, असंकुचित, पूर्णाहन्तात्मक; आत्मविमर्शात्मक, पति भूमिक आत्ममूलक, विश्वात्मक समष्टि मूलक, शक्तिचक्रात्मक
९. जड़ात्मक, जड़-चेतनात्मक, भेदात्मक । पुर्यष्टकात्मक, एवं शक्ति चक्रात्मक (भेद प्रथात्मक) ॥	९. चैतन्यात्मक, सर्वचिन्मयवादमूलक, अभेदात्मक, पुर्यष्टकातीत, आत्मविभवात्मक ।

'स्वातन्त्र्य' का अपर पर्याय **'चिति'** भी है **'चिति'** का अर्थ है चैतन्य। चेतने की सर्वसामान्य क्रिया ही **'चिति'** है—'चितिक्रिया सर्वसामान्य रूपा ॥' (शि०सू०वा०) 'चैतन्य' सर्वज्ञानक्रिया सम्बन्धमय स्वातन्त्र्य है—'चैतन्यं सर्वज्ञानक्रिया, सम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम्।' (शि०सू०वि०) 'तन्त्रालोक' में 'स्वातन्त्र्य' को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—चैतन्यमिति भावान्तः शब्दः स्वातन्त्र्यमात्रकम्। अनाक्षिप्तविशेषं सदाहसूत्रे पुरातने (तन्त्रालोक १.२८) प्रत्यवमर्शात्मकता ही चिति है—'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)।

चेतने की क्रिया (चिति) संसार के प्रत्येक प्रमाता (ग्राहक) में विद्यमान है। यहाँ तक कि जड़ पदार्थों में भी इसकी सत्ता है। जो स्वातन्त्र्यपूर्वक किसी भी पदार्थ या व्यक्ति को जान सके या कार्य कर सके वह चेतन है।

पशु एवं पति के चेतने में क्या भेद है? पशु वर्ग का चेतना मित, सापेक्ष, अनित्य, देशकालसापेक्ष है किन्तु पति का नहीं। पति में सर्वत्र 'स्वातन्त्र्य' है। 'स्वातन्त्र्य' का अर्थ है—इच्छा, ज्ञान, क्रिया, और आनन्द में पूर्णता। ज्ञान, क्रिया, विभुता, तृप्ति, नित्यत्व में पूर्णता (निरपेक्ष, निर्बन्ध एवं नित्य पूर्णत्व)॥

'पंचविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनो भगवतः'

'सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्। अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥'

शिव की अनन्त शक्तियों में प्रमुख शक्तियाँ

स्वातन्त्र्य—(क्षेमराज : शि०सू०वि०—)

'चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा इति चेतयते इति चेततः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः तस्य भावः स्वातन्त्र्यम् उच्यते ॥'

स्वातन्त्र्यशक्ति—तत्र **भालनेत्रं** 'स्वातन्त्रशक्तिः', **दक्षिणनेत्रं** 'प्रमाणशक्तिः', **वामनेत्रं** 'प्रमेयशक्तिः'। (प०त्रिं०)

'प्रकाश' = 'प्रकाशश्च अनन्योन्मुख-
विमर्शः अहमिति'
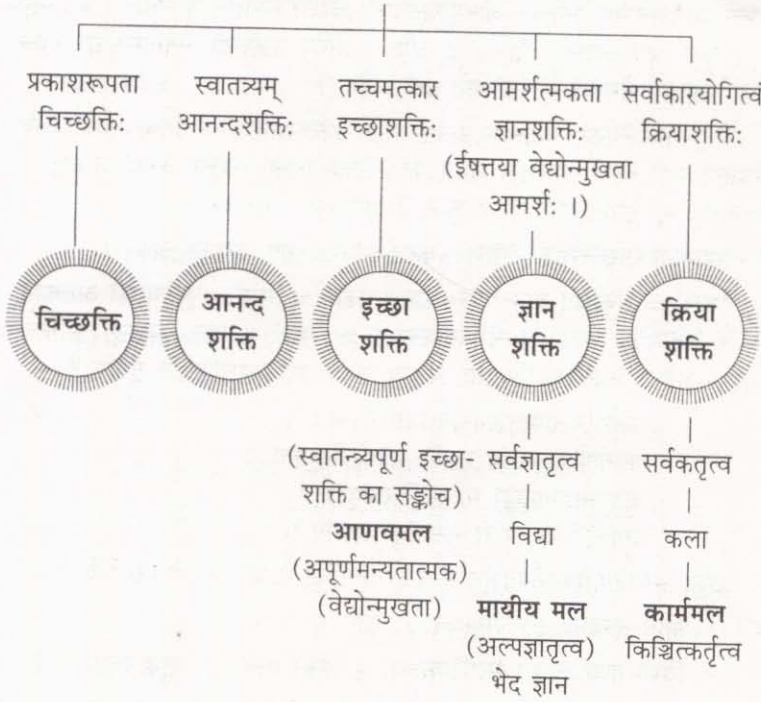
पुरुष के ६ कञ्चुक—१. माया, २. कला, ३. राग, ४. विद्या, ५. काल, ६. नियति ।

शक्ति सङ्कोच की पद्धति एवं अशुद्धियाँ—

सर्वकर्तृत्व	सर्वज्ञत्व	पूर्णत्व	नित्यत्व	व्यापकत्व	= शक्तियाँ
|	|	|	|	|	|
कला (अल्प कर्तृत्व)	विद्या (अल्प ज्ञातृत्व)	राग अपूर्णत्व	काल (अनि-त्यत्व)	नियति (अव्यापकत्व मितव्याप्ति)	शक्ति-सङ्कोच (पञ्चकञ्चुक)

सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व शक्तयः । सङ्कोच गृह्णाना यथाक्रमं 'कला' 'विद्या' 'राग' 'काल' 'नियति' रूपतया भ्रान्ति ।

(क्षेमराज : 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम् : सूत्र ९) ॥

शक्ति-सङ्कोच एवं पशुगत अशुद्धियाँ—'संपूर्ण कर्तृज्ञाद्याः वह्नयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य । सङ्कोचात्संकुचिताः कलादिरूपेण । रूठयन्त्येनम् । १) तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्रपरा । किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम । २) सर्व-

ज्ञाताऽस्य शक्तिः परिमिततनुरल्पवेद्यमात्रपरा। ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्येति निगद्यते बुधैराद्यैः। ३) नित्यपरिपूर्णतृप्तिः शक्तिस्त ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्यंति निगद्यते बुधैराद्यैः। ४) नित्य-परिपूर्ण तृत्तिः शक्तिस्तस्य परिमिता तु सती। भोगेषु रञ्जयन्ती सततममुं राग तत्त्वतां याता॥' आचार्य क्षेमराज—'षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह'।

भेदावभासात्मिका, भेदात्मक उल्लासशीला इच्छाशक्ति ही है। 'महामाया' शिव में अभिन्नतया रहने वाली, निखिल जगत् का उल्लासन करने वाली, शिव के अभेद को भेदावभासन में परिणत करने वाली शक्ति है 'परानिशा' (महामाया)॥

महामाया (परानिशा)—'माया—कला—विद्या, राग, नियति, काल।

'मल' = संकुचित ज्ञान। प्रच्छन्नज्ञानात्मकता = 'मल'। पूर्णत्व की अख्याति = 'मल'। अज्ञान = 'मल'॥ संसारांकुरकारण = 'मल'॥ मल, अज्ञान, अभिलाषा, अविद्या—अविद्या, ग्लानि, विमूढ़ता, पशुत्व आदि सभी 'अशुद्धि' के पर्याय हैं—

मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्यालोलिकाप्रथा।
भवयोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढ़ता॥
अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः।
दोषवीजं पशुत्वं च संसारांकुरकारणम्॥

तत्त्व—काश्मीरीय शैवदर्शन में ३६ तत्त्वों की मान्यता है जो निम्न है—

१. **शिव तत्त्व** = १) शिवतत्त्व २) शक्ति तत्त्व = २

२. **विद्या तत्त्व** = १) सदाशिवतत्त्व, २) ईश्वर तत्त्व, ३) शुद्ध विद्या = ३

३. **आत्म तत्त्व** = (३१ तत्त्व)। (६) 'माया' (७) कला (८) माया (९) राग (१०) काल (११) नियति (१२) पुरुष (१३) प्रकृति (१४) बुद्धि (१५) अहङ्कार (१६) मन (१७-२१) श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-जिह्वा-घ्राण (२२-२६) -वाक्-पाणि-पाद-पायु-उपस्थ (२६-३१) शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध। (३२-३६) आकाश-वायु-वह्नि-सलिल-भूमि।

'शिवतत्त्व' (अहंविमर्श) **'सदाशिवतत्त्व'** (अहमिदं विमर्श) **'ईश्वरतत्त्व'** (इमिदं विमर्श)—इनमें प्रथमपद की प्रधानता है। **'सद्विद्या'**—(अहं एवं इदं दोनों का समभावेन प्राधान्य) **'माया शक्ति'**—अहं एवं इदं में पृथक्त्वः (क) अहमंश = पुरुष (ख) इदमंश = प्रकृति॥ 'शिव' का 'पुरुष' रूप में रूपान्तरण—(माया द्वारा पाँच उपाधियों की सृष्टि जिससे कि 'शिव' पशु बन सके।—पञ्च कञ्चुक—'कला' 'विद्या' 'राग' 'काल' 'नियति'।

'आत्मतत्त्वों' (३१ तत्त्वों) में प्रथम तत्त्व 'माया' है और उसी से उत्पन्न होते हैं **'पञ्चकञ्चुक'**॥ 'मायाशक्ति'—पञ्चकञ्चुक॥ **'प्रकृति'** तेरहवाँ तत्त्व है। माया—'पञ्च-कञ्चुक'।

परमेश्वर की ५ शक्तियाँ—(१) **'चित्'** (२) **'आनन्द'** (३) **'इच्छा'** (४) **'ज्ञान'**

(५) **'क्रिया'** अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविघात इच्छासम्पन्न समझना = 'इच्छाशक्ति' ।। स्वातन्त्र्य = **'आनन्द शक्ति'** ।। **'चित् शक्ति'** = प्रकाश ।। **'ज्ञान शक्ति'** = आमर्ष ।। (आमर्ष = वेद्य पदार्थ का सामान्य ज्ञान) ।।

क्रियाशक्ति = सर्वाकार धारण करने की योग्यता इन्हीं पञ्चशक्तियों द्वारा परमशिव द्वारा स्वभित्ति (शक्ति) पर जगत् का अवभासन ।

सांख्यदर्शन—पुरुष, प्रकृति नित्य हैं ।

शैव दर्शन—पुरुष, प्रकृति अनित्य हैं ।

१) **चित् शक्ति** (प्रकाशात्मक—इसी के द्वारा **शिव अपने को स्वप्रकाश समझते हैं** ।

२) **आनन्दशक्ति** = इसके द्वारा शिव अपने में आनन्द का साक्षात्कार करते हैं ।

३) **इच्छाशक्ति** = इसके द्वारा शिव जगत् की सृष्टि, संहार एवं अन्य कार्य निष्पादित करते हैं ।

४) **ज्ञानशक्ति** = इसके द्वारा शिव स्वयं ज्ञानस्वरूप हैं ।

५) **क्रियाशक्ति** = इसके कारण शिव सभी स्वरूपों को धारण कर सकते हैं ।

जगत् = शिव की शक्तियों का विस्तृत रूप । 'विश्व' शक्ति-प्रचय है (शिवसूत्र) । इसी शक्ति के द्वारा शिव को 'अहं' का बोध हो पाता है । 'शक्ति' में उन्मेष—सृष्टि, 'शक्ति' में निमेष—प्रलय । 'उन्मेष'—सदाशिव तत्त्व । **शैवदर्शन**—'सृष्टि' = शक्ति का उन्मेष ।

स्वातन्त्र्य = ज्ञान एवं क्रिया का स्वतन्त्र (अनन्यमुखापेक्षी) कर्तृत्व । सृष्टि-स्थिति-संहार-पिधान और अनुग्रह के दुर्घट कार्यकारित्व, दुर्घट कार्यज्ञातृत्व । स्वातन्त्र्य = अनन्यमुखापेक्षी सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व । आत्मस्वभाव पूर्णज्ञातृत्व एवं पूर्णकर्तृत्व की अहंविमर्शात्मिका विश्वात्मक स्फुरणा = 'स्वातन्त्र्य' 'आत्मा' 'चैतन्य' आदि ।

'पशुभूमिका' एक साथ, सर्वत्र, निरापद, निर्बंध एवं निरपेक्ष समस्त कार्य करना एवं जानना असंभव है क्योंकि पशु अस्वतन्त्र, सीमाबद्ध एवं परमुखापेक्षी है । यही स्वातन्त्र्य है—

'स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम् । (ई०प्र०वि०)

पशु में चितिक्रिया (चेतने की क्रिया । स्वातन्त्र्यात्मक नहीं है । विश्वात्मक स्तर पर ज्ञानक्रिया समन्वित चेतने की क्रिया का अशेष एवं अनन्यमुखापेक्षी कर्तृत्व ही परमेश्वर का 'ऐश्वर्य' एवं **'पूर्ण स्वातन्त्र्य'** है । यह स्वातन्त्र्य देशकालातीत है । परमात्मा प्रत्येक क्षण, सब कुछ, कहीं भी, एक साथ (बिना किसी की सहायता के तथा बिना किसी भी बाधा के) सब कुछ कर सकता है एवं सब कुछ जान सकता है किन्तु पशुभूमिक जीव नहीं है ।

अविराम स्पन्दात्मक 'पतिप्रमाता' का यथार्थ स्वस्वरूप क्या है? समस्त विश्व के

समस्त पदार्थों का आधारभूत एवं सबकी अन्तिम विश्रान्तस्थली है **'स्वतन्त्रता'** एवं अखण्डस्पन्दात्मिका संवित् शक्ति। चितिक्रिया की प्रक्रिया क्या है? यह स्थूल क्रियावत् नहीं है। प्रत्युत् यह आभ्यन्तरिक साङ्कल्पिक गतिमयता है—यह है अहंप्रत्यवर्शात्मक सामान्यस्पन्द। विमर्शात्मकता ही इसका अभिन्न स्वभाव है और यही है, जड़ एवं चेतना की व्यावर्तक रेखा। ज्ञान एवं क्रिया शक्ति (प्रकाश-विमर्श) पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है प्रत्युत् ये स्पन्दात्त्मिका चितिशक्ति का ही रूपान्तर है। 'क्रिया' ज्ञान का ही उत्पाद (विकास) है। 'ज्ञान' क्रिया का पूर्ववर्ती स्वरूप है। 'प्रकाश' (शिव) **बहिर्मुखदशा** में **'विमर्श'** (शक्ति) है और ही **अन्तर्मुख दशा** में 'प्रकाश' (शिव) है। 'इदं' अहं का फल है—अहं की फसल है। 'इदं' अहं का स्थूलतर विकास है। 'अहं' एक बीज है और 'इदं' है उसका अंकुर।

स्पन्दात्मक शिव अपने भीतर अभेद रूप में जगत् को अवस्थित रखता है। 'जगत्' शिव का विराट् प्रसार है।

'स्वातन्त्र्य' मुख्यतः कर्तृतास्वरूप है। विश्वात्मा स्वयं द्वारा आविर्भूत मल (अशुद्धि) के द्वारा आत्मस्वरूप को आंशिक रूप में आच्छादित करके तथा जड़ वर्ग को संपूर्णतः आच्छादित करके स्थित है। यह 'स्वातन्त्र्य' किसी को पूर्णतः अस्वतन्त्र कर देता है तो किसी को अंशतः।

अशुद्धि—'निज शुद्ध्यासमर्थस्य'—जो अपनी अशुद्धियों के कारण ही असमर्थ हो चुका हो ऐसे व्यक्ति का। **'अशुद्धि'** = आणव मल। **'कर्तव्य'** = कार्म मल। **'क्षोभ'** = मायीयमल। 'अशुद्धि' ही है अख्याति; मल, बन्ध या अविद्या। स्वतन्त्र स्वभाव का अज्ञान, पशुत्व, आत्मविस्मृति, शिवत्व के स्थान पर पशुत्व से तादात्म्य ही 'अशुद्धि' है। 'ज्ञानं बन्धः' (शिवसूत्र) में 'ज्ञान' **अज्ञानमात्र** का सूचक नहीं प्रत्युत् यथार्थ आत्मस्वभाव का अज्ञान है। 'अज्ञान' वह आत्मगोपनात्मिका स्थिति है जिसमें अपने स्वस्वरूप का आच्छादन करके मितात्मा शिव पति से च्युत होकर पशु बन जाता है। इसमें आत्मा स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा अपने ही स्वतन्त्र स्वरूप को छिपाकर-स्वात्म विस्मृतिरूपात्मक आच्छादन ओढ़ लेता है।

'स्वातन्त्र्यशक्ति' प्रतिक्षण पाँच रूपों में स्पन्दायमान है और उसके पाँच रूप निम्नांकित हैं—१. **'चित'** २. **'आनन्द'** ३. **'इच्छा'** ४. **'ज्ञान'** एवं ५. **'क्रिया'**। इसे ही सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व एवं व्यापकत्व भी कह सकते हैं। शक्ति पञ्चक द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान एव अनुग्रहरूपात्मक पञ्च कृत्यों का अनवरत निष्पादन किया जाता रहता है। अपने आनन्दस्वभाव के कारण चैतन्य की प्रकृति ही है विश्वरूप में अनवरतावभासन। चैतन्य का स्वभाव है—संसारभाव का अवभासन। आत्मा संसार की भूमिका पर अभेद व्याप्ति का विस्मरण करके भेद-व्याप्ति ग्रहण कर लेता है।

स्वातन्त्र्य-रत्नाकर में निःशेष विश्व अभेदात्मक 'अहं' के रूप में अवस्थित है। 'अहं' को 'इदं' के रूप में अवभासित करने की अभिलाषा ही **प्रथम मल** है। चूँकि समस्त वैश्विक-विस्तार (जागतिक कल्पना) स्वस्वरूप में शाश्वतिक रूप में अवस्थित है और वह

भी अभेदात्मक रूप में,—अतः उसकी भेदात्मक रूप में अभिलाषा करना—पूर्ण को अपूर्ण रूप में देखने की आकांक्षा करना एक 'अशुद्धि' या 'मल' ही तो है। यह अपूर्णता ही—**'आणव मल' 'मायीय मल'** एवं **'कार्ममल'** के रूप में विद्यमान है।

पतिप्रमाता अपने स्वातन्त्र्य शक्ति से पशुभूमिका स्वीकार करके 'शक्तिदरिद्री' बन जाता है। मलत्रय में जो 'आणव मल' नामक अशुद्धि है उसके दो भेद हैं—

१) स्वातन्त्र्य की हानि (पूर्णज्ञातृत्व का संकोच)—'स्वातन्त्र्य हानिर्वाधस्य'

२) स्वातन्त्र्य का अबोध (पूर्णज्ञातृत्व का मिथ्याभिमान)

'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा) 'स्वातन्त्र्यहानिज्ञातृत्वसंकोचः' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा)

'निज अशुद्धि' (का० ९) आत्मा को आच्छादित करने वाले एवं अन्तःकरण को मलिन बनाने वाले **'मल'** हैं। इसे ही आचार्य शङ्कर ने 'अविद्या' कहा है। बौद्धों ने भी बन्धन की द्वादश शृंखलाओं में इसे प्रथम स्थान दिया है—

'अविज्जा पंच्चया संखाण, संखार पंच्चया विञ्आणं ......

अज्ञान ज्ञानाभाव नहीं है प्रत्युत् अपूर्ण ज्ञान है:—त्रिक-सिद्धान्त शैव-शाक्त तांत्रिकों ने इस **'अज्ञान'** को मलात्मक माना है। **'मल'** तीन प्रकार के हैं—१) आणव मल २) मायीय मल ३) कार्म मल ॥

अशुद्धि का कारण क्या है?—अशुद्धि का कारण असत् तत्त्वों में सत्तत्व, अचित् में चित, अनात्म में आत्मा, अशुचि में शुचि अनित्य में नित्य एवं दुःख में सुख आदि की प्रतीति है। यह अध्यासात्मक एवं अध्यारोपजन्य है। यह मिथ्याप्रतीति का परिणाम है।

अशुद्धि का कारण आणवादिक मल भी हैं।

मालिनीविजयोन्तरतन्त्र का मत—संसारांकुर अज्ञान ही 'मल' हैं—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणाम्' (मा० वि० प्र० अधिकार) **'महार्थमञ्जरी' का मत**—'मल' ही प्रधान अशुद्धि है— ।

मालिनीविजय : अज्ञान कैसा होता है?

१. अज्ञान ही मल है। २. यही संसार के अंकुर का कारण है। ३. अज्ञान अंधकार है। पारमेश्वर स्वातन्त्र्य की अनुभूति 'स्व' रूप का यह गोपन करता है। ४. आत्मा एवं अनात्मा सम्बन्धी व्यर्थ की उझनों में डालने वाला होता है। ५. अपूर्ण ज्ञान ही 'अज्ञान' है। इसे 'आणवमल' भी कहते हैं—'अज्ञानं तिमिरं पारमेश्वरस्वातन्त्र्यमात्र-मुल्लासितस्वरूपगोपनासतत्त्वमात्मानात्मनोरन्यथाभिमानस्वभावम् अपूर्णं ज्ञानं तदेव चाणवं मलम् ॥' (तन्त्रालोकः विवेक प्र०आ०श्लोक २३)

अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत—

मलमज्ञानभिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।

इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनीविजयोत्तरे ॥ (१।२३)

'अज्ञान' संसृतेर्हेतुर्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ (तन्त्रलोक १।२२)

'मिथ्याज्ञान' संसार का कारण है । इसके विपरीत **'तत्त्वज्ञान'** है । इससे अज्ञान दूर होता है और मोक्ष प्राप्त होता है—

'मोक्ष एव उपादेय: तत्त्प्रतिपक्षभूत: संसारश्च हेय: । तस्य च मिथ्याज्ञानं निमित्तं, तत्प्रतिकूलं च तत्वज्ञानम् । (विवेक)

निजाशुद्धासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण: ।
यदा क्षोभ: प्रलीयेत तत: स्यात् परमं पदम् ॥

'परमपद' 'मालिनीविजयोत्तर तन्त्र' के अष्टादशोऽधिकार में कहा गया है—

निरोधं मध्यमे स्थाने कुर्वीत् क्षणमात्रकम् ।
पश्यते तत्र चिच्छक्तिं तुटिमात्रामखण्डिताम् ॥ (१८।३७)

तदेव परमं तत्त्वं तस्माज्जातमिदं जगत् ॥
प्राप्नोति परमं स्थानं भुक्त्वा सिद्धिं यथेप्सिताम् ॥ ४३)

'अशुद्धि' क्या है? 'तन्त्रालोक' (४।११८) में कहते हैं कि —

१) यह समस्त दृश्यादृश्य अस्तित्व ब्रह्म ही तो है । देह आदि समस्त वस्तु तत्त्व परब्रह्मात्मक ही तो है फिर **कैसी शुद्धि कैसी अशुद्धि?** इसका उत्तर देते हुए अभिनव-गुप्त कहते हैं—

सबके शिवात्मक होने पर भी यह भेदप्रदा बुद्धि ही अशुद्धि बन जाती है । बुद्धि का परिष्कार ही शुद्धि है—

शिवात्मकेष्वप्येतेषु शुद्धिर्या व्यतिरेकिणी ।
सैवा शुद्धि: पराख्याता शुद्धिस्तद्धीविमर्दनम् ॥ (४।११८)

शुद्धि एवं अशुद्धि में भेद क्या है ? परतत्त्व से शून्य वस्तु ही अशुद्ध है अन्यथा कुछ भी अशुद्ध नहीं है—

अशुद्धं नास्ति तत्किंचित्सर्वं तत्र व्यवस्थित: ।
यत्तेन रहितं किंचिदशुद्धं तेन जायते ॥ (विवेक २.८९)

'अभिलाषा' क्या है । 'अभिलाषा' एक मल है ।

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्वच्छन्द० ४-१०४) ।

शून्यप्रमाता **'अभिलाषा' रूपी मल** के प्रभाव से आणवमल ग्रस्त हो जाता है । मेय को स्वीकार करके भेदवाद की भूमि पर गिर पड़ता है । विमर्श के कारण में उच्छलन प्रारंभ होता है ।

स एव स्वात्मा मेयेऽस्मिन्भेदिते स्वीक्रियोन्मुख: ।
पतन्समुच्छलत्वेन प्राणस्पन्दोर्मिसंज्ञित: ॥ (६।११)

क्षोभ—सांख्यदर्शन तो सतोगुण रजोगुण एवं तमोगुण के साम्य में भंग को ही **'क्षोभ'** कहता है । काम क्रोध आदि से उत्पन्न समस्त आवेग क्षोभ हैं । विकल्प दशा में ही क्षोभ उत्पन्न होता है । क्षोभ के शान्त होने पर निर्विकल्प स्वात्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है ।

प्रशस्तिभूतिपाद—विकल्प-व्यापार का शोधन आवश्यक है । संसार के समस्त आकर्षक पदार्थ मन को आह्लादित करते हैं । उन सभी में अपना स्वात्मस्वरूप ही प्रकाशित हो रहा है—वह सन मैं ही तो हूँ । सभी पदार्थों में इस प्रकार से स्वात्मस्वरूप की भावना से मन का 'क्षोभ' शान्त होता है । 'विज्ञानभैरव' की ७५, ८६-८७, ९०-९१, एवं १०३ संख्या की धारणाओं में बाह्य क्षोभ की शान्ति के उपायों का विवेचन किया गया है—

विकल्प—जिन विकल्पों के संस्कार से सहज विद्या का उदय होता है और शुद्धि प्राप्त होती है वे क्या है? बाह्य नील-पीत, घट-पट आदि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी पदार्थ **'विकल्प'** हैं ।

'महार्थमञ्जरी': महेश्वरानन्द—[१]

अशुद्धि और शुद्धि—यदि कोई अर्चक अर्चना, उपासना या साधना करता है तो उसे सबसे पूर्व अपनी साधना-यात्रा के मार्ग के प्रतिबन्धकों को दूर करना पड़ेगा । यह प्रतिबन्धक है—'अशुद्धि' । इसका निवारण होता है—'शुद्धि' द्वारा ।

'शोषो मलस्य नाशो दाह एतस्य वासनोच्छेदः ।
आप्लावनं तनूनां ज्ञानसुधासेकनिर्मिता शुद्धिः ॥'
'सोसो मलस्स णासो दाहो एअस्स वासणुच्छेओ ।
अब्बालणं तूणूणं णाण सुहासेऽअणिम्मिआ सुद्धी ॥'[२]

अशुद्धि को दूर करने के उपाय—

१) मल के नाश का उपाय = **'शोष'**
२) वासनोच्छेद का उपाय = **'दाह'**
३) शुद्धि का उपाय = **'आप्लावन'**[३]

शुद्धि के उपाय—आप्लावन = 'शरीरों की ज्ञान सुधासेवानिर्मिता शुद्धि'

अर्चकों में एक अलौकिकता का आविर्भाव होता है । यह मलोपलेपों के क्षय से संपादित होता है । उसमें 'शोष' की भूमिका क्या है?[४]

'शरीराणां शोषो नाम तदायत्तस्य मलस्य संसारांकुरकारणभूतस्याज्ञानस्य कर्शन-मेवः ॥' (संसारांकुर-कारण मल रूप अज्ञान का कर्शन ही **'शोष'** है । **'दाह' की भूमिका क्या है?**[५]

'दाहश्च नाम तेषां प्रस्तुतस्यैव मलस्य या वासना **संस्कार**सारतयावस्थानम् तद्व-युदासस्वभावो भवति ॥'[६]

१-४. महार्थमञ्जरी । ५-६. परिमल ।

'दाह' = मल की वासना एवं संस्कार का औदासीन्य ।। 'आप्लावन' की भूमिका क्या है?[१]

एवमाप्लावनमप्यज्ञानव्यपोहाविनाभावोद्भूतस्वरूपलाभंलक्षणाह्लाददायित्वादमृतायमानं यद् ज्ञानं स्वात्मावबोधस्तत्प्रसरधारावाहिकोपकल्पिता शुद्धिः पवित्रीकरणमिति ।।'[२]

'आप्लावन' = अज्ञान का व्यपोह, स्वरूप लाभ, आह्लादिशय-प्राप्ति, अमृताय-मान ज्ञान की प्राप्ति, स्वात्मस्वभाव का प्रसार और उससे पवित्रीकरण ।।[३]

क्रमवासना का मत—(महार्थमञ्जरी की दृष्टि से साम्य)

संवित् सतत्त्वनैर्मल्यसिद्धये शोषणादिकम् ।
विकल्पसार्वभौमस्य शरीरस्याश्रयाम्यहम् ।।

परिमल—१) प्राणपरिस्पन्द के कारण प्राणीभूतवायुतत्त्व के साथ तादात्म्यानु-संधान के अनन्तर करिष्यमाण 'दाह' आप्लावन' की योग्यता प्राथमिक पूजा-नियम है । इसके बाद—

२) परम प्रमातृतापरामर्श के द्वारा उनकी अवच्छिन्नप्रमातृता का विगलनरूप 'दाह' संपाद्य है ।

विज्ञानभट्टारक में भी कहा गया है—

कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टंविचिन्तयेदन्ते शान्ताभासः प्रजायते ।।

इसी के दृढ़ीकरणार्य अलौकिक अहन्तानन्दचन्द्रिकामय महाप्रमेयामृतप्रवाहाभिषेका-नुभूति का आप्लावन आवश्यक है । कहा भी गया है—

सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
प्लुष्टस्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ।। (विज्ञानभट्टारक)

आणव मल[४]—'स्वातन्त्र्यहानि स्वातन्त्र्य बेधिस्य' स्याथबोधता'

कार्ममल[५] = 'कार्ममलस्याप्यावरकत्व' 'धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदुखादिलक्षणम्' —मालिनीविजय

मायीय मल[६]—'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् कर्तर्यबोधे कार्मं च ...।' —श्रीप्रत्यभिज्ञा ।।

'कंचुक' भी मल स्वरूप है । कंचुक द्विविध है: अन्तरंग = 'माया'—बहिरंग = प्रकृति से माया पर्यन्त ।।

'कार्ममल' = मायीय एवं प्राकृतिक (कार्म) चकंचुक, कोश या मल के अतिरिक्त परमसूक्ष्म कोश 'आणवमल' है । ये तीनों मल भी तत्वान्तर्गत ही हैं ।[७]

सृष्टि का प्रथम स्पंदन कब?— वस्तुतः शिव ज्ञान है और 'मल' अज्ञान है

१-३. परिमल । ४. प्रत्यभिज्ञा । ५. मालिनीविजय ।
६. परमार्थसार (अभिनव) । ७. अभिनवः परमार्थसार ।

'मल' ही संसार का मूल है । सृष्टि का प्रथम स्पंदन कैसे होता है?—'आणवमल' से ज्यों ही ज्ञान में स्वातन्त्र्य की एवं स्वातन्त्र्य में ज्ञान की हानि होती है त्यों ही सृष्टि का प्रथम स्पन्दन प्रारंभ होता है । 'परमशिव' सर्वथा निस्पदं है । प्रशान्त है ।[१]

इसे ही 'परमभैरव' भी कहा गया है । उसकी 'शक्ति' ही सृष्टि, स्पन्दन, सृष्टि-विस्तार, स्थिति एवं संहार आदि कार्यों का निष्पादन करती है । आणव, 'मायीय' एवं 'कार्म' मल शिवस्वरूप को ढक कर असत् में सत्, अनात्म में आत्मा, अनित्य में नित्य, अस्वभाव में स्वभाव एवं क्षर में मिथ्या अक्षरत्व का अभिमान उत्पन्न कर देता है ।[२]

जो मलों से निर्मुक्त है, इन कोशों से मुक्त है वही मुक्त है ।

आणव मल—अपने स्वरूप की हानि ही जिसका स्वरूप है ऐसी अख्याति ही चैतन्य का 'आणव मल' है । स्वर्ण में निहित अशुद्धि रूपी दोष ही आत्मा का आणवमल है । यह अन्तरंग आवरण या आन्तर आच्छादन है । यह तदात्मा बनकर रहता है ।

मायीय मल—'माया' से लेकर 'विद्या' तक के ६ कञ्चुक आत्मा के सूक्ष्म आवरण हैं यथा चावल का छिलका (कम्बुक) जो चावल के पीठ पर रहता है । इसके द्वारा ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व में भेदमय बोध होता है । यही है—'मायीय मल' ।

कार्म मल—इसकी अपेक्षा जो बाह्यावरण है वह भूसी की भाँति, प्रकृति-निर्मित शरीर का अस्तित्वस्वरूप आवरण है जो कि स्थूल है तथा त्वचा, मांस आदि के स्वरूप वाला होने के कारण यह तृतीय मल 'कार्ममल' कहलाता है ।

१. 'पर मल' = आणवमल । अणु (जीवात्मा) का मल ।
२. 'सूक्ष्म मल' = मायीय मल ।
३. 'स्थूल मल' = कार्ममल ।

पशु—कोशत्रय—ये तीन मल ही कोशत्रय हैं । इन तीनों मलों से आच्छादित आत्मा प्रकाशनोपरान्त भी घर में प्रतिबिम्बित आकाश की भाँति संकुचित हो जाती है और इसलिए 'अणु' एवं 'पशु' कही जाती है—'स्पन्दकारिका' (४५) में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है ।

> शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
> कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ।। (विभूतिस्पंद)

इन मलों में 'आणव' प्रधान मल है । = मल के ये तीन रूप हैं—परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादि कञ्चुकं स्थूलम् ।

> बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रय वेष्टितो ह्यात्मा ।। (परमार्थसार २४)

कोशत्रय—त्रिकदर्शन में कोशत्रय की मान्यता है किन्तु वेदान्त में कोशपञ्चक की मान्यता है । जो निम्नांकित हैं—

१-२. अभिनवगुप्त—परमार्थसार ।

१) अन्नमय कोश २) प्राणमय कोश ३) मनोमय कोश
४) विज्ञानमय कोश ५) आनन्दमय कोश ।

मलों के तीन प्रकार आत्मा के स्वातन्त्र्य के आच्छादक है । 'मल' क्या है?

मल—(१) अज्ञानं किल बन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं स्मृतम् ।[१]

(२) मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुर कारणम् ।[२]

(३) योग्यतामात्रमेवैतत् भावव्यच्छेद संग्रहे ।
मलस्तेनास्य न पृथक् तत्त्वभावोऽस्ति रागवत् ।।[३]

(४) स्वात्मप्रच्छादनक्रीडामात्रमेव मलं विदुः ।।[४]

(क) आणवमल =

१) 'संकोच एवं पुंसामाणवमलमित्युक्तप्रायम् ।[५]

२) स्वातन्त्रहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवमलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ।।[६]
संविद्रूपे न भेदाऽस्ति वास्तवो यद्यपि ध्रुवे ।
तथाप्यावृति निर्ह्रास तारतम्यात् स लक्ष्यते ।।

(ख) मायीय मल— १) भिन्नवेद्य प्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।।[७]
२) शरीरभुवनाकारो मायीयः परिकीर्तितः ।।[८]

(ग) कार्ममल— देवादीनां च सर्वेषां भाविनां त्रिविधं मलम् ।'[९]
तथापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।।

१) अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः संकुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपम् 'आणवमलम्' ।[१०]

२) ज्ञानशक्तिक्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्व प्राप्तेः वेद्यप्रथारूपं 'मायीयं मलम्'[११]

३) क्रियाशक्तिक्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूप संकोच-ग्रहणपूर्वकम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्म मलम् ।[१२]

क) स्वातन्त्र्य हानिरूप आणव मल—'विज्ञान केवल' में ।

---

१. तन्त्रसार (आ०-१ पृ०-५) । २. तन्त्रालोक (६। पृ०५७) ।
३. तन्त्रालोक (६। पृ० ५७) ।
४. मालिनीविजय वार्तिक काण्ड २।१८६) । ५. स्वच्छन्दतन्त्र टीका पृ० ५१९ ।
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (भास्करी: २ पृ० २४८) ।
७. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका भास्करी । ८. तन्त्रालोक (१।५६) ।
९. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका ३-२-१० (भास्करी २ पृ० २५३)
१०. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् । ११. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।
१२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

ख) स्वातन्त्र्य का अबोध रूप आणव मल—'प्रलयाकल' में । (इनमें कार्म मल भी रहता है एवं विकल्प से मायीय मल भी ।)

ग) देवादिक समस्त संसारी प्रमाताओं में 'त्रिविधमल' रहते हैं । किन्तु मुख्यतः उनमें 'कार्ममल' पाया जाता है ।

परमार्थसार में अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—

'कार्यकारणरूपा प्रकृति परमेश्वरेच्छा से पुरुष के लिए भोग्य रूप में प्रवृत्त होती है। यथा छिलका चावल के दाने को ढक लेता है उसी प्रकार प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त की समस्त सृष्टि चैतन्य को देहभाव से आच्छादित कर लेती है । (परमार्थसार : २३)

तुष इव तण्डुलकणिका मावृणुते प्रकृतिपूर्वकः सर्गः ।
पृथ्वी पर्यन्तोऽयं चैतन्यं देहभावेन ॥

परम (अन्तरंग) आवरण आणव मल (या मल) कहा जाता है । मायादिक ६ सूक्ष्म कञ्चुक बाह्य-स्थूल आवरण देहरूप हैं । यह आत्मा इनसे (तीन कोशों से) आच्छादित है—

परमावरणं मल इह सूक्ष्मं मायादिकञ्चुकस्थूलम् ।
बाह्यं विग्रहरूपं कोशत्रय वेष्टितो ह्यात्मा ॥[१]

शिवसूत्र और स्पन्दसूत्र—आचार्य क्षेमराज ने 'शिवसूत्रविमर्शिनी' के सूत्र (ज्ञानं बन्ध १।२; एवं १।३; १।४) आदि में इसी स्पंदसूत्र 'निज शुद्धयासमर्थस्य ...' का उद्धरण देते हुए दोनों सूत्रों में सैद्धान्तिक या वैचारिक साम्य का प्रतिपादन किया है । वे कहते हैं कि—

१) जीवात्मा निज अशुद्धियों से असमर्थ हो जाता है ।

२) वह वासनात्मक कर्तव्यों की वासनाओं की अशुद्धियों से असमर्थ हो जाता है और इस अशुद्धि से उसमें 'क्षोभ' का आविर्भाव होता है ।

शिवसूत्रों में अशुद्धियों का स्वरूप : एक तुलनात्मक विश्लेषण—यही विचार उक्त शिवसूत्रों में भी व्यक्त किया गया है । शिवसूत्रकार का कथन है कि अशुद्धियों में प्रथम अशुद्धि जो जीवात्मा के बन्धन है वह है 'ज्ञान' ।

प्रथम अशुद्धि—ज्ञान—बन्धः । 'ज्ञानं बन्धः ॥' (१।२)'

शिवसूत्रकार ने शिवसूत्रों में प्रथमसूत्र (चैतन्यमात्मा १।१) में आत्मा के स्वरूप का विवेचन करने के बाद दूसरा सूत्र आत्मा के बन्धनों (आत्मा के आच्छादक, स्वरूपावरक अशुद्धियों) के विषय में ही लिखा है ।

शिवसूत्रकार के मतानुसार प्रथम अशुद्धि (बन्धन का कारण) अज्ञानात्मक ज्ञान है। यह 'अज्ञान' क्या है? और इसका प्रभाव क्या है?

---

१. अभिनवगुप्त—परमार्थसार ।

१) मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।

२) अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ॥

(अज्ञान—बन्धन—सृष्टि + संहार) (मालिनीविजय) अशुद्धि स्वरूप इस ज्ञानात्मक अज्ञान का स्वरूप क्या है ?

क) आत्मा में अनात्मताभिमानरूप जो अख्याति (अज्ञान) या अज्ञानात्मक ज्ञान है वही बन्धन है—'एवमात्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्याति लक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो ॥'

ख) इसी प्रकार—शरीरादिक अनात्मा में आत्माभिमानतारूप जो अज्ञान है उससे उत्पन्न ज्ञान भी बन्धन है—

'यावद् अनात्मनि शरीरादौ' आत्मताभिमातारूप जो अज्ञान है उससे उत्पन्न ज्ञान भी बन्धन है—

'यावद् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव' (परामृतरसापाय ....) कारिका में इसी भात को गुंफित किया गया है ।

ग) परमेश्वर के द्वारा स्वस्वातन्त्र्य शक्ति से आभासित स्वस्वरूप गोपनात्मिका महामाया शक्ति के द्वारा अपनी आत्मा में .... मायाप्रमात्रन्त जो सङ्कोच अवभासित किया गया है वही शिवाभेदरूप अख्यात्यात्मक अर्थात् अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमलसतत्त्व-संकुचित अज्ञानात्मक ज्ञान ही बन्धन है । यही प्रथम अज्ञान या प्रथमा शुद्धि **'आणव मल'** है । इसके अनन्तर शिवसूत्रकार ने **'योनिवर्गः कलाशरीरम्'** (१।३) **'ज्ञानाधि-ष्ठानं मातृका'** (१।४) द्वारा भी अशुद्धियों पर प्रकाश डाला है । आचार्य क्षेमराज ने **'शिवसूत्रविमर्शिनी'** में इनकी व्याख्या निम्न स्पन्दसूत्रों—

१) शब्दराशिसमुत्थस्य ....' (स्पन्दसूत्र) तथा

२) स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः (स्पन्द सूत्र) में स्वीकार किया है ।

स्वच्छन्दशास्त्र में इसी अशुद्धिमूलक 'मल' के स्वरूप का निम्न शब्दों में विवेचन किया गया है—

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम् ।
रागेण रंजितात्मानं कालेन कलितं तथा ॥[1]

'आणव' के अतिरिक्त **'मायीय'** एवं **'कार्म'** मल की घोर अशुद्धियाँ हैं ।

शुद्धि और अशुद्धि—वास्तविक शुद्धि तो स्वाहन्ता में निमज्जन है—

'शुद्धिर्बहिष्कृतार्थानां स्वाहन्तायां निमज्जनम्' (परिमल) । वह निखिल विश्व

---

१. नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम् ।
प्रधानाशयसंपन्नं गुणत्रयसमन्वितम् ॥
बुद्धितत्वसमासीनमहंकारसमावृतम् ।
मनसा बुद्धिर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ॥ (स्वच्छन्दतन्त्र)

चिदात्मक एवं चिद्रूप है किन्तु बुद्धि इस अद्वैत एवं अभेद में भी द्वैत की कल्पना कर लेती है और यह व्यतिरेकिणी बुद्धि ही अशुद्धि है और बुद्धि के इस भेदात्मक स्वरूप का विमर्दन ही **'पराशुद्धि'** है—

चिदात्मकेष्वप्येतेषु या बुद्धिर्व्यतिरेकिणी ।
सैवाशुद्धिः परा प्रोक्ता शुद्धिस्तद्धी विमर्दनम् ॥ (परिमल)

शुद्धविद्या क्या है? अशुद्धविद्या कलङ्क प्रक्षालनाविनाभूता स्वस्वभावप्रत्यभिज्ञापनात्मिका संवित्स्वातन्त्र्यशक्तिः शुद्धविद्या' । (परिमल)

'विज्ञानभैरव' में 'शुद्धि' एवं 'अशुद्धि' का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृताऽशुद्धिः सा शुद्धिः शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेन्नरः ॥ (परिमल)

वेदान्त का मत—

१) **'मल'** = अन्तःकरण के मलिन संस्कार ।
२) **'विक्षेप'** = चित्त - चाञ्चल्य । —विल्का
३) **'आवरण'** = स्वरूप - विस्मृति ।

शुद्धि-प्रक्रिया—१) **'मल'** मल की शुद्धि—(मल-निवृत्ति) = निष्कामोपासना से

२) **विक्षेप-निवृति**—शुद्ध एवं एकनिष्ठ = उपासनायोग से ।

३) **आवरण-निवृत्ति**—शुद्ध - ज्ञान से ।

'आवरण' का कार्य = स्वरूप-विस्मृति । **'विक्षेप'** का कार्य = अध्यारोपा अध्यास ॥

'अविद्या' का स्वरूप = त्वं परमात्मानं सन्तं संसारिणं संसार्यहमस्मीति विप-रीतं प्रतिपद्यसे । अकर्तारं सन्तं कर्तेति, अभोक्तारं सन्तं भोक्तेति, विद्यमानं च अविद्यमान-मिति इयमविद्या ॥ (शङ्कराचार्य)

अविद्या नाम अन्यस्मिन् अन्य धर्माध्यारोपणा ॥ (पञ्चदशी)

'माया' और 'अविद्या' में भेद—१. दोनों प्रकृतियाँ सत्व की शुद्धि—'माया' २. सत्व की मलिनता—'अविद्या' । (विद्यारण्य = 'पञ्चदशी') ।

'प्रकृति' के दो रूप—'माया' 'अविद्या' सत्व शुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ॥

१) अचिन्त्य रचना शक्ति बीजं 'मायेति' निश्चिनु ॥ (पञ्चदशी)

२) मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् । ('पञ्चदशी')

३) चिदानन्दमयब्रह्म प्रतिबिम्बसमन्विता ।
तमोरजः सत्वगुणा प्रकृतिर्द्विधा च सा ॥ (पञ्चदशी)

'माया' के पुत्र—१) जीव २) ईश्वर (पंचदशी : विद्यारण्य)

(मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरौ उभौ ॥' (पंचदशी)

'ईश्वर' = मायाबिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर ।

'जीव' = चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ।
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥ (पंचदशी)

जीव—१) लिंगदेह का आधाराधिष्ठान चैतन्य ।

२) लिंगदेह ३) लिंगदेह में अवस्थित चिदाभास

इन तीनों का संघ = 'जीव'

१) कूटस्थ में बुद्धि कल्पित है ।

२) उस बुद्धि में जो चेतन का प्रतिबिम्ब है वह जब प्राणों को धारण कर लेता है वही 'जीव' है ।

१) विज्ञानमयकोशोऽयं 'जीव' इत्यागमा जगुः ॥ (पंचदशी)

२) अन्तःकरण संभिन्नो बोधो **जीवो**ऽपरोक्षताम् । (पंचदशी)

'परमात्मा' की चार अवस्थायें हैं (पंचदशी)—

'चित्' (धौत) | 'अन्तर्यामी' (घट्टित) | 'सूत्रात्मा' (लांछित) | 'विराट्' (रंजित) पट के समान ॥

चैतन्य के चार भेद (पंचदशी)—

कूटस्थ | ब्रह्म | जीव | ईश्वर

'कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ॥'

'ईश्वर' = 'चित्सन्निधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ।
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यो परः श्रुतः ॥'

चिदाभास की अवस्थायें—

अज्ञान | आवरण | विक्षेप | परोक्षज्ञान | अपरोक्षज्ञान | शोकराहित्य | निरंकुश | तृप्ति

आवरण—
- असत्वापादक (वह नहीं है)
- अभानापादक (वह मुझे प्रतीत नहीं होता) (विद्याख्य)

अज्ञान की शक्ति—
- असत्वावरण की शक्ति (परोक्ष ज्ञान से निवृत्ति)
- अभानावणा की शक्ति (अपरोक्षज्ञान से निवृत्त)

जीव (चैतन्य) (चैतन्य के स्थान)

नेत्र में (जागृति) कण्ठ में (स्वप्न) हृदय में (सुषुप्ति) ब्रह्म में (तुरीय)
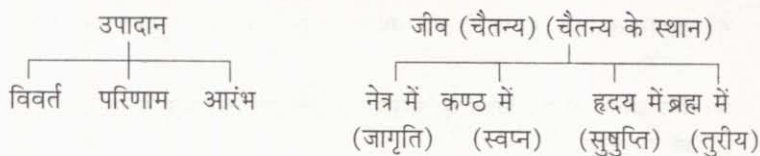
'जीव' = अन्त:करण का साहित्य ॥
'ईश्वर' = अन्त:करण का साहित्य ॥

परमपद

परम पद का स्वरूप क्या है?—'स्यात् परमं पदम्'—

१) **यजुर्वेद**—तत्त्वद्रष्टा ऋषिमुनि विष्णु के परम पद का सर्वदा साक्षात्कार करते हैं—ओ३म् तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिदीव चक्षुराततम् ॥'

२) परमाकाश परम व्योम का ही अधिधानान्तर **'परमपद'** है ।

३) मन्त्रलयोपरान्त सुषुम्ना में नादात्मक प्रणवानुभूति या अनवरत नादश्रवण से उत्पन्न होने वाला विराट् या परमाकाश ही **'परमपद'** है ।

४) **निरालम्बोपनिषद्** में कहा गया है कि—'प्राण' इन्द्रिय आदि एवं अन्तः-करण के गुणादिक के परे सच्चिदानन्दन्य नित्य, मुक्त परब्रह्म ध्यान ही **'परमपद'** है—'परमंपदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः परतरे सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम् ॥

५) **ध्यानबिन्दूपनिषद्** के मतानुसार—'शब्द के साथ अक्षर नाद के क्षोभ होने पर उत्पन्न शब्द शून्यावस्था की स्थिति ही **'परमपद'** है—

'बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥'

६) **मैत्रायणी उपनिषद्** के अनुसार 'लय विक्षेप-शून्य मन को सम्यक् रूप से स्थिर करके जो अमनी भाव का उदय होता है वही **'परमपद'** है—लय विक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चितम् ।

यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ (मैत्रायणी उप० ६-३४)

७) **तेजोबिन्दूपनिषद्** में कहा गया है कि परम गोपनीय अस्तन्द्र निराश्रय सोमरूप सूक्ष्मा कला ही विष्णु का **'परमपद'** है—

परमं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्तन्द्रो निराश्रयः ।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥ (१.५)

८) **श्रीमद्भागवत पुराण** में कहा गया है कि—

क) निश्चल चित्त से एक-एक अवयव का ध्यान करना चाहिए ।

ख) मन को विषय-शून्य बनाकर विषय-शून्य मन का उससे योग करना चाहिए ।

ग) तदुपरान्त चित्त में किसी भी विषय का चिन्तन या अनुस्मरण नहीं करना चाहिए।

घ) वही आन्तर स्थिति विष्णु का परमपद है जहाँ पहुँचकर मन अत्यन्त आह्लादित हो उठता है—

तत्रैकावयवं ध्यायेदव्युच्छिन्नेन चेतसा ।
मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् ॥
पदं तत्परमं विष्णोर्मनो यत्र प्रसीदति ॥ (भागवत २-१-१९)

९) **ध्यानबिन्दूपनिषद्** में कहा गया है कि 'जो मन प्रपञ्च की सृष्टि' स्थिति एवं लय का विधान करता है उस मन का जहाँ विलय होता है वही विष्णु का **परम पद** है।

'यन्मनस्त्रिजगत् सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ (ध्यान० २५)

१०) **'हठयोगप्रदीपिका'** में कहा गया है कि गंगा एवं यमुना इड़ा पिंगला के मध्य में स्थित बालखण्डा तपस्विनी का बलात्कारपूर्वक ग्रहण भी विष्णु का **'परमपद'** है—

गंगा यमुनयोर्मध्ये बालखण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

११) **'घेरण्डसंहिता'** में कहा गया है कि—'अनाहत शब्द की जो विशिष्ट ध्वनि होती है उस ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति है। उस ज्योति के अंतर्गत जो मन है वह मन जहाँ विजय प्राप्त करता है वह आस्पद ही विष्णु का **'परमपद'** है—

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योति ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

आचार्य जयरथ तन्त्रालोक की टीका 'विवेक' में कहते हैं—

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ॥'

अन्तर्लक्ष्य एवं बहिर्दृष्टि रखने वाले योगी **'परमपद'** प्राप्त करते हैं। वे व्यवहार-परायण रहकर भी स्वात्ममात्र में विश्रान्ति सुख की अनुभूति प्राप्त करते हैं अतः स्पष्ट है कि योगी भेदावस्था में भी अभेद भावना-स्वरूपात्मक स्थिति-प्राप्त करता है—

बहिस्तत्तदव्यवहारपरत्वेऽपि स्वात्ममात्रविश्रान्त्या परं परं चमत्कारातिशयमनुभवन्ति ॥[1]

परम पद—'अन्तः अहंपरामर्शात्मनि संवित्तत्वे सावधानो बाह्यविषयासंगेऽपि स्वरूपपरामर्शपरत्वात् भैरवमुद्रानुप्रविष्टो योगी 'परमं पदमश्नुते' विमर्शदशामधिशेते ॥'[2]

भैरवमुद्रानुप्रविष्ट योगी परमपद या विमर्श दशा प्राप्त करता है।

१. जयरथ-'विवेक' (तन्त्रालोक की टीका) (आ०५)।
२. तन्त्रालोक (आ०५)—'विवेक' श्लोक ८०।

'नेत्रतन्त्र' (प्रथमपटल) में शिव कहते हैं—

स्वं स्ववीर्यं स्वसंवेद्यं ममैव परमं पदम् ।[१]
तद्वीर्यं सर्ववीर्याणां तद्वैबलवतां बलम् ॥ (नेत्रतन्त्रः १।२४)

बौद्धों का परमपद—बुद्धितत्त्व में स्वामित्व की भूमिका का निर्वाह ब्रह्मा करते हैं—बौद्धों का यही मोक्ष है—यही परम पद है—

ब्रह्मा तत्राधिपत्येन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ।
सर्वज्ञ च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ॥[२]

१. योगशास्त्र में छब्बीसवाँ तत्त्व ही परम पद है—

षड्विंशकं तु देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ॥[३]

२. **पाशुपत व्रत में ईश्वर ही 'परमपद' है**—'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं **परमं पदम्** ॥'[४]

३. **शैवों का परमपद**—समस्त अध्वाओं की सीमायें पार करके जो पद या अवस्था आती है वही शैवों का **परमपद** है ।

सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ।

त्रिक मत के अनुसार—इदन्ता परामर्श का लेश मात्र न रह जाना तथा सर्वत्र पराहन्तापरामर्श का प्रकाश उल्लसित होना ही मुक्तिप्रद ज्ञान है—'सर्वप्रकारं वासनामात्रेणापि यत् उज्झितं पराहन्ता परामर्शसारम ॥'[५]

देवी के द्वारा **'परमज्ञान'** एवं **'परमपद'** के विषय में संपृष्ट प्रश्न के विषय में शिव उत्तर देते हुए कहते हैं—

परमपद शक्ति गर्भ है—'शक्त्या गर्भान्तिवर्तिन्या शक्तिगर्भं परं पदम्' स्वातन्त्र्य और विमर्श रूपा शक्ति ही गर्भ है । (गर्भ = सार । रहस्य) 'तन्त्रसार' में इसे 'परनाद गर्म आमर्श' कहा गया है ।

प्रमात्रैकात्म्य की अन्तर्वर्तिनी पराकाष्ठामयी शक्ति के स्वभाव से यह परम पद उपलक्षित है । अवमास का स्वभाव ही विमर्श है । शक्ति में स्वातन्त्र्य एवं विमर्शात्मक **'स्व' भाव** शाश्वतिक है । अहं प्रत्यवमर्श ही स्वातन्त्र्य शक्ति है ।

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।'

१२) **'योगतत्त्वोपनिषद्'** (१२४-१३६) के अनुसार—

तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन स्वर, तीन अग्नि, एवं तीन गुण–ये सभी प्रणव के त्र्याक्षरों में स्थित हैं । इन तीनों अक्षरों के मध्य जो अर्द्ध मात्रा स्थित है उसके

---

१. नेत्रतन्त्र ।
२. तन्त्रालोक-विवेक (१आ०पृ०७९)।
३. तन्त्रालोक-विवेक ।
४. तन्त्रालोक-विवेक ।
५. तन्त्रालोक-विवेक ।

द्वारा सभी आच्छादित हैं । वही सत्य एवं **'परमपद'** हैं—

'त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः संध्यास्त्रयः स्वराः ।
त्रयोऽग्नय त्रिगुणा स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ॥
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽत्यर्द्धमक्षरम् ॥
तेन सर्वमिदं प्रोक्तं तत्सत्यं तत्परं पदम् ॥ (योग० १३४, १३६)

१३) क) प्रणव की मात्रा 'अकार' में कमल का रेचक होता है ।
ख) प्रणव की मात्रा 'उकार' में कमल प्रस्फुटित होता है ।
ग) प्रणव की मात्रा 'मकार' में नाद की प्राप्ति होती है ।
घ) प्रणव की मात्रा 'अर्द्धमात्रा' निश्चला होती है ।
ङ) वह मल-शून्य शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल एवं पापनाशक है ।
च) योग युक्तात्मा पुरुष परम पद प्राप्त करते हैं—

परमपद का स्वरूप—अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव विद्यते ।
मकारे लभते नादमर्द्धमात्रा सुनिश्चला ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ।
लभते योगमुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ॥
('योगतत्त्वोपनिषद् १३८-१४०)

१४) **शाण्डिल्योपनिषद्** में कहा गया है कि—

'यदि वह कुण्डलिनी शक्ति कण्ठ के ऊर्ध्व भाग में प्रसुप्त रहती हो वह योगियों को मुक्ति प्रदान करती है और शरीर के अधोभाग में प्रसुप्तावस्था में स्थित रहने पर वह प्राणियों के लिए बन्धन का कारण बनती है । निद्रा भंग के उपरान्त वह इड़ा—पिंगला मार्गद्वय का त्याग करके सुषुम्ना मार्ग से अग्रगमन करती है यही विष्णु का **'परमपद'** है—'सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति । बन्धनाधो मूढानाम् । इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेण गच्छेद्विष्णोः परमं पदम् ॥'
(शाण्डिल्योपनिषद् १.३७)

१५) **ब्रह्मबिन्दूपनिषद्**—संकल्प शून्यता रूप उन्मनी भाव ही **'परमपद'** है । विषय भोग की लालसा नष्ट हो जाने पर मन हृदय में पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है और वह उन्मनीभाव प्राप्त कर लेता है । यही उन्मनी भाव **'परमपद'** कहलाता है—

निरस्तविषयासंगं संनिद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ (ब्र०उप० ४)

१६) **विष्णु पुराण** में कहा गया है कि—आध्यात्मिक साधना में सतत निरत ध्यान में दक्ष योगीगण पुण्य-पाप के क्षय होने पर ॐ में ध्येय विष्णु के उस अक्षय परम पद को देखते हैं—

यद योगिनः सदोद्युक्ताः पुण्यपापक्षयेऽक्षयम् ।
पश्यन्ति प्रणवे चिन्मयं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ (वि०पु०)

१७) **ब्रह्मपुराण** में कहा गया है—'जिससे समस्त विश्व की (१।९।५४) सृष्टि हुई है वही विष्णु परब्रह्म है । जो जगत् रूप है, जिसमें जगत् है और जिसमें जगत् का प्रलय हो जाता है वही परब्रह्म परमधाम एवं सदसत **'परमपद'** है—

स च विष्णुः परं ब्रह्म यतः सर्वमिदं जगत् ।
जगच्च यो यत्र चेद यस्मिन् विलयमेष्यति ।
तद् ब्रह्म परमं धाम सदसत परमं पदम् ॥ (ब्र०पु० २३।४१-४२)

१८) **मार्कण्डेयपुराण** में कहा गया है कि—

क) प्रथम मात्रा अकार (पृथ्वी, अग्नि ब्रह्मा आदि) व्यक्त है ।
ख) द्वितीय मात्रा उकार (अन्तरिक्ष, विष्णु आदि) अव्यक्त है ।
ग) तृतीय मात्रा मकार (द्यौ, शिव) चिच्छक्ति हैं ।
घ) चतुर्थ मात्रा 'अर्द्धमात्रा' परम पद है—

व्यक्ता तु प्रथमा मात्रा, द्वितीयाव्यक्तसंज्ञका ।
मात्रा तृतीया चिच्छक्तिरर्द्धमात्रा परमं पदम् ॥

१९) **विष्णुपुराण** में कहा गया है कि—जो अविकार, अज, शुद्ध, निर्गुण, निरञ्जन परमपद है उस परब्रह्म के प्रति हम नत होते हैं—

अविकारजं शुद्धं निर्गुणं यन्निरञ्जनम् ।
नताः स्म तत्परं ब्रह्म विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥ (१।१४।३८)

२०) **कठोपनिषद्** में कहा गया है कि जो विज्ञानवान्, अनुभवयुक्त, मननशील एव नित्य शुचि है वही परमपद प्राप्त करता है उसको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

२१) **परमपद का स्वरूप—कूर्मपुराण** में कहा गया है कि—

क) यह माहेश्वरी देवी मेरी निरञ्जना शक्ति है । यह शान्ता, सत्या एवं सदानन्दा हैं। वेद इन्हें ही **'परमपद'** कहता है ।

ख) 'इन निरञ्जना शक्तिरूपा, परमपद स्वरूपिणी माहेश्वरी देवी से ही समस्त जगत् उत्पन्न होता है और अन्त में इनमें ही समस्त जगत् लीन हो जाएगा ॥

ग) यही माहेश्वरी शक्ति परमपद समस्त प्राणियों की गतियों में सर्वोत्तम गति है—

एषा माहेश्वरी देवी मम शक्तिनिरञ्जना ।
शान्ता सदानन्दा परं पदमिति श्रुतिः ॥
अस्याः सर्वमिदं जातमत्रैव लयमेष्यति ।
एषैव सर्वभूतानां गतीनामुत्तमा गतिः ॥ (कूर्मपुराण)

२२) **श्रीमद्भगवद्गीता** में परमागति का विवेचन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—(क) सर्व द्वाराणि संयम्य (ख) मनो हृदि निरुध्य च ।

(ग) मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ।

(घ) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् । (ङ) मामनुस्मरन्

(च) यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गीता ८।१२-१३)

२३) ऋग्वेद में कहा है विष्णु के परमपद में मधु का उत्स (झरना) है—

'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ॥' (ऋग्वेद १।१५४।५)

'ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृंगाः अयासः ।
अत्राह तदरुगायस्य विष्णोः परम् पदम् व भाति भूरि ।

(ऋग्वेद १।१५४।६)

उस परमपद में प्रभूत शृंगों से युक्त (भूरिशृंगा) तथा शीघ्रगामी धेनुओं का निवास है । वह नित्य अति द्युतिमान लोक है जोकि इस लोक पर सदैव चमकता है ।

२४) **'परिमल'** (महार्थमञ्जरी की टीका) में **'परमपद'** का स्वरूप इस प्रकार है—

'तस्या भोक्त्र्याः स्वतन्त्राया भोग्यैकीकार एष यः ।
स एव भोगः सा मुक्तिः स एव परमं पदम् ॥

क्षोभ के विलीन हो जाने पर मितात्मा का सर्वज्ञातृत्व-सर्वकर्तृत्व—

तदाऽस्याऽकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥ १० ॥

तब (क्षोभ के विलीन हो जाने पर) इसका (मितप्रमाता का) सहज (स्वभावसिद्ध) ज्ञातृता एवं कर्तृता रूप धर्म अनावृत रूप में प्रकाशित हो उठता है जिससे कि वह अपने समस्त आकांक्षित विषयों को (स्वातन्त्र्यपूर्वक) जानने भी लगता है और (यथाकांक्षित कार्यों को निरापद रूप में) निष्पादित भी करने लगता है ॥ १० ॥

*** सरोजिनी ***

मितप्रमाता का स्वभावसिद्ध धर्म सर्वज्ञातृता एवं सर्वकर्तृता है । यही उसका अकृत्रिम (सहज = स्वाभाविक) धर्म है ।

तदा = तब उपदेश की अपेक्षा से । क्षोभ के उपशमनोपरान्त ।

अकृत्रिम = सहज । (**भट्टकल्लट** = 'अकृत्रिम' = सहज) ।

धर्म—आत्मनिहित स्वभाव या गुण । 'प्राङ्निर्दिष्ट स्वतन्त्रारूपः परमेश्वरः स्वभावो ज्ञत्वकर्तृत्वे सामरस्यावस्थितप्रकाशानन्दात्मनी ज्ञानक्रिये लक्षणं अव्यभिचारिस्वरूपं यस्य तादृक् ।

अस्य = इस पुरुष का ।

ज्ञत्वकर्तृत्व = सब कुछ जानने एवं सब कुछ कर सकने की क्षमता ।

यत = जिसके कारण

ईप्सित = अभीष्ट ॥ **तदा** = तब[१]

च + च = यौगपद्य। (ज्ञान-क्रिया में ऐकात्म्य सूचित करने के लिए यहाँ दो चकार प्रयुक्त हुए हैं।)

अकृत्रिम—१) स्वरूपभूत २) साधना से प्राप्त नई उपलब्धि या नव्य सम्प्राप्ति नहीं प्रत्युत् पहले से ही विद्यमान किन्तु मलों के कारण आवृत (माया के कारण सावरण) आत्मधर्म रूपसर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व रूप शक्ति।

जब प्रकृति का **'क्षोभ'** (आत्म प्रत्यभिज्ञा का ससीम पदार्थों के साथ ऐकात्म्य) शान्त हो जाता है तब समस्त क्रियायें अवरुद्ध हो जाती हैं—यथा निस्तरंग समुद्र की। इस संदर्भ में समुत्थित शंका के निवारण के लिए यह—'तदा... करोति च' श्लोक कहा गया है।[२]

उस समय उस योगी का, सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व लक्षण वाला सहज धर्म अपने समस्त जिज्ञास्य एवं यथाभीष्ट विषयों को जान लेता है तथा उन कार्यों को निष्पादित कर डालता है।[३]

जब **'क्षोभ'** का लय हो जाता है तब आत्मा स्वरूपस्थ हो जाती है और उसका सहज स्वभाव हो जाता है। सहजस्वभाव क्या है?[४] 'सर्वज्ञता' और 'सर्वकर्तृता'। वह जो जानना चाहे' जान सकता है, जो करना चाहे कर सकता है—अपने लिए भी एवं अन्य लोगों के लिए भी।[५] **'पंचरात्र'** में यह सहज धर्म—**'विवेकज ज्ञान'** के नाम से कहा गया है। जब उसका प्रादुर्भाव होता है, तब क्या होता है ? यह आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी' सर्वेश्वर एवं सर्वशक्ति सम्पन्न हो जाता है। यह बिना इन्द्रियों के भी होता है। जैसे अग्नि दाह्य क्या है—इसका विचार नहीं करती। वैसे ही आत्मा 'ज्ञेय क्या है?'—इसका विचार नहीं करता क्योंकि वह स्वयं बोधस्वरूप है।[६]

'षाड्गुण्यविवेक' में भी कहा गया है कि—बोध विचित्र पदार्थों के निर्माण के लिए किसी दूसरे सहकारी कारण की अपेक्षा नहीं रखता। वह 'स्वयं संकल्प से ही सहस्रों रूपों की सृष्टि कर लेता है—

'नहि बोधो विचित्रार्थनिर्माणेऽन्यमपेक्षते।
संकल्पादेव यो रूपसहस्राणि सृजत्यजः ॥'[७]

किसी-किसी का ऐसा भी कहना है कि आत्मा में ज्ञातृत्व और कर्तृत्व आदि किसी दूसरे परतत्त्व से आते हैं, वे वस्तुतः आत्मा को अनीश्वर ही मानते हैं।[८] **'आगमरहस्य'** में कहा गया है—'जो ईश्वर की क्रिया को किसी सहकारी कारण से की हुई मानते हैं उन्होंने ईश्वरता को ही तिलाञ्जलि दे दी। वे तो ऐसा कहते हैं मानो परस्त्री के अधीन पुरुष का नाम कम कामीश्वर रख दिया गया हो।'—

'येऽपीश्वरं व्यपदिश्यतिन्त निमितहेतु,
तैरर्पितः स्थलजलाञ्जलिरीशितायै।

१-३. क्षेमराज = स्पन्दनिर्णय। ४-८. स्पन्दप्रदीपिका।

अन्याङ्गनोपगमनेन वशीकृतस्य,
कामीश्वरस्थितममी बत संगिरन्ते ॥'[1]

नवें श्लोक में, देहादिक अनात्म तत्त्वों में अहं प्रत्ययस्वरूप क्षोभ के विगलित हो जाने पर, निवात-निश्चल-जलधि के समान सुप्रशान्त स्थिति में अवस्थित आत्मतत्त्व को **'परमपद'** शब्द द्वारा प्रतिपादित किया गया था। फिर उसके बल के स्पर्श से पुरुष उससे विलक्षण (भिन्न) क्षोभात्मक धर्म कैसे प्राप्त कर लेता है कि जिसके कारण इन्द्रिय समूह को उनके व्यापार में संलग्न करते हुए 'मैं करता हूँ' 'मैं जानता हूँ'—इत्यादि अपने ऐन्द्रिय विषयों को प्राप्त करके क्षुभित हो उठता है?—इन शंकाओं का निराकरण करने हेतु एवं अनात्मज्ञानियों के मति भ्रम को दूर करने के उद्देश्य से १०वीं कारिका कही गई ॥

तदा = तब ॥ उस यथोक्त क्षोभपरिक्षयोपलक्षित काल में ।

अस्य—इसका इस आत्मा का ।

अकृत्रिम = सहजसिद्ध । सतत अव्यतिरिक्त ।

ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः = ज्ञातृत्व-कर्तृत्व के लक्षण वाला । **यतो** = जिसके कारण । जिस अव्यभिचारी एवं कारणभूत गुण से ।

सर्वम् = अखिल ।

ईप्सितं = ज्ञेय एवं कार्य के रूप में प्राप्त करने हेतु वाञ्छित वस्तु । उस समय । सत्यस्वभाव संबन्धलक्षणयोगात्मिका उस दशा में । (न कि देहादिक आलम्बन में अहं प्रतीति से परिप्लुत सांसारिक पुरुषदशा में) ।

जानाति च करोति च = जानता है और करता है । ऐसा क्यों कहा गया ? सर्वज्ञातृत्व' उपलब्धृत्व, कर्तृत्व आदि तो आत्मा के अव्यतिरिक्त सहज धर्म हैं । वस्तुतः एक ही ईश्वर की स्वभावप्रत्यवमर्शरूपा एक ही शक्ति है । वही संवेदन के रूप में **'ज्ञान'** तथा कार्यसंरंभरूप से **'क्रिया'** शब्द द्वारा पुकारी जाती है—

'वस्तुतः एकैव ईश्वरस्य स्वभावप्रत्यवमर्शरूपा शक्तिः, सा संवेदनरूपत्वात् ज्ञान शब्देन उच्यते, लावन्मात्रसंरभ्मरूपत्वात् क्रियाशब्देन च उदघोष्यते ।' 'इदन्तावसेयस्य वस्तुतो ज्ञेयतया कार्यतया च द्वैविध्यात् द्वित्वेन उपचर्यते ॥'

वेद्यत्वप्रतीति के उपप्लव से संस्पृष्ट वेदकैकलक्षण स्वभाव में स्थित उस आत्मा का वह धर्म सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व के रूप में विजृंभित (प्रकट) होता है ।

आत्मा की ज्ञत्व—कर्तृत्वलक्षण अव्यतिरिक्तधर्मता उसका **स्वभाव** है न कि उसकी क्षोभावस्था । अपने इस स्वभाव के प्रत्यवमर्श के अभाव से वेद्य देहादिक में वेदक प्रत्यय का निबन्धनात्मक ज्ञत्व एवं कर्तृत्व आत्मा का कृत्रिम एवं परिमित विषय है न कि स्वाभविक । स्वाभविक धर्म तो सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व है ।[2]

ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व का विकास

पूर्वकारिका (९वीं) में कहा गया है कि **'क्षोभ'** के विलीन हो जाने पर मितप्रमाता

१. स्पन्दप्रदीपिका । २. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है । इस अवस्था विशेष में किसी भी प्रकार की स्फुरणा नहीं होती तथा वह तरंग-हीन समुद्र की भाँति प्रशान्त एवं निस्पन्द है । सूत्रकार का कथन है कि क्षोभ के विलीन हो जाने पर इसका मितप्रमाता स्वभावसिद्ध ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व धर्म को निरावृत रूप में प्रकट होता है जिससे कि यह प्रमाता आकांक्षित विषयों को स्वातन्त्र्यपूर्वक जानता भी है तथा अभीष्ट कार्यों का निष्पादन भी करता है ।

वृत्तिकार भट्टकल्लट कहते हैं—

यदि क्षोभ का ग्रहण अस्त हो जाता है तो ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व, (जो कि आत्मा का स्वाभाविक धर्म है) के ऊपर से मितज्ञातृत्व एवं मितकर्तृत्व का प्रतिबन्धक अवरोध हट जाता है और आत्मा अपने सर्वज्ञातृत्व एवं सर्वकर्तृत्व की अपनी अमित शक्ति के साथ प्रोज्ज्वलित हो उठता है । इस अवस्था में मितप्रमाता की संकुचित सीमाओं की प्राचीर को भंग करके वह सब कुछ जान लेता है और सब कुछ कर सकने की क्षमता प्राप्त कर लेता है 'यतः तस्मिन् प्रलीनक्षोभात्मके काले अकृत्रिमः सहजो ज्ञत्वकर्तृत्व-भावरूपो धर्मो यस्मात्, तस्मिन् एवं प्राप्तयोगात्मके काले यत् तद् ज्ञातुम् इच्छति तत् तत् जानाति च करोति च, नान्यथा संसार्यवस्थायाम् ॥'[1]

'शान्तब्रह्मवाद' और पञ्चकृत्यकारी शिव का सर्वकर्तृत्ववाद—

१. **'माण्डूक्योपनिषद्'**—में परमात्मा को 'शान्त' कहा है और उसके अनेक लक्षणों की ओर इंगित किया है । यथा—अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चोपशम, शान्त, शिव एवं अद्वैत–'अदृष्ट-मव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम-द्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥'

आचार्य शङ्कर ने (शाङ्कर भाष्य) में 'शान्त' का अर्थ—यह स्वीकार किया है कि परमात्मा—जाग्रदादि अवस्थाओं के धर्म से रहित है—'प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थान-धर्माभाव उच्यते । अतएव शान्तमविक्रियम्'[2]

'शान्त'—१) जाग्रदादि अवस्थओं के धर्मों से रहित ।

२) अविकारी-'अविक्रिय' ।

इस दृष्टि से तो शाङ्कर मत के विरोध का प्रश्न ही नहीं उठता किन्तु यदि 'शान्त' का अर्थ—'निष्क्रिय' 'निस्पन्द' माना जाय तब अवश्य इसे **'शान्तब्रह्मवाद'** से सम्बद्ध मानकर इसका शैव दर्शन विरोध करता है ।

'परमार्थचर्चा' के 'विवरण' में **हरभट्ट** ने **'शान्तब्रह्मवाद'** के विरुद्ध अनेक प्रश्न उठाये हैं—

१) **शान्त ब्रह्मवादी** परमात्मा को उदासीन (क्रियाशून्य) मानते हैं तो वे यह बताएँ कि फिर ऐसा उदासीन परमात्मा विश्व को आभासित कैसे करेगा?

---

१. भट्टकल्लट : 'स्पन्दसर्वस्व' । २. शांकरभाष्य (माण्डूक्योपनिषद) ।

२) ऐसा परमात्मा उसका विश्रान्ति-स्थान कैसे बन सकेगा—

'शान्तब्रह्मवदौदासीन्यमवलम्बमाना कथं विश्वमाभासयेत्?
कथं च तद्विश्रान्तिस्थानं भवितुमर्हा?[१]

२. **दार्शनिक स्पिनोजा** (Spinoza: 1632-1677) का कथन है कि विश्व परमात्मा से पृथक् नहीं है प्रत्युत्—'विश्वम् ईश्वरः । ईश्वरश्च तद् विश्वम्' = सब ईश्वर है और ईश्वर ही सब है यही है स्पिनोजा का 'सर्वेश्वरवाद' । शङ्कराचार्य भी 'सर्वब्रह्मवाद' के समर्थक हैं किन्तु उनकी मान्यता में—१) 'ब्रह्मसत्यम्'—तो ठीक है और 'जीव ब्रह्मैव नापरः' भी ठीक है किन्तु उनका 'जगन्मिथ्या' कथन ठीक नहीं है । यह Spinoza को भी मान्य नहीं है, सांख्यदर्शन को भी मान्य नहीं है—रामानुजीय वेदान्त दर्शन को भी मान्य नहीं है तथा 'प्रत्यभिज्ञा' 'स्पन्द' 'क्रम' आदि अद्वैतवादी शैव दर्शनों को भी मान्य नहीं है । स्पिनोजा भी परमात्मा को स्थितिशील नहीं गतिशील मानता है । स्पिनोजा का मूल सत्व निर्गुण है जबकि स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा का मूल तत्त्व सगुण, निर्गुण, विश्वमय एवं विश्वातीत दोनों हैं ।

वेदान्ती शान्त ब्रह्मवादी भी हैं । इस ब्रह्म का स्वरूप शान्त एवं निस्पन्द है । **उसमें विमर्श का पूर्णतः अभाव है** । वह **'निस्तरंग महोदधि कल्प'** है—तरंग शून्य महासमुद्र है । इसके कारण उसमें—ज्ञान, एवं क्रिया की शक्ति एवं संवेदना भी नहीं है । ये ब्रह्मवादी ब्रह्म को चेतन तो मानते हैं किन्तु 'निस्तरंग जलनिधि' कहने से वे उसे उदासीन एवं शक्तिहीन भी मानते हैं । स्पन्द सूत्र ऐसे शक्तिहीन—ज्ञान-क्रिया-हीन, एवं निष्क्रिय ब्रह्म में विश्वास नहीं रखता । शैव दार्शनिक कहते हैं कि जो निरपेक्षतः पूर्ण स्वतन्त्र है (जिसकी स्वभावगत शक्ति 'स्वातन्त्र्य शक्ति' हों) ऐसा ब्रह्म एक साथ निस्तरंग एवं तरंगित दोनों रह सकता है ।

'शिवदृष्टि' में सोमान्दपाद कहते हैं कि—शैवदर्शन में निस्तरंगता शिव की शक्तिहीनता का प्रतीक नहीं है प्रत्युत् इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्तियों का सूक्ष्म सामरस्य या अभेदात्मकता संकेतित है ।

शैवदार्शनिकों के मत में चैतन्य एवं प्रसरणशीलता—स्वरूप प्रथन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । शिव विश्वरूप में अवभासमान है । चूँकि विश्व शिवमय, शिवस्वरूप है अतः गर्हित एवं मिथ्या भी नहीं है । निन्दनीय (गर्हित) तो यह है कि विश्व को शिवस्वरूप माना ही न जाय । आत्म चैतन्य से विश्व की पृथक्ता ही गर्हित है । ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व शिव का स्वभाव है और स्वभाव का त्याग संभव नहीं है अतः शिव से इन शक्तियों की पृथक्ता भी संभव नहीं है । **'शिवदृष्टि'** में सूक्ष्मता का अर्थ शिव का शक्तिराहित्य नहीं है प्रत्युत् अभेदता है—

सुसूक्ष्मशक्तित्रितयसामरस्येन वर्तते ।
चिद्रूपाह्लाद परमो निर्विभागः परस्तदा ॥[२]

उसका रूपप्रसार गर्हित नहीं है—'रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत (शिव-

---

१. 'परमार्थचर्चाविवरण' (हरभट्ट) । २. शिवदृष्टि (१.४) ।

दृष्टि १४) **सोमानन्दपाद** ठीक ही कहते हैं कि शक्ति का शक्तिमान से पार्थक्य संभव नहीं है—'एवं न जातु चित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ॥'

परमात्मा **'विश्वोत्तीर्ण'** है—इसका अर्थ यह है कि वह सुख दु:ख, भय, शोक, अभाव, एवं अनेक द्वन्द्वों ममत्व, अभिमान आदि से उत्तीर्ण है—इन क्षोभों से अतीत है। शान्तब्रह्मवादियों के संवदेन-शून्य ब्रह्म को शैव दार्शनिक जड़ मानते हैं—'संवित्ति शून्य ब्रह्मत्ववादिनां जड़तैव सा ।'[१] (सोमानन्दाचार्य) ॥

अभिनवगुप्तपादाचार्य 'तन्त्रालोक' में कहते हैं कि 'हृदय' (अहं प्रत्यवमर्शात्मक बोध) में विमर्श की तरंगें उठती रहती हैं। 'विमर्श' चेतन स्पन्द है। विश्व का 'द्रावण' (जगत् का इदं रूप में बाह्यावभासन या विश्व-प्रसारण) और उसका प्रसृत भाव जगत् का आन्तर अहंप्रत्यय में लय करने की क्रियाशीलता **विमर्श** ही है।

'स्पन्द' के प्रसार की दिशायें दो हैं—१) **'बहिर्मुख प्रसार'** २) **'अन्तर्मुख प्रसार'**। 'बहिर्मुख प्रसार' = विश्वात्मक = विश्व विकास। **'अन्तर्मुख प्रसार'** ॥ स्वात्म-सङ्कोच। प्रसारित विश्वात्मकता को मूल केन्द्र में समेटना ॥ 'स्पन्द' की यही द्विमुखी क्रियाशीलता है जिसे कि—१. **'स्वरूपोच्छलन'** २. **'किंचिच्चलन'** कहा जाता है।

क) हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रविताशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः ॥
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥[२]

ख) किंचिच्चलनमेतावदन्यस्फुरणं हि यत् ।
ऊर्भि रेषाविबोधाब्धेर्न संविदनया विना ॥[३]

किंचिच्चलनात्मक स्फुरणा का स्वरूप—'स्पन्द' किंचिच्लनात्मक है। इसका स्वरूप निम्नांकित है—और इसके दो रूप हैं—१. **'सामान्य स्वरूप'** २. **विशिष्ट स्पन्द**।

क) सामान्यस्पन्द—विश्व-प्रसृत धर्म। 'राम' मानव है। मानवता उसका 'सामान्य' एवं 'रामत्व' (सामान्य का) विशिष्ट स्वरूप है। एक जातिगत धर्म है और दूसरा व्यष्टिगत विशिष्ट धर्म है किंचिच्चलनात्मक स्फुरण विश्व के स्थूल-विकास (जगत् की सृष्टि = **आदि सर्ग**) और प्रलय (अन्त में संहार काल) इन दोनों स्थितियों में सामान्य रूप से प्रसृत होती है अतः उसे **'सामान्य स्पंद'** कहते हैं। इसकी गति अनवरुद्ध रूप में अग्रपद होती रहती है। इस अवस्था में प्रवहमान स्पन्द शक्ति घट, पट, नील, रक्त, आदि विकल्पों में विभाजित नहीं रहती।

ख) विशिष्टस्पन्द—जगत् की जो स्थिति का काल होता है उसमें ही सामान्य स्पन्द विकल्पों का विशिष्ट रूप ग्रहण करके (देह, प्राण, नील, सुख आदि बनकर) विश्व के अनेकात्मक अनन्त रूपों में विश्ववैचित्य का अवभासन करते हुए विशेषरूपता का भी उच्छलन (किंचिच्लन) करता है।'

---

१. सोमानन्दपादः 'शिवदृष्टि' (६.२९)। २. तन्त्रालोक (९.१०२-३)।
३. तन्त्रालोक (९.१८४)।

स्वात्मोच्छलनात्मक स्फुरणा ही चैतन्य का शाश्वत स्वस्वभाव है । चाहे पति प्रमाता हो चाहे पशुप्रमाता दोनों का प्रमातृत्व इसका ऋणी है ।

सर्वज्ञ, सर्वकर्ता अनुत्तर तत्त्व अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' की सामर्थ्य से सब कुछ जानता भी है और सब कुछ करता भी है उदासीन, निरपेक्ष साक्षी मात्र बनकर नहीं रहता।

संवित् का यथार्थ स्वरूप अहंविमर्शात्मक स्फुरणा है । स्वतन्त्र कर्ता संविदात्मक है। विश्वात्मक ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व की अहंविमर्शमयी स्फुरणा ही संवित् का अकृत्रिम स्वभाव है ।

प्रमाताओं की मुख्यत: दो श्रेणियाँ हैं—(१) **पतिप्रमाता,** (२) **पशुप्रमाता** ।

कार्यों के कारणसमूह का संयोजन—वियोजन करने में स्वतंत्र कर्ता तो मात्र शिव ही है क्योंकि विश्वात्मक ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व की अहं विमर्शमयी स्फुरणा का वह स्वामी है किन्तु मितप्रमाता (पशु) भी अपनी पशु भूमिका में संयोजन-वियोजन की क्षमता रखता है क्योंकि संवित् सक्रिय है और वह संवित् पशुओं में भी है अत: ज्ञाता-कर्ता के व्यापार की क्रिया में दोनों में कोई भेद नहीं है हाँ अन्तर है तो उसकी मात्रा में यथा—

१) **पतिभूमिका**—सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व' पूर्ण तृप्ति आदि ॥

२) **पशुभूमिका**—सर्वकर्तृत्व, किंचिद् ज्ञातृत्व, किंचिद् तृप्ति आदि ॥

पशु अपने संविदात्मक स्वरूप को विस्मृत कर देने के कारण 'पति' से 'पशु' बन जाता है किन्तु देहादिक में अहंभाव का त्याग करने एवं 'संवितस्वरूपोऽहं, विश्वविभवोऽहं, सर्वज्ञातृत्व-कर्तृत्व शक्ति संपन्नोऽहं, शिवोऽहं' की प्रत्यभिज्ञा होते ही उसके समस्त पाशों का उच्छेद हो जाता है और वह 'पशु' से 'पशुपति' बन जाता है । इस मितप्रमातृत्व के स्थान पर अमितप्रमातृत्व की प्राप्ति ही '**आत्मबल का स्पर्श**' कहलाता है। पशु एवं पति मूलत: अभिन्न हैं—

१) तथा च तेषां हेतूनां संयोजनवियोजने ।
नियते शिव एवैक: स्वतन्त्र: कर्तृतामियात् ॥ (तं०९।३५)

२) तस्मादेकैकनिर्माणे शिवो विश्वैकविग्रह ।
कर्तेति पुंस: कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभो कृति: ॥ (तं० ९।३६)

पशु की मित पदार्थों में ममता, अहंकार, उनके साथ एकात्मता आदि भी विश्व-शरीरी की ही स्फुरणा है । सर्वज्ञ शिव ही विराजमान है—

'ना सावस्था न य: शिव: ॥'

'विज्ञानभैरव' (धारण ८४) में कहा गया है—

सर्वज्ञ: सर्वकर्ता च व्यापक: परमेश्वर: ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवो भवेत् ॥ १०७ ॥

प्रथम प्रत्यभिज्ञा—'मैं शुद्धबुद्ध स्वरूप हूँ'

द्वितीय प्रत्यभिज्ञा—'निखिल जगत् मेरा ही अपना विस्तार है'

विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन् (वि०भै० १०२)
प्रसार्य भैरवं रूपं भावयन्तस्तन्मयो भवेत् (वि०भै० ८६)
तैमिरं भावयन् रूपं भैरवं रूपमेष्यति (वि०भै० ८५)

लीनं मूर्ध्नि वियत्सर्वं भैरवत्वेन भावयेत् ।
तत्सर्वं भैरवाकारं तेजस्तत्त्वं समाविशेत् ॥ ८३ ॥

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ॥ २६ ॥

'तदास्याऽकृत्रिमो धर्मो'—इसकी व्याख्या 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' के सूत्र 'तथापि तद्वत् पंचकृत्य करोति' (प्र० हृ० १०) के प्रकाश में ही संभव है । **क्षेमराज** कहते हैं कि शिव का अकृत्रिम धर्म भी वही है क्योंकि परमात्मा में भी वही धर्म स्वात्मस्वरूप के रूप में अवस्थित हैं जो जीवों में है—

'सृष्टिसंहारकर्तारं विलस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥'
'पंचविधकृत्यकारित्वं चिदात्मनोभगवतः ॥

'स्वच्छन्द तन्त्र' में भी कहा गया है कि चिदात्मा भगवान् में सदैव पंचविधकारिता स्थित है । यथा भगवान् अशुद्धाध्वा के विकास क्रम से स्वरूपविकासात्मक सृष्ट्यादि की रचना करतें हैं उसी प्रकार चित् शक्ति के संकुचित होने पर संसारभूमिका में पंचकृत्य करते हैं—

'यथा च भगवान् शुद्धेतराध्वस्फारक्रमेण ... तथा संकुचितचिच्छक्तित्वेन संसारभूमिकायां पंचकृत्यानि विधत्ते ॥

स्वस्वभाव की सर्वव्यापकता के साक्षात्कार के कारण योगी की संसरण से मुक्ति—

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ॥ ११ ॥

जो (साधक) 'स्वभाव' (स्पन्द स्वरूप आत्मा) को (जगत् के प्रत्येक कण में) सर्वव्याप्त देखता हुआ विस्मयाविष्ट की भाँति अवस्थित रहता है भला उसके लिए यह कुत्सित संसरण कहाँ हैं? ॥ ११ ॥

* **सरोजिनी** *

तुरीयावस्था या शाक्तभूमिका में अवस्थित योगी जब जगत् के कण-कण में सर्वत्र एक ही चिदात्मा की व्यापकता, अवस्थान एवं उनमें उसकी सर्वव्यापक अनु-स्यूतता का साक्षात्कार करने लगता है तब उसके कुत्सित आवागमन-चक्र का कोई भय नहीं रह जाता ।

कारिकाकार ने **'स्पन्द' 'आत्मा' 'चिति' 'शिव' 'विमर्श' 'स्वातन्त्र्य' 'शक्ति'** आदि शब्दों का प्रयोग न करके **'स्वभाव'** का प्रयोग क्यों किया? कारिकाकार यह

संदेश देना चाहते हैं सर्वानुस्यूतता, सर्वव्यापकता आदि पारमात्मिक वैभव मात्र परमात्मा में ही नहीं प्रत्युत् प्रत्येक आत्मा में है और वह वैभव (शक्ति या धर्म) उसका आगन्तुक, क्षणिक या कृत्रिम धर्म नहीं है प्रत्युत् वह उसका **'स्वभाव'** (आत्मधर्म) है ।

कुसृतिः—'कुत्सिता जन्ममरणादि प्रबन्धरूपा सृतिः प्रवृत्तिः ।'

स्मयमान = विस्मयाविष्ट । ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण में, वैचित्य एवं अनन्त, वैभिन्यों में एक ही अभेदात्मक सत्ता को देखकर एवं भेदात्मक विश्व में मात्र अद्वैत, अभेद को ही पारमार्थिक सत्य के रूप में साक्षात्कृत करके ऐसा योगी आश्चर्य से भर जाता है ।

'तमधिष्ठातृभावेन' = 'सर्वव्यापकत्वेन'—भट्टकल्लट ॥

जो साधक ध्यान एवं ध्यानाभाव में, अपनी स्पंद शक्ति के द्वारा, ऐकात्म्य या सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है उसके लिए यह जीवन एवं मृत्यु का संसार अस्तित्व में नहीं रहता । व्युत्थान के समय भी योगी, स्पंदतत्त्व से एकीभूत एवं अभिन्न अपने स्वभाव को दृढ़ता से देखता है । योगी अपने स्पन्दतत्वात्मक स्वभाव को व्युत्थान दशा में भी अधिष्ठातृभाव पूर्वक देखता है ।[१]

'न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकसिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपधृक् ॥' (वि०भै० २६)

कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया है—

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः,
स्वे स्वे यौगपद्येन विष्वक् ।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकास्तंभभूत-,
स्तिष्ठन्विश्वाकार एकोऽवभासि ॥'

'विज्ञानभैरव' एवं 'कक्ष्यास्तोत्र' द्वारा कथित इन श्लोकों से निर्दिष्ट इस संप्रदाय-संमत **निमीलन-उन्मीलन समाधि** द्वारा एक साथ व्यापक मध्य भूमि के अवष्टंभ से अध्य-सित, दोनों विसर्ग-अरणि से विगलित विकल्प उपक्रम से इन्द्रिय समूह स्फारित हैं ।[२]

अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।
इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

इस साधना का आश्रय लेकर (इसी भैरवी मुद्रा को साधकर), दर्पण में उन्म-ज्जित, निमज्जित, प्रादुर्भूत एवं तिरोहित होने वाले नाना प्रतिबिम्ब-कदम्बकों की भाँति चिदाकाश में भी प्रादुर्भूत एवं तिरोहित होने वाले जगत, जगत् के विभिन्न रूप एवं सुख-दुःख, नील-पीत की अयथार्थता का पारमार्थिक साक्षात्कार करते हुए योगी सहस्रों जन्मों को एक साथ देखकर एवं अपने स्वस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा करके विस्मयाविष्ट हो उठता है ।[३] ऐसी स्थिति में जन्ममरणकारिणी कुत्सिता प्रवृत्ति भला कैसे प्रादुर्भूत हो सकती है? उस पर तो विष का भी प्रभाव नहीं पड़ता—

१-३. स्पन्दनिर्णय ।

तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुंजानो विषयानपि ।
नैव संस्पृश्यते दोषैः पद्मपत्रभिवांभसा ॥
विषा पहारिमन्त्रादिसन्नद्धो भक्षयन्नपि ।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद्योगी महामतिः ॥ (भा०वि०)[१]

जो शुद्ध आत्म स्वभाव को अर्थात् अधिष्ठातृभाव से अपने को स्वयं प्रकाश चिद्रूप से सर्वव्यापक रूप से देखता है वह मुस्कराता हुआ, विस्मयाविष्ट सा, खिलते हुए फूल सा रहता है । अविद्या का विलय हो जाने के कारण उसके लिए यह क्षुब्ध संसार कहाँ है? यह योगी की एक उच्च भूमिका है । इसकी दृष्टि द्रष्टा रूप से सभी का अनुभव है ।

इष्टोपदेश नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—'वत्स! तुम्हारी दृष्टि से यह जो कुछ दृष्टिगत हो रहा है, उसका आग्रह छोड़ दो । जिससे देखते हो, उसको देखो । उसको देख लेने पर सब कुछ देख लोगे ॥'

यदिदं दृश्यते दृष्ट्या ग्रहं पुत्राऽत्र सन्त्यज ।
येन पश्यति तं पश्य यं दृष्ट्वा पश्यसेऽखिलम् ॥[२]

ऐसी स्थिति में विकल्प की कारीगरी के अधीन होकर कुमार्ग में चलना नहीं होता, सदा अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती हे । वही सत्यसंकल्प ईश्वर है । अभ्यास और भावना से समस्त दुःख मिट जाते हैं । रसायन आस्वादन के बिना केवल ज्ञानमात्र से भी सिद्धि देता है । कहा भी गया है—

'यो जगु पश्चि एषु किंनु वीक्षोमाइत्थ करो ।
विषयालविलुछि एसे पत्तापत्त रावीक्षोअपलइयद अस्त्युबुद्दि ॥'

'वैसे तो प्रभो! आपको चरवाहे, बच्चे और स्त्रियाँ भी जानती हैं किन्तु साधन या युक्ति के न होने से आप उन्हें मुक्त नहीं करते । गाय में स्थित दूध भूख प्यास नहीं मिटाता । पान करने पर ही वह दूध भूख-प्यास मिटाता है ।'

मुनि ने भी कहा है— 'यदि वाचनिकाज्ज्ञानान्मुक्तिः स्याद् भवनां विना ।
'शारीरमानसैर्दुखैर्मुच्येरन् सर्वजन्तवः ॥'
'रसायनं विनास्वादात् सूचितं ह्यपि सिद्धिदम्'[३]

भले ही रसायन का आस्वादन न किया जाय और मात्र उसके गुणों को सूचित ही किया जाय फिर भी सिद्धि प्रदान करता है ।

दूसरे स्थल पर भी कहा गया है कि—

आगोपबालवनितं भगवंस्त्वमित्थं,
ज्ञातोऽप्युपायविरहान्न तु मोक्षदोऽसि ।
नान्तः स्थितं भवति धनेषु तृड्विहर्तृ,
क्षीरं तदेव पुनरभ्यवहारतः स्यात् ॥[४]

१-४. उत्पलदेवाचार्यः 'स्पन्दप्रदीपिका' ।

तम् = स्वस्वभाव आत्मा को ।

अधिष्ठातृभावेन = समस्त शरीरों में समस्त अवस्थाओं में, सर्वदा, सर्वत्र मात्र अनुभविता के रूप में सभी में व्याप्त होकर, सभी में अवस्थित होकर, **'मैं ही एक (अद्वैत) एवं स्वतन्त्र परमेश्वर अधिष्ठाता हूँ'**—इस प्रकार के परामर्शस्वरूप अधिष्ठातृ भाव से ॥

अवलोकयन् = देखते हुए । पूर्वोक्त उपपत्ति की दृष्टि से, उपलब्धि की दृष्टि से देखते हुए ('प्रत्यभिजानन्' अपने को पहचानते हुए) ।

स्मयमान इव = अपने परप्रमाता आत्मतत्त्व की प्रत्यभिज्ञा होने पर और अपने मायिक प्रमातृत्व की मिथ्या समझते हुए आश्चर्यचकित होकर ॥

य आस्ते = जो अवस्थित है, जो स्थित है । अर्थात् जो निर्विप्लवा स्थिति का अनुभव करता है ।

तस्य = इस प्रकार के लक्षण वाले उस योगी का ।

इयं = यह इस प्रकार सुप्रख्यात, देहादिक में अहं प्रतीतिमूला ।

कुसृतिः = कुमार्ग । जन्म जरामरणादि के द्वन्द्वयोग से कुत्सिता या गर्हिता सृति (सरण) । अर्थात् अनेक योनियों में जन्ममरणादि चक्र का मार्ग—आवागमन मार्ग ॥[1]

प्रस्तुत कारिका का सारांश—(१) अपने आत्मस्वरूप 'स्वभाव' की जगत् के प्रत्येक कण में व्यापकता को देखकर योगी आश्चर्यचकित हो जाता है । (२) जगत् के कण-कण में अपना ही साक्षात्कार (स्वभाव का दर्शन) करने लगता है । (३) ऐसे योगियों के लिए आवागमन का कोई मूल्य नहीं होता और वे इस संसरण-चक्र से मुक्त हो जाते हैं ।

अभ्यासोपरान्त स्पन्दशक्ति की आन्तरिक अनुभूति

स्पन्द का सार्वभौम अधिष्ठातृत्वभाव—'तमधिष्ठातृत्वभावेन स्वभावमवलोकयन्'—सूत्रकार का कथन है कि जो कोई साधक स्वभाव (स्पन्दस्वरूप आत्म तत्त्व) की जगत् के प्रत्येक कण में विद्यमानता अनुभव करता है और इस आश्चर्यात्मक सर्वानुस्यूतता का साक्षात्कार करके विस्मय विमुग्ध हो जाता है तब वह साधक इस तिरस्कार-पूर्ण और विगर्हणीय आवागमन-चक्र से मुक्त हो जाता है ।

भट्ट कल्लट ने 'स्पन्दसर्वस्व' में कहा है—

(१) आत्मस्वभाव (सामान्य स्पन्द तत्त्व) विश्व के प्रत्येक पदार्थ में अन्तः स्थित और प्रत्येक प्रकार की शक्ति से युक्त है ।

(२) यदि कोई योगी उसी विभु 'स्वभाव' (सामान्य स्पन्द) को अधिष्ठाता के रूप में (एवं सर्व व्याप्त रूप में) अवस्थित देखता है तो वह आवागमन-चक्र (सृति) से मुक्त हो जाता है—

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति : रामकण्ठाचार्य ।

'तदेवम्, यतः सर्वानुस्यूतः सर्वसामर्थ्ययुक्तश्च आत्मस्वभावः यस्मात् तम् अधिष्ठातृभावेन सर्वव्यापकत्वेन स्वभावं पश्यन् विस्मयाविष्ट इव यस्तिष्ठति, तस्य कुत्सिता सृतिः सरणं न भवति ॥'

अधिष्ठातृभाव एवं स्वभावावलोकन—नित्योदित समाधि—अन्तर्मुख एवं बहिर्मुख दोनों विरोधी भाव जिस अवस्था में समरस हो जाते हैं—जहाँ समाधि एवं व्युत्थान दोनों में अभेद का अनुभव होता है—उसी नित्योदित समाधि की अवस्था को नित्योदित समाधि कहते हैं ।

शैव साधक 'स्वभाव' का साक्षात्कार करके इसी स्मयमानावस्था में पहुँचता है । तुरीयावस्था या 'शाक्त भूमिका' में प्रविष्ट योगी समस्त सांसारिक व्यवहारों का निष्पादन करते हुए भी जगत् के निःसार से निःसार वस्तुओं को भी स्वस्वभावात्मक स्पन्दतत्त्व से युक्त देखकर, शरीरादिक तुच्छ पदार्थों में आत्माभिमान का त्याग करके, विश्वात्मभाव की भूमिका पर आरुढ़ होकर, (भैरव भूमिका प्राप्त करके) चतुर्दिक स्वातन्त्र्य शक्ति के प्रसार का अनुभव करते हुए, प्रत्येक अवस्था एवं प्रत्येक स्थल में अपने चित् तत्त्व की अधिष्ठातृता का अनुभव करते हुए, सूर्य के ऊपर क्षणिक रूप में दृश्यमान (प्रकाशाच्छादक) घनों के रूप में चिद्रूप आत्मतत्त्व पर माया के क्षणिक घनों के आवरण को देखता हुआ, तुरीय भूमिका पर स्थायी अवस्थान द्वारा तुरीयावस्था प्राप्त करके शिवभाव प्राप्त कर लेता है ।

उच्च भूमिका में प्रविष्ट योगी यह अनुभव करता है कि उसके चारों ओर उसकी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' ही प्रसृत है और वह तुरीयावस्था स्वरूप स्वच्छन्द भूमिका मेंप्रवेश कर रहा है— 'योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स्वस्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥'[१]

ऐसे योगी को ऐसा अनुभव होता है कि जैसे जलाशय में उत्थित तरंगें, अग्नि से ऊर्ध्वोत्थित लपटें एवं सौरमण्डल से निःसृत प्रकाश पुञ्ज क्रमशः जलाशय, अग्नि एवं सौरमण्डल से अभिन्न ही है उसी प्रकार विश्व की निःशेष भंगियाँ 'स्वस्वरूप' के बहिर्मुखी विकास से अभिन्न हैं—जलस्येवोर्मयो वह्नेर्ज्वालभंग्यो यथा खेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विनिर्गताः ॥[२]

शाक्तभूमिका का साक्षात्कार योगी को तुरीयावस्था एवं उसके अनन्तर तुरीयातीतावस्था में पहुँचा देता है ।

'स्मयमान इवास्ते'—विस्मय-संभरित होकर, अर्थात् आश्चर्याविष्ट होकर अवस्थित रहता है ।

'स्मय' या 'विस्मय' क्या है? 'विस्मय' शैव दर्शन में योग की एक उच्चावस्था है—**'विस्मयो** योगभूमिकाः' (शि०सू० १.१२)[३]

---

१. स्वच्छन्दतन्त्र (७-२५७-८) । २. विज्ञानभैरव (११०) ।
३. शिवसूत्र (१.१२) ।

'शिवसूत्रवार्तिक' (वरदराज) में कहा गया है—

> यथा सातिशयानन्दे कस्यचिद्विस्मयो भवेत् ॥ ६३ ॥
> तथास्य योगिनो नित्यं तत्तद्वेद्यावलोकने ।
> निःसामान्यपरानन्दानुभूतिस्तिमितेन्द्रिये ॥ ६४ ॥
> परे स्वात्मन्यतृप्त्यैव यदाश्चर्यं स विस्मयः ।
> स एव खलु योगस्य परतत्त्वैक्यरूपिणः ॥ ६५ ॥
> भूमिकास्तत्क्रमारोह परविश्रान्तिसूचिकाः ॥[१]

श्री कुलयुक्ति में कहा गया है—

विस्मय क्या है?—

> 'आत्मा चैवात्मना ज्ञातो यदा भवति साधकैः ।
> तदा विस्मयमात्मा वै आत्मन्येव प्रश्यति ॥'[२]

शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है कि—

'यथा सातिशयवस्तुदर्शने कस्यचित् विस्मयो भवति तथा अस्य महा योगिनो नित्यं तत्तद्वेद्यावभासामर्शाभोगेषु निःसामान्यातिशय नव नव चमत्कार चिद्घन स्वात्मा वेशवशात् स्मेर स्मेर स्तिमित विकसित समस्त करणचक्रस्य यो विस्मयोऽनवच्छिन्नान्दे स्वात्मनि अपरितृप्तत्वेन मुहुर्मुहुराश्चर्यायमाणता, सा एव योगस्य परतत्त्वैक्यस्य संबंन्धिन्यो भूमिका ॥'[३]

शैव दर्शन में 'विस्मय' एक पारिभाषिक शब्द है अतः अपना विशिष्ट अर्थ रखता है । यह साधना की अनिर्वाच्य एवं स्वसंवेद्य आश्चर्यकारी भूमिका है । यह अणिमादिक योग भूमियों से (जो कि परसंवेद्य हैं) उच्चतर है और आत्मानुभव की विस्मयोत्पादिका भूमिका है ।

योगी शाक्त भूमिका की अनुभूतियों के अनन्तर उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर भूमिकाओं पर आरुढ़ होने के लिए जिस निरतिशय कौतूहल से अविष्ट होकर परिणामतः विचित्र अन्योन्यानुभूतियों के स्तर पर पहुँचता है वह यौगिक स्तर आश्चर्यों से भरा हुआ है । यह स्वानुभवगम्य, अन्तर्मुखी, विस्मयकारी योग भूमिका योग की तुरीय भूमिका है ।

आचार्य वरदराज कहते हैं कि—जब व्यक्ति सांसारिक जीवन में किसी सातिशय वस्तु को देखता है तो उसके मन में एक स्तंभकारिणी, साश्चर्य मनोवृत्ति का आविर्भाव होता है । वह उन प्रत्यक्षीकृत विशिष्ट वस्तुओं के विशिष्ट आकार-प्रकार को विस्मयपूर्वक देखता हुआ उनका स्वानुभव तो करता है किन्तु उसके आश्चर्यकारी सौन्दर्य की अभिव्यक्ति न कर पाने पर भी वह उसके अकथ्य सौन्दर्यातिशय की अनुभूति में विलीन हो जाता है—यही अवस्था 'विस्मय' है ।[४] आध्यात्मिक धरातल पर जब कोई आत्मनिष्ठ योगी वेद्य पञ्चक (पंच महाविषय) को सामान्यस्पन्दान्विता अहन्ता में लीन करके

---

१. शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज) ।
२. कुलयुक्ति ।
३. शिवसूत्रविमर्शिनी (क्षेमराज) ।
४. शिवसूत्रवार्तिक (वरदराज) ।

अनिर्वचनीय चैतन्य रस के अनिर्वाच्य आनन्दातिशय के साक्षात्कार से मण्डित स्वरूप-समावेश का अनुभव करता है और उसके द्वारा आनन्द के विस्मय सागर में डूब जाता है। स्वरूपसमावेश की यह आश्चर्यकारी स्पन्दरूपता ही विकल्प शून्य तुर्यातीतावस्था रूप **'विस्मय भूमिका'** है। भेदशून्य विश्वात्मभाव, अपने को सर्वत्र चिन्मात्ररूप में प्रतिष्ठित के रूप में अनुभव या पराहंता की अनुभूति ही इस **'विस्मय'** का अपर पक्ष है।

क्रममुद्रा—तुर्यावस्थाजन्य निरतिशय आनन्दानुभव को प्राप्त करने हेतु योगी की बार-बार अन्तर्मुखोन्मुखता ही 'क्रममुद्रा' है। 'क्रममुद्रा' के अन्य पर्याय हैं—'शांभव समावेश' 'स्वरूप समावेश' 'भैरव मुद्रा' एवं 'नित्योदित समाधि' है। 'क्रम मुद्रा' में दो शब्द है—(१) 'क्रम', (२) 'मुद्रा'। 'क्रम'—सृष्टि, स्थिति, संहार का क्रम ॥ 'मुद्रा' = मुद्रित करना = स्वरूप में विश्रान्ति 'क्रममुद्रा' = तुरीयावस्था। प्रत्येक क्रम को कवलित करके स्वरूप में विश्रान्ति, । 'नित्योदित समाधि' ॥ वाह्यावभासो को तुरीय सत्ता में मुद्रित करना।

'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में कहा गया है कि—नित्योदित—बाह्याभ्यन्तरसमावेश—(१) 'मुद' अर्थात् हर्ष के वितरण करने से परमानन्दस्वरूप होने। (२) पाशों को नष्ट करने का। (३) विश्व को अन्तः—तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्ट्यादि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने से 'क्रम' कहा जाता है 'विश्वस्य अन्तः तुरीयसत्तायां मुद्रणात् च मुद्रात्मा, क्रमः अपि सृष्ट्यादिक्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च 'क्रम' इति अभिधीयते इति ॥'[१]

यह अवस्था (क्रममुद्रा, शांभव समावेश) अन्तर्मुखावस्था के अतिरिक्त बहिर्मुखावस्था में भी चिद्रूपात्मक रहती है—

'तत्रादौ बाह्याद् अन्तः प्रवेशः, अभ्यन्तराद् बाह्यस्वरूपे प्रवेश आवेशवशाद् जायत इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः ॥'[२]

'क्रममुद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः ॥'[३]

'क्रममुद्रा' समाधि की स्थिति है। इसमें योगी स्वरूप समावेश की शक्ति द्वारा बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता में और अन्तर्मुखता से बहिर्मुखता में त्वरित प्रवेश करता है। 'सबाह्याभ्यन्तरसमावेश' का नामान्तर ही 'क्रममुद्रा' है।

इस अवस्था में अवस्थित योगी सांसारिक कार्य कलापों का निष्पादन करता हुआ भी समाधिकालगत संस्कारों के द्वारा प्रत्येक वेद्य वस्तुओं में चिन्मात्रता के दर्शन करता हुआ स्वस्वरूप में अवस्थित रहता है—

आसादित समावेशो योगिवरो व्युत्थानेऽपि समाधिरससंस्कारेण क्षीब इव सानन्दं घूर्णमानो। भावराशि शरदभ्रलवम् इव चिद्गगन एवं लीयमानं पश्यन्। भूयो भूयः अन्तर्मुखताम् एवं समवल्म्बमानो, **निमीलतसमाधि**क्रमे रम चिदैक्यमेव विमृशन्, व्युत्थानाभिमतावसरे अपि समाध्येकरस एव भवति—'

---

१. क्षेमराज प्रत्यभिज्ञाहृदयम्। २-३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

'क्रमसूत्र' में कहा गया है—'क्रममुद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः । तत्रादौ बाह्यान् अन्तः प्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेश-वशात् जायते, इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः ॥'[१]

'स्मयमान' इसी योग-भूमिका को संकेतित करता है । **समाधि क्रम**—(१) **'निमीलन समाधि'** = इसमें शाक्तभूमिक योगी इदन्ता रूप भाववर्ग को सामान्य स्पन्द में विश्रान्त करके पराचित् भूमिका में प्रवेश करता है ।

(२) इसके अनन्तर वह योगी **'उन्मीलन समाधि'** के माध्यम से अहन्ता में विश्रान्त भाववर्ग को बहिर्मुखी वमन करता हुआ इदन्ता के क्षेत्र में प्रवेश करता है ।

अभावब्रह्मवाद शून्यात्मवाद तथा सर्वशून्यवाद की अयथार्थता—

नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढ़ता ।
मतोऽभियोगसंस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः ॥ १२ ॥
अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा ।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्वं प्रतिपद्यते ॥ १३ ॥

अभाव (कभी भी) भावनीय नहीं बन सकता और वहाँ (अभाव समाधि में) जड़ता का अभाव भी नहीं है । क्योंकि (अभाव समाधि से उठने पर व्युत्थानावस्था में) भाषण से संस्पृष्ट होने पर—'वह मेरी शून्य अवस्था थी'—ऐसा निश्चय (निर्णयात्मक विमर्श) हो जाया करता है ॥ १२ ॥

इसलिए उस (अभावात्मक जड़ समाधि) को सदैव (पशु समूह की) सुषुप्ति के समान अस्वाभाविक ही समझना चाहिए । वह तत्त्व (स्पन्द तत्त्व आत्मचैतन्य) इस प्रकार (जड़ समाधि की भाँति) स्मर्यमाणता का विषय नहीं बनता ॥ १३ ॥

* **सरोजिनी** *

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—यदि अभाव-भावना (मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ की अनवरत भावना) का अभ्यास करने से योगी को किसी भाव सदृश भूमिका का साक्षात्कार हो भी जाय तथापि वह अवस्था अनित्य होती हे । उसकी अनुभूति सामान्य जीवों की मूढ़ात्मक सुषुप्ति की अनुभूति के समतुल्य है । कारण यह कि आत्मा का सत्स्वरूप चिद्रूप है और उसकी विद्यमानता अखण्ड, नित्य एवं त्रिकालबाधित होती है । शास्ता के उपदेश पर दृढ़ रहकर उसी आत्म तत्त्व का निरन्तर अनुशीलन करते रहना चाहिए ।

अब ग्रन्थकार वेदान्तियों, नैयायिकों, माध्यमिकों, के उस दृष्टि का खण्डन करता है जो ये मानते हैं कि 'क्षोभ' का नाश होने पर केवल शून्य (Naught) मात्र अवशिष्ट रहता है । वे स्पंदतत्त्व की असाधारणता का भी विशद विवेचन करते हैं । 'प्रातिपक्ष्येण लोकोत्तरतां ... स्पंदतत्त्वस्य निरूपयति ॥'

---

१. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

अभाव (Non-existence) की सत्ता की कल्पना ही नहीं की जा सकती यहाँ तक कि मूढ़ता (जड़ता) का भी वहाँ अस्तित्व नहीं है क्योंकि अभियोग के कारण 'वह था' का निश्चय होता है । अत: वह अकृत्रिम (सहज) है । ज्ञान एक गंभीर सुषुप्ति के समान है । वह सत्य स्मर्यमाण होने की दशा कभी प्राप्त नहीं कर पाता ॥[१]

'असदेवमदमग्र आसीत्' (छा० ३।१९।१) भी कहा गया है किन्तु यहाँ उसका अर्थ दूसरा है । वेदान्तियों ने जिस अभाव (Non-existence) की बात का उल्लेख किया है उसकी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि—'असदेवदमग्र आसीत्' (सृष्टि के प्रारंभ में सब कुछ असत् था) सत् की धारणा तो विद्यमान वस्तुओं के कारण है और अभाव तो यथार्थत: कुछ है ही नहीं । यदि सत्ता की धारण का इसके साथ संबन्ध स्थापित किया जाय तो इसकी भी कुछ सत्ता दृष्टिगत होती है और तब यह अभाव स्वयं ही नष्ट हो जाएगा । इसके अतिरिक्त यह भी कि उस सार्वभौम विध्वंस की कल्पना ही कैसे की जा सकती है जहाँ कि स्वयं यह धारणा रखने वाला या विचार करने वाला ही लुप्त हो जाता है? यदि आप विचारक के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तब तो सार्वभौम महाध्वंस ही असंभाव्य है क्योंकि उस स्थिति में तो विचारक की सत्ता बनी रहेगी—वह विश्व में स्थित ही माना जाएगा । अत: सार्वभौम महाध्वंस सत् का निर्माण नहीं कर सकता ॥

आक्षेपक का आक्षेप और उसके तर्क—यह विचारक कृत्रिम है और वह अभाव से अभिन्न है । वह अपनी कल्पना के द्वारा विश्व के ध्वंस (विनाश) की धारणा व्यक्त करता है और इस धारणा की परिपक्वता के समय वह अभाव के साथ नहीं भाव के साथ अभिन्न हो जाता है । विश्व के रूप में नहीं प्रत्युत शून्य के रूप में अवस्थित ज्ञाता इसलिए अस्तित्व में है क्योंकि वह ऐसा आत्मानुभव से अनुभव करता है और अपने को ज्ञाता समझता है और संकुचित (सीमित) व्यक्ति के रूप में याद किया जाता है । अत: यहाँ असंगतता नहीं है ।[२]

अत: शून्यता (Vacuum) की दशा कृत्रिम है और यह अस्तित्व में इस रूप में है कि यह कभी अस्तित्व में नहीं था । परमात्मा 'शून्य' के विषय में उपदेश तो देता है जिससे कि वह वास्तविक ज्ञान को अनधिकारियों से मुक्त रख सके । ज्ञेय गंभीर सुषुप्ति के समान हैं ।

जड़ता के रूप में विद्यमान स्वप्नहीन सुषुप्ति को सभी समझ सकते हैं । अत: ध्यान करके अन्य 'शून्य' को प्राप्त करने की आवश्यकता ही क्या है? क्योंकि अयथार्थता (सत्यहीनता) की दृष्टि से तो दोनों समतुल्य या अभिन्न हैं ।[३]

बहुत से दार्शनिक यथा वेदान्ती, नैयायिक, सांख्य एवं सौगत आदि जड़ता के समुद्र में अध:पतित हो चुके हैं । मोह, अज्ञान या जड़त्व अभिन्न है । यही शून्य भी है । स्पंद तत्त्व में प्रवेशार्थियों के लिये शून्य एक व्यवधान है । ग्रन्थकार ने शून्यवाद का पूर्ण उन्मूलन करने का प्रयास किया है । वेदान्तियों एवं सौगतों का खण्डन इस लिए किया गया है क्योंकि इन दोनों की दृष्टि समान है ।[४]

१-४. क्षेमराज—स्पन्दनिर्णय ।

स्पंद तत्त्व के नाम की सत्यता एवं सार्थकता **'शून्य' की भाँति स्मर्यमाण नहीं है** क्योंकि उसे 'अज्ञेय' नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह ज्ञाता से अभिन्न है । इसीलिए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि 'किस साधन से ज्ञाता को जाना जाय?' यद्यपि योगी व्युत्थानावस्था में 'समाधि' का स्मरण रखता है किन्तु यही **'स्पंद तत्त्व'** नहीं है । यह वैसा नहीं है क्योंकि वह परम ज्ञाता (Omniscient) नित्य (Ever-present) असीम तथा पूर्ण प्रकाश एवं पूर्णानन्द है । 'न सावस्था न य: शिव:' (विचारों की दिशा में शब्द एवं अर्थ की ऐसी कोई दशा (अवस्था) है ही नहीं जो शिव न हो) अत: 'स्पंद तत्त्व' अनन्तानन्दस्वरूप होने के कारण स्मरण का विषय नहीं बन सकता और न तो जड़ (Insentient) ही कहा जा सकता है । उसे 'तत्' (That) कहना भी संगत नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने से यह बोध होता है कि वह ज्ञान का विषय बन चुका है और स्मर्यमाण है । शब्द सत्य स्मर्यमाण एवं ज्ञेय नहीं है ।[१]

आचार्य उत्पलदेव 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहते हैं—अभाव शशश्रृंग के समान होता है। अत: अवस्तु होने के कारण वह कभी अनुभव का विषय नहीं बन सकता । अभाव एक मूढ़ावस्था है अत: चेतन नहीं है । अभियोग (अभिलाषा) के संस्पर्श से अभाव की भावना प्रादुर्भूत होती है । वह मेरी शून्यावस्था थी—ऐसा स्मरण होता है । कहा भी गया है कि—जिस भाव के द्वारा अभाव बाधित होता है; वह 'है' या 'नहीं' । उसके अभाव के बाधक भाव का सद्भाव कौन काट सकता है? अत: वह है और चिन्मय है । उसी से सभी का अनुभव होता है, अभाव का भी'—

'अभावो येन भावेन बाध्यतेऽस्ति न नास्ति स: ।
तस्य भावस्य सद्भावो वद केन निवार्यते ।
सोऽस्त्यतश्चिन्मयो भावो येन सर्वं विभाव्यते ॥'

यही कारण है कि अभाव की भावना कृत्रिम और अनित्य ही होती है । वह सुषुप्तावस्था के समान है । यदि ऐसा न होता तो बाद में मूढ़ावस्था के समान उसका स्मरण न होता । उस अवस्था के कारण ही सदा प्रकाशमान आत्मा स्मृति का विषय बन जाती है । आत्मा देखकर ही तो स्मरण करती है । अत: वह चिद्रूप एवं नित्योदित है । यही कारण है—'कि गुरु से उपदेश प्राप्त करके आदरपूर्वक उसका सम्मान करना चाहिए। अभी तक ऐसा लगता है मानों दो अवस्थायें हों—१) स्मर्ता २) स्मर्तव्य। इनमें कौन नित्य है और कौन अनित्य?—इसका विचार अगली कारिका में किया गया है।

'अवस्थाद्वयमात्राऽस्ति स्मर्तृस्मर्तव्यभेदत: ।
यत्तस्य नित्यनित्यत्वविचारायेदमुच्यते ॥'[२]

नाभावो = न + अभावो । अभावो = वस्तुशून्यता ।

भाव्यतां = भवनीयत्वं । 'समाधावालम्बनभावं ।' समाधि में स्थित आत्मालम्बन ।

नैति = नहीं जाता है । (क्योंकि अभाव एवं भाव की भावना में परस्पर विरोध है)

---

१. स्पन्दनिर्णय । २. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

भाव = संविद्विषयतायोग्यपदार्थ । यह ध्येय के रूप में आलम्बन का विषय बन सकता है । एक स्थान पर कहा गया है—

'अभावं भावयेत्तावद्यावत्तन्मयतां व्रजेत् ॥'

ध्यान, ध्यातृ एवं ध्येय रूप विकल्पों के उच्छेदस्वरूप जो समाधि की अवस्था है उसे ही आत्मतत्त्व का विस्मरण करने वाले (अज्ञ) लोग **'अभाव'** मानते हैं ।

तत्र = वहाँ । उस अवस्था विशेष में ।

अमूढ़ता = मूढ़ता का अभाव ॥

'यतोऽभियोगसंस्पर्शात्' = व्युत्थानावस्था में उसी प्रकार की दशा अन्तरानुसंधान का विषय के रूप में गृहीत अभियोग के द्वारा तत्समय प्रत्युदित अभिलाप से होने वाले संस्पर्श या संपर्क से ।

तदासीत्—तद् + आसीत् । 'तद्' = दशान्तर । वह दशान्तर । 'आसीत्' = था । (अभूत) ॥

इति निश्चयः = अध्यवसाय । (अध्यवसायः स्यात्) ॥

अभाव समाधिलब्धप्रतिष्ठ योगी व्युत्थानावस्था में अवस्थित होने पर यदि उस अवस्था का अनुसंधान न कर पाये तब भला हम उसे लब्ध प्रतिष्ठ कैसे कह सकते हैं ? और वह भी अपने को उस प्रकार का कैसे समझ सकता है ? उसके ऐसा न होने पर समाधि और व्युत्थान इन दोनों में कोई व्यतिरेक (पृथक्ता) रह ही नहीं जाएगी । अर्थात् उसकी व्युत्थानावस्था एवं समाधि दोनों में कोई अन्तर रह ही नहीं जाएगा । भाव यह है कि उसे समाधि का अनुभव हो ही नहीं पायेगा । हाँ, उस अभाव की अवस्था की प्राप्ति के कारण इतना स्मरण अवश्य बना रहेगा कि मैंने उसका अनुभव अवश्य किया था ।[१]

बारहवीं कारिका के भाव को स्फुटीकृत करने के लिए ग्रन्थकार ने तेरहवीं कारिका कही ।

अतः = इसलिए । 'वह अनुभव मुझे कभी भूतकाल में हुआ था'—ऐसा अभियुज्यमान होने के कारण ।

तत् = वह । **'अभावसमाधि'** नामक वस्तु ।

कृत्रिमं ज्ञेयं—बनावटी समझना चाहिए अर्थात् भावाभावदशा के योग के कारण उसे काल्पनिक एवं अनित्य समझना चाहिए ।

सदा—सदैव । अर्थात् ऐसी कोई कालकला संभव नहीं हो पाती जिसमें कि उस प्रकार की **समाधि की अवस्था** नित्य रूप में स्थित रह सकें ।

इसे किस प्रकार की कृत्रिमता समझा जाय? इसे सुषुप्तावस्था के समान अर्थात् सुखपूर्ण निद्रा ('सुखस्वापावस्था') के समान वाले पद (संविदधिकरण) के तुल्य समझना चाहिए ॥

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

ऐसा क्यों कहा जाय? जिस प्रकार लौकिकी सुषुप्तावस्था अत्यधिक मोहात्मक होने के कारण सत् होते हुए भी उसमें वेद्य एवं वेदक की भिन्नता नहीं रहती। वेद्य एवं वेदक की भिन्नता को तत्काल ग्रहण न कर, परन्तु उसके अभावरूपात्मक होने के कारण जागने पर उसे खोजने पर यही प्रतीत होता है कि उसकी अनुभूति केवल भूतकाल में हुई थी किन्तु अब वर्तमान में उसकी सत्ता नहीं है—अत: वह अनित्य है-इसी प्रकार अभाव समाधि की अवस्था भी व्युत्थान के समय अनित्य ही है। कारण यह है कि स्वप्न एवं अभाव समाधि दोनों में ही अनुभव की सत्ता वर्तमान में नहीं रहती केवल उनकी स्मृतियाँ मात्र शेष रहती है अत: दोनों के लक्षणों में समानता है। अत: ये सभी इस प्रकार की समाधियों के प्रकार सुषुप्तावस्था में ही अन्तर्भूत हैं उनसे पृथक् नहीं हैं।—इसी तथ्य को ग्रन्थकार ने—'अतस्तत्कृतं ..... सदा' कारिका में प्रतिपादित किया है।

न तु—न तो। (पुन:)

तत् तत्त्वम् = वह तत्त्व। इस प्रकरण में उपादेयतम रूप में पूर्वोपदिष्ट स्वस्वभावलक्षण सद्वस्तु॥

एवम्—इस प्रकार। उपर्युक्त प्रकार से।

'स्मर्यमाणत्वं प्रतिपद्यते' = अतीत के स्मरण मात्र का विषय बन कर नहीं रह जाती। संस्मरण का विषय नहीं बनती प्रत्युत् वह वर्तमान में भी सद्वस्तु के रूप में विद्यमान रहती है क्योंकि समाधि और उसके अनुभव तथा परतत्त्व नित्योदित तथा सदा वर्तमान रहा करते हैं। कहा भी गया है—

'अतोऽभावभावनया समाधिलब्धभूमिकस्यापि'[१]

अभाव की धारणा कल्पित करने पर अभाव रहता ही नहीं। जड़ता (मूढ़ता) भी विद्यमान नहीं है प्रत्युत इसके विपरीत चेतना विद्यमान है। इस तर्क के द्वारा समस्त भाव (Existence) केवल विचार या धारणा की परिपक्वता की स्थिति में कल्पना की सृष्टि के रूप में प्रस्तुत होता है।

जीवन का परम लक्ष्य शून्य की धारणा या विश्व के अभाव (शून्य) की कल्पना से तो कभी अधिगत नहीं किया जा सकता।

पूर्व पक्ष का तर्क—प्रतिवादी तर्क करता है कि विश्व का ध्वंस या शून्य नागार्जुन के द्वारा कल्पित शून्य (Vacuum) से अभिन्न है जिन्होंने कहा था कि शून्यता (Vacuity) वह तत्त्व है जिसमें गुणों का अभाव है, समस्त श्रेणियों का अभाव है, सभी सुखों एवं दु:खों का अभाव है—समस्त इच्छाओं का अभाव है किन्तु जो वस्तुत: अभाव या शून्य नहीं है—

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषत:।
सर्वक्लेशाशयै: शून्यं न शून्यं परमार्थत:॥'

उत्तर पक्ष का तर्क—ग्रन्थकार का कथन है कि—हाँ यह तो ऐसा ही है किन्तु

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति'।

यदि शुद्ध बुद्धि एवं आनन्द के स्वतन्त्र एवं परम स्वभाव को मूलाधार (Subtratum) मान लिया जाय तो। 'विज्ञानभैरव' भी इस सत्य को स्वीकार करता है कि परमात्मा देश और काल की सीमा से ऊपर है और वह शून्यवत् है जिसमें कि चेतना की दशा परमाधार रूप में स्थित है। यदि इस दृष्टि से शून्य पर विचार किया जाय तो यह मान्य है अन्यथा 'न शून्यं परमार्थतः' का कोई अर्थ ही नहीं है।

'आलोकमाला' नामक ग्रन्थ में इन सब पर प्रकाश डाला जा चुका है जिसमें कहा गया है कि 'वह परिभाषा से परे (अनिर्वचनीय) दशा ही शून्यता है जो कि विद्वज्जनों के लिए भी अगम्य एवं अज्ञेय है। इसका वह सामान्य अर्थ जो कि नास्तिक प्रस्तुत करते हैं—वस्तुतः वह सत्य नहीं है।'

प्रतिवादी का यह कथन सत्य है कि परम सत्य अवर्णनीय है—अज्ञेय है—अतः अभिव्यक्ति से परे है—किन्तु उसे 'शून्य' या 'अभाव' (Naught, vacuum, non-existence) कैसे कहा जा सकता है? यहाँ तक कि शून्य या अभाव को भी कल्पना के द्वारा समझा जा सकता है—वह भी ज्ञेय है। यदि प्रतिवादी पक्ष इस परम सत्ता को नहीं समझ पाते तो उसे चाहिए कि वह इसके साक्षात्कार कर्ता या अनुभावक परमर्षियों से शिक्षा ग्रहण करें। किन्तु यह उचित नहीं है कि वे स्वयं अपने को एवं अपने अनुयायियों को निरालम्ब पाताल या खोह में फेंक दें। उन्हें यह कैसे ज्ञात हुआ कि जड़ता है?—

इसी के उत्तर में कहा गया है कि-'यतोऽभियोगसंस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः ॥'

यह 'अभियोग' या घोषणा (Declaration) कि 'मैं था'—यह भी सूचित करता है कि—'वह है'—'मैं पूर्णतः जड़ था।' जड़ता की यह अवस्था कृत्रिम है क्योंकि वह स्मर्यमाण है। वह अवस्था अनुभव में आने पर सत्ता (भाव) को सूचित करती है न कि शून्य या अभाव को। वह वर्तमान में विद्यमान उस विचारक के अस्तित्व को प्रमाणित करती है न कि उसके अभाव को। चेतना का स्वरूप प्रलय के समय भी पूर्ण रहता है अतः सत्य तो यह है कि अभाव की सता है ही नहीं।

पूर्वपक्ष—नील, पीत आदि का स्मरण तो तब रहता है जब कि ये पहले कभी देखे जा चुके हों और पूर्वकाल में सुनिर्णीत हों। लेकिन जो शून्य में लय हो चुका हो और जिसकी निर्णयात्मिका शक्ति भी लय के कारण समाप्त हो चुकी हो उसके लिए तो निर्णय करना ही असंभव है। फिर यह कैसे कहा गया कि परवर्ती निर्णय के समक्ष जड़ता का अस्तित्व है अर्थात्—'वह था'।

उत्तर पक्ष—यह ज्ञेय का धर्म या गुण है कि उसे विचारक के द्वारा तब तक याद नहीं किया जा सकता जब तक कि आत्मा में उसका संस्कार नहीं पड़ जाता। ज्ञेय 'यह' के रूप में कभी सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। अपने शून्य की काल्पनिक दशा में सीमित ज्ञाता परम ज्ञातृत्व बन कर ही रहता है। वह अपने से पृथक् नहीं रह सकता अतः निर्णय तो उसी का है—यह सिद्ध हुआ।

अभाववाद, सर्वशून्यवाद का खण्डन—माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवादी बौद्ध एवं अभावब्रह्मवादी दार्शनिक कहते हैं कि सर्वोच्च सत्य 'शून्य' एवं 'अभाव' है। स्पन्द तत्त्व पूर्ण ज्ञान मय एवं पूर्णकर्तृत्वशाली है। अभाववादी कहते हैं कि शरीर, मन, बुद्धि चित्त, अहङ्कार, इन्द्रियाँ एवं उनके विषय आदि सभी अनात्म पदार्थों का निषेध करते करते केवल सर्वत्र अभाव ही अभाव दृष्टिगोचर होता है और आत्मा इसी अभाव में लय हो जाती है।

वृत्तिकार भट्टकल्लट स्पन्दसर्वस्व में कहते हैं—(१) यह कथन संगत नहीं है कि—'तब तक अभाव की कल्पना एवं उसका अभ्यास करना चाहिए जब तक कि आत्मा अभाव में लीन न हो जाय ॥'—तर्क यह है कि 'अभाव' भावना का विषय बन ही नहीं सकता। अभाव एक अस्तित्त्व-शून्यता या जड़ता की अवस्था है अतः उसको भावना का विषय नहीं बनाया जा सकता।

(२) अभाव-भावना मूढ़ता की अवस्था है क्योंकि समाधि काल के पश्चात् जब ऐसे योगी को अभियोग (भाषण के साथ संबन्ध) हो जाता है तब वह उस समाधि की अवस्था को—'वह मेरी शून्यावस्था थी'—इस प्रकार स्मृति के रूप में अनुभव करता है।

(३) आत्मा का स्वभाव इसके विपरीत है। सतत उदित होने के कारण आत्मा की चित् स्वरूपता का इस प्रकार अनुभव नहीं किया जाता जिस प्रकार मूढ़ता का।

(४) चित्तत्व तो शाश्वत रूप में उदित रहने वाली सत्ता है। उसका अनुभव सार्वकालिक एवं अनुभविता के रूप में—स्वतन्त्र चैतन्य प्रमाता के रूप में—होता है।

(५) अभाववादी प्राचीन वेदान्तियों की एक शाखा है। छान्दोग्योपनिषद (३.१९.१) में कहा गया है—**'असदेवेदमग्र आस्रीत्'** अर्थात् सृष्टि के आरंभ में कुछ भी नहीं था मात्र था तो केवल **'असत्'**। यह असत् ही सृष्टि का प्रथम तत्त्व था।

यह सिद्धान्त मानता है कि—'असतः सज्जायत्'।

अभाव ब्रह्मवाद—अर्थात् असत् रूप कारण से भाव रूप (सद्रूप) कार्य की उत्पत्ति हुई। इस भावरूप में दृष्टिगत जगत् की सृष्टि के पूर्व किसी भी पदार्थ की सत्ता भाव रूप में नहीं थी। अतः चतुर्दिक अभाव का ही साम्राज्य था। इस अभाव से ही भावरूप जगत् की संरचना हुई।

श्रुति (छा. ३.१९.१) भी कहती है—सृष्टि से पूर्व असत् मात्र था अर्थात् सृष्टि में मात्र अभाव ही अभाव था। प्रलय की दशा में भी सभी विश्व अभाव—असत् में लीन हो जाएगा। अतः ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप भी अभाव ही है। अभाव का निरन्तराभ्यास एवं संतत ध्यान करने से समस्त सांसारिक द्वैत का मूलोच्छेद हो जाता है। वेदक एवं दोनों सत्ताएँ भी अन्ततः प्रलय काल में अभाव में लय हो जाएगी। इस दृष्टि के अनुसार अभाव में लय हो जाना ही जीवात्मा की मुक्ति है। 'अभाव समाधि' ही सिद्धि प्राप्त होने पर अभावरूप परब्रह्म में आत्मा का लय ही उसका मोक्ष है।

शून्यवाद—माध्यमिक सम्प्रदाय के शून्यवादी आचार्यों की मान्यता यह है कि

'शून्य' ही परमतत्त्व है । नागार्जुन प्रभृति दार्शनिकों ने 'सर्वशून्यवाद' की स्थापना की ओर समस्त सत्ताओं का निषेध किया गया । **अभिनवगुप्तपादाचार्य** ने अपने 'तन्त्रालोक' नामक ग्रन्थ में इसे 'सर्वापह्नवहेवाक धर्मा' कहा । ये दार्शनिक सत्ता के प्रत्येक प्रमाता, प्रमेय, प्रज्ञा आदि के अनस्तित्त्व को स्वीकार करते हैं । समस्त विश्व शून्य का विवर्त होता है ।

१) मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत् ॥

२) न सत् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभवात्मकम् ।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्तत्वं माध्यमिको गुरुः ॥

'शून्य' न सत् है, न असत् है, न सदसत् है, प्रत्युत् यह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त तत्त्व है: 'चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ।'[1]

१) **शून्यवाद** के अनुसार विश्व शून्य का विवर्त है । शून्य ही पारमार्थिक सत्य है ।

२) **विज्ञानवाद** के अनुसार विश्व विज्ञान का विवर्त है ।

३) **शान्त ब्रह्मवाद** के अनुसार विश्व ब्रह्म का विवर्त है ।

४) **व्याकरण-दर्शन** के अनुसार विश्व शब्द का विवर्त है ।
'विवर्ततेऽर्थभावेन जगत्प्रक्रिया यथा ॥'

५) **आभासवाद** के अनुसार विश्व केवल आभास है ।

६) **प्रतिबिम्बवाद** के अनुसार विश्व केवल सत्य का प्रतिबिम्ब है ।

७) **स्वातन्त्र्यवाद** के अनुसार विश्व स्पन्द की सिसृक्षा—इच्छा है ।
'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' (माण्डूक्यकारिका)
'मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्' (शून्यवाद)

८) **भास्कराचार्य** ने जगत् को 'अविकृतपरिणाम' कहा ।

९) **रामानुजाचार्य** ने जगत् को 'परिणाम' कहा ।

१०) **गौड़पादाचार्य** (अजातिवाद) यदि जगत् हो तब उसके स्वरूप के विषय में कहा जाय कि वह सत् है कि असत्, विवर्त है कि परिणाम, आभास है कि प्रतिबिम्ब । यथार्थ तो यह है कि जगत् है ही नहीं ।

११) **शङ्कराचार्य** = जगत् न सत् है न असत् न सत्य है न मिथ्या है प्रत्युत् यह है 'अनिर्वचनीय' 'अनिर्वचनीयतावाद' ॥

बौद्धौं का शून्यवाद भी यही मानता है कि जगत, सत, असत्, सदसत् एवं सद-सत से भिन्न-इन समस्त कोटियों से परे है—

'न सत् नासन् सदसन्न चाप्यनुभवात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ॥'

---

१. माध्यमिककारिका ।

बौद्धों की शून्यवादी दृष्टि में शून्य ही पारमार्थिक सत्य है । शङ्कराचार्य की दृष्टि में—ब्रह्म ही पारमार्थिक सत्य है जगत् मिथ्या है—

'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या जीवब्रह्मैव नापरः ॥'

शङ्कराचार्य ने भी जगत् को **व्यावहारिक सत्य** कहा और

शून्यवादियों ने भी जगत् को **सांवृत्तिक सत्य** कहा ।

शङ्कराचार्य ने भी जगत् को **अनिर्वाच्य** कहा ।

शून्यवादियों ने भी 'शून्य' को **अनिर्वाच्य** कहा ।

शून्यवादियों की दृष्टि में इस अनिर्वाच्य शून्यदशा को प्राप्त कर लेना ही परम उपलब्धि एवं चरम सिद्धि है । यही उनकी निर्वाण दशा है । सर्वशून्यता की अनुभूति ही निर्वाण है जिसमें सारी संवेदनायें शान्त हो जाती हैं—दीपक की लौ के शान्त हो जाने पर उदित प्रगढ़ प्रशान्त अवस्था की अनुभूति होना ही—'निर्वाण' है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चिद स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ।
योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् [१]
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चितक्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

सर्वशून्यता (सर्वशून्यभाव) की अनुभूति ही शून्यवादी बौद्धों का 'निर्वाण' है ।

बुद्धघोष इसी सर्वशून्यता की अनुभूति (साक्षात्कार=) को ही निर्वाण एवं शान्ति दोनों कहते हैं । वे कहते हैं कि दीपक की आग्नेय शिखा के बुझ जाने पर वह बुझी हुई लौ न तो भूमि में जाती है । न आकाश में, न दिशा में जाती है और न तो विदिशा में प्रत्युत् तेल के समाप्त हो जाने पर लौ केवल शान्त हो जाती है उसी प्रकार योगी की चेतना निर्वृत्ति में पहुँचने पर न भूमि में जाती है और न तो आकाश में, न तो किसी दिशा में जाती है और न विदिशा में प्रत्युत् क्लेशों का क्षय हो जाने पर शान्ति में लयीभूत हो जाती है ।

अभावब्रह्मवाद को स्वीकार करने में सबसे बड़ी समस्या यह है कि यदि आत्मा स्वयं 'अभाव' है तो अभाव की दशा में किसी भी वेदक सत्ता (जानने एवं अनुभव करने वाली सत्ता) का भी अभाव रहने के कारण अभाव की दशा का अनुभव कौन करेगा? 'अभाव' यदि अनस्तित्त्व का पर्याय है तो अनस्तित्व से अस्तित्व, सत्ताशून्यता से सत्ता का उदय कैसे होगा? आत्मा स्वयं ही अभाव (अनस्तित्व) है तो अनस्तित्व (अभाव) की वह अनुभूति कैसे करेगी? जो है ही नहीं वह किसी के होने या न होने का अनुभव कैसे कर सकती है? अभाव से भाव रूप जगत् का आविर्भाव कैसे हो सकता है? क्या असत् से सत् का प्रादुर्भाव संभव है? इसीलिए कारिकाकार कहते हैं—

'नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढ़ता ॥' (का० १२)

---

१. सौन्दरनन्द (१६:२८-२९) ।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।' (गीता)

अभावसमाधि—के उपदेष्टा कहते हैं कि 'मैं नहीं हूँ, मैं नहीं हूँ'—इस प्रकार की भावना का अभ्यास तब तक करणीय है जब तक कि आत्मा अभावस्वरूप न बन जाय । भावना का विषय तो वही संभाव्य है जिसकी सत्ता हो । यदि 'अभाव' (प्रत्येक भावात्मक सत्ता का अनस्तित्व = भाव का अभाव = अस्तित्व का अत्यन्ताभाव) अनस्तित्व का ही पर्याय है तो उसे भावना का विषय बनाया भी कैसे जा सकता है ?

स्पन्दनिर्णयकार कहते हैं कि यदि 'अभाव' कोई भावात्मक सत्ता (जागतिक अस्तित्त्व व्यावहारिक सत्य) है तब तो वह अभाव का अभाव होने के कारण स्वयं भाव-सत्ता (अस्तित्व) बन जाएगा—

'भावनाया भाव्यवस्तु विषयत्वादभावस्य न किंचित्वाद् भाव्यमानतायां वा किंचित्वे सत्यभावत्वा भावात् ॥' ('स्पंदनिर्णयः' १/१२)

अभावभावना के उपदेष्टा शास्ता एवं उपदिष्ट शिष्य दोनों को 'अभावब्रह्मवाद' में आस्था रखने पर—इस आत्मछल को स्वीकार करना पड़ता है कि 'मैं विद्यमान तो होने का अनुभव तो कर रहा हूँ किन्तु मैं हूँ नहीं'—हमारी सत्ता तो है किन्तु वह सत्ता-हीनता है ।

अभाववादी यह प्रतिपादित करते हैं कि 'अभावसमाधि' में सर्वाभावरूप विश्वाभाव ही भावना का विषय बनता है किन्तु यदि 'विश्वोच्छेद' (विश्वाभाव) का अर्थ प्रत्येक सत्ता का निषेध है तब तो अनुभविता का भी उच्छेद हो जाएगा और फिर इस 'विश्वोच्छेद' का अनुभव कौन करेगा?

यदि यह मान लिया जाय कि विश्वोच्छेद होने की दशा में भी अनुभविता का उच्छेद नहीं होगा तो विश्वोच्छेद की कल्पना वन्ध्यापुत्र के समान निरर्थक होगी—

'किञ्च भावकस्यापि यत्राभावः स विश्वोच्छेदः कथं भावनीयः भावकाभ्युपगमे तु न विश्वोच्छेदो भावकस्यावशिष्यमाणत्वात् ॥'

'मूढ़ता' एक विशेष प्रकार की जड़ता है जिसमें किसी प्रकार की संवेदना नहीं रहती । अभाव समाधि का योगी समाधिगत अनुभव को अपनी व्युत्थानावस्था में इस प्रकार अनुभव करता है—'मैं प्रगाढ़ मूढ़त्व की अवस्था में लीन था और मेरी वह अवस्था व्यतीत हो चुकी है ।'

वह 'समाधि' समाधि कहने योग्य भी नहीं है जिसमें अपने ज्ञान क्रिया संवलित चैतन्य की अनुभूति भी न हो सके । उसे मद्यजन्य तामसिक अचेतना के सदृश एक मोहात्मक अवस्था माना जा सकता है । फिर प्रगाढ़ सुषुप्ति एवं समाधि में भेद क्या रह जाएगा ?

बौद्धों के 'निर्वाण' की जिस अवस्था को 'शान्ति' कहा जाता है वह भी अन्ततः 'शून्य' ही तो है । 'निर्वाण' में यदि ज्ञान-क्रिया संवेदना (ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व का संवेदन) का अभाव है तो उसे शैव स्पन्दशास्त्र स्वीकार नहीं करता क्योंकि शैव दार्शनिक

इस ज्ञातृत्व-कृतित्व की संवेदना से शून्य अवस्था को मात्र जड़ता ही मानते हैं । शैव दर्शन में निर्वाण या मोक्ष स्वरूप प्रथन मात्र है अन्य कुछ नहीं—'मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हि सः । स्वरूपं चात्मनः संविन्नान्यत्' आत्मा अख्याति की संकुचित सीमाओं को लाँघकर अनन्त ज्ञातृत्व एवं असीम कर्तृत्व की अनुभूति करने लगता है और यही है उसका मोक्ष । मुक्तजीव जड़ नहीं होता प्रत्युत् पूर्णचेतन होता है । वह 'अभाव' 'शून्यता' एवं 'जड़ता' का अनुभव नहीं करता ।

शून्यवाद के अनुसार प्रत्येक ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय (त्रिपुटी) निःस्वभाव एवं शून्य है । वे ज्ञाता-कर्ता संवित् को भी निःस्वभाव मानते हैं । इनके मत में संवित् की शून्यता ही निर्वाण है । स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा एवं क्रम दर्शन मानता है कि संवित् पूर्णज्ञान एवं पूर्ण कर्तृत्वस्वरूप 'स्पन्द' है । 'स्पन्द' से ही समस्त भावों का अवभासन और स्थिति हुआ करती है । इस विश्वात्मक स्पंद को ही अस्वीकार कर दिया जाय तो समस्त विश्व संज्ञाहीन हो जाएगा ।

शून्यवादियों के शून्य का कोई सुस्पष्ट स्वरुप भी नहीं है । प्रश्न उठता है कि आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है तो 'निर्वाण' किसका है? जड़ पदार्थों का निर्वाण तो संभव नहीं है । यदि वेदक आत्मा का ही अस्तित्व नहीं है तो क्लेश किसको होगा? और उसके विनाश का प्रयास किसके लिए किया जाएगा?

शून्यवादियों का स्वपक्ष में तर्क—शून्यवादी माध्यमिक आचार्यों का कथन है कि आचार्य नागार्जुन ने जिस शून्य का प्रतिपादन किया है वह मात्र निषेधपरक ही नहीं है—

'सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥'

—इस श्लोक के अनुसार (१) 'शून्य' सर्वाभावस्वरूप नहीं है ।

(२) 'शून्य' ऐसा निरपेक्ष परमतत्त्व है जिसमें सम्पूर्णतत्त्वों एवं समस्त क्लेशात्मक वासनाओं की शून्यता स्थित है । यह सर्वाभाव स्वरूप नहीं है । 'शून्य' अवाङ्मनस-गोचर, चतुष्कोटिविनिर्मुक्त एवं मन-वाणी से अतीत है ।

'शून्य' ग्राह्य-ग्राहक भावों से शून्य है । विज्ञानवादी कहते हैं समस्त प्रपंच विज्ञप्ति का विकास मात्र है । यह ज्ञान चेतन क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण 'चित्त' कहा जाता है । यही 'पारमार्थिक सत्य' है । 'शून्य' एवं 'विज्ञान' मूलतः अभिन्न हैं । शैव ज्ञान मात्र चित्त नहीं है । अन्तःकरण स्वयं जड़ है । ज्ञान तो चैतन्य है फिर वह जड़ चित्त का स्वरूप कैसे हो सकता है?

शैवशास्त्र में शून्य की कल्पना—शैव दार्शनिक 'शून्य' के प्रति अपनी पृथक् दृष्टि रखते हैं । उनके मतानुसार 'शून्य' चिदानन्द घन (स्पन्दात्मक) परमशिव है । वह 'शून्य' क्यों है क्योंकि वह विश्वातीत है—मायोपरि है—परिणामादिक से अप्रभावित है—सर्वाभाव का प्रतीक नहीं है—ज्ञान-क्रिया का अभिव्यञ्जक है । शैवदार्शनिक मानते हैं कि शून्य, अभाव, समाधि एवं व्युत्थान आदि सभी में वेदक आत्मा की ज्ञान क्रिया संवलित स्पंदता सभी स्थितियों में अपरिवर्तित है ।

सारांश यह है कि स्पन्दमान आत्मसत्ता की प्रत्यभिज्ञा की समस्त अवस्थायें भावात्मक हैं—सर्वाभाव, सर्व शून्य एवं मूढ़ता की अवस्था नहीं है ।

शैव शास्त्रों में 'शून्य' का अर्थ कुछ अन्य है—

१) शून्यता शून्यभूतोऽसौ शून्याकार: पुमान् भवेत् ॥[१] (४०)

२) अर्धेन्दुबिन्दुनादान्त शून्योच्चाराद भवेच्छिव: ॥[२] (४२)

३) विश्वमेत्महादेवि! शून्यभूतं विचिन्तयेत् ॥ (५७)

४) ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अत: शून्यमिदं जगत् ।[३]

५) प्रणवादिसमुच्चारात् प्लुतान्ते शून्यभावनात् ।
शून्यया पराया शक्त्या शून्यतामेति भैरवि ॥[४] (३९)

अभावसमाधि = (१) साधारण पशुवर्ग में प्राप्त ।

(२) मोहात्मक सुषुप्ति, प्रगाढ़ निद्रा जैसी कृत्रिम एवं जड़ता की अवस्था ।

(३) यह अभाव समाधि पशुवर्ग की सुषुप्ति के समान कृत्रिम है और स्मर्यमाण नहीं बन पाता ।

मैं नहीं हूँ—मैं नहीं हूँ—इस प्रकार अभावात्मक भावना की निरन्तर कल्पना, ध्यान एवं अभ्यास करने पर यदि साधक को ऐसी भूमिका का साक्षात्कार भी हो जाय तो भी वह भूमिका कृत्रिम एवं अनित्य होगी । आत्मा का यथार्थ स्वरूप तो चिद्रूप है और उसकी सत्ता तो त्रिकालाबाधित एवं नित्य है ।

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—'अभावभावनालब्ध भूमिकस्यापि कृत्रिमा अनित्या सा अवस्था, यथा, सौषुप्ते पदे, यस्मात् चिद्रूपत्वं तु आत्मन: स्वरूपं नित्य सन्निहितं तदेव गुरूपदेशेन नित्यमेवानुशीलनीयम् ॥'[५]

(अ) पशुवर्ग की सुषुप्ति अवस्था—'शिवसूत्र' में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—'शिवसूत्र' (१) 'अविवेको माया सौषुप्तम् । (शिवसूत्र १.१०)'

(२) 'यत्रार्थस्मरणे न स्तस्तत्सौषुप्तमुदाहृतम्' (शिवसूत्र: १.१०)

(३) 'ज्ञानज्ञेयस्वरूपाया: शक्तेरनुदयो यदा ।
चिद्रूपस्याविवेक: स्यादसावेवाविमर्शत: ।
सैव मायावृत्तिजालपोषकत्वात्प्रकीर्तिता ॥ सुषुप्तता ॥ —शिवसूत्रवार्तिक

(४) 'यस्तु अविवेकोविवेचनाभावोऽख्याति: एतदेव मायारूपं मोहमयं सौषुप्तम् ॥ (शिवसूत्रविमर्शिनी १.१०) ।'

पशुप्रमाता में सुषुप्ति एवं प्रगाढ़ निद्रा (ज्ञानाभाव) की अवस्था है । इसमें जागृति, स्वप्न, तुरीय, तुरीयातीत आदि किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं रहता किन्तु चेतना रहती है तभी वह सोने के बाद कहता है कि 'मैं खूब गहरी नींद सोया ।' 'मैं सुखपूर्वक सोया' आदि । इसमें तमोगुण के आवरण के कारण उत्पन्न मोह की सान्द्रता के कारण वेद्य प्रमेयों का ज्ञान या स्मृति नहीं रहती—

१-४. विज्ञानभैरव (१७) । ५. भट्टकल्लट : 'स्पन्दसर्वस्व' ।

'यत्रार्थस्वरूपायाः स्तस्तत्सौषुप्तमुदाहृतम् ॥' (१.१०)

अविवेक (ज्ञान एवं ज्ञेय रूप चित् शक्ति पर चढ़ा हुआ अविद्यावरण) के कारण प्रमाता की अपनी चिद्रूपता एवं बाह्य रूप में अनन्तावभासन की क्षमता सुषुप्ति में रुक जाती है ।

सुषुप्ति काल में (ज्ञान-ज्ञेय पर मायीय आवरण पड़ा रहने के कारण) प्राणी की बाह्यार्थों की ओर उन्मुखता, ऐन्द्रिय बोध एवं उनकी स्मृति कुछ भी संभव नहीं रहती ।

सुषुप्तिगत व्यक्ति की समस्त चेतनाशक्ति, शरीर, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय आदि से सिमट कर पुर्यष्टक में लीन हो जाती है । पुर्यष्टक में सुषुप्तिकालीन संस्कारों के कारण व्यक्ति जागृति की अवस्था में आने पर सुषुप्ति के अनुभव 'मैं सुख से सोया' 'मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है' आदि आदि होते हैं ।

(आ) योगियों की दृष्टि में सुषुप्ति की अवस्था—योगियों की सुषुप्ति पशुप्रमाताओं की सुषुप्ति के समतुल्य नहीं है । गीताकार कहते हैं—

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्तिसंयमी ।
यस्यां जागर्ति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥'

शङ्कराचार्य के लिए निद्रा और समाधि दोनों में भेद नहीं है—वे कहते हैं—'निद्रा समाधिस्थितिः' योगियों के लिए निद्रा समाधि की स्थिति होती है । समाधि की अवस्था में बाह्य पदार्थों की ओर उन्मुखता न रहने के कारण सारे प्रमेय एवं सब कुछ स्वस्वरूप में विश्रान्त रहता है अतः आत्मा तब तक विशुद्ध चिन्मात्र रूप में अवस्थित रहती है । समाधि निष्ठ योगी में ग्राहकता एवं ग्राह्यता का भेद नहीं रहता । उसके समस्त भाव आत्मस्वरूप में विश्रान्त या अवभासित रहते हैं । योगी समाधि की दशा में ज्ञान-क्रिया-पूर्ण स्पन्दन की पूर्ण चेतना रखता है । योगी की सुषुप्ति पशुओं की सुषुप्ति के समान मूढ़ता की दशा नहीं है । यहाँ वेदक योगी किसी भी अभाव या शून्यता को अनुभव नहीं करता । समाधि में अनुभूत आत्मस्वरूप की सत्ता कोई प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक नहीं प्रत्युत् शाश्वतिक एव पारमार्थिक होती है ।

'अभाव समाधि' एवं **'शून्य समाधि'** दोनों जड़ हैं । आत्मानुभूति सतत स्फुरण-समन्विता होने के कारण नित्यात्मिका होती है । किन्तु पशुभाव में होने वाली अनुभूति अनित्य होती है ।

'मैं नहीं हूँ' यह अभावात्मक अनुभूति भी किसी भावसत्ता (वेदक) पर ही आधृत है । यदि भाव (वेदक) की ही सत्ता न रहे तो अभाव ('मैं नहीं हूँ') की स्मृति किसे होगी? 'शिवसूत्र' (१.१०) में इन्हीं दृष्टियों से योगियों की सुषुप्ति एवं उनकी समाधि को समतुल्य कहा गया है—

ग्राह्य-ग्राहकभेदासञ्चेतनरूपश्च समाधिः सौषुप्तं, इत्यप्यनया वचोयुक्त्या दर्शितम् ॥'[1]

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी (१.१०) ।

स्पन्दतत्त्व की दो अवस्थायें—

अवस्थायुगलं चाऽत्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥ १४ ॥

(यहाँ पर) अवस्थाद्वय को 'कार्य' एवं 'कर्ता' कहा गया है (इसमें) कार्यता तो नश्वर है किन्तु वहीं 'कर्तृत्व' अविनश्वर है ॥ १४ ॥ [१]

* **सरोजिनी** *

'स्पंद' की दो अवस्थायें हैं—(१) कर्तृत्व (Subjectivity) (२) कार्यत्व (Objectivity)।

कार्यता = किसी कार्य का किया जाना । कार्य-निष्पादन ॥ क्रिया करने का भाव: (Objectivity) । 'कर्तृत्व' = कर्ता की क्रिया शक्ति, सिसृक्षा-बल, कर्ता की सृजन-शक्ति (Subjectivity) ।

'स्पंद' की दो अवस्थायें हैं । 'स्पंद' क्या है? **स्वयं परमतत्त्व ही 'स्पन्द' है** । वह अपने को 'शब्द' के द्वारा अभिव्यक्त करता है । 'स्पन्द' वाच्य है और 'शब्द' वाचक है । 'स्पन्द' का अर्थ है किंचित् हिलना ॥ निस्तरंग परमात्मा में जो एक साथ सर्वरूप से उन्मुख होने की क्षमता है—वहीं **'स्पन्द'** है—किंचित् चलन है । यह किंचित् चलन भी परमात्मा ही है ।

इस स्पन्द तत्त्व में दो अवस्थायें विद्यमान है—(१) कार्य-कर्ता (२) भोग्य-भोक्ता (३) दृश्य-द्रष्टा । इन्हें 'वेद्य' एवं 'वेदक' भी कहते हैं । इनके अध्यास से जो कार्यता है वह क्षयिष्णु है और उत्पत्ति-विनाश युक्त है । जो शुद्धकर्ता, भोक्ता एवं द्रष्टा (आवेदक) है वह अक्षय है । वह निर्बाध, निरवधि एवं चित्स्वरूप है ।[२]

स्पन्द तत्त्व की अवस्थायें—कार्य, भोग्य, दृश्य, वेद्य, स्मर्तव्य, ज्ञेय, कर्ता, भोक्ता, द्रष्टा, वेदक, स्मर्ता एवं ज्ञाता हैं ।

अत्र—इस प्रतिपादित आत्माख्य पर तत्त्व में ।

अवस्थायुगलं = दो अवस्थायें—(१) हेय (२) उपादेय । वैसे तो ये अवस्थायें अनन्त है फिर भी विश्ववैचित्र्य के कारण द्विविध हैं । उनमें से एक परमार्थस्वरूप परमेश्वर या आत्मा है जो कि निरुपम, निष्प्रतीघात, निरुपादान निजैश्वर्य शक्ति बल से दो रूपों में अपने को अवभासित करके क्रीड़ा करता है—इसी रहस्य को अभिव्यंजित करने हेतु कारिकाकार ने अवस्थाद्वय का उल्लेख किया है । ये अवस्थायें हैं—(१) कार्य (२) कर्ता । कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं वेदकत्व द्वारा तो जिस चेतनभाव को सूचित किया गया है

---

१. 'The pain of states is here styled—objectivity and subjectivity. The objectivity is perishable and the subjectivity is indestructible'—स्पन्दनिर्णय ।

२. स्पन्दप्रदीपिका ।

वह एक ऐसीं अवस्था है जो स्वतन्त्र है तथा द्वितीय अवस्था इसके विपरीत कार्यरूपा, भोग्या, वेद्या, जड़ात्मिका एवं परतन्त्रात्मिका है । **'शब्दितं'** = 'शब्दितं' कहकर यह सूचित किया गया है कि इन दोनों अवस्थाओं को भिन्न-भिन्न रूप में समझने के लिए शब्द तो दे दिया गया है किन्तु उनमें वास्तविक भेद नहीं है । यह कार्यरूपा अवस्था प्रकाशमानता से अपनी सत्ता प्राप्त करता है और प्रकाशमान है परमात्मा । चूँकि 'कार्य' किसी कर्ता पर निर्भर है अत: कार्य एवं कर्ता तत्त्वत: भिन्न नहीं है । प्रकाशमान कार्य, प्रकाशैकस्वभाव से अभिन्न हैं । कर्तृरूपावस्था नित्या है, नित्योदित है, सर्वावस्थाव्यापक और अविनाशी है । 'कार्य' उदय-व्यय के सम्बन्ध के कारण नश्वर है ।[१]

नित्योदित होने के कारण सदा प्रकाशमान होने पर भी वह तत्त्व अप्रत्यभिज्ञायमान होने के कारण बन्धन का कारण है । अतएव लब्धोपदेश द्वारा सभी अवस्थाओं में वेद्य एवं वेदक रूप दो तत्त्वों से संगृहीत विश्व प्रपञ्च के भेदात्मक होने के कारण वेदकांश को 'मैं हूँ' अर्थात् मैं समस्त वेद्यों के स्वरूप से परे हूँ इस प्रकार परामर्श करना चाहिए । इसी तथ्य का उपदेश देने हेतु अपनी माया से उद्भासित द्वैतात्मक रूप का प्रतिपादन करने हेतु ग्रन्थकार चौदहवीं कारिका कह रहा है ।

भट्टकल्लट (स्पन्दकारिकावृत्ति) में इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—(१) स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की जो दो अवस्थायें होती हैं उनके नाम हैं—**'कार्यता'** और **'कर्तृत्व'** । इसमें एक भोग्य है दूसरा भोक्ता है ।

(२) **'भोग्य'** उत्पन्न एवं नष्ट दोनों होता है ।

(३) **'भोक्ता'** चिद्रूप होने के कारण न तो उत्पन्न होता है और न तो नष्ट होता है प्रत्युत वह नित्य है ।

अभिनवगुप्त कहते हैं कि परतत्त्व का स्वातन्त्र्य सदैव निरावरण होता है । परतत्त्व 'वेदक' एवं 'वेद्य' दोनों स्वरूपों में अवभासमान रहता है । यह तत्त्व एक साथ ही 'कर्ता' एवं 'कार्य' दोनों की भूमिकायें निभाता है । **कर्तृता की अवस्था**—अपरिणामी, अक्षर, अविचल, नित्य कार्यता की अवस्था—परिणमनशील, क्षर, चल, अनित्य एवं नश्वर ॥

'स्पन्द' के जो दो रूप हैं—उनके पक्ष भी दो हैं—

१) कर्तृत्व पक्ष	२) कार्यत्व पक्ष
(वेदक पक्ष)	(वेद्य पक्ष)
(शक्ति का वास्तविक अनश्वर रूप)	(देश, काल के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण उदयास्तमय, नश्वर)

अन्तत: कार्यता उपसंहृत होकर कर्तृत्व अंश में विश्रान्ति लेती है और निर्मल ज्ञानक्रियात्मक चिद्रूप में अवभासमान रहती है । समाधि की अवस्था में इस कार्यतापक्ष का लोप हो जाता है ।

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) ।

स्पन्द की अवस्थायें—

स्पन्द विज्ञान की दृष्टि में स्पन्द की दो अवस्थायें—

इस स्पन्द दर्शन में 'स्पन्द तत्त्व' की दो अवस्थाऐं मानी गई हैं।

स्पन्द की अवस्थायें—(१) 'कार्यता' (२) 'कर्तृता'।

कार्यता क्षणभंगुर है, नश्वर है। **कर्तृता** अविनश्वर है, स्थायी है और नित्य है। **आचार्य भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व'** में कहते हैं कि—

(क) स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की निम्न अवस्थायें हैं—

(१) 'कार्यता'	(२) 'कर्तृता'
(१) भोग्यता	(२) 'भोक्ता'
(नश्वर)	(अनश्वर)
(अचिद्रूप)	(चिद्रूप)
(वेद्य)	(वेदक)

'अवस्था युगलम्' अवस्था द्वयमेव कार्यकर्तृत्वसंज्ञं भोग्यभोक्तृभेदभिन्नम्' तत्र यो भोग्यरूपो भेदः स उत्पद्यते नश्यति च, भोक्तृभेदस्तु चिद्रूपः पुनर्न जायते न कदाचिद् विनश्यति तेन नित्यः ॥[1]

स्पन्दात्मक आत्मसत्ता के जो दो रूप हैं उनमें—(क) वेदक रूप (ख) वेद्य रूप; (क) कर्ता (ख) कार्य; (क) भोक्ता (ख) भोग्य।

इन दो रूपों में आत्मा का 'क' रूप—वेदक, कर्ता, भोक्ता ही नित्य है—'ख' रूप नश्वर है।

अहंविमर्शात्मक स्पन्द तत्त्व पूर्ण स्वतन्त्र है। इसमें दो अवस्थायें अखण्ड रूप में निरन्तर स्पन्दायमान हैं जो निम्न है—

(क) 'सामान्य अवस्था'। (ख) 'विशेष अवस्था'।

सामान्यावस्था—समस्त उपरागों से शून्य, विशुद्ध, चिद्रूप। यही है **कर्तृत्व** की अवस्था। इसमें समस्त बाह्य प्रमेय समूह, विभाग शून्य, **'अहं विमर्श'** के रूप में स्थित हैं।

विशेष अवस्था उस दशा का नाम है जिसमें मूल चिद्रूपता, स्वोत्पन्न अज्ञान के द्वारा, स्वस्वरूप को आच्छादित करके देह, प्राण, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ या घट पट आदि अनन्त जड़ वेद्य वस्तुओं के रूप में अवभासित होती है। यही है कार्यता, भोग्यता, वेद्यता एवं प्रमेयता की अवस्था ॥

आचार्य अनिभवगुप्तपाद कहते हैं कि—मूल तत्त्व अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' की सामर्थ्य से वेदक एवं वेद्य दोनों रूपों में अवभासित होता है तत्त्व एक साथ ही कर्ता-कार्य, अपरिणामी-परिणामी, अचल-चल, अनश्वर-नश्वर, भोक्ता-भोग्य आदि सभी है—

---

१. भट्टकल्लटः 'स्पन्दसर्वस्व'।

'निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मकः ।।' (तं० १.९३)

समाधि की अवस्था—इसमें कार्यता विलीन हो जाती है । कार्यता ज्ञानक्रियात्मक चिद्रूप में अवभासमान रहती है । कर्तृत्वांश कभी परिवर्तित नहीं होता ।

स्पन्दात्मक आत्मतत्त्व की अवस्थायें—

स्पन्दतत्त्व की दो अवस्थायें हैं—(१) 'वेदक' (२) 'वेद्य' (या 'कर्ता' एवं 'कार्य')। इन्हें ही 'भोक्ता' एवं 'भोग्य' भी कहते हैं । इनके विविध अभिधान हैं—

(१) वेदक, कर्ता, भोक्ता, अक्षय (२) वेद्य, कार्य, भोग्य, क्षयिष्णु ।

'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।।'

'स्पन्दतत्त्व' की युगल अवस्थायें—कर्ता एवं कार्य—भट्टकल्लट के शब्दों में—'अवस्थायुगलम्' अवस्थाद्वयमेव कार्यकर्तृत्वसंज्ञं भोग्यभोक्तृभेदभिन्नम्, तत्र यो भोग्यरूपो भेदः स उत्पद्यते नश्यति च, भोक्तृभेदस्तु चिद्रूपः पुनर्न जायते न कदाचित् विनश्यति तेन नित्यः ।।[1]

१. **स्पन्दतत्त्व की कर्तृतावस्था या कर्ताभाव** (कर्तास्वरूप) अखण्ड एवं अक्षर है।

२. स्पन्दतत्त्व की **कार्यावस्था** या कार्य भाव (कार्यस्वरूप) क्षयिष्णु है ।

कारिकाकार ने इन अवस्थाओं को (१) 'कर्ता' एवं (२) 'कार्य' तथा **भट्टकल्लट** ने (१) भोक्ता (२) 'भोग्य' शब्दों से अभिहित किया है ।

भोग्य—उत्पन्न, परिवर्तनशील, कार्य एवं नश्वर है ।

भोक्ता = अनुत्पन्न, अपरिवर्तनशील, कारण, अनश्वर, चिद्रूप ।

इस **अहं विमर्शात्मकस्पन्दतत्त्व की अन्य अवस्थाओं का विवेचन** किया गया है जो कि निम्नांकित हैं—

(१) 'सामान्यावस्था' (२) 'विशेषावस्था' ।

(क) स्पन्दतत्त्व की सामान्यावस्था—वह अवस्था जो समष्टिगत, निर्विकल्प, विशिष्ट लक्षणों, व्यावर्तक लक्ष्मणरेखाओं एवं भेदक रेखाओं से शून्य तथा विशिष्ट धर्मों से विमुक्त। यह प्रत्येक अराग से शून्य एवं विशुद्ध चिद्रूपता की सामान्यावस्था है । इसमें प्रमेयवर्ग के विभाजन नहीं हैं और यह विभागहीन अहंविमर्शात्मक सूक्ष्मावस्था है । इसे ही अवस्थायुगलं चात्रकार्यकर्तृत्वशब्दितम्' कारिका में **'कर्तृत्व'** या कर्ता कहा गया है। कर्तृत्वांश में किसी भी अवस्था में कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है । वेदकावस्था शाश्वत, अक्षुण्ण एवं नित्य तथा शक्ति का यथार्थ स्वरूप है ।

(ख) स्पन्दतत्त्व की विशेषावस्था—यह कार्यता की अवस्था है । इसे ही सूत्रकार ने **'कार्य'** एवं वृत्तिकार **भट्टकल्लट** ने **'भोग्य'** शब्द से अभिहित किया है । प्रगाढ़

---

१. स्पन्दसर्वस्व ।

ध्यान या समाधि की अवस्था में इस कार्यता वाले पक्ष का उपसंहार हो जाता है । **यह संहृत होकर कर्तृता में विश्रान्तभाव** में अवस्थित हो जाती है । यह समाधि की दशा में अपने निर्मल, ज्ञान क्रियात्मक, चिद्रूप में अवभासित होती है । इस प्रकार समाधि की अवस्था में स्पन्दात्मिका कर्तृता (वेदकता) (बाह्य प्रमेय समूह की ओर उन्मुखता छोड़कर) अपने कार्यांश को अपने में संलीन करके निर्मल चिद्रूप (चिन्मात्र) स्वरूप में अवस्थित हो जाती है । कार्यता अंश के संलीन, विश्रान्त या लयीभूत हो जाने की स्थिति में एक प्रशान्त समाधि की अवस्था की अनुभूति होती है । इसी तथ्य को अगली कारिका में इस तरह कहा गया है—

'कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥' (१५)

स्पन्दतत्त्व की यह विशेषावस्था वह स्थिति है जिसमें कि नित्य चिद्रूप स्पन्दतत्त्व स्वस्वरूप को आच्छादित करके, अपनी अविद्या या माया के द्वारा अस्वतन्त्र होकर (मित होकर) घट, पट, प्राण, चित्त, देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, एवं जड़ वेद्य पदार्थों के रूप में अवभासित होने लगता है । यही कार्यता की अवस्था है ।

जड़ समाधि में अवस्थित अबुध योगी की अभावात्मक मिथ्यानुभूति—

कार्योन्मुखः प्रयत्नः यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिँल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिबुध्यते ॥ १५ ॥

केवल वह अध्यवसाय जो कि कार्य को निष्पादित करने की ओर प्रवृत्त है यहाँ वही (मात्र) लुप्त हो जाता है । उसके लोप हो जाने पर एक मूर्ख व्यक्ति ऐसा समझता है कि 'मैं' (ही) विलुप्त हो गया हूँ ॥ १५ ॥

*** सरोजिनी ***

कार्योन्मुखः = कार्य की ओर उन्मुख । कार्य-प्रवृत्त । कार्याभिप्रेरित । **कार्य** = बाह्यार्थ कार्यवर्ग । **लुप्यते** = (न लक्ष्यते): दिखाई नहीं पड़ता । **प्रयत्न** = अध्यवसाय । व्यापार । प्रयास । बाह्य करण व्यापार रूप कार्य । **यः** = जो । **केवलं** = मात्र । **सोऽत्र** = वह यहाँ ।

लुप्यते = लुप्त हो जाता है । **तस्मिंल्लुप्ते** = उसके लुप्त हो जाने पर **विलुप्तोस्मि** = मैं ही लुप्त हो गया हूँ । मैं नष्ट हो गया हूँ ।

अबुधः = अज्ञानी । **कार्योन्मुख** = कार्यसम्पदनाभिमुख ।[1]

प्रतिबुध्यते = समझता है । **लुप्यते**—इन्द्रियों के स्थगित हो जाने से व्यापार सामर्थ्य रुक जाने से लुप्त हो जाता है ।

यह बाह्यार्थ कार्यवर्ग जब क्षीण होने लगता है तब कार्य-सम्पादनानुकूल बाह्येन्द्रियों का व्यापार रूप प्रयत्न लुप्त हो जाता है । वह सिकुड़कर आत्मा में लीन हो

१. स्पन्दप्रदीपिका ।

जाता है अत: दृष्टिगोचर नहीं होता । इन्द्रियाँ यदि स्थगित हो गईं तो प्रयत्न की शक्ति कहाँ रही? लुप्त तो प्रयत्न होता है । किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि मैं ही लुप्त हो गया—मैं ही नष्ट हो गया ।[१] वस्तुत: चिद्रूप का विनाश कभी होता ही नहीं । कहा भी गया है—'शरीर का विनाश हो जाने पर भी विज्ञप्ति का नाश कभी नहीं होता । सूर्यकान्त मणि का अभाव हो जाने पर भी सूर्य की कोई हाँनि नहीं होती ।

प्रतिबुध्यते 'स्पन्दप्रदीपिका' में इसका पाठ 'प्रतिपद्यते' है । **प्रतिपद्यते** = जानता है । चिद्रूप का विनाश तो कभी होता नहीं किन्तु ऐसा समझता अवश्य है—

'विज्ञप्तेर्न विनाशोऽस्ति विनष्टेऽस्ति विनष्टेऽपि शरीरके ।
अभावे सूर्यकान्तस्य नैवास्ति सवितु: क्षति: ॥'[२]

लुप्यते = लुप्त हो जाता है । क्यों लुप्त हो जाता है? **स्वात्मन्यास्ते**—वह आत्मा में स्थित हो जाता है अत: बाह्येन्द्रियाँ उसे देख नहीं पातीं अत: लगता है कि वे सदैव के लिए नष्ट हो गई हैं ।

पूर्वपक्ष—(Objection) अभाव (Non-existence) या शून्य पर ध्यान देने के समय एवं प्रगाढ़ निद्रा के समय हम आत्मा को 'कर्ता' के रूप में अनुभव नहीं करते क्योंकि उस स्थिति में उसका कर्तृत्व रहता ही नहीं ।[३]

उत्तर पक्ष—हाँ यह सत्य है कि इन्द्रियाभिप्रेरित कार्योन्मुख प्रयास उपर्युक्त स्थिति में समाप्त हो जाते हैं क्योंकि उस समय ज्ञेय के नाश (Objective-destruction) के कारण कर्तृत्व संभव ही नहीं रहता । इस समय विषय और विषयी में (प्रमेय-प्रमाता, कर्ता-कार्य, ज्ञाता-ज्ञेय) में भिन्नता नहीं रह जाती । किन्तु इस समय (कार्योन्मुखी प्रवाह बन्द होने के समय) अज्ञानी व्यक्ति यह सोचता है कि 'मैं नष्ट हो गया' क्योंकि उसका स्वस्वभाव आच्छादित रहता है । विनाश कभी आन्तर स्वस्वभाव का हो ही नहीं सकता क्योंकि वह तो प्रकाशस्वरूप है, चेतना का निलय है और सर्वज्ञता का धाम है । सर्वज्ञातृत्व (Omniscience) ही पूर्ण कर्तृत्व है । क्योंकि अन्य कोई तो आन्तर प्रकृति के नाश का ज्ञाता हो ही नहीं सकता । किन्तु यदि अन्य ज्ञाता की कल्पना भी कर ली जाय तो वह भी अपनी आन्तर चेतना का प्रतिनिधि होगा । यदि वह ज्ञाता अस्तित्व में है ही नहीं फिर तुम कैसे कह सकते हो कि विनाश की अवस्था होती है ?[४]

प्रतिपक्ष—चलिये मैंने मान लिया कि कोई भी व्यक्ति आन्तर स्वभाव के नाश को नहीं देख पाता-उसका कोई ज्ञाता नहीं है—लेकिन उसकी जो प्रकाशमयी प्रकृति है वह तो देखती है ।[५]

ग्रन्थकार—फिर तुम अभाव या शून्य (Non existence on vacuum) को उसके आन्तर भाव से अभिन्न कैसे कह सकते हो? यह सत्य है कि जिस प्रकार किसी घड़े का न होना इस बात से प्रमाणित एवं निर्णीत किया जाता है कि जिस स्थान पर घड़ा था वहाँ है भी या नहीं । उसी प्रकार **आत्मा के अभाव** को भी इसी तरह निर्णीत

१-३. स्पन्दप्रदीपिका । ४-५. स्पन्दनिर्णय ।

किया जा सकता है कि कोई भी ज्ञान या अनुभव क्या आत्मा (या अपनेपन) के अभाव में संभव है यदि संभव है तो आत्मा का अभाव माना जा सकता है अन्यथा नहीं। लेकिन इस उदाहरण में भी 'ज्ञाता' का अस्तित्व आवश्यक है। अत: आत्मा के अभाव के होते हुए भी उसके अभाव का ज्ञान किसे होगा?[१]

यदि पदार्थमयं जगत् (Objective world) के प्रति कार्योन्मुख प्रयत्न का लोप होने पर आभ्यन्तरिक स्वस्वभाव (Inward nature) का भी लोप मान लिया जाए तो आगामी समय में अन्य प्रयत्न का अवबोध या ज्ञान (Perception) संभव नहीं होगा और परिणामस्वरूप अन्य प्रयत्न का भी ज्ञानाभाव हो जाएगा।

इसके अतिरिक्त यह भी कि, कोई भी मूर्ख व्यक्ति भला स्वप्न-शून्य प्रगाढ़ निद्रा में (सुषुप्ति के समय) बहिर्गामिनी शक्ति के अबोध (Non perception) द्वारा अन्तर्मुखी अनुभूति के लुप्त होने की शङ्का, यह जानते हुए भी कि एक चीज को लुप्त होना किसी दूसरी वस्तु को प्रभावित नहीं कर सकता, कैसे कर सकता है?[२]

ज्ञाता की लुप्तता (Disappearance) संभव नहीं है। इस पादार्थिक जगत् के प्रति उन्मुख कार्यों की अनुपस्थिति या अनुपस्थिति की अभिव्यक्ति के द्वारा, **प्रकाश से अभिन्न एवं अन्तरोन्मुखी ज्ञाता की लुप्तता संभव नहीं है**। अन्तर्मुखी स्वभाव (Inward faced nature), जो कि सर्वज्ञता के गुणा के मूल स्थान का निर्धारण करता है,—अभाव (अनुपस्थिति) की दशा को भी जानता है क्योंकि अन्यथा वह दशा अस्तित्व में रह ही नहीं सकती। **'अन्तर्मुखी'** शब्द बाह्यपदार्थता (Objectivity) को आत्म चैतन्य (Subjectivity) से पृथक् करता है। दोनों परस्पर विरोधी भाव है।

'अन्तर्मुखी' का अर्थ है—वह जिसमें पराहंता (Supreme egaity) अधिपत्य रखती हे। ज्ञाता ही सत्य है, ज्ञेय तो उसका विषय है।[३]

इसीलिए कहा गया है—

न तु योऽन्तर्मुखोभावः सर्वज्ञत्व गुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित्स्यादन्यस्यानुपलंभनात्॥

कार्ये = निर्मेय वेद्य या वस्तु में।

उन्मुखः = संमुखीभूत। उसके संपदनार्थ प्रवण।

यः प्रयत्नः = जो प्रयास। कर्तृत्व, सहज उत्साह।

स केवलं = वह मात्र। यही परमकारण या व्यापार का हेतु है।
क्योंकि उस दशा में स्थूलरूप कार्य के अभाव से।

लुप्यते = लुप्त हो जाता है। अनभिव्यक्त रूप में आत्मा में ही अमुख्य **विलुप्तोस्मि** = मैं लुप्त हो चुका हूँ। **प्रतिपद्यते** = समझता है। बनकर अवस्थित रहता है।

तस्मिन्—उसमें। उस प्रयत्न में। (उस प्रयत्न में तत्काल ही)।

१-३. स्पन्दनिर्णय।

लुप्ते = लुप्त हो जाने पर । **अबुधः** = तत्त्वावबोधशून्य ।

विलुप्तोऽस्मि इति प्रतिपद्यते—'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार भाव-वैलक्षण्य के कारण तो वस्तु का परिच्छेद (विभाजन) ही हो जाएगा । (मैं लुप्त हो गया हूँ—ऐसा समझना चाहिए ।)

यह स्वयंसिद्ध आत्मा तो स्वसिद्ध है अतः उसका अभाव कैसे संभव है? **'सिद्धः कथं निषेधस्य विषयः स्यात् ?'**

जिस प्रकार घर में स्थित किसी व्यक्ति को 'ऐ देवदत्त'—ऐसा कहकर बुलाया जाय तो वह आत्मा का अपह्नव (अनात्मभाव) करने वाले व्यक्ति से कह सकता है कि 'मैं देवदत्त नहीं हूँ' क्योंकि आत्मा देवदत्त नहीं है और न तो किसी आत्मा का नाम ही देवदत्त हो सकता है । वह यह अवश्य कह सकता है कि 'मैं हूँ' किन्तु वह आत्मा की दृष्टि से यह अवश्य कह सकता है कि 'मैं देवदत्त नहीं हूँ' ।

अभाव समाधि आदि अवस्थाओं में कार्य के अभाव के कारण तथा इन्द्रियों के व्यापार के रुक जाने से **'आत्मभाव प्राप्त हो गया'** इस प्रकार का प्रत्यय मात्र भ्रान्ति है सत्य नहीं है तथा इन्द्रियों के न रहने से यह मानना कि—**'आत्मा का अभाव हो गया है'**—भ्रान्ति है—'अभावसमाध्यवस्थासु कार्याभावात् करणव्यापारविरतिमात्रेणात्माभाव-प्रत्ययो भ्रान्तिरेवेति ॥'[१]

कारिकाकार ने (१) 'कार्योन्मुख प्रयत्न' एवं (२) अन्तर्मुख भाव' दोनों की तुलनात्मक व्याख्या की है—

(१) कार्योन्मुखः प्रयत्नो यः केवलं सोऽत्र लुप्यते ॥ १५ ॥
(२) म तु योऽन्तर्मुखो भावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् ॥ १६ ॥
(अन्तर्मुख = अहं प्रत्यवमर्श के रूप में स्पन्दायमान)

'कार्योन्मुख प्रयत्न': 'तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥

'अन्तर्मुख भाव' : 'तस्य लोपः कदाचित् स्यादन्यस्यानुपलंभनात् ॥' (यहाँ किसी अन्य का अस्तित्त्व भी संभव नहीं होता—'अन्यस्य अनुपलंभनात्')

अन्तर्मुखीन स्थिति में कार्यों का अभाव होता है अतः वहाँ कार्योन्मुख प्रयत्न संभव ही नहीं है । अन्तर्मुखता की स्थिति में कार्य तो नहीं किन्तु 'भाव' तो रहता ही है । इसीलिए कारिकाकार ने 'कार्य' के साथ 'प्रयत्न' एवं कर्तृता (अन्तर्मुखता) के साथ 'भाव' शब्दों का प्रयोग किया है । 'प्रयत्न' स्वाभाविक नहीं कृत्रिम होता है किन्तु आत्मा की क्रियात्मकता प्रयत्न नहीं स्वाभाविक होती है ।

समाधिगत अनुभूतियाँ

भट्टकल्लट स्पन्दसर्वस्व में कहते हैं कि—समाधिकाल में केवल इतना हो जाता है कि कार्य सिद्ध करने की जो क्षमता इन्द्रियों में होती है और उसके माध्यम से वे शब्द-

१. 'स्पन्दकारिकाविवृति' (रामकण्ठाचार्य) ।

स्पर्श-रूप-रस-गंध आदि पंच महाविषयों को जो ग्रहण करती हैं वह क्षमता लुप्त हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों में विषय-ग्रहण की क्षमता का तिरोधान हो जाता है। अज्ञ यह समझने लगता है कि इन्द्रियों द्वारा विषय ग्रहण की क्षमता के लोप के कारण मेरा भी लोप हो गया है—यह अनुभव मात्र अज्ञान है क्योंकि नित्य स्वभाव का कभी लोप नहीं होता—

'कार्यसंपादनसामर्थ्यं बाह्यकरणव्यापाररूपं केवलं विलुप्यते', स्थगितेन्द्रियस्य तस्मिन् विलुप्ते सामर्थ्ये, 'स्वभावों में विलुप्त'—इति अबुधो जानाति, न तु भावस्य विनाशोस्ति ॥'[१]

कारिकाकार कहते हैं कि समाधिकाल में व्यक्ति के इन्द्रियों की कार्यसम्पादनोन्मुख अध्यवसाय (कार्योन्मुख प्रयत्न) ही रुकता है—जीव की बहिर्मुखी कार्यता या चिकीर्षा का प्रयास या क्रियान्वय रुकता है किन्तु उसके लुप्त होने से यह सोचना कि 'मैं ही विलुप्त हो गया हूँ'—ऐसा अनुभव तो केवल अज्ञानियों को होता है अन्य को नहीं ॥

अभाववाद का खण्डन—अभाववादी दार्शनिक यह मानते हैं कि सारे 'भाव' काल्पनिक हैं—अध्यारोपित हैं—अध्यास है और सत्य मात्र—'अभाव' है। जो कुछ भी है—यथा शरीर, शरीरांग, इन्द्रियाँ, उनकी अनुभूतियाँ, जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति आदि अवस्थायें, सुख, दुःख, बाल्य-यौवन-वार्धक्य, जीवन, मरण लिंगभेद, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि सभी क्षणभंगुर हैं और कतिपय काल तक ही अस्तित्व में रहते हैं बाद में उनका अभाव हो जाता है—कोई भी भाव स्थायी नहीं होता अतः **'अभाव'** ही सत्य है—अनस्तित्व ही परम यथार्थ है। अभाववादी आत्मा को भी स्थायी एवं नित्य भाव की वस्तु नहीं मानते। उनका कथन है—'आत्मा ध्वंसो हि मोक्षः ॥'[२]

अभाववादी पदार्थों के अनस्तित्त्व को परम सत्य स्वीकार करते हैं। अभाववादी ध्यान करते हैं—'मैं नहीं हूँ, मेरा भाव (अस्तित्त्व) नहीं है।' इस प्रकार की भावना का अभ्यास करने वाले ये अभाववादी जब कभी समाधि में पहुँचते हैं तो इन्द्रियों का अपने व्यापारों से विरत हो जाने पर—बाह्य विषयों की अनुभूति का अभाव होने पर—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध विषयों को ग्रहण न कर पाने के कारण यह समझते हैं कि मेरा जो 'मैं' (आत्मा) था उसका भी अभाव हो गया है। तुरीय शाक्त भूमिका पर आरूढ़ योगी ज्ञान-क्रियासमन्विता स्पन्दन का अनुभव करते रहने के कारण सदैव वेदक होने का अनुभव करता रहता है।

यह जो 'कार्योन्मुख प्रयत्न' लुप्त हो जाता है यदि इसके साथ ही वेदक (प्रमाता) को अपने कर्तृत्व अंश का भी लोप अनुभव में आ जाता तो अभाववाद संगत माना जाता किन्तु प्रश्न यह है कि यदि इस कर्तृत्वांश का भी लोप संभव हो जाय तो इस लोप का अनुभव कौन करेगा? यह अनुभविता ही 'कर्ता' है, आत्मा है—भाव है। फिर अभाववाद कैसा? किसी वस्तु के लुप्त होने की अनुभूति का वेदक भी तो कोई न कोई होगा? यह वेदक (आत्मा) भाव सत्ता (अस्तित्त्व) ही तो है। यदि आत्मा भी अभाव (सत्ताहीन) मान ली जाय तो लोप (अभाव) की अनुभूति किसको होगी? अतः आत्मा के

---

१. 'स्पन्दसर्वस्व' : भट्टकल्लट। २. 'सर्वदर्शनसंग्रह' (माधवाचार्य)।

भावसत्ता होने के कारण अभाववाद संगत नहीं है । 'सब कुछ अभावात्मक है—' अभाव ही परम यथार्थ है—अनस्तित्त्व ही परम सत्य है'—इस सर्वाभाववाद का साक्षी या अनुभविता कौन है? इसका अनुभविता या साक्षी 'भाव' (सत्तासीन वस्तु) ही तो होगा—यह आत्मा ही 'भाव' है अत: अभाववाद अज्ञता की दृष्टि है । यह भाव सत्ता (आत्मा) ही किसी अभाव को अभाव (न होने के भाव = अनस्तित्त्व) के रूप में सत्ता प्रदान करके (अर्थात् अभाव के रूप में स्थित मानकर) उसका (भावशून्यता का, अनस्तित्त्व का, अभाव का) अनुभव करती है । अत: वेदक सत्ता का किसी भी अवस्था में लोप नहीं हो सकता । यह वेदक सत्ता ही आत्मा है । अत: **'सर्वाभाववाद'** मिथ्या कल्पना है ।

समाधि में सर्वाभाववाद की अनुभूति नहीं होती । समाधि में केवल कार्यता ('कार्योन्मुख प्रयास') का लोप होता है । स्पन्दात्मिका कर्तृता (वेदकता) बाह्य प्रमेय समूह की ओर प्रवृत्तोन्मुख न होने के कारण अपने ही कार्यता अंश को अपने में ही विलीन करके, विशुद्ध चिन्मात्र रूप में स्थित हो जाती है । अप्रबुद्ध योगी ही समाधि दशा में कार्यता के लुप्त होने पर यह समझते हैं कि हम भी लुप्त हो गए या अभाव में विलीन हो गए । 'स्वभाव' (आत्म सत्ता) का लोप कभी नहीं होता ॥

समाधि की अवस्था में कार्यता सम्बद्ध स्पन्दतत्त्व की स्थिति—आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि विशुद्ध चिन्मात्र स्पन्द तत्त्व अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' के कारण प्रत्येक काल खण्ड में 'वेदक' एवं 'वेद्य' दोनों स्वरूपों में नित्य अवभासित रहता है अर्थात् वह एक ही साथ एवं एक ही समय—कार्यता एवं कर्तृता दोनों अवस्थाओं में स्पन्दमान रहता है । अन्तर यह है कि एक परिणामी, क्षयिष्णु, परिवर्तनशील अवस्था है जब कि दूसरी अपरिणामिनी, अक्षर एवं अपरिवर्तनशील तथा नित्य अवस्था है ।

कार्योन्मुख प्रयत्न समाधिकाल में लुप्त हो जाता है और इस स्थिति में अभा-वात्मक स्थिति का भी बोध होने लगता है अत: ऐसे योगी अभाव को ही परमसत् (पारमार्थिक सत्ता) मानकर **'अभाववाद'** का प्रतिपादन करने लगते हैं किन्तु यह उनका भ्रम है क्योंकि परमार्थ सत् या पारमार्थिकी सत्ता अभावात्मक नहीं भावात्मक है ।

भट्टकल्लट प्रस्तुत कारिका (क्र० १५) की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'कार्य-संपादनसामर्थ्यं बाह्यकरण व्यापाररूपं केवलं विलुप्यते, स्थगितेन्द्रियस्य तस्मिन् विलुप्ते सामर्थ्ये 'स्वभावों में विलुप्त'—इति अबुधो जानाति, न तु भावस्य विनाशोऽस्ति ।'

समाधि के समय बहिर्मुख कार्य के प्रति, प्रमाता की उन्मुखता लुप्त हो जाती है । इस विलुप्तता की स्थिति में समस्त वाह्य वेद्यों की अनुभूति का अभाव होने के कारण योगी को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि 'मैं विलुप्त हो गया हूँ अर्थात् मेरा अभाव हो गया है ।' अपने स्वभाव की ही विलुप्तता का भ्रम योगी को अभाववादी बना देता है किन्तु अभावात्मकता प्रबुद्ध योगी को नहीं प्रत्युत् अबुध योगी को होता है क्योंकि प्रमेय जगत् का ज्ञान (संवेदन) विलुप्त होने पर 'स्वभाव' विलुप्त नहीं होता तथा अन्तर्जगत में अभाव नहीं विशुद्ध चिन्मय सत्ता का उदय भी तो होता है । बहिर्मुख जगत् एवं बहिर्मुखी जागतिक अवस्थाओं एवं संवेदनाओं मात्र से तादात्म्य रखने के कारण उसे ही अपना

सत्स्वरूप मानने की भ्रान्ति के कारण ही ऐसे अबुध योगी को (बाह्य जगत् एवं जागतिक अनुभवों के अभाव एवं समाधि में संदृष्ट आत्मज्योति को स्वस्वभाव न मानने के कारण) अपने स्वस्वभाव का अभाव (अपनी वास्तविक सत्ता की विलुप्तता) का भ्रान्त अनुभव होने लगता है ।

अभाववाद और उसका प्रत्याख्यान—तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते। (का० १५) कहकर कारिकाकार ने 'अभाववाद' का खण्डन किया है । माहायानिक शून्याद्वैतवादियों के **शून्यवाद का भी इसी के द्वारा प्रतिषेध एवं प्रत्याख्यान किया गया है** ।

समाधिकाल में बाह्योन्मुखी कार्य करने की क्षमता । बाह्यवर्ती (जागतिक) संवेदनाओं की अनुभूति का अभाव एवं जागतिक मित अहंता के अभाव के कारण अबुध योगी अपने स्वरूप के ही अभाव की कल्पना करके अभाव को ही परम सत्य स्वीकार करने की भूल कर बैठता है । किन्तु वह यह नहीं समझ पाता कि उसकी अपनी सत्ता एवं उसका सत्स्वरूप तो त्रिकालाबाधित एवं अक्षर सत्य है ।

अभाववादी दार्शनिक कहते हैं कि किसी भी पदार्थ की नित्य सत्ता नहीं है सभी की केवल प्रातिभासिक या व्याहारकि सत्ता मात्र है इसी प्रकार प्रत्यक चैतन्य (आत्म संवित्) भी अनित्य है । बौद्धों ने तो कहा था—'आत्मा ध्वंसो हि मोक्षः' (सर्वदर्शनसं.)।

अभाववाद—अभाववादी अनस्तित्वादी हैं । वे अनस्तित्त्व—आत्म प्रत्याख्यान-स्वस्वभाव का निषेध को ही सत्य मानते हैं अतः ध्यानावस्था में 'मेरा अस्तित्व नहीं है—मैं नहीं हूँ'—की भावना का ही अभ्यास किया करते हैं । जड़ समाधि की अवस्था में जब उनका जगत् से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, इन्द्रियाँ अपने विषयों से विरत हो जाती है, बाह्योन्मुखी समस्त व्यापार बन्द हो जाते हैं, समस्त बाह्य संवेदन लुप्त हो जाते हैं तथा व्युत्थानावस्था में प्राप्त जागतिक 'स्वं की प्रत्यभिज्ञा का भी अन्त हो जाता है तब ऐसा अबुध योगी अपनी प्रत्यभिज्ञा की कोई भी वस्तु न पाकर, किसी भी वाह्य पदार्थ से तादात्म्यापत्ति न होने से सर्वत्र अभाव ही अभाव देखता है इसी कारण वह अभाव को ही पारमार्थिक सत्य मानने लगता है । वह अपनी आत्मा ('मैं') को भी अभाव में लयीभूत मानने लगता है ।

केवल सुप्रबुद्ध योगी ही 'शांभवोपाय', 'अनुपाय', 'शाक्तोपाय' या 'शक्तिपात' (गुरुकृपा) से तुरीय शाक्त भूमि का संदर्शन करने में समर्थ हो पाता है ।

प्रश्न—'कार्योन्मुख प्रयत्न' के लुप्त हो जाने से यदि कर्तृत्वांश का भी लोप हो जाता तो अभाव दशा का साक्षी कौन होता? कौन जान पाता कि (समाधि में बाह्येन्द्रियों द्वारा अपने शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध को ग्रहण न कर पाने एवं चेतना के बहिर्मुखता से निवृत्त होकर अन्तर्मुखता प्राप्त करने के समय) 'मैं' का अस्तित्व विलुप्त हो गया है—आत्मा 'अभाव' में विलुप्त हो गई है?

यदि 'अभाव' की दशा में भी अभाव का साक्षी (अभावावस्था के अस्तित्व का संवेदक) कोई है तो वह कौन है? वही तो भाव रूप आत्मसत्ता है । फिर 'अभाव'

परासत्ता कैसे हो सकती है? अभाव परम सत्य कैसे हो सकता है? अहं रूप की प्रतीति ही वेदकता का प्रमाण है। वेदक है तो आत्मा है। वेदक कभी लुप्त नहीं होता और न तो वह अभावात्मक हो सकता है। 'अभाववाद' में जो **सर्वाभाववाद** की कल्पना की गई है उस सर्वाभाव का वेदक कौन है? वह है भी या नहीं? यदि है तो वही वेदक ही तो सर्वोच्च भाव-स्वस्वभाव-आत्मा-आत्मसंवित् है। फिर 'अभाव' को तुरीय सत्य मानने का प्रमाण क्या है?

'अभाव समाधि' मोहमयी प्रगाढ़ निद्रा या सुषुप्ति के समान एक कृत्रिम जड़ता की अवस्था है— अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा।
न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्वं प्रतिपद्यते ॥[१]

अर्थात्—'अभावभावानालब्धभूमिकस्यापि कृत्रिमा अनित्या सा अवस्था, यथा सौषुप्ते पदे, यस्मात् चिद्रूपत्वं तु आत्मनः स्वरूपं नित्यसन्निहितं तदेव गुरुपदेशेन नित्यमेवानुशीलनीयम् ॥'[२]

अन्तर्मुख चेतन सत्ता के सार्वकालिक अस्तित्व एवं नित्यता का प्रतिपादन—

न तु योन्तर्मुखोभावः सर्वज्ञत्वगुणास्पदम्।
तस्य लोपः कदाचित्सादन्यस्यानुपलम्भनात् ॥ १६ ॥

उस आन्तर स्वभाव का जो कि सर्वज्ञता के गुण का निलय (गृह) है कभी लोप नहीं होता क्योंकि अन्य कोई है ही नहीं ॥ १६ ॥

* **सरोजिनी** *

स्पन्द की दो अवस्थायें है—(१) ज्ञाता (२) ज्ञेय (Subjectivity and objectivity) (Subject, object) इनका अन्तर केवल शब्दों के व्यवहार मात्र में है। वह 'शङ्कर' जो स्वातन्त्र्य शक्ति सम्पन्न होने के कारण स्वतन्त्र एवं प्रकाश्य जगत् का प्रकाशक होने के कारण 'प्रकाश' कहलाता है—स्पन्द की ये दोनों अवस्थायें उसी शङ्कर का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह स्पन्द तत्त्व प्रकाशाभिन्न 'कार्यों' से व्याप्त है अतः यह 'कर्ता' से भी अभिन्न है। जब यह 'स्पन्द तत्त्व' कार्य से अभिन्न होकर अपने को व्यक्त करता है तब यह 'जगत' कहलाता है शरीर या पिण्ड कहलाता है—प्रपञ्चप्रसार कहलाता है और 'पदार्थ' (Object) कहलाता है।[३]

स्पन्द की पदार्थमयता या इसकी पादार्थिक सत्ता (Objectivity) चैतन्य से पृथक् और दर्पण में प्रतिबिम्बित प्रतिबिम्ब के समान है। यह पिण्ड, शरीर, पदार्थ, इन्द्रिय, इन्द्रियों के अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसकी प्रत्येक परिणति क्षयिष्णु है। परमात्मा ज्ञाता (Perceiver) के पदार्थिक भौतिक पक्ष का ही सृजन एवं संहार करता है न कि ज्ञाता और उसके प्रकाशस्वरूप का। ज्ञाता परमात्मा से अभिन्न है।[४]

---

१. स्पन्दसूत्र (१३)।
२. 'स्पन्दसर्वस्व' (भट्टकल्लट)।
३. क्षेमराज—स्पन्दनिर्णय।
४. स्पन्दनिर्णय।

इस दृष्टि से पादार्थिक जगत् और उसके विभिन्न रूप नश्वर हैं और उसका ज्ञाता रूप अनंश्वर है ।[१]

सर्वज्ञत्व आदि गुणों का केन्द्र जो अन्तर्मुखी भाव है उसका लोप कभी नहीं होता। 'अन्तर्मुख' का अर्थ है—पदार्थ से (बाह्यार्थ से) विरुद्ध । अन्तुर्ख 'ज्ञाता' है । यह वह है जिसमें पराहंता (Supreme Egoity) का अधिपत्य है । 'अन्तर्मुखभाव' का अर्थ है—

ज्ञातृत्व आदि गुणों की परमास्पद चेतन सत्ता ।[२]

देश कालादि से परिच्छिन्न कार्य की निवृत्ति होती है । अन्तर्मुख भाव जो बाहर नहीं फैलता है स्वस्वरूपस्थ-स्वस्वभाव सर्वज्ञता आदि गुणों का आश्रय है, उस भाव की निवृत्ति कभी नहीं होती । क्यों नहीं होती?

—इसलिए नहीं होती क्योंकि चिद्रूप के अतिरिक्त द्वितीय की उपलब्धि नहीं होती । उसी की सर्वत्र, सर्वदा उपलब्धि होती है । जैसा कि कहा भी गया है कि—'देश-काल-क्रिया एवं आकारों से परिच्छिन्न वस्तुओं में आप ही अनवच्छिन्न रूप से प्रकाशित हो रहे हैं, क्योंकि आप उनसे बाहर हैं ॥'—

देशकालक्रियाकारैरवच्छिन्नेषु वस्तुषु ।
अनवच्छिन्नरूपस्त्वं भासि तस्य बहिः स्थितेः ॥'[३]

यही अन्यत्र भी कहा गया है । इसमें यह कहा गया है कि—सर्वज्ञता, ज्ञान आदि में भेद नहीं है क्योंकि चिद्रूप ज्ञान की सब विभिन्न स्थितियाँ हैं ।

'भेदः सर्वज्ञादीनां ज्ञानादीनां च नास्त्यमी ।
ज्ञानस्यैव धर्मतया चिद्रूपस्य स्थितिर्यतः ॥'[४]

'षाड्गुण्य विवेक' नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—'सभी गुणों के आदि अन्त में ज्ञान ही होता है । केवल इसीसे तत्त्व का निश्चय हो जाता है । बल, वीर्य, ओज आदि की शक्तियाँ धर्मरूप से स्वीकार हैं ॥'[५]

'कक्ष्यास्तोत्र' में भी कहा गया है कि बाह्य विमर्श के कारण शक्ति अविद्या एवं 'ज्ञान' सर्वज्ञता है । बल तृप्तिमूलक है । अनादिबोध तेज है अतः बल का मूल बोध है । 'तेज' प्रभाव है जो दूसरों को झुका देता है ।[६]

यही ईश्वर है और इसका स्वातन्त्र्य ही ऐश्वर्य है—

'बलस्य तृप्तिमूलत्वात् क्षमस्य तदभावातः ।
आनादिबोधस्तेजोऽत्र बोधमूलं हि तत्सदा ॥'

कहा भी गया है [७]—

'प्रभाव लक्षणं यच्च तेजः प्रह्वयते परान् ।
बोधत्वादेव तद्वेद्यं बोधं प्रह्वयते जगत् ।
स्वतन्त्रताऽत्र चैश्वर्यं स्वातन्त्र्यादीश्वरस्य तु ॥'

१-२. स्पन्दनिर्णय ।   ३-७. उत्पलाचार्य स्पन्दप्रदीपिका ।

इसे ही किसी ने कहा है कि—यह संविदात्मा समस्त कृत्यों में स्वतन्त्र है । न किसी का नियोज्य है और न विघ्नवान् । प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों दशाओं में यह ईश्वर ही है । यह अलुप्तशक्ति एवं अविनाशी है—[१]

'स्वतन्त्रः सर्वकृत्येषु न नियोज्यो न विघ्नवान् ।
प्रवृत्तोऽस्य प्रवृत्तो वा यतस्तेन त्वमीश्वर ॥
वीर्यं सदाऽलुप्तशक्तिः नाशाभावश्च तद्वतः ॥'

इसका वीर्य यह है कि इसकी आत्मसत्ता कभी परिभ्रष्ट नहीं होती । यह कार्य में अन्वित नहीं होता, स्वयं होता है । आभूषण में स्वर्ण की अनुगति नहीं है—वह स्वर्ण ही है । स्वर्ण का कण-कण स्वर्ण है । कहा भी गया है—[२]

आत्मसत्वापरिभ्रंशलक्षणाद्वैर्यमासतः ।
वीर्यदितच्च ते कार्येऽनन्वयः स्वर्णवच्च यः ।
अनन्तशक्तिः शक्तिः सा सामर्थ्यात् सर्वतः सदा ॥'[३]

तस्य = उसका । परमार्थसत परम तत्त्व का ।

कदाचित् = किसी समय ।

लोपः = लुप्त होना । स्वरूपोच्छेद ।

अन्यस्य = अन्य का उससे व्यतिरिक्त अनित्य वेद्य वस्तु का ।

अनुपलंभनात् = अनुभव के अभाव के कारण ।

किसका लोप नहीं होता? जो **'अंतर्मुख'** (भिन्न रूप से स्थित बाह्य वेद्य के अभाव के कारण जो स्वान्तःमुख है) अर्थात् जिसका 'मुख' (शक्ति) स्वात्मा में अवस्थित है—उसका लोप नहीं होता ।

भाव = आत्मा नामक तत्त्व ।

सर्वज्ञत्वगुणास्पदम् = सर्वज्ञता आदि गुणों का केन्द्र । समस्त वेद्यवर्ग एवं वेदक वर्ग के गुणों या धर्मों का अनन्यसाधारण अधिकरण ।

आत्मा की **'ज्ञान' एवं 'क्रिया'** दो प्रकार की शक्तियाँ हैं और वे पुरुषावस्था में अन्तःकरण-बहिष्करण व्यापार के उपशान्त हो जाने पर केवल स्वात्म मात्राभिमुखशक्ति-मात्र रूप से अवशिष्ट रह जाती हैं । यही है उनका अन्तर्मुखीभाव । 'मुख' का अर्थ है शक्तिः 'मुखशब्देन च शक्तेः व्यवहारो दृष्टो'—'शैवीमुखमिहोच्यते' (पारमेश्वर) । बाह्य विषयों के ग्रहण न होने मात्र से योगी भ्रमवश उस भाव को अभाव मानने लगते हैं ।

अनुपलंभ = (अन + उप + लभ् + घञ् + नुम्) । = अप्राप्ति । अनुपलब्धि । नित्यवर्तमान एवं अविलुप्त पराशक्ति के भाव का भला लोप कैसे संभव है क्योंकि आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य वस्तु की सत्ता ही नहीं है । केवल अज्ञान (मोह) के कारण, अपने स्वरूप को भूला हुआ व्यक्ति, इस तथ्य को नहीं समझ पाता । प्रबुद्ध व्यक्ति तो

१-३. उत्पलाचार्य स्पन्दप्रदीपिका ।

उसे समझता है और साथ ही उसकी प्राप्ति के उपायों का भी उपदेश देगा। व्युत्थानावस्था में अवश्य उस प्रकार की अनुभवात्मक विशिष्ट अवस्थाओं की विपरीत भावों के कारण अनुपपत्ति हो सकती है किन्तु यह एक व्यामोह है।[१]

स्पन्द का अन्तर्मुख भाव कभी नष्ट नहीं होता —शाश्वत अहंरूप में स्पन्दायमान चैतन्य सत्ता सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वव्यापकत्व आदि गुणों का अधिष्ठान है। उसका कभी नाश नहीं होता क्योंकि समाधि में किसी अन्य सत्ता का अनुभव नहीं होता।

भट्टकल्लट स्पन्दसर्वस्व में कहते हैं—'न तु यः अन्तर्मुखः अन्तश्चक्रारूढस्वभावः सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रयः तस्य विनाशः कदाचित्, तस्मात् द्वितीयस्यान्यस्याभावात् तत्स्वरूपमेव व्योमवत् चिद्रूपतया सर्वत्र अनुभवति इति ॥'[२]

अन्तर्मुखभाव = आभ्यान्तर संवित्तिचक्र के रूप में सतत स्पन्दायमान रहने के स्वभाव वाला और सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व आदि गुणों का अधिष्ठान ॥

इस वेदक सत्ता से अतिरिक्त अन्य सत्ता का न अभाव होने के कारण स्पन्दतत्त्व चिद्रूप होने के कारण व्योमवत् है और यह आकाशवत् विभु चैतन्य सत्ता प्रत्येक दशा में अनुभूति का विषय बनता है।

अन्तर्मुखो भावः = 'भाव' = 'भू' मूलधातु से 'भाव' निष्पन्न होता है और 'भाव' का अर्थ है—'सत्ता' या अस्तित्व। 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी' (१.५.१४) में कहा गया है कि—भाव का अर्थ है—काल से कवलित न होने वाली सत्ता। स्वतन्त्र कर्तृत्व ही भाव या सत्ता है। प्रत्येक क्रिया के निष्पादित करने की क्षमता, एवं नित्य सत्तासीनता ही 'भाव' है 'सत्ता च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम् ॥'[३]

'देवदत्त युद्ध करता है' इस वाक्य में युद्ध करना एक क्रिया को संकेतित करता है। क्रिया का सम्पादन तो किसी कर्ता के द्वारा होता है अतः कर्ता एवं क्रिया दो सत्ताएं हैं। 'युद्ध करना' तो एक क्रिया है और इस क्रिया का कोई करने वाला होना चाहिए। यह करने वाली सत्ता ही देवदत्त नामक कर्त्ता है। क्रिया के पूर्व उसकी वर्तमानता आवश्यक है। अन्यथा क्रिया सम्पन्न ही नहीं हो सकती। समष्टि में भी यही नियम लागू होता है। जगत् कार्य है और परमात्मा कर्ता है।

नित्यरूप में स्थायी यह कर्तृत्व **'अहं विमर्शात्मक स्पन्द'** है। यही स्पन्द **'विमर्श शक्ति'** के नाम से भी प्रख्यात है। जगत् के प्रत्येक अणु को सत्ता प्रदान करने वाला जो विश्वप्राण चैतन्य है वही विमर्श शक्ति (कर्तृत्व) है। आचार्य उत्पलदेव ने इस अनिर्वाच्य भाव सत्ता को **'महासत्ता' 'स्फुरत्ता' 'सार'** एवं **'हृदय'** कहा है—

'सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'[४]

---

१. रामकण्ठाचार्य-'स्पन्दकारिकाविवृति'। २. भट्टकल्लट : स्पन्दकारिकावृत्ति।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (१.५.१४)। ४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा (१.५.१४)।

यही समस्त जड़ एवं चेतन दोनों भावों की विश्रान्ति का स्थान है—'हृदय' है—प्रतिष्ठा स्थान है—'हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तस्यापि विमर्शशक्तिः ॥'[१] यही महासत्ता 'विश्व जीवन' है—

'महासत्ता महादेवी विश्वजीवनमुच्यते ॥'

विश्व में जितनी भी जड़ सत्ताएँ हैं उन सभी की विश्रान्ति का एक मात्र स्थान यही महादेवी है—यही विमर्श शक्ति या हृदय है ।

'अन्तर्मुखोभावः' पदावली में **'भावः'** पद—'कर्तृसत्ता' (कर्तृत्व) का बोधक है ।

आत्मचैतन्य की नित्यता—कारिकाकार का कथन है कि **'अन्तर्मुख भाव'** जो कि शाश्वत रूप में अहं रूप में स्पन्दायमान है वह चेतन सत्ता सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व आदि गुणों का मूलाधिष्ठान है अतः उसका लोप (विनाश) कभी नहीं होता क्योंकि किसी भी अन्य अतिरिक्त सत्ता की विद्यमानता का अनुभव किसी को भी नहीं होता ।

इसी विचार को **भट्टकल्लट** 'स्पन्दसर्वस्व' में इस प्रकार कहते हैं—'न तु यः अन्तर्मुखः अन्तश्चक्रारूढस्वभावः सर्वज्ञत्वादिगुणाश्रयः तस्य विनाशः कदाचित्, तस्मात् द्वितीयस्यान्यस्याभावात् तत्स्वरूपमेव व्योमवत् चिद्रूपतया सर्वत्र अनुभवति ॥'[२]

सुप्रबुद्ध एवं प्रबुद्ध योगियों में चिद्रूप स्वभाव की अनुभूतियों के भेद—

तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात्सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु ॥ १७ ॥

सुप्रबुद्ध योगी को उस (चैतन्यस्वभाव) की सम्प्राप्ति जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के आदि, मध्य एवं अन्त में समान एवं निरन्तर होती रहती है । (किन्तु इसके विपरीत) प्रबुद्ध योगी को (इन तीनों अवस्थाओं में) से प्रथम (जाग्रत अवस्था) की दो अवस्थाओं में (स्वप्न एवं सुषुप्ति अवस्थाओं में ही) चिद्रूप स्वभाव की प्राप्ति होती है ॥ १७ ॥

*** सरोजिनी ***

कारिकाकार ने इस कारिका में 'सुप्रबुद्ध' 'प्रबुद्ध' योगियों की अनुभूतियों का तुलनात्मक विवेचन किया है ।

तदाद्यन्ते = (आचार्य रामकण्ठ—**'तत'** = इन जाग्रत आदि अवस्थाओं की **'आदि'**—प्रथम । जाग्रत अवस्था के । **'अन्ते'** = अन्तिम दो पदों में (स्वप्न एवं सुषुप्ति में) **रामकण्ठाचार्य-भट्टकल्लट** ने इस कारिका की व्याख्या में 'स्वप्न सुषुप्तादौ' शब्दों का प्रयोग करके—स्वप्न, सुषुप्ति एवं आदि (संवेदन की समस्त अवस्थाओं) को द्योतित किया है ।

भट्टकल्लट ने इस कारिका की इस प्रकार व्याख्या की है—

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी ।   २. स्पन्दसर्वस्व ।

'तस्य चिद्रूपस्य सर्वगतस्य स्वस्वभावस्य उपलब्धिः त्रिषु जाग्रदादिषु पदेषु नित्यं सुप्रबुद्धस्य भवति, तदाद्यन्ते अपरस्य प्रबुद्धस्य स्वप्नसुषुप्तादौ, जाग्रत्तुर्यौ त्वागममात्र-गम्यौ ॥ १७ ॥'

शास्त्रों में जगत् के निखिल प्रमाताओं को निम्न भेदों में विभाजित किया है—(१) 'अबुद्ध' (२) 'बुद्ध' (३) 'प्रबुद्ध' (४) 'सुप्रबुद्ध' ॥ इन्हीं में से 'प्रबुद्ध' एवं 'सुप्रबुद्ध' प्रमाताओं की अनुभूतियों का यहाँ तुलनात्मक विवेचन किया गया है ।

सुप्रबुद्ध (Fully enlightened) को सदैव एवं नित्य उस सत्य तत्त्व का ज्ञान है जो कि उक्त तीनों अवस्थाओं में अचल रूप से स्थित है तथा अन्य लोगों के लिए प्रारंभ एवं अन्त में ।

तस्य = प्राकरिक उपलब्धि की ॥
उपलब्धिः = अनवच्छिन्न प्रकाश ।
त्रिपदा = जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति 'आद्यन्ते' आदि (मध्य) एवं अन्त में ।
अव्यभिचारिणी = अनपायिनी । शङ्करात्मस्वस्वभावा रूप में स्फुरित ।
परस्य = अप्रबुद्ध लोगों का ॥[1]
अज्ञानी भी **'स्पन्दतत्त्व'** से प्रभावित होता है और ज्ञानी भी किन्तु—

'अतः सततमुद्युक्तः **स्पन्दतत्त्व**विविक्तये ।'—'स्पन्द के निष्यन्द अज्ञानियों को पतित बनाने के लिए ऊद्यत रहते हैं । अतः अपने विकस्वर स्वभाव द्वारा स्पन्दतत्त्व का विवेक करने के लिए सर्वदा प्रयास करते रहना चाहिए ॥[2]

'अतस्तत्कृत्रिमं ज्ञेयं सौषुप्तपदवत् सदा ॥ १३ ॥
सौषुप्तपदवन्मूढ़ प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ १५ ॥

'प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेत्' (३।१२)—द्वारा उसी भाव को व्यक्त किया गया है । अप्रबुद्धों को इसकी उपलब्धि मात्र आदि और अन्त में ही हो पाती है—'अप्रबुद्धस्य तदाद्यन्तेऽस्ति तदुपलब्धिः' ।

जागृति आदि तीनों अवस्थाओं में तथा आदि-अन्त एवं मध्य तीनों अवस्थाओं में प्रबुद्ध ज्ञानप्रभ रहता है—[3]

'जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तभेदे तुर्याभोग संभवः ॥' (शिव सूत्र १।७)

इसके द्वारा भी इसी की पुष्टि की गई है । 'त्रिषु चतुर्थं तैलवदासेव्यम् (शि०सू० ३।१०) त्रितय भोक्ता वीरेशः ।' (शि०सू० १।११) द्वारा भी इसी सत्य की पुष्टि की गई है ।[4]

योगी को चिद्रूप आत्मा की निरन्तर उपलब्धि एवं अनुभूति होती है । योगी कैसा? जो सदैव सावधान रहे (या जागता) रहे । उपलब्धि कैसी? जो जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में बनी रहे, निवृत्त न हो । वह कार्यदशा में भी निर्भ्रान्त है । कहा भी गया

१-४. स्पन्दनिर्णय ।

है—'ऐसी कोई अवस्था नहीं है जिसमें संवित् नहीं रहती अत: योगी चिद्घनस्वरूप की ही उपासना करते हैं ।[१]

काप्यवस्था न ते साऽस्ति यस्यां संविन्न वर्तते ।
तेन चिद्धनमेतत्वां योगिनः पर्युपासते ॥

यदि योगी पूर्णप्रबुद्ध न हो तो भी कार्य के आदि अन्त में संवित् का अनुभव होता है । कार्य की प्रथमावस्था और अंतिमावस्था चिन्मय ही होती है—

'तदादौ प्रागवस्थायां तदन्तेऽपि च तन्मये ।
पदं प्रत्ययवाद्यन्ते जाग्रत्तुर्येष्ववागमात् ॥'[२]

कार्य की मध्यावस्था संविद्रूप होने पर भी अन्य रूप से भासित होता है । इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि आदि, अन्त, मध्य, जाग्रत, स्वप्न सर्वत्र प्रबुद्ध योगी को संवित् की ही स्पष्टत: उपलब्धि होती है ।[३]

'व्यतिरिक्तस्वभावोपलब्धि' नामक इस द्वितीय निष्यन्द की यह प्रथम कारिका है तथा 'स्वरूपस्पंद' निष्यन्द की सत्रहवीं कारिका है ।

इस प्रकार पूर्वोक्त कारिकाओं में देहादिक अनात्म तत्त्वों से व्यतिरिक्त (भिन्न) स्वानुभूतिगम्य एवं स्वानुभवसिद्ध आत्मतत्त्व की उपपत्तियों से व्यवस्थापित करके अब उसके प्राप्ति के उपायों के उपदेश के अवसर पर (१) सुप्रबुद्ध (२) प्रबुद्ध (३) अप्रबुद्ध-तीन प्रकार के वेदकों के विषय से सम्बद्ध प्रकरण पर प्रकाश डाला जा रहा है ।

तस्य = उसका । यथापूर्व प्रतिपादित स्वात्मा रूप परमात्मा का ॥

उपलब्धि: = प्राप्ति अनुभवात्मक निर्विकल्पा प्रतिपत्ति ॥

नित्य = सदैव । सदैव सभी अनुभव-दशाओं में ।

सप्रबुद्धस्य = सुष्ठु + प्रबुद्धः + तस्य ॥ अत्यन्त उच्च आत्मज्ञानी । अर्थात् देहादिक अनात्म तत्त्वों में अहंप्रत्ययरूप दीर्घस्वप्न से युक्त मोहमहानिद्रा से स्वल्पमात्र भी जिसका संवित् आवृत नहीं हुआ हो ऐसे सिद्ध सम्यग्दर्शी ज्ञानी का ॥

सततम् = लगातार । बिना किसी व्यवधान के ।

त्रिपदाव्यभिचारिणी = जागर-स्वप्न-सुषुप्ति नामक पदों में । इन तीन संवेदन-भूमिकाओं में 'अव्यभिचारिणी' अविसंवादिनी । किसी भी अवस्था के द्वारा अनभिभूत होने के कारण अव्यवहितसंनिधि ॥

इस प्रकार के 'सुप्रबुद्ध' स्वीकृतस्वात्मा (स्वस्वभाव को अपनी स्वात्मा मानकर आत्मस्थ योगी) लोगों के लिए यह उपदेश नहीं है क्योंकि वे तो कृतकृत्य हैं ।

अपरस्य—दूसरे का । उसके समनन्तर किसी दूसरे **'प्रबुद्ध'** का अर्थात् परशक्तिपात से आविर्भूत प्रमातालोक वाले माया तमिश्रा के विलुप्त हो जाने के कारण समुन्मिषित विवेकचक्षु वाले एवं मोहोत्साह-संपदा से मुक्त योगी पुरुष का ॥

१-३. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

तदाद्यन्ते—तब आदि एवं अन्त में ।

जागर-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों पदों का आदिभूत जो पद (जाग्रदवस्थात्मक पद)। उस पद का जो अन्तर्भूत पद है अर्थात् स्वप्न एवं सुषुप्ति नामक पद । वहाँ पर उसकी (आत्मतत्त्व की) उपलब्धि होती है ।

त्रिपद-स्वप्नसुषुप्तादौ ॥

यहाँ **'आदि'** शब्द स्वप्न—सुषुप्ति अवस्था में संगृहीत स्मृति मोह आदि अवस्था के परिग्रह का वाचक है ।

इस व्याख्यान का आशय यह है कि—यहाँ द्विविध आत्मतत्त्व को उपलब्धि का उपदेश दिया गया है । ये दो प्रकार निम्नानुसार हैं—(१) सर्वव्यतिरिक्त चिन्मात्रस्वरूप (२) विश्वात्मक और उसकी शक्तिचक्र का विषय ।

सुषुप्ति-स्वप्नरूप पदद्वय में भी **'प्रबुद्ध'** योगी के लिये यह उपदेश उपादेय नहीं है। जैसे कि सुप्रबुद्ध के लिए पदत्रय में—जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों में, क्योंकि उनकी तत्त्वोपलब्धि हो चुकी है और वह भी बिना प्रयत्न के ।

पदद्वयवर्ती संवित् के प्रत्यवमर्शमात्र से तत्वोपलब्धि होती है—यह प्रतिपादित किया जा चुका है । जब समस्त विकल्प रूप वेद्यों के विगलित हो जाने पर योगी प्रबोध दशा में निष्केवला सुषुप्तावस्था का परामर्श करता है । तब समस्त उपरागों से रहित और स्वरूप मात्र में विश्रान्त, नित्य अविलुप्त, चेतयितृमात्र स्वभाव वाले आत्मा (आत्म-तत्त्व) स्वयं प्राप्त हो जाता है ।

जब स्फुटतर अवभास से युक्त चेतन और अचेतन से युक्त भावचक्र निर्माणमयी अपनी स्वप्नावस्था का योगी परामर्श करता है तब उसी दृष्टान्त के द्वारा प्रबोध के बल से स्वस्वभाव परम कारण परमेश्वर की, व्यतिरिक्त कारणान्तर से निरपेक्ष होकर और मात्र अपनी स्वेच्छा से सर्वकर्तृता रूप तत्त्व प्राप्त कर लेता है ।

जहँ तक अप्रबुद्ध की बात है वह सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी समर्पित तुम्बक तोय द्रव्य के समान अन्तर का स्पर्श नहीं सकता—

अप्रबुद्धस्य पुनरेतत् प्रयत्नशतैरपि समर्प्यमाणं तुम्बकतोयद्रव्यवत् नान्तः स्पर्शं करोति ॥

इन दोनों पदों में 'प्रबुद्धं' को ही उपलब्धि प्राप्त हो सकती है । किन्तु इसे **जाग्रत्तुर्याख्य पद** द्वय में इसे भी उपलब्धि नहीं मिल पाती—

'परिशिष्टे जाग्रत्तुर्याख्ये पदद्वये सा अस्य नास्ति इति अर्थात् उक्तं भवति ॥'

अतः **जागरावस्था** में शब्दादिविषयग्रहण में व्यग्र इन्द्रियव्यापार व्यवहित व्यक्ति को, तथा तुर्यावस्था में (लोकोत्तर एवं अत्यन्त अपरिचित होने के कारण) स्वयमेव अत्यन्त दुर्लक्ष परतत्त्व की प्राप्ति के लिए प्रबुद्ध व्यक्ति को भी उपदेशों की अपेक्षा होती है । वृत्तिकार ने कहा भी है—

---

१. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

'जाग्रत्तुर्यौत्वागममान्तगम्यौ' 'तस्य चिद्रूपस्य सर्वगतस्य' ।

प्रबुद्ध एवं सुप्रबुद्ध योगियों की अनुभूतियों में भेद

प्रस्तुत स्पन्द सूत्र क्र० १७ में 'प्रबुद्ध' एवं 'सुप्रबुद्ध' योगियों की आभ्यन्तरिक अनुभूतियों में भेद का विवेचन किया गया है जो निम्नांकित है—

(१) **सुप्रबुद्ध की अनुभूति**—'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी'

(२) **प्रबुद्ध की अनुभूति**-तदाद्यन्तेऽपरस्य तु ॥ १७ ॥

सुप्रबुद्ध की अनुभूति—	**प्रबुद्ध की अनुभूति—**
१) इनकी उपलब्धि अखण्डात्मिका एवं सतत प्रवाहात्मिका होती है ।	१) इनकी उपलब्धि 'तदाद्यन्त' होती है ।
२) यह अनुभूति नित्य होती है (तस्योपलब्धिः सततं । नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य ।)	२) इनकी उपलब्धि न तो 'सतत' होती है और न तो 'नित्य' होती है ।
३) इनकी उपलब्धि—(स्पन्दसूत्र) जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में 'सतत' एवं 'नित्य' रूप से विद्यमान रहती है । —भट्टकल्लटः 'स्पंद स०'	३) 'तदाद्यन्ते अपरस्य प्रबुद्धस्य स्वप्नसुषुप्तादौ, जाग्रत्तुर्यौ त्वागममात्रगम्यौ ।' —**भट्टकल्लट**—स्पन्दसर्वस्व
४) 'तस्य चिद्रूपस्य सर्वगतस्य स्वस्वभावस्य उपलब्धिः त्रिषु जाग्रदादिषु पदेषु नित्यं सुप्रबुद्धस्य भवति ॥' —'स्पन्दसर्वस्व'	४) 'तदाद्यन्ते'='तत्' = इन जाग्रत आदि अवस्थाओं की । 'आदि' = प्रथम = जाग्रतावस्था । 'अन्ते' = अन्तिम दो पदों (स्वप्न एवं सुषुप्ति में) —स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य)

तदाद्यन्ते' पदावली आचार्य क्षेमराज ('स्पन्दनिर्णय') **भट्टकल्लट** ('स्पन्दसर्वस्व') **रामकण्ठाचार्य** ('स्पन्दकारिकाविवृति) एवं भट्ट लोल्लट आदि सभी विद्वानों के लिए अनुसंधेय बनी रही । सूत्र का वास्तविक अभिप्राय क्या है? यह अनुसंधान का एवं जिज्ञासा का विषय बना रहा ।

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं कि सुप्रबुद्ध योगियों में जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन अवस्थाओं के आदि, मध्य एवं अन्त में आत्मानुभव अखण्डरूप से प्रवाहित रहता है ।

प्रबुद्धयोगियों को यह आत्मानुभव मात्र स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्था में प्राप्त होता है—भट्टकल्लट ।

प्रश्न—क्या प्रबुद्ध योगियों को भी स्वप्न एवं सुषुप्ति की अवस्थाओं में सुप्रबुद्धों की ही भाँति ही अखण्ड, एकरस, अविरल एवं तैलधारावत् आत्मानुभव प्राप्त होता रहता है या नहीं ? क्या इन दो अवस्थाओं के आदि, मध्य एवं अन्त में सुप्रबुद्धों की ही भाँति 'सतत' एवं 'नित्य' अनुभूति प्राप्त होती रहती है या नहीं ? **रामकण्ठाचार्य** ने

भट्ट कल्लट के दिशा-निर्देशन में ही स्पन्द सूत्रों की व्याख्या की है किन्तु वहाँ भी स्थिति सुस्पष्ट नहीं हो पायी है ।

कतिपय आचार्यों को **रामकण्ठाचार्य** द्वारा प्रस्तुत 'तदाद्यन्ते' की व्याख्या मान्य नहीं है । उनके कथनानुसार—

१) प्रबुद्ध योगी को स्वप्न के अन्त एवं सुषुप्ति के आदि में (स्वप्न से सुषुप्ति में प्रवेश के समय) दोनों अवस्थाओं के मध्यवर्ती संधि-क्षण में स्पन्दात्मक स्वभाव की अनुभूति विद्युत स्फुलिंग की भाँति अति अस्थायी रूप में होती है ।

२) साधना की अग्रवर्ती यात्रा में प्रबुद्ध योगी (सुप्रबुद्धावस्था में) जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति की तीनों अवस्थाओं के आदि-मध्य-अन्त में इस आत्मानुभूति का समान रूप से अखण्डात्मक स्वरूप में सतत अनुभव करता रहता है—यही दोनों की आत्मानुभूतियों के कालिक स्थिरता में भेद है ।

प्रमाताओं की श्रेणियाँ—प्रमाताओं की चार श्रेणियाँ हैं । जिन्हें कि 'मालिनी-विजय' (२-४३) नामक ग्रन्थ में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है ।
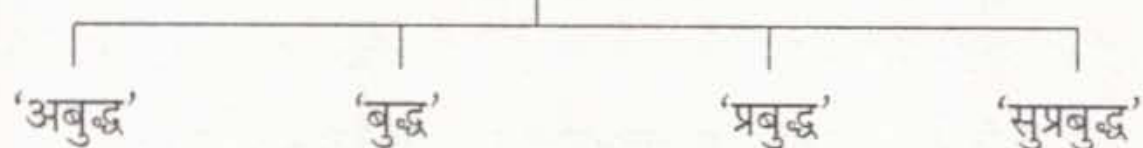
'चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च । प्रबुद्धं सुप्रबुद्धं च'—मा०वि०

१) अबुद्ध प्रमाता—भगवान् की तिरोधानात्मिका शक्ति द्वारा संहारावस्था में अवस्थित प्रमाता अबुद्ध प्रमाता हैं । उनकी अवस्था अंधकारावृत गहन गुहा में प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न अजगरों की भाँति विसंज्ञावस्था है । वे कालरात्रि एंव प्रकृति (गुणत्रय की साम्यावस्था) के गर्भ में मूढ़वत् स्थित हैं । उनकी आत्मा की चैतन्यावस्था अख्याति के अभेद्य वज्रावरण से आच्छादित रहती है । इस अवस्था में शब्दादिक विषयों का ग्रहण भी नहीं कर सकते और सद्भाव, असद्भाव, सुख-दुःख की संवेदना आदि से शून्य रहते हैं—('स्वच्छन्दतन्त्र' ११.९१-९५)

२) बुद्ध प्रमाता—'स्वच्छन्दतन्त्र' (११.९६-११२) में बुद्ध प्रमाताओं का विशद विवेचन किया गया है ।

संहारावस्थावस्थित इन अबुद्ध प्रमाताओं में से कर्मपरिपाक होने की स्थिति में 'अनन्तभट्टारक' (अशुद्धाध्व के स्वामी) स्वेच्छा से इन प्राणियों को उनके संचित एवं प्रारब्ध कर्मों के आधार पर उनके योग्य योनि में जन्म देते हैं । अनन्तभट्टारक उनमें, 'कलातत्त्व' के माध्यम से, चेतना का अविर्भाव करके उन्हें स्थूल शरीर प्रदान करते हैं और वे जन्म-मरण के चक्र में पड़कर अनन्त योनियों में जन्म लेकर संसरण करते रहते हैं । ये ही हैं—स्थूल शरीरी संसारी जीव या 'पशु' हैं । इनका प्रधान उद्देश्य होता है विषयोपभोग की कामना और उसकी पूर्ति । ये आत्मचिन्तन से विरत रहते हैं ।

३) **प्रबुद्ध प्रमाता**—शिवानुग्रह, शक्तिपात आदि कारणों से बुद्ध प्रमाताओं में से कतिपय प्रमाताओं के हृदय में सांसारिक विषयों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और ये प्रमाता सत्तर्क, भक्ति एवं सद्ज्ञान का आश्रय लेकर और जागत एवं जागतिक संबन्धों को इन्द्रजाल मानकर आत्मशोध की ओर अग्रपद होते हुए अपनी तीव्रतम आत्मोत्कण्ठा की भूमिका पर आरुढ़ होने पर (शाङ्कर मार्ग में दीक्षित होकर) प्रबुद्ध भाव को अतिक्रान्त करके सुप्रबुद्धभूमि पर पदार्पण करते हैं।

४) **सुप्रबुद्ध प्रमाता**—प्रबुद्ध प्रमाता अपनी एकनिष्ठ भक्ति, सद्ज्ञान एवं परमात्मानुग्रह से अनुगृहीत होकर साधना-पथ पर अग्रपद होता हुआ शङ्कर रूप गुरु से दीक्षा प्राप्त करके योगमार्ग के उच्च शृंगों पर पदार्पण करते हुए तुर्यात्मक शाक्त भूमिका पर आरुढ़ होकर स्वस्वभाव का साक्षात्कार करके शिवत्व प्राप्त कर लेता है। यह प्रमाता 'वर्ण', 'पद', 'मन्त्र', 'कला', 'तत्त्व', 'भुवन' नामक ६ मार्गों को अतिक्रान्त करके त्रि-कालाबाधित, समरस्त, प्रशान्त, चिद्रूप एवं स्वस्वभावात्मक शिवभाव अधिगत कर लेता है। वह 'चक्रेश्वरत्व' प्राप्त कर लेता है—स्वयं शिव हो जाता है और **'शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं'** के रसानुभूति-रत्नाकर में लय हो जाता है। यही है उसकी नित्योदित समाधि या जीवन्मुक्ति की अवस्था जिसमें 'पूर्णाहन्ता' का स्वानुभव योगी को नित्य समरस शिवशक्ति के सामरस्य में आपादमस्तक निमज्जित करके उसे शिव बना देता है। यही है आत्म प्रत्यभिज्ञा—स्वरूपावस्थान की अद्वैतात्मक उच्चतम अवस्था।

विभिन्न अवस्थाओं में आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूप—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥ १८ ॥

पराशक्ति से समवेत एवं सर्वव्यापक आत्म चैतन्य जाग्रत अवस्था में मात्र 'ज्ञेय' पदार्थों के रूप में एवं स्वप्नावस्था में मात्र ज्ञान स्वरूप होकर प्रकाशित होता है किन्तु वह अन्यत्र (सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं में) चिन्मात्र रूप में ही प्रकाशित होता है ॥ १८ ॥

*** सरोजिनी ***

आत्म चैतन्य (स्पन्दतत्त्व) किस अवस्था में कौन सा स्वरूप धारण करके प्रकाशित हुआ करता है—इसी विषय का इस कारिका में विवेचन किया गया है।

'पद' = अवस्थायें।

अवस्थायें

- जाग्रत अवस्था
  - मुख्य
  - मिश्रित
- स्वप्नावस्था
  - मुख्य
  - मिश्रित
- सुषुप्ति अवस्था
  - मुख्य
  - मिश्रित
- तुरीयावस्था (सामान्य स्पन्दभूमि)
- तुरीयातीत अवस्था (पूर्णचिन्मयावस्था)
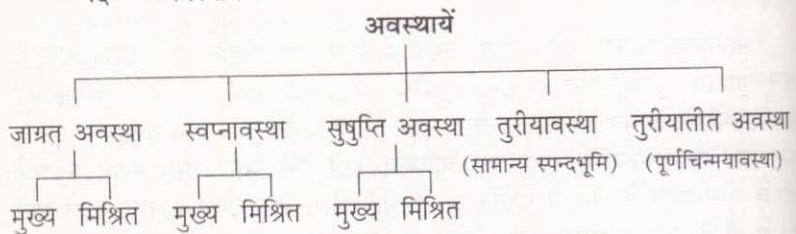
तुरीयावस्था = (१) जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति को अस्तित्व प्रदान करती है। (२) जिसमें जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति लय हो जाती हैं । (३) जिसमें पूर्वोक्त तीन अवस्थायें मुख्यता, अमुख्यता (मिश्रण) का भेद उत्पन्न ही नहीं कर सकतीं ॥ (४) जाग्रत, स्वप्न सुषुप्ति से अतीत अवस्था । (इसमें मुख्य अमुख्य भेद भी संभव नहीं है) पूर्ण चिन्मात्र अवस्था । यह स्वयं पूर्ववर्ती अवस्थाओं को सत्ता देती है ।

विभु = सर्वव्यापक आत्मतत्त्व ॥

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या—ज्ञानज्ञेय स्वरूपिणी शक्ति के द्वारा ।[१]

शक्त्या परमया युतः—अपनी परमा शक्ति से संवलित होकर ।

पदद्वये = जागृतावस्था एवं स्वप्नावस्था में ।

अन्यत्र = सुषुप्ति एवं तुरीयावस्था में ।[२]

सुप्रबुद्ध योगी की तीनों पदों (जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति) में कैसी उपलब्धि रहती है—उसकी इस श्लोक में विवेचना की गई है । सर्वव्यापक (All-pervading) परमात्मा अपने को दो अवस्थाओं में व्यक्त करता है—

१) प्रथमतः ज्ञान एवं ज्ञेय के रूप में सर्वोच्चशक्ति प्राप्त के रूप में ।

२) द्वितीयतः चैतन्य के साथ अभिन्न (एकीकृत चिन्मय रूप में ।[३]

पराशक्ति से संयुक्त, सर्वव्यापक, शङ्करात्मा, स्वभावस्थ परमात्मा, स्वस्वरूप एवं स्पन्द तत्वात्मा के रूप में अवस्थित शिव जागृतावस्था एवं स्वप्नावस्था दोनों में स्फुरित होता है । वहाँ वह सदाशिव विश्व को ईश्वर के समान अपने शरीरांग के समान समझता है—'तत्र हि विश्वं असौ सदाशिव ईश्वरवत् स्वांगवत पश्यति'—किन्तु अन्यत्र (सुषुप्ति एवं तुरीय में) नहीं ।[४] 'त्रिपदाव्यभिचारिणी' कहकर तो तीनों अवस्थाओं में इसकी व्याप्ति कही गई है फिर जाग्रत एवं स्वप्न मात्र में ही उसकी व्याप्ति क्यों कही गई और सुषुप्ति या तुर्यावस्था को क्यों छोड़ दिया गया ? क्योंकि सुषुप्ति की अवस्था मोहपंकिल होती है जबकि जागृति एवं स्वप्न की अवस्था साधकों के शिवाराधना से समवेत रहती है अतः यहाँ मात्र दो पदों का ही उल्लेख किया गया है । शिवाराधना की दृष्टि से जाग्रत-स्वप्न अधिक चिन्मय रहते हैं अपेक्षाकृत मोहात्मक सुषुप्ति के । एक सुप्रबुद्ध योगी तीनों अवस्थाओं में किस प्रकार तत्त्व साक्षात्कार करता है—इसकी विवेचना की गई ।[५] तुरीयावस्था की तुलना में तो जाग्रतस्वप्न महत्त्वपूर्ण नहीं हैं किन्तु मोहात्मक सुषुप्ति की तुलना में तो वे ज्यादा उत्कृष्ट दशायें हैं ही क्योंकि इसमें शिवाराधना होते रहने से उनमें चिन्मयत्व अधिक रहता है ।

अवस्थायें : 'ज्ञानं जाग्रत, स्वप्नो विकल्पः अविवेको माया सौषुप्तम् । (शिवसूत्र)।

'सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा ।
सृष्टिः साधारणी सर्व प्रमातृणां स जागरः ॥'[६]

१-५. स्पन्दनिर्णय ।   ६. महार्थमञ्जरी ।

आरोहण के स्तर पर (पूर्ण शिव भाव की स्थिति में) शक्ति के ५ मुख कहे गये हैं जो निम्नांकित हैं—

'चित', 'निवृत्ति', 'इच्छा', 'ज्ञान', एवं 'क्रिया'

माया के प्रभाव से (अवरोहण के स्तर पर) उक्त ५ शक्तियाँ—विमर्श या स्वातन्त्र्य शक्ति-'माया' बन जाती है और 'चित्' इच्छादिक शक्तियाँ—**'कला' 'विद्या' 'राग' 'काल' एवं 'नियति'**, बन जाती हैं— माया - 'कला'

(१) **'कला'**—सर्वकर्तृत्व को किंचित् कर्तृत्व में परिवर्तित कर देती है ।
(२) **'विद्या'**—सर्वज्ञातृत्व को अल्प ज्ञातृत्व में परिवर्तित कर देती हैं ।
(३) **'राग'**–तृप्त की अतृप्ति, अपूर्णम्यन्यता रूप आसक्ति में परिवर्तित कर देता है।
(४) **'काल'**—नित्यता को अनित्यता में परिवर्तित कर देती है ।
(५) **'नियति'**—व्यापकता को अव्यापकता में बदल देती हैं ।

स्वातन्त्र्य शक्ति					**माया तत्त्व**
शक्ति					**पंचकंचुक**
(चित:)	सर्वज्ञता	—	(विद्या:)	—	अल्पज्ञता ।
(निर्वृति:)	सर्वकर्तृत्व	—	(कल)	—	अल्पकर्तृत्व ।
(इच्छा:)	पूर्णत्व	—	(राग)	—	अपूर्णता ।
(ज्ञान:)	नित्यता	—	(काल)	—	अनित्यता
(क्रिया:)	व्यापकता	—	(नियति)	—	अव्यापकता

'माया' = अन्तरंग आवरण ।। पूर्ण संवित् को आवृत कर लेता है ।

देह, प्राण, पुर्यष्टक, इन्द्रियाँ = **बहिरंग आवरण ।।**

तत्र सृष्ट्युन्मुखो भगवान् शुद्धाध्वनि वर्तमान: स्वशक्तिभि:

१) मायां विक्षोभ्य 'कलातत्त्व'—किंचित्कर्तृत्वलक्षणं पुद्गलस्य सृजति ।[१]

२) ततोऽपि किंचिदवबोधाख्यं 'विद्यातत्त्वं'

३) किंचिदभिलाषरूपं च 'रागतत्त्वं' तदेतत्सरागं कर्तृत्वं ।[२]

४) भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिधा अवच्छिद्यतेवत 'कालतत्त्वं'

५) तुल्यत्वेऽपि रागे येन कर्तृत्वस्य अवच्छेद: क्रियते तत् **नियति तत्त्वं**—

तदेतत् कंचुक षट्कम् अन्तर्मलावृ[३]तस्य पुद्गलस्य बहिराच्छादकम् :

माया कला शुद्धविद्या राग कालौ नियंत्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात्कंचुकानि मितात्मन: ।।
एवं च पुद्गलस्यान्तर्मल: कंचुकवत्स्थित: ।
तुषवत्कंचुकानि स्युस्तस्माज्ज्ञानक्रियोज्झित: ।।'[४]

१-३. जन्ममरणविचार । ४. चिल्लाचक्रेश्वरमत ।

'कला' पुरुष में परिमित कर्तृत्व का निर्माण करती है और इसके द्वारा सुख दुःखमोह रूप भोग्य का सृजन करती है ।

'कला'—कला से ही अष्टगुणात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है ।

सात्विक-राजस-तामस भेदभिन्न त्रिस्कंध अहंकार उत्पन्न होता है ।

अहंकार—मन को जन्म देता है । इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं

तन्मात्रा होती हैं । पंचभूत उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार एक ही आदिदेव की स्वातन्त्र महिमा के द्वारा संसार में संसरण करने वाले प्रमाता को परिमितप्रमातृत्व प्राप्त होता है—

'भूतानि तन्मात्रगणेन्द्रियाणि, मूलं पुमान्कंचुकयुक्तसुशुद्धम् ।
विद्यादि शक्त्यन्तमियान्स्वसंवित्, सिन्धोस्तरंगप्रसरप्रपंचः ॥'[1]

चिद्रूप परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है और अत्यन्त उत्कृष्ट सामर्थ्य से युक्त है । वह जाग्रत और स्वप्न में देदीत्यमान रहता है । उसकी शक्ति ही ज्ञान और ज्ञेय दोनों है । इसी से दोनों अवस्थाओं में दो प्रकार का कार्य करती हैं । दो प्रकार की उपलब्धि होती है । इन दोनों अवस्थाओं में अन्यत्र सुषुप्ति और तुरीय दोनों अवस्थाओं में वह चिन्मात्र ही रहता है क्योंकि वह ज्ञेय नहीं ज्ञान स्वरूप ही रहता है ।[2]

'विभुः' = व्यापक । 'ईश्वरश्चिन्मात्रमूर्तिरात्मा' ।

'पदद्वये' = जागर एवं स्वप्न नामक अवस्थाओं में ।

'परमया' = अत्यद्भुतरूप वाला होने के कारण सर्वातिशायिनी (शक्ति) के द्वारा ।

'शक्तया' = निजी सामर्थ्य के द्वारा । शक्ति के द्वारा ।

'युतः' = सहित ॥ **'भाति'** = प्रकाशित होता है । प्रकाशते, चकास्ति ॥

किस प्रकार की शक्ति के द्वारा ? **'ज्ञानज्ञेय स्वरूपिण्या'** = ज्ञायतेऽनेन इति ज्ञानं । बाह्याभ्यन्तर करणचक्र ग्रहणात्मक या ज्ञप्तिमात्र या **'ज्ञेय'**—ग्राह्यः शब्दादिसुखादि च विषयजातमनन्तविशेष । उस प्रकार का रूप जिसका हो वह 'ज्ञेयस्वरूपिणी' उस ज्ञेयस्वरूपिणी के द्वारा ॥

परमेश्वर ही अपनी माया के वशीभूत होकर विविधात्मक ज्ञेत्रज्ञरूप द्वारा अवभासमान होकर अपनी अव्यतिरिक्ता पराशक्ति को 'ज्ञान' एवं 'ज्ञेय' भाव से अवभासित करते हुए **जागर-स्वप्न दशा वाले व्यवहार को उद्भावित करता है** । यही है उस शक्ति का पारम्य । अपने वैभवस्वरूप की प्रकाशमानता का अतिरोध करती हुई शक्ति ज्ञान-ज्ञेय के अनन्त रूपों में स्फुरित होती है 'स्वस्य वैभवरूपस्य प्रकाशमानतां अतिरोदधती ज्ञानज्ञेयमयानन्तरूपतया स्फुरति ॥'

द्वैतात्मक (अभेदाप्रथन) स्थिति के मायांधकार में—**अन्यत्र** = अपरत्र । सुषुप्ति

---

१. जन्ममरणविचार में उद्धृत । २. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

एवं तुर्यावस्था में । पदद्वय से अन्यत्र । **चिन्मय** = 'चेतयत इति चित उपलब्धृ-स्वभाव आत्मा ईश्वरः तन्मात्रप्रकृतिः ॥ **'अन्यत्र'** (सुषुप्ति एवं तुर्यावस्था) को उन दोनों (जागर-स्वप्न) पदों से व्यतिरिक्त होने के कारण (क्योंकि यहाँ वेदनीय का अभाव रहता है) निष्कलस्वात्ममात्रविश्रान्तशक्ति रूप ईश्वर ही प्रकाशित होता है । जागर एवं स्वप्न ज्ञान-ज्ञेय से युक्त अवस्थायें हैं तथा सुषुप्ति एवं तुर्य अवस्थायें चिन्मयत्व से युक्त अवस्थायें हैं। **जागर एवं स्वप्न की अवस्थायें** स्थैर्य एवं अस्थैर्य प्रतिपत्ति के विकल्पों से निर्मित हैं । **ईश्वर परिकल्पित** सर्ग जागरावस्था में दृढ़ता से प्रतिपादित होता है किन्तु स्वप्न में स्थैर्यहीनता के साथ । 'स्वप्नावस्था का सर्ग **क्षेत्रज्ञपरिकल्पित होता है** (जीवात्मा-निर्मित होता है) **सुषुप्तावस्था** में इन दोनों पदों की स्थिति से भिन्नता है । यहाँ तो चिन्मात्ररूप तत्त्व के रहने पर भी मोह के वशीभूत होकर—'अहं' इस उपलब्धृ-चमत्कार से रहित होने के कारण असत् के समान प्रतीति होती है । **'तुर्य पद'** में भी तो उसी जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति के संवित् तत्त्व की उपलब्धि होती है किन्तु भेद यह है कि यहाँ उसकी उपलब्धि आत्मा के रूप में होती है—'तस्यैव तु तत्त्वस्य परमार्थसत्तया आत्मत्वेनोपलब्धिस्तुर्यपदे—इत्ययं सुषुप्ततुर्ययोर्भेदः ॥'

इसी से चारों पद—(१) 'विश्व' (२) 'तैजस' (३) 'प्राज्ञ' एवं (४) 'तुर्य' नाम से प्रसिद्ध हैं । 'ज्ञान ज्ञेयभेदेन द्विरूपम्' की यही व्याख्या है । प्रश्न यह उठता है कि—जागृतावस्था एवं स्वप्नास्था तो ज्ञान-एवं ज्ञेय से युक्त होकर एवं सुषुप्तावस्था तथा तुर्यावस्था चिन्मयत्व के द्वारा प्रकाशित हैं अतः प्रकाशन की दृष्टि से तो दोनों में अभिन्नता है अत:पद तो केवल दो ही हैं फिर पदचतुष्टय की बात कैसे कही जाती है? —इसी के उत्तर स्वरूप ऊपर कहा गया कि ये चार पद निम्न हैं—(१) विश्व, (२) तैजस, (३) प्राज्ञ, (४) तुर्य ।

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेय के रूप त्रिपुटी के विभाग (विभाजन) के विभ्रम के ध्वस्त होने पर एकमात्र (अद्वितीय) परमार्थ सत् चित्प्रकाशैकरूप, तथा उसी प्रकार के स्वभावानुभवितृता मात्र धर्म के लक्षण वाले तत्त्व की जो जिज्ञासा होती है उसी उद्देश्य से—'तदन्यत्र तु चिन्मयः' कहा गया है ।[१]

पदत्रय ('त्रिपदाव्यभिचारिणी' का० १७, 'पदद्वये' १८)

१. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति ।
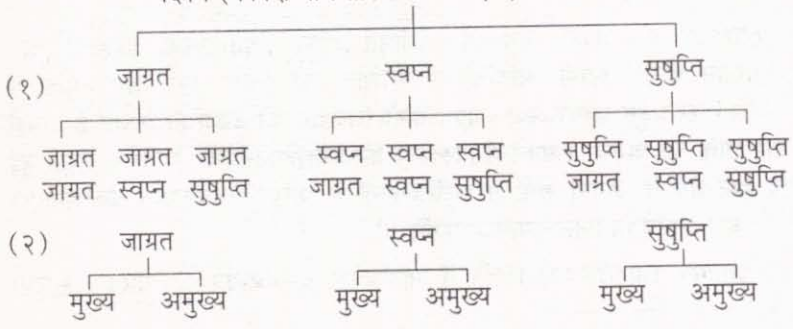
(३) त्रिपद के अतिरिक्त अवस्थायें— तुरीयावस्था / तुरीयातीतावस्था

(४) योगियों की अवस्थायें—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यते .... ।

योगियों का जागरण (ध्यान) — योगियों का स्वप्न (धारणा) — योगियों की सुषुप्ति (समाधि)

इन समस्त अवस्थाओं में अनुभविता (वेदक) एक ही स्पन्द तत्त्व (आत्मा) है ।

शैवपरिभाषा में अवस्थाओं के भेद—(शिवाग्र योगीन्द्र ज्ञानशिवाचार्य)—

केवलावस्था — सकलावस्था — शुद्धावस्था

सप्रतिभा जाग्रदवस्था — अप्रतिभा जाग्रदवस्था — १) आत्मा का कंठावस्थान = 'स्वप्न' ॥
२) आत्मा का हृदयावस्थान = 'सुषुप्ति'॥

जाग्रत — स्वप्न — सुषुप्ति — तुरीय — तुरीयातीत

निर्मल जाग्रदवस्था — निर्मल स्वप्नावस्था — निर्मल सुषुप्तिअवस्था — निर्मल तुरीयावस्था — निर्मल तुरीयातीतावस्था
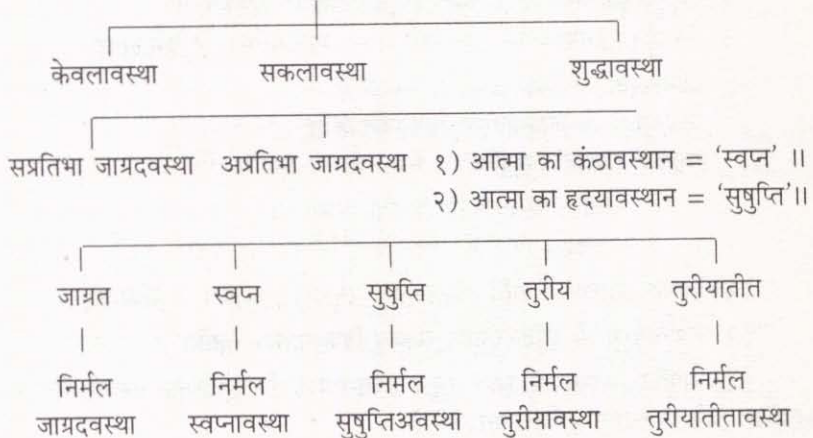
(१) **तुरीयावस्था**—'यदा नाभिस्थाने प्राणवायुना द्वितीय आत्मा तिष्ठति तदा तुरीयावस्था ॥'

(२) **तुर्यातीतावस्था**—'यदा तु मूलाधारे तत्त्वतात्त्विकादीन् सर्वान्विहाय आत्मैवैक प्राणवावृतस्तिष्ठति तदा तुर्यातीतावस्था ॥

'पशवस्त्रिविधा ज्ञेयाः सकलः ।
प्रलयाकलः विज्ञानाकल... ॥' —'शैव परिभाषा' ॥

पशुओं (मितप्रमाता रूप आत्मा) के भेद

सकल — प्रलयाकल — विज्ञानाकल
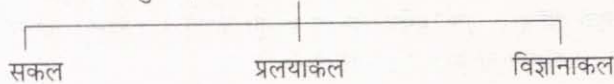
आत्मा की अवस्थायें—१) 'केवलावस्था' २) 'शकलावस्था' ३) 'शुद्धावस्था' (आत्मनस्तित्रोऽवस्थाः केवलावस्था, सकलावस्था, शुद्धावस्था चेति ।)

पशु = अवस्थाभेदोपेतो मलसम्बद्धचिद्रूपो व्यापकः पशुरिति ॥ —'शैवपरिभाषा'

अवस्थायें कितनी ही बदलती जायें किन्तु अवस्था नहीं बदलता । 'जाग्रत' 'स्वप्न', 'सुषुप्ति', 'तुर्य', 'तुर्यातीत' अवस्थाओं में अवस्थाता (प्रमाता = पशु) किन-किन रूपों में अवस्थित होता है ?

अवस्था	आत्मा का स्वरूप-धारण	अनुभविता
१. जाग्रत अवस्था	आत्मा = ज्ञेयपदार्थों का रूप धारण करने वाली	आत्मा
२. स्वप्नावस्था	आत्मा = ज्ञान का रूप धारण करने वाली	आत्मा
३. सुषुप्ति और तुर्यावस्था	आत्मा = चिन्मात्र रूप में प्रकाशमान होने वाली	आत्मा

(१) 'ज्ञानज्ञेयभेदेन द्विरूपे जाग्रतत्स्वप्नात्मके पदद्वये संवेदनम् ।'

(२) 'सुषुप्ततुर्यात्मके पदद्वये पुनश्चिद्रूपत्वेन केवलम् अनुभवः ।'

(३) 'न तु द्वितीयमन्यत्वेन उपलभ्यते ॥'—'स्पन्दसर्वस्व' (**भट्टकल्लट**)

'ज्ञानरूपता' = स्वप्नावस्था से सम्बद्ध है ॥
'ज्ञेयरूपता' = जाग्रतावस्था से सम्बद्ध है ॥
'जाग्रत' 'स्वप्न' 'सुषुप्ति' = ध्यान-धारणा-समाधि ॥

'ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शत्त्या परमया युतः ।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः ॥' (का० १८)

(१) जाग्रत अवस्था में शक्ति का स्पन्दन (स्फुरणा) का रूप = **'ज्ञेयता'** ।

(२) स्वप्नावस्था में शक्ति-स्फुरण संकल्प विकल्पात्मक **'ज्ञप्ति'** ॥

(३) सुषुप्ति अवस्था में शाक्त स्फुरणा चिन्मय है किन्तु ज्ञेयता संस्कार रूप में अवशिष्ट रहने के कारण पूर्ण चिन्मय नहीं है ।

(४) तुर्यावस्था में ज्ञेयता के संस्कार भी नहीं रहते अतः इसमें शक्ति स्फुरणा का रूप पूर्ण चिन्मय है ।

जाग्रत अवस्था—मेयभूमिरियं मुख्या जाग्रदाख्या' (तं० १०.२४०) ।

प्रमेयभूमिका के रूप में यह अवस्था मुख्य अवस्था है । विमर्श शक्ति (संवित् भट्टारिका) प्रमेय भूमिका पर अवरोहरण करती हुई प्रमेय, प्रमाण, प्रमा, एवं प्रमाता बन कर विश्व के रूप में स्पंदित होती है । इस अवस्था में वेद्य पदार्थ व्यावहारिक सत्य है अन्तः संवेदन ही वेद्य पदार्थ के रूप में रूपान्तरित होता है । इस अवस्था में स्पन्दात्मिका विमर्श शक्ति ही ज्ञेय (प्रमेय) बनकर प्रस्तुत करती है । आन्तर घट पट आदि वेद्य पदार्थों का अवभासन ही बाह्य घट, पट हैं—

'तथा हि भासते यत्तन्नीलमत्तः प्रवेदने ।
संकल्परूपे बाह्यस्य तदधिष्ठातृबोधकम् ॥
यन्तु बाह्यतया नीलं चकास्त्यस्य न विद्यते ।
कथञ्चिदप्यधिष्ठातृ भावस्तज्जाग्रदुच्यते ॥

यह अवस्था अधिष्ठातृ नही अधिष्ठेय अवस्था है—

यदधिष्ठेयमेवेह नाधिष्ठातृ कदाचन ।
संवेदनगतं वेद्यं तज्जाग्रतमुदाहृतम् ॥ (तं० १०.२३१)

स्वप्नावस्था—इस अवस्था में संवित् भट्टारिका विमर्श शक्ति वैकल्पिक ज्ञानरूप में स्पन्दायमान होकर जाग्रत अवस्था के ही घट पटादिक प्रमेय पदार्थों को संकल्परूप से अवभासित करती है । वही प्रमेय, प्रमाता, प्रमा सभी कुछ (स्वप्न में) बनकर अवस्थित होती है । 'जाग्रतावस्था' प्रमेयप्रधान (ज्ञेय प्रमुख) होने के कारण **'प्रमेयपद'** एवं स्वप्नावस्था ज्ञानप्रधान होने के कारण **'प्रमाण पद'**—कहलाती हैं । यह अधिष्ठानावस्था है । **निर्मल सुषुप्ति** क्या है? स्वप्नावस्था के कारण उकार का मकार में, अभिमान के कारण का बुद्धि में लय, बुद्धि आदि तीनों के प्रेरक मकारादि तीनों का सुषुप्तिस्थान भूत तालुमूल में देहेन्द्रियवृत्तिरहित ज्ञेय-ज्ञातृ-ज्ञान की त्रिपुटी के रूप में अवस्थान ही **'निर्मल सुषुप्ति'** है । —'शैवपरिभाषा' ।

मुख्य सुषुप्ति अवस्था—यह पूर्णस्वाप की अवस्था है । यह प्रगाढ़ निद्रा नहीं है । यह समाधि की अवस्था है । इसे सुषुप्ति की अवस्था इसलिए कहते हैं क्योंकि—जाग्रत एवं स्वप्न का अनुभविता चिन्मात्र रूप में स्थित रहकर जाग्रत के **'ज्ञेयरूप'** एवं स्वप्न के **'ज्ञानरूप'** वेद्य पदार्थों के प्रति सुप्त हो जाता है । इसकाल में वेद्यता पूर्णतया विगलित होकर चिन्मात्ररूपता में लय नहीं हो जाती है अपितु तब तक संस्कार रूप में वर्तमान, रहती है । इसे ही 'मुख्य मातृ दशा' भी कहा गया है । इस अवस्था में ज्ञेयरूपता एवं वैकल्पिक ज्ञानरूपता के समस्त क्षोभ शान्त हो जाने के कारण प्रमाता मुख्य चिन्मात्ररूप में अवस्थित रहता है । अधिष्ठातास्वरूप (अन्तः संवेदनात्मक) प्रमेय-भाव (बाह्य प्रमेय विश्व बीज) संस्कार रूपात्मक बन कर मानों गंभीर निद्रा में निमग्न हो जाते हैं ।

यत्त्वधिष्ठातृभूतादेः पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम् ।
बीजं विश्वस्य तत्तूष्णीभूतं सौषुप्तमुच्यते ॥ (तं०)

निर्मल जाग्रतावस्था (शैवपरिभाषा)—अकार-उकार-मकार-विन्दु-नाद से अधि-ष्ठित शिवशक्तियोग से निर्मलान्तःकरण आत्मा हृदय में स्थित रहकर समस्त दृश्यमान प्रपंच को शिवाकारतया वैषयिक सुख को स्वरूपानन्दतया अनुभव करता है और यह अनुभव ही है—**निर्मल जाग्रत** अवस्था ॥ निर्मल स्वप्न क्या है? जाग्रतावस्था के कारण अकार का उकार में, बाह्यविषयों के ग्राहक मन का अहंकार में, अहंकारादि-चतुष्टय उकारादि चतुष्टय के साथ कण्ठ में **'सोऽहं'** भावना के साथ अवस्थान ही निर्मल स्वप्न है।

तुर्यावस्था—सुषुप्तिकाल का प्रमाता जागृतावस्था में प्रमाता होते हुए भी सुषुप्तिकालीन अनुभवों को जागृतावस्था में अनुभव नहीं कर पाता । सुषुप्तिकाल का अन्त होते ही संस्कारानुगत वेद्यता पुनः उदित हो जाती है और चिन्मात्ररूपता भेदावृत हो जाती है । इस समय विद्यमान वेद्यता के संस्कार भी शेष नहीं रह जाते । यह विशुद्ध प्रमारूपा है—

'यत्तु प्रमात्मकं रूपं प्रमातुरुपरि स्थितम् ।
पूर्णता गमनोन्मुख्यमौदासीन्यात्परिच्युतिः ॥—तत्तुर्यमुच्यते ॥ (तं०)

यही है शिवभाव में प्रवेश का द्वार । इस स्तर पर मायीय औदासीन्य शान्त हो जाता है । स्पन्द सूत्र में इसे ही—ज्ञान क्रिया की शाश्वत स्पन्दात्मिका (शाक्त भूमिका) विमर्श भूमिका कहा गया है । जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थायें तुर्या में लय हो जाती हैं और प्रमेय प्रमाण में, प्रमाण प्रमाता में, प्रमाता प्रमा में लय हो जाते हैं । यह अवस्था साक्षात् शाक्त समावेशात्मक अभेद व्याप्ति की अवस्था है । यह चिन्मात्रस्वरूप अवस्था है यह तीनों अवस्थाओं में व्याप्त रहकर उन्हें जीवन प्रदान करती है । तीनों अवस्थायें इसी तुर्यावस्था में लयीभूत हो जाती हैं । यह अवस्था विशुद्ध प्रमारूप है और रजशून्य, विमल, अखण्ड एवं चिन्मात्र है । यही मातृदशा भी है—

'मुख्या मातृदशा सेयं सुषुप्ताख्या निगद्यते ॥'

सुषुप्ति की अवस्था के लक्षण निम्नांकित हैं—

१) अनुभूतौ विकल्पे च योऽसौ द्रष्टा स एव हि ।
न भावग्रहणं तेन सुष्ठु सुप्तत्वमुच्यते ॥ (तं०)

२) यत्त्वधिष्ठातृभूतादेः पूर्वोक्तस्य वपुर्ध्रुवम् ।
बीजं विश्वस्य तत्तूष्णीभूतं सौषुप्तमुच्यते ॥ (तं०)

तुर्यावस्था वह अकथ्यावस्था है जहाँ मन में विद्यमान वेद्यता के संस्कार भी शेष नहीं रह जाते । यह अवस्थात्रय का लयीभाव है । यहाँ प्रमेय प्रमाण में एवं प्रमाण प्रमाता में लय हो जाता है—'मेयं माने मतरि तत् सोऽपि तस्यां मितौ स्फुटम् । विश्राम्यति ... ॥' यही है शक्तिसमावेद + शाक्तसमावेश युक्त अभेद व्याप्ति की दशा भी यही है—

'शक्तिसमावेशा ह्यसौ मतः ॥' (तं०) ॥

गुणादि विशेष स्पन्द एवं सामान्य स्पन्द का अन्तर्सम्बन्ध—

गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पंदसंश्रयात् ।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥ १९ ॥

गुणादि स्पन्दों (विशेष स्पन्दों) के प्रवाहों के 'सामान्य स्पंद' (प्रतिष्ठित स्पन्द) पर आश्रित होने के कारण वे सदा उनसे ही अपना अस्तित्त्व प्राप्त करते हैं । (ये अनन्त एवं नित्य प्रवहमान गुणादि विशेष स्पंद) तत्त्वज्ञों के (स्वरूप के) आच्छादक (परिपन्थी) नहीं बना करते ॥ १९ ॥

*** सरोजिनी ***

स्पन्द अहं विमर्शात्मक हैं । 'स्पंद' विश्वोन्मुखी सङ्कल्पात्मक उन्मुखता है । इसका स्वरूप 'अहं प्रत्यविमर्श' है । 'स्पन्द' विमर्शरूप, उच्छलाना पूर्ण एवं सङ्कल्पात्मक हैं । अपनी ही शक्ति के प्रसाररूप विश्व को 'अहं' के रूप में विमर्श करते हुए सर्वत्र अपनी ही अनुभूति 'पूर्णाहन्ता' है ।

गुणस्पन्दों के अनन्त प्रवाह हैं। स्पन्दशक्ति का प्रथम बहिर्मुखी निष्यंद प्राण हैं। **गुणस्पन्द** = सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण के स्पन्द ॥

अनन्त रूप में प्रवहमान अनन्त प्रकारक विकल्प-प्रत्यय ही विशेष स्पंद है। **निष्यन्द** = प्रवाह। **अपरिपन्थी** = अनाच्छादक ॥ 'स्पन्दतत्त्व' के दो भेद हैं—१. **सामान्य स्पंद**, २. **विशेष स्पंद**। **प्रतिष्ठित स्पन्द** एवं **अप्रतिष्ठित स्पन्द** भी इन्हीं के पर्याय हैं। गुणादिस्पंद ही विशेष स्पंद हैं।

अब ग्रन्थकार इस तथ्य को प्रतिपादित करता है कि सुप्रबुद्ध योगी को जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति, आदि-मध्य-अन्त आदि कोई भी अवस्था साधना-मार्ग में बाधा नहीं पहुँचा पातीं।[१]

गुण = सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण।

निष्यन्द—प्रवाह। ब्रह्माण्ड का बुच्छादितुच्छ पदार्थ से लेकर महनीय पदार्थ भी स्पन्द शक्ति का ही एक प्रवाह है। स्पंद की विशिष्ट अभिव्यक्तियाँ जो कि गुणों के साथ आरंभ होती हैं एवं जिनकी सत्ता व्यापक स्पंद तत्त्व पर आधृत है—ज्ञाता का विरोध कभी नहीं करतीं।[२]

गुण = प्रकृति के गुणत्रय। मायातत्त्वावस्थित तीन गुण। 'स्वच्छन्दतन्त्र' में कहा गया है—

अधश्छादयन् मूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत्।
मध्ये तमो विजानीयात् गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ॥ (२।६५) ॥

परिपन्थी = स्वस्वभावाच्छादक, विरोधी।

ज्ञ = सुप्रबुद्ध।

निष्यन्द = नीलसुखादि। स्पन्दों के प्रसर।

स्पन्द = कलादिक्षित्यन्त तत्त्व।

संश्रयात् = आश्रय ग्रहण करने से।[३]

पारमेश्वरी, ज्ञान-क्रिया-माया शक्तित्रितय द्वारा सदाशिव आदि पद में स्फुरित होकर सङ्कोच के प्रकर्ष द्वारा, सतोगुण—रजोगुण एवं तमोगुण रूपी क्रीड़ाशरीर का आश्रय लेती है। **'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा'** (३।३।४) में कहा गया है—

स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या।
माया तृतीयेव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥ (३।३।४)[४]

शाश्वत एवं स्पन्दात्मिका संवित् शक्ति जब बाह्य प्रसार की ओर उन्मुख होती है तब उसका सर्वप्रथम परिणामन—प्राण के रूप में ही होता है।

'तेनाहुः किल संवित् प्राक् प्राणे परियाता ॥ (तं० ६.१२)

१-४. स्पन्दनिर्णय।

तस्योपलब्धिर्योक्ता सा गुणस्पन्दादिभिः स्थितैः ।
कुतस्त्या चेति साशंका ये तान् प्रत्युच्यते त्विदम् ॥

प्रश्न यह उठता है कि जब गुणस्पन्दादि अनेक पदार्थ स्थित हैं तब उसकी उपलब्धि कहाँ । इस शंका पंक का प्रक्षालन करते हुए ग्रन्थकार—'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः .... परिपन्थिनः ॥' कारिका कहता है ।

सत्त्व, रज एवं तम ये तीनों गुण एवं महान, अहंकार आदि के जो स्पंद हैं उन्हीं के निष्यन्द (प्रवाह)—सुख, दुःख, मोह आदि की तरंगें हैं । वे सामान्य स्पन्द के अन्तर्लीन अनन्त विशेषों का आलम्बन प्राप्त करके ही सत्तावान् होते हैं । अतः तत्त्वज्ञ योगी के स्वरूप में उनसे कोई व्यवधान नहीं पड़ता । वे योगी के विरोधी नहीं, प्रत्युत् स्वरूप के विलास हैं । जैसे पुष्प का रस उसके स्वभाव का आच्छादक नहीं है उसी प्रकार स्पन्द के निष्पंद अरविन्द के मकरन्द के समान ही हैं । एकसिद्ध ने कहा भी है—

'प्रकाश के राजमहल में प्रकाश्य वस्तु दिखाई नहीं पड़ती । अनन्त संविद में संवेद्य भी संविद्रूप है'—

'यद्वत्प्रकाशभवने प्रकाश्यविषयो न दृश्यते मातः ।
संपर्कात्तव तद्वत् संविद्वेद्ये न भाव्यते जातु ॥'

'मातंगपारमेश्वर' नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त यह जो विस्तीर्ण मार्ग है, वह चिद्वस्तु से सिद्ध होता है और उसी से जाना जाता है ।

गीता में भी कहा गया है—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामतितरन्ति ते ॥' (७।१४)[१]

गुणादि = सतोगुण रजो गुण एवं तमोगुण । ये गुणादि स्पन्द के निष्यन्द ही हैं जो कि ज्ञाता पुरुष के परिपंथी (विरोधी) हैं ।

स्पन्दानाम = क्षेत्रज्ञ की ज्ञानादिक शक्तियों के ।

निष्यन्द = नाना अर्थों की ओर उन्मुख होने से प्रसृत प्रवाहों का समूह अर्थात् विभिन्न प्रत्यय ही हैं 'स्पन्दनिष्यन्दः' 'निष्यन्दाः नानार्थौन्मुख्येन प्रसृताः प्रवाहा भिन्नाः प्रत्ययाः स्पन्दनिष्यन्दाः ॥'

गुणादि = गुण आदि ॥ महत्तत्त्व (प्रधान) जिससे किये गुणत्रय आविर्भूत होते हैं तथा गुणत्रय ॥

सुखादिक से युक्त होने के कारण सत्वादिमय गुणादिक—

स्पन्दनिष्यन्द—'अहं सुखी, दुःखी मूढः' आदि अनेक प्रकार के ज्ञान-भेद । ये किस रूप के हैं? 'सामान्यस्पन्दसंश्रयात् लब्धात्मलाभाः ॥' हैं ।

---

१. स्पन्दप्रदीपिका—उत्पलदेवाचार्य ।

सामान्य अर्थात् सर्वव्यापक अन्तर्लीन अनन्त विशेष स्पन्द वाले एवं शक्ति-स्फुरित परतत्त्व ।

संश्रयात्—सम्यक् रूप से अनन्यशरणतया श्रयण करने भजन करने के कारण ।

लब्धात्मलाभाः = जिन्होंने आत्मा का लाभ प्राप्त कर लिया हो वे लोग । **लब्धः** आसादित । प्राप्त ॥ (अपने स्वस्वरूप का लाभ या साक्षात्कार ।) **'ज्ञस्य'** = ज्ञाता का । परमेश्वरानुग्रह से उदित हेयोपादेय प्रत्ययों के प्रमाताओं के भाव का । **'सामान्य स्पन्द'** ही परमेश्वर की मुख्यशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित निर्विकल्पप्रतिपत्ति (निर्विकल्प समाधि के) है 'सामान्यस्पन्द एवं परमेश्वरमुख्यशक्तित्वेन'[१] ।

तात्पर्य यह है कि जो कोई जिस किसी भी मायीय प्रमाता के सुखाद्यात्मक होने के कारण जो गुणमय स्पन्दनिष्यन्द (जो कि प्रत्ययसंधान हैं) प्रसृत हो रहे हैं वे सभी एक ही **सामान्य स्पन्द का आश्रय** लेकर उस आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं । जो 'प्रबुद्ध' हैं उनके उदय से अभिज्ञ (प्रज्ञा पात्र) होने के कारण उन नित्योद्योगी लोगों के लिए ये उत्पन्न नहीं होते । जो 'अप्रबुद्ध' हैं वे तो दुर्निवार प्रसर हैं । अप्रबुद्ध कौन हैं? पारमेश्वर परानुग्रह से परित्यक्त होने से जिनकी प्रगाढ़ अज्ञाननिद्रा एवं धी (प्रज्ञा) विगलित (विनष्ट) नहीं हो सकी वे ही हैं अप्रबुद्ध ।[२]

स्पन्द—(स्पन्द शक्ति का सर्वप्रथम बहिर्मुखी निष्यन्द) = 'प्राणस्पंद'-५ स्थूल प्राण,-सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण, मन, बुद्धि अहंकार (अन्तःकरण) वेद्य सुख, दुख, मूढ़ता, अन्तःकरण के विषय, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, घट पट वेद्य विषय, समस्त विश्व के अनन्त प्रमेयों का प्रतिसमय होने वाला प्रवाह । **'स्पन्दनिष्यन्द'** = स्पन्द-प्रवाह । इन्हीं विशेष स्पंदों के पाश में समस्त जगत् जकड़ा हुआ है ।

विशेषस्पंदों की अनन्त **अनेकाकारिता** में सामान्य स्पन्द की **एकाकारता** अनुस्यूत एवं प्रवाहित होती रहती है । जो विशेष स्पन्द हैं उनके अनन्त रूपों में शिव की शक्तियाँ ही प्रवाहित होती हैं ।

सुप्रबुद्ध योगियों की भूमिका = तुर्यारूप शाक्त भूमिका ॥

एकात्मकता में अनेकात्मकता
एवं अनेकात्मकता में
एकात्मकता
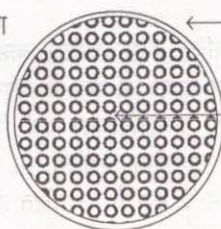
← एकात्मक सामान्य स्पन्द

प्राण, इन्द्रयाँ, पंचभूत,
तन्मात्राएँ, घट, पट, सुख,
दुःख आदि
अनन्त 'विशेष स्पन्द'
(समस्त विकल्प) ॥

अबुद्धों की भूमिका = जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं विशेष स्पंदों की भूमिका ॥

१-२. रामकण्ठाचार्य—स्पन्दकारिकाविवृति ।

समस्त 'विशेष स्पन्द' भी 'सामान्य स्पन्द' के ही बाह्य रूपान्तर हैं क्योंकि—

१) 'स्वयं बध्नाति देवेशः स्वयं चैव विमुह्यते ।
स्वयं भोक्ता स्वयं ज्ञाता स्वयं चैवोपलक्षयेत् ॥[१]

२) स एष विश्वनाटकशैलूष शुद्धसंविच्छंभुः ।
वर्णकपरिग्रहमयी तस्य दशा कापि पुरुषो भवति ॥[२]

'पूर्णाहन्ता' (एकात्मक) में 'विश्वविकल्प' (अनन्त विकल्प) स्थित है अतः 'एक' में अनेक अनुस्यूत है—

'पूर्णाहन्ताया मुखे विश्वविकल्पांकुराणां विक्षेपम् ॥[३]

'स्पन्द' के दो रूप हैं?

स्पन्द

'सामान्य स्पन्द' (प्रतिष्ठित स्पन्द) 'विशेष स्पन्द' (अप्रतिष्ठित स्पन्द)
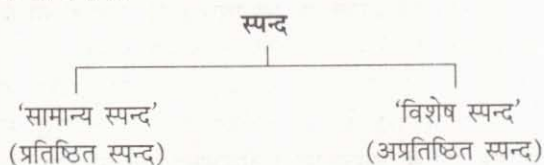
'सामान्य स्पन्द'—समस्त नामरूपात्मक सत्ताओं की अनेकता की माला में ग्रंथित सर्वानुस्यूत, सार्वभौम वह अद्वैत चेतना-सूत्र है जो कि समस्त फूलों की अनेकता में एकता की प्राणधारा प्रवाहित करता है । वह विराट् चेतना की वह अद्वितीय एवं एकात्म इकाई है जो समस्त भेदों में अभेद, द्वैतों में अद्वैत एवं अनेकताओं में एकता का सञ्चार करती है । इसे ही **'प्रतिष्ठित स्पन्द'** भी कहते हैं । यह समस्त सत्ताओं का सामान्य धर्म है—उनकी सर्वजनीन चेतना है—सर्वगत सामान्य शक्ति है ।

विशिष्ट स्पन्द = मायातत्त्व से पृथ्वी पर्यन्त प्रसृत भेदों-उपभेदों से युक्त समस्त विश्व का अनेकत्व ही विशिष्ट स्पन्दता है । 'विशिष्ट स्पन्द' सामान्य स्पन्द की खण्डित इकाइयाँ हैं । एकत्व से निःसृत अनेकत्व है । सूत्रकार ने इसे 'स्पन्द-निष्यन्द' (अनेक रूपों में प्रवहमान स्पन्द धारायें) कहा है । विश्व का प्रत्येक पदार्थ विराट् स्पन्द शक्ति की एक विशिष्ट धारा है । इन विशिष्ट स्पन्दों में अनुस्यूत एवं पारमेश्वरी **'सामान्य स्पन्द शक्ति'** ही है ।

प्राणस्पन्द—स्पन्दात्मिका संवित् (स्पन्दशक्ति) बाह्यप्रसरोन्मुख होने पर सबसे पहले **'प्राण'** (विश्वचेतनात्मक सूक्ष्म प्राण) के रूप में परिणत होती हैं—'तेनाहुः किल संवित् प्राक् प्राणोपरिणता' **'संवित्'** प्रकाशात्मिका एवं विमर्शमयी दोनों हैं । संवित् अनेक स्तरों पर अवरोहण करके पृथग्भूत वेद्यांशों के माध्यम से सूक्ष्म से स्थूल भूमिकाओं पर आरुढ़ होकर विश्वप्राण के रूप में उच्छलित होती हैं । प्राणि जगत् में प्राण (विश्व प्राणना) का रूप धारण करके अवतरित होना संवित् का प्रथम **बहिर्मुखी 'निष्यन्द'** हैं । यही है **'प्राणस्पन्द'** । यह समष्टिगत विश्व प्राण—पञ्च स्थूल प्राणों का

१. परिमल । २-३. महार्थमञ्जरी

रूप धारण कर लेता है । यह स्पन्द शक्ति 'प्राणस्पन्द' के रूप में रूपान्तरित होने के अनन्तर अनेक रूपों में पर्यवसित होती है । **स्पन्दनिष्यन्द**—गुणत्रय, अन्त:करणचतुष्टय, ११ इन्द्रियाँ अर्थात् आब्रह्मस्तंबपर्यन्त विश्व के प्रत्येक प्रमेय, सीमितप्रमाता, प्रमा, एवं प्राणियों के अनन्त भावों में यही स्पन्दशक्ति प्रवाहित होती है । **'स्पन्द-निष्यन्द'** इन्हीं अनन्त स्पन्द प्रवाहों को कहते हैं । पशुभूमिका में अन्त: प्रवहमान यह स्पन्द-प्रवाह ही माया, बन्धन, अज्ञान एवं अविद्या का कारण है ।

'संवित्' की प्रथम परिणति **प्राणस्पन्द** या प्राण के रूप में ही होती है । प्रकाशविमर्शमय संघट्ट ही आनन्द शक्ति है और **विश्व के अनन्त भेदों में स्पन्दित होना ही इसका स्वभाव है** । इसीलिए कहा जाता है कि संवित् प्रतिक्षरण उद्‌लनात्मक है । उच्छलनात्मक स्वभाव के कारण यह विशुद्ध प्रकाशस्वरूपा संवित् शक्ति विशेष स्पन्दों में अविश्रान्त प्रवहमान है। अपने में अभिन्नतया अवस्थित वेद्यभाग को अपने से पृथक् करके तथा अपने स्वरूप में अविचलित रूप में पूर्णत: अवस्थित रहकर यह स्पन्द शक्ति विश्वातीत एवं विश्वमय दोनों स्वरूपों में क्रीड़ारत है ।

पशुभूमिका में यह स्पन्दशक्ति अपने व्यष्टिगत प्रवाहों द्वारा जीवों को बन्धन में डालती है तथा सुप्रबुद्ध भूमिका में एक योगी विशेष स्पन्दों की विभिन्नता एवं अनेक रूपात्मकता में भी सामान्यस्पन्द की एकाकारता का अनुभव करता है । विशेष स्पन्दों के रूप में प्रवहमान अनन्त नामरूप (विशेष स्पन्दों के अनन्त रूप) केवल शांकरी शक्तियाँ ही तो हैं ।

भट्टकल्लट कहते हैं कि—सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण के रूप में प्रवहमान गुणस्पन्दों की अनन्त धारायें 'सामान्यस्पन्द' पर ही आधृत है । ये विशेष स्पन्द चिन्मय स्वभाव पर आवरण डालकर उसके मार्ग के प्रतिबन्धक नहीं बन सकते । **पूर्ण शाक्त समावेश होने पर** सामान्य स्पन्द स्वभाव की अनुभूति को विशेष स्पन्द के अनन्त प्रवाह कोई बाधा नहीं पहुँचा सकते—

'गुणस्पन्दस्य सत्वरजस्तमोरूपस्य ये निष्यन्दा: प्रवाहा: ते सामान्यस्पन्दमाश्रित्य प्रसृता अपि सततं ज्ञस्य विदितवेद्यस्य योगिन: स्युर्भवेयु:, भवन्त्यपरिपन्थिन: अना-च्छादका: स्वभावस्य:' ।[1]

> 'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दा: सामान्यस्पन्दसंश्रयात् ।
> लब्धात्मलाभा: सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिन: ॥'[2]

परमात्मा की द्विविधात्मक सृष्टि एवं उनमें अनुस्यूत अवस्थायें तथा स्पंद: जिस 'सामान्य' एवं 'विशेष स्पन्द' का विवेचन किया गया है उसका सृष्टि के स्वरूप से गंभीर संबन्ध है—सृष्टि के दो रूप है—१) आदि सर्ग, २) परवर्ती ।

१) 'तन्त्रालोक' की 'विवेक' (१.१३५) नामक व्याख्या में आचार्य जयरथ कहते हैं कि विश्वनिर्माण के इच्छुक परमेश्वर प्रथमत: स्वाव्यतिरिक्त विश्व का सृजन करता है ।

---

१. स्पन्दसर्वस्व (भट्टकल्लट) । २. स्पन्दकारिका ।

यह स्वाभिन्न (परमेश्वराभिन्न) सृष्टि 'आदिसर्ग' है—'विश्वनिर्माणच्छुर्हि परमेश्वरः प्रथमं स्वाव्यतिरिक्तमिव विश्वं प्रकाशयेत्, अयमेव हि 'आदिसर्गः' ॥

२) इस आदिसर्ग के बाद—'अनन्तरं यदास्य मायया सर्गचिकीर्षा भवति तदा स्वस्वात्रंत्यात् स्वात्मदर्पणेऽनन्तग्राह्यग्राहकद्वयाभाससन्ततीराभासयति ॥' (विवेक)

१) 'आदिसर्ग' = विश्वावभासन करने की सङ्कल्पात्मक उन्मुखता के काल में प्राथमिक अवभासन परमात्मा के स्वरूप से अभिन्न (तद्रूप) 'अहंविमर्श' के रूप में हुआ करता है। यही आदि सर्ग है।

२) इसके अनन्तर परमात्मा अपनी स्वसमवेता 'स्वातन्त्र्यशक्ति' के विकसित रूप 'मायाशक्ति' के द्वारा अपने स्वस्वरूप पर ही आवरण डालकर अपने स्वरूप रूपी दर्पण में अनन्त ग्राहकों एवं ग्राह्यों का अवभासन करता है और इस प्रकार परमात्मा ही तीन रूपों से अवभासित होता है—१) पतिप्रमाता २) पशुप्रमाता ३) जड़ात्मक प्रमेय। आदिसर्ग की परवर्ती समस्त नानात्मक सृष्टि—'विशेष स्पंद' के अन्तर्गत है। गुणादि-स्पंदों को ही 'विशेष स्पंद' कहा गया है। शाश्वत कर्तृता शक्ति का स्वरूप 'अहं-विमर्शात्मक स्पन्द' है। यही 'महासत्ता' भी है। गुणादि एवं तज्जन्य स्पन्द 'विशेष स्पन्द' है क्योंकि उनमें सामान्यता का नहीं 'विशेषता का भेद' अवस्थित रहता है।[१]

विशेष स्पन्दों के लक्षण और प्रभाव—

अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यताः ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ॥ २० ॥

ये (गुणादिरूपों में प्रवहमान विशेष स्पन्द) स्वरूप (आत्मा) की यथार्थ स्थिति (चिन्मात्रता) पर आच्छादन डालने पर (सदैव) प्रयत्नरत रहते हैं। अतः ये (विशेष स्पन्द) अज्ञानावृत बुद्धि वाले पशुओं को दुस्तर एवं भयङ्कर जगद्रूप मार्ग में फेंक देते हैं ॥ २० ॥

*** सरोजिनी ***

गुणादि रूपों में प्रवाहित विशेष स्पन्द अल्पज्ञ पशुओं (मितप्रमाताओं) की यथार्थ चिद्रूपता पर आवरण डालकर उन्हें अनतिक्रम्य, दुस्तरणीय एवं भयावह जगत् के कण्टकाकीर्ण मार्ग पर डालकर उन्हें पथभ्रष्ट कर देते हैं। वे अबुद्ध पशु के स्वरूप (आत्मस्वरूप) को प्रत्येक क्षण आच्छादित करते हैं जिससे पशु स्वरूप को गुणादि विशेष स्पन्दों के रूप में देखते हैं न कि शुद्धबुद्धस्वरूप वाले आत्मा के रूप में **भट्टकल्लट** ने कहा है—

'यतस्तदात्मकमेव नित्यमात्मानं पश्यन्ति न शुद्धबुद्धस्वरूपतया ॥'

(मा० वि० ३.३१) में भी कहा गया है—

---

१. स्पन्दकारिका (१४) में स्पन्दकी अन्य दो अवस्थायें बताई गई हैं—
(१) 'कर्तृत्व', (२) 'कार्यत्व'।

'विषयेष्वेव संलीनामधोऽधः पातयन्यणून् ।
रुद्राणून् याः समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥'

'स्वस्थितेः' = चिद्रूप आत्मा का ॥ स्वरूप (आत्मा) की वास्तविक स्थिति का ॥ **ते** = वे गुण (गुणादि स्पन्द) ॥

'अप्रबुद्ध' = अज्ञानी ॥ अप्रत्यभिज्ञात पारमेश्वरी शत्त्यात्मकनिजस्पन्द तत्त्व वाला देहात्माभिमानी, प्राणात्माभिमानी लौकिक पुरुष ।

धी = बुद्धि ॥ **शक्ति**-चित, निर्वृत्ति-इच्छा, ज्ञान, क्रिया ।

माया = कला, विद्या, राग, काल, नियति ॥

एते = ये ॥ पूर्वोक्त गुणादिस्पन्द निष्यन्द ।

स्वस्थितिस्थगनोद्यताः = अपनी पारमात्मिकी स्थिति पर आवरण डालकर अपने को बन्धन ग्रस्त करने हेतु प्रयत्नशील ॥

स्थगन = अपनी स्पन्दतत्त्वात्मा स्थिति को रोकना ॥

दुरुत्तार = 'दैशिकैः जन्तुचक्रं लंघयितुं अशक्ये' अलंघ्य ॥

संसारवर्त्मनि = संसरणमार्ग में । संसार के पथ में ।

दुरुत्तार = कठिनाई से पार होने योग्य ॥ **पातयन्ति** = (ये स्पन्द-निष्यन्द दुरुत्तार घोर संसार मार्ग में) गिराते हैं । श्री 'मालिनीविजय' में कहा भी गया है—

'विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून्याः समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥'

स्पन्द तत्त्वात्मा पराशक्ति जगत् तो अन्दर एवं बाहर वमन करने और वामाचार के कारण **'वामेश्वरी शक्ति'** कहलाती है । यही शक्ति खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी चार रूपों वाले देवताचक्र को जन्म देकर सुप्रबुद्धों को उनके द्वारा परम भूमि में पहुँचाती है किन्तु अप्रबुद्ध लोगों को इन्हीं शक्तियों के द्वारा अधोलोक एवं अधपतन के मार्ग में गिराती है । जिस प्रकार 'खेचरी' (खे = गगन में । चरी = संचरण करने वाली) ज्ञानियों को सर्व-कर्तृत्व—सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-व्यापकत्व प्रथा कर्त्री है उसी प्रकार वही अप्रबुद्धों को—किंचि-त्कर्तृत्व-किंचिज्ज्ञता आदि प्रदान करती है ।

१) **'गोचरी'**—गौर्वाक तदुपलक्षितासु सञ्जल्पमयीषु बुद्ध्यहंकारमनोभूमिषु चरन्त्यो **गोचर्यः** सुप्रबुद्धस्य स्वात्माभेदमयं अध्यवसायाभिमानसंकल्पान् जनयन्ति मूढ़ानां तु भेदैकसारान् ॥

२) **'दिक्चरी'** = दिक्षु दशसु बाह्येन्द्रियभूमिषु चरन्त्यो दिक्चर्यः सुप्रबुद्धस्य अद्वयप्रथासाराः **अन्येषां** द्वयप्रथाहेतवः ।[१]

३) **'भूचरी'** = भूः रूपादि पंचकात्मकं मेयपदं तत्र चरन्त्यो **भूचर्यः** तदाभोगमय्या आश्यानीभावतया तन्मत्वं आपन्नाः **भूचर्यः सुप्रबुद्धस्य** चित्प्रकाशशरीरतया आत्मानं दर्श- यन्त्य इतरेषां सर्वतो अपि अवच्छिन्नतां प्रथयन्त्यः स्थिताः ॥[२]

---

१. स्पन्दनिर्णय । २. स्पन्दनिर्णय ।

'खेचरी', **'गोचरी'**, **'दिक्चरी'** एवं **'भूचरी'**—शक्ति चक्र अन्त:करण एवं बहिष्करण प्रमेय रूप से गुणादिस्पंद युक्त अप्रबुद्ध लोगों को बिन्दुनादादि प्रथामात्र से संतुष्ट योगियों को संसार में अध:पतित करती रहती हैं।[१]

मूढ़ पुरुष के लिए ये ही स्पन्द-निष्यन्द चित् स्वरूप के आच्छादक बन जाते हैं क्योंकि वह मूढ़ बुद्धि पुरुष अपने को गुणात्मक दी देखता है शुद्ध बुद्ध नहीं।[२] कहा भी गया है—'जैसे बालक स्वच्छ दर्पण को अपने ही श्वासों से मलिन कर देता है वैसे ही अज्ञानी अपने विकल्पों से विज्ञान को मलिन कर देता है।[३] इसका परिणाम यह होता है कि वे जन्म-मरण के संसार-प्रवाह में भेद दिये जाते हैं। उस प्रवाह में अत्यन्त क्लेश है और दुस्तर भी है—

'यथादर्शं शिशु: स्वच्छं नि:श्वासैर्मलीमसम्।
करोति तद्वद्विज्ञानं स्वविकल्पैर्जडाशय: ॥'[४]

'ज्ञानसंबोध' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि यद्यपि **ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही आत्म शक्ति से संचालित होते हैं** तथापि **एक स्वतन्त्र है और द्वितीय परतन्त्र है। शुद्धबोध** पुरुष विषम स्थल में भी **साक्षी की भाँति स्वतन्त्र रहता है। मन्दबोध** पुरुष अंधे के समान समस्थल में भी परतन्त्र होता है—[५]

यद्यपि स्वात्मशक्त्यैव गति: साक्ष्यन्ययोर्द्वयो:।
तथाप्येक: स्वयं याति द्वितीयोऽन्येन नीयते ॥
साक्षिवत् स्फीतबोधानां स्वातन्त्र्यं विषमेष्वपि।
अंधवन्मन्दबुद्धीनां पारतन्त्र्यं समेष्वपि ॥[६]

'अप्रबुद्ध' = पारमेश्वर परानुग्रह से शून्य। अज्ञानात्मक बुद्धि वाले हैं। ये गुणदिस्पन्द निष्यन्द ऐसे अप्रबुद्ध लोगों को **घोर** (विभीषिकाशतसंकुल एवं दारुण) एवं दुरुत्तार (दुस्तीर्ण = दुर्लंध्य) संसारवर्त्म (जन्ममरणादि प्रबन्ध मार्ग) में अनवरत रूप से भटकाते रहते हैं—अध:पतित करते रहते हैं।

ये कैसे हैं? **'स्वस्थितिस्थगनोद्यता: ।।'**

स्व (परमात्मा) में सामान्यस्पन्द मात्र कर्म में स्थिति अर्थात् निर्विकल्प प्रतिपत्ति से उत्पन्न सुस्थिर प्रतिष्ठा वाले। **'उद्यता:'** = प्रतिपक्षभूत प्रबोध के उदित न होने के कारण विशेषस्पन्द में प्रसरणशील ॥

अप्रबुद्ध लोगों में सर्वकर्तृत्वादि लक्षण वाले सामान्यस्पन्द रूप महिमा रहते हुए भी समस्त कार्यों में परतन्त्र, अनात्मक देहादि को अपनी आत्मा समझने वाले, लब्ध-प्रसर,—'मैं सुखीं हूँ, मैं दु:खी हूँ,—आदि गुणप्रधान प्रत्यय प्रवाह वाले ये लोग संस-रणमार्गोपेत नश्वर संसार प्राप्त करते हैं। इस उपदेश के विषय केवल प्रबुद्ध है अप्रबुद्ध नहीं। ये कभी भीतर विश्राम नहीं कर पाते। कहा भी गया है—[७]

---

१. स्पन्दनिर्णय। २-६. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका'।
७. स्पन्दकारिकाविवृति : रामकण्ठाचार्य।

ज्ञेयत्वमप्युपगता हृदये न रोढुं, शक्ताः प्रमूढ़ मन मनसामुपदेश वाचः ।
आर्द्रत्वमादधति किं नलिनीदलानां, श्लिष्टाः निरन्तरतयापि नभोऽम्बुधाराः ॥

विशेष स्पन्द और उसकी भूमिका—

'विशेष स्पन्द' सामान्य स्पन्द के विपरीत व्यष्टिगत होते हैं और विशिष्ट धर्म विशिष्ट लक्षण एवं विशिष्ट वैलक्षण्यों से युक्त होते हैं । इनका एक विशेष स्वभाव यह है कि ये प्रत्येक क्षण पशुओं की चिन्मात्र आत्मसत्ता के ऊपर आवरण डालने में व्यापृत रहते हैं ।

भट्टकल्लट ने 'स्पन्दसर्वस्व' में इसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुआ कहा है—'स्वल्पप्रबोधांस्तु स्वस्थितेः चिद्रूपायाः स्थगनं कृत्वा, ते गुणाः पातयन्ति दुरुत्तारे अस्मिन् विषमे संसारवर्त्मनि, यतस्तदात्मकमेव नित्यमात्मानं पश्यन्ति, न तु शुद्धबुद्ध-स्वरूपतया ॥'[१]

सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण आदि गुणों में प्रवहमान विशेष स्पन्द प्रति काल खण्ड चिन्मात्र आत्मस्वरूप पर आवरण डालने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते हैं । परिणाम यह होता है कि दुस्तर संसार के मार्ग पर पशुओं को चलाकर ये 'विशेष स्पन्द' उनका अध:पतन करते रहते हैं 'विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून् । रुद्राणून् याः समालिंग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥ (मा०वि०)

अप्रबुद्ध = स्वप्न प्रबुद्ध ॥ **स्वस्थितेः** = चिद्रूप आत्मा का **स्थगनोद्यता** = स्थगन करने के लिए प्रयत्नशील । **ते (गुणाः) पातयन्ति** = वे गुण अध:पतित कर देते हैं । **दुरुत्तार** = दुस्तर । **घोर** = भयानक । **भट्ट कल्लट**—'क्योंकि पशुगण सारी सत्ताओं एवं भावों को गुणान्वित ही देखते हैं । आत्मा को भी तदात्मक देखते हैं न कि उसे शुद्ध बुद्ध स्वरूप की दृष्टि से ॥'

(१) 'शक्ति' बहिर्मुखी प्रसार करने की स्थिति में सदैव चिदात्मा पर आवरण डाल-कर उसके स्वरूप को छिपाना एवं अंधकारावृत रखना चाहती है ।

(२) बाह्योन्मुख स्पन्द-प्रवाह पंच कंचुक, देह, पंचभूत, विषय, आदि के आवरणों के रूप में प्रकट होकर चिदात्मा के चतुर्दिक ऐसा आवरण डाल देता है कि पशु आत्मस्वरूप को विस्मृत करके अनात्मा में आत्माभिमान करने लगता है । यही बाह्योन्मुखी शक्ति सुख, दु:ख, शोक, मोह, क्रोध, ममत्व आदि के रूप में रूपान्तरित होकर इन सारी वृत्तियों से पशुओं की आत्मा को क्षुब्ध करती रहती है । पशुओं की यही अधोगति **'शक्ति दारिद्र्य'** कहलाती है । इस स्तर पर ज्ञान-क्रिया-विभुता-इच्छा-तुष्टि आदि सभी की असीमता ससीमता (या संकोच) में परिवर्तित हो जाती है । पशु सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, सर्वकर्ता से अल्पकर्ता, सर्व व्यापक से किंचिद् व्याप्त एवं स्वतन्त्र से परतन्त्र बन जाता है । परम शुद्ध चिदात्मा शिव पराधीनता के पथ का पथिक बन जाता है ।

'अवरोहण' की यह अधोगामिनी क्रीड़ा पशुपति को पशु बना देती है ।

---

१. भट्टकल्लट : 'स्पन्दसर्वस्व' ।

अवरोहण की पतनोन्मुख प्रक्रिया—

स्पन्दनात्मिका चित् शक्ति का अशुद्धाध्व (माया से पृथ्वी तत्त्व) के मार्ग पर चल कर 'माया' का रूप धारण करना चिन्मात्र (शिवांश) आत्मा की चिन्मात्रता को ढककर उसे शिवभाव से पृथक् कर देना—चित, आनन्द-इच्छा-ज्ञान-क्रिया को कला, विद्या, राग, काल, नियति (पञ्चकञ्चुक) के मार्ग पर यात्रा कराना—सर्वकर्तृत्व को अल्पकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व को अल्पज्ञत्व, संतृप्ति से अतृप्ति, नित्यत्व को अनित्यत्व, व्यापकता को अव्यापकता में रूपान्तरित करना एवं आणव मल, मायीय मल एवं कार्ममल को आविर्भूत करके स्वतन्त्र शिव को पराधीन पशु बना देना—आदि के द्वारा अवरोहण प्रक्रिया निष्पादित होती है। 'लोलिका' (निष्कर्म अभिलाषा, अस्पष्ट आकांक्षा) क्षोभ उत्पन्न करके स्थूल अभिलाषा को जन्म देकर (राग तत्त्व के) उत्पाद के रूप में देता है। यही राग सारे बन्धनों का कारण है।

जाग्रत् अवस्था में भी स्पन्दतत्त्वाभिव्यक्ति के उपयोगी उपाय—

अतः सततमुद्युक्तः स्पन्द तत्त्व विविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥ २१ ॥

इसलिए (पूर्वोक्त कारणों से) स्पन्दतत्त्व स्वस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नरत (योगी) जाग्रत अवस्था में ही अपने भाव (स्पन्द तत्त्व) को शीघ्रता पूर्वक प्राप्त कर लेता है ॥ २१ ॥

*** सरोजिनी ***

जो साधक स्पन्दात्मक पर संवित् को अधिगत करने की आकांक्षा रखते हों उन्हें चाहिए कि वे स्पन्द तत्त्व की स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। 'शिव-सूत्र' (२.२) में—'प्रयत्नः साधकः' कहकर भी इसी तथ्य को प्रतिपादित किया गया है।

प्रतिक्षण सङ्कल्पविकल्पात्मक चित्त को आन्तर अनुसंधित्सा (गवेषणा) अर्थात् सद्विमर्श—की शक्ति के द्वारा सामान्य स्पन्दस्वरूप, विकल्प शून्य परसंवित् पर तत्त्व में विलीन करने का अकृतिक (अकृत्रिम) प्रयास ही **'प्रयत्न'** है आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्र-विमर्शिनी' (२।२) में कहते हैं—

(१) मन्त्रस्य अनुसंधित्सा प्रथमोन्मेषावष्टंभप्रयतनात्मा अकृतिको यः प्रयत्नः स एव साधकों (मन्त्रयितुर्मंत्रदेवता तादात्म्यप्रदः)।

(२) अकृतिकनिजोद्योग बलेन योगीन्द्रो मनः कर्मबिन्दुं विकर्षयेत् परप्रकाशात्मतां प्रापयेत्। 'प्रयत्नोऽन्तः स्वरंभः स एव खलु साधकः। यतो मन्त्रयितुर्मन्त्रदेवतैक्यप्रदः स्मृतः ॥ (वार्तिक)—शिवसूत्रवार्तिक।

इस श्लोक में अज्ञानी के संसार से पार होने की युक्ति को इस प्रकार समझाया गया है—

'अतः जबकि जाग्रत् अवस्था में भी कोई साधक जो कि स्पंद तत्त्व के सुस्पष्ट

साक्षात्कार के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। (तब) वह बहुत शीघ्र ही अपने यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।'[१]

अतः = इसलिए।
सततमुद्युक्तः = लगातार प्रयत्नरत॥
विवित्तये = विमर्शन के लिए। स्वरूपाभिव्यक्ति हेतु।
जाग्रदेव = जागृत् अवस्था में ही।
निजंभावं = आत्मीयशङ्करात्मकस्वस्वभाव को।
अधिगच्छति = प्राप्त कर लेता है।[२]

जो योगी अबाधित रूप में अहर्निश सदैव अंतर्मुखस्वरूप एवं निभालनप्रवण रहता है—'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते' (१२।२)—ऐसा योगी अपने आत्मीय शङ्करात्मक स्वस्वभाव को बहुत शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है। तथा उसकी शङ्करात्मा आन्तर स्वभाव स्वयं उन्मज्जित होता है जिससे कि नित्योदित समावेश को प्राप्त करने से सुप्रबुद्ध या 'जीवन्मुक्त' हो जाता है।[३]

स्पन्द के निष्यन्द अज्ञानी को सर्वदा पतित बनाने हेतु उद्यत रहते हैं। अतः अपने विकस्वर स्वभाव से स्पन्दतत्त्व का विवेक करने हेतु सदैव उद्योग करते रहना चाहिए। इसीसे स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः अपना स्वरूप उद्योक्ता है, विकस्वर है—शिव है। शिवसूत्रों में 'उद्योग' को शिव कहा गया है—'उद्योगः शिवः'। अतः जाग्रतावस्था अर्थात्—व्युत्थानावस्था में शीघ्र से शीघ्र उसे अपने स्वरूप का अधिगम हो जाता है। जो लगा रहता है; वह जागता रहता है। इसका विवेचन इस प्रकार है [४]—'मैं हूँ शुद्धबोधैकस्वरूपा यह जगत् मेरा विस्तार है, विलास है, जृंभा है, मुस्कान है। यह सब मेरा वैभव है।'—ऐसा ज्ञान हो जाने पर वह विश्वात्मा हो जाता है और विकल्पों के विस्तार में भी वह महेश्वर ही रहता है।'—

'सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता॥'[५]

'पञ्चरात्र' में भी कहा गया है—जब आत्मा में समस्त भूतों को देखता है और अपने को उनमें देखता है तथा अपने को तब उनसे पृथक् देखता है तब जनम-मरण से मुक्त हो जाता है—

'यदात्मनि सर्वभूतानि पश्यत्मात्मानं च तेषु पृथक्च तेभ्यस्तदा मृत्योर्मुच्यते जन्मनश्च'।

अन्यत्र भी कहा गया है—तुम निर्मल, अनन्त एवं एकमात्र बोधस्वरूप हो। भव्यबुद्धि सावधान पुरुष तुम्हें ज्ञाता और ज्ञेय दोनों में ही देख लेता है॥'—[६]

'निर्मलानन्त्य बोधैकरूपत्वं भव्यबुद्धिभिः।
वेद्याद्वा वेदकाद्वापि लभ्यसेऽवहितात्मभिः॥'

१-३. स्पन्दनिर्णय। ४-६. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका'।

'तत्वार्थचिन्तामणि' में भी कहा गया है कि—विवेक के द्वारा विशाल मोहान्धकार का विदलन हो जाने पर योगी के स्वरूप का उदय हो जाता है । अनात्मभाव का तिरस्कार हो जाने के कारण वह प्रत्येक दशा में अपने परमानन्दस्वरूप में मग्न रहता है । वह द्रष्टा-दृश्य के विवेक का रहस्य समझ गया । संसार का ऐसा कोई क्षमा करण या कोण नहीं है जहाँ वह नहीं है भवरोग मिट गया । उसके व्युत्थान में भी समाधि है । सच्ची मोक्षलक्ष्मी तो उसकी आत्मजा है—[1]

> इत्थं तत्तदनल्पमोहदलनप्राप्तस्वरूपोदयो,
> योगी नित्यमनात्मभावविरहात् स्वात्मस्थितो निर्वृतः ।
> दृश्य द्रष्टृ विवेकविद्धवपदव्यापी विमुक्तामयो,
> व्युत्थानेऽपि समाधिभाग्भवति सन्मोक्षश्रियः कारणम् ॥

अब ग्रन्थकार, 'ज्ञान ज्ञेय .... चिन्मयः' कारिका में प्रबुद्ध योगी के लिए उपक्रान्त उपदेश्यत्व की पुष्टि करके अगली तीन कारिकाओं में अप्रबुद्धों के प्रतिषेध के विषय में कह रहा है ।'

'अतः ...... अधिगच्छति ॥'—

अतः = इसलिए । प्रस्तुत व्याख्यान में श्लोकत्रय में निर्दिष्ट होने के कारण **जाग्रदेव** = जागते हुए ही । अर्थात् प्रबुद्ध ही ।

निजं भावं = आत्मीय पारमार्थिकी सत्ता ॥ **अचिरेण** = शीघ्र ही । अल्पीयस काल में । **अधिगच्छति** = सम्यक् रूप में उपलब्धि के द्वारा स्वीकृत करता है । (एव-कारेणाप्रबुद्धं व्यवच्छिनत्ति) ॥ कैसा होकर स्वीकार करता है—'स्पन्दतत्त्वविविक्तये सततमुद्युक्तः ॥'

स्पन्दस्य = स्पन्द का ॥ पर शाक्ततत्त्व का, उपचरित सामान्य विशेषात्मक रूप से दो प्रकार से व्याख्यास्यमान तत्त्व का । वह तत्त्व परमार्थ है और उपादेय एवं हेय के रूप में उसका रूप निश्चित है । **विविक्तये** = विवेक अर्थात् पृथक्करण के लिए ।[2]

परमकारणभूत, आत्मस्वरूप सत्य का—'यह मैं हूँ' ('अयमहमस्मि') अतः यहीं सब कुछ उत्पन्न होता है एवं यहीं सब कुछ विलीन हो जाता है—इस प्रकार का प्रत्यव-मर्शात्मक निज धर्म **सामान्यस्पन्द** है—'अयमहमस्मि, अतः सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते—इति **प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्मः सामान्यस्पन्दः' । विशेष स्पन्द क्या हैं?** विशेषस्पन्द के लक्षण (१) ये अत्यन्त हेय हैं (२) ये अनात्मभूत देहादिक पदार्थों में आत्माभिमान की उदभावना करते हैं । (३) ये आपस में भिन्न-भिन्न मायीय प्रमाताओं के भिन्न-भिन्न विषय हैं—यथा—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ । (४) ये गुणमय प्रत्यय-प्रवाह संसरण के मूल कारण हैं । 'अत्यन्त हेया विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्मा-भिमानमुद्भावयन्तः परस्परभिन्न मायीय प्रमातृविषयाः—सुखितोऽहं, दुखितोऽहं—इत्यादयो गुणमयाः प्रत्यय प्रवाहाः संसारहेतवः ॥'

---

१. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' । २. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति'।

'सततं' = लगातार । सभी अवस्थाओं में बिना किसी भी व्यवधान के । 'उद्युक्तः' = 'वक्ष्यमाणोपपत्तिलब्ध्युपाय प्रतिपत्यभिव्यज्यमान स्वबलबृंहणत्वात् अव्याहोत्साहमध्य वसितः' । अत्यन्त उत्साहपूर्वक अध्यवसायनिरत ॥ इससे यह सिद्ध होता है कि प्रबुद्ध ही उपायों का परिशीलन करने में एकतान बनकर शीघ्र ही अपने स्वस्वरूप की उपलब्धि कर लेते हैं अन्य नहीं ।[1]

आत्मोद्धार हेतु स्पन्द शक्ति के साक्षात्कार हेतु नियमित अध्यवसाय— भट्टकल्लट 'स्पन्द सर्वस्व' में कहते हैं—'अतः सततं सर्वकालं यः करोत्युद्योगं स्पन्द-तत्त्वस्य स्वरूपाभिव्यक्त्यर्थं स जाग्रदवस्थायामेव निजमात्मीयं, **तुर्यभोगाख्यं** स्वभावं अचिरेणैव कालेन प्राप्नोति ॥[2]

जो प्रबुद्धभूमिकारूढ़ योगी स्पन्दतत्त्व को अपने में अभिव्यक्त करने हेतु निरन्तर अक्लान्त अध्यवसाय करता रहता है उसको जाग्रत् अवस्था में ही अपने चिन्मात्रभाव की सम्प्राप्ति स्वल्पावधि में ही हो जाती है । ऐसा साधक अपने स्वगत भाव (तुर्य-चमत्कारमय स्पन्द तत्त्व) का अनुभव शीघ्र प्राप्त कर लेता है ।

उद्योग एवं प्रयत्न—'अतः सततमुद्युक्तः' यहाँ 'उद्योग' का क्या अर्थ है? 'शिवसूत्र' में 'प्रयत्नः साधक;' (२.२) कहकर जिस 'प्रयत्न' शब्द का जो अर्थ लिया गया है वही पारिभाषिक अर्थ यहाँ 'उद्योग' का भी है ।

स्पन्द का बहिर्मुखी (विश्वोन्मुख) एवं गुणादि रूपों में जो विराट् प्रवाह है—जो विश्वोन्मुखी प्रसरण है वही 'चित्त' कहलाता है । इसे चित्त इसलिए कहते हैं क्योंकि यह मनन धर्मा है—'चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्त्वं इति चित्तं, पूर्णस्फुरत्ता सतत्त्वप्रासाद-प्रणवादिविमर्शरूपं संवेदनम्, तदेव मंत्र्यते गुप्तम् अन्तर अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन, इति मन्त्रः ॥ अतएव च परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मिता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मक त्राणधर्मता च अस्य निरुच्यते ॥' (शि०सू०वि० २।१)

'चित्तं मन्त्रः' (२।१) के बाद दूसरा सूत्र 'प्रयत्नः साधकः' (२।२)—शाक्तोपाय-विवेचन के संदर्भ में लिखा गया है । दोनों शब्दों की विवेचना प्रासंगिक है ।

'चित्त' के द्वारा ही परम तत्त्व का चिन्तन किया जाता है । मननधर्मा होने के कारण ही मन्त्र का 'मन्त्र' नाम पड़ा है । मन्त्र का मनन चित्त द्वारा किया जाता है ।

चित्त में प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प की तरंगें उठती एवं बैठती रहती हैं । चित्त एक सरोवर है और संकल्प-विकल्प उसकी तरंगें है । चित्त-सरोवर में समुत्थित इन्हीं अ-निवार्य तरंगों को या संकल्पविकल्पस्वरूप 'चित्त' को (अन्तरोन्मुखी होकर) सद्विमर्श की शक्ति के माध्यम से सामान्य स्पन्द स्वरूप (विकल्पशून्य) पर संवित् में संलीन करने का प्रयत्न या उद्योग किया जाता है । शाक्त स्वरूप की अभिव्यक्ति आत्मस्वरूप की प्रत्य-भिज्ञा—मन्त्रवीर्य की अनुभव-प्राप्ति—पूर्णाहन्तास्वरूप 'वीर्य' का संवेदन—इसी 'प्रयत्न'

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

२. भट्टकल्लट : स्पन्दसन्दोह (स्पन्दकारिकावृत्ति) २१ ।

या 'उद्योग' के मार्ग से सम्भव हो पाता है। कारिकाकार 'उद्योग' की अखण्ड निरन्तरता का उपदेश दे रहे हैं। सारांश यह कि—त्रिगुणात्मक चित्त में विस्फुरित सङ्कल्प-विकल्प की व्यष्टिभूता भाव तरंगों को विकल्प शून्य परसंवित्तत्व में स्वाभाविक (सहज = अकृत्रिम) रूप से लय करने का अभिधान है—**'उद्योग'** (प्रयत्न)॥

विकल्प बन्धन के कारण हैं—अभिनवगुप्ताचार्य की दृष्टि—अभिनवगुप्त कहते हैं कि (१) मन्त्र (२) आत्म (३) द्रव्य (४) भूत (५) दिव्य (६) तत्त्व नामक ६ प्रकार की शङ्कायें विकल्पों को उत्पन्न करती हैं। इनका नाश भी ज्ञान से हो जाता है। विकल्पों का नाश 'ज्ञान' से होता है। विकल्पों के नाश से ही निर्विकल्पात्म संविद् में विश्रान्ति प्राप्त होती है। विकल्पों से शङ्काओं का जन्म होता है। **विकल्पोत्पन्न शङ्काओं के अतिरिक्त अन्य कोई बन्धन नहीं है**। मन्त्र शङ्का, आत्म शङ्का, द्रव्य शङ्का, भूत शङ्का, दिव्य कर्म शङ्का—ये ५ शङ्कायें हैं। ये जीवों को बन्धन में डालने वाले हैं। 'तत्त्वशङ्का' या 'पराशङ्का' भी है अतः—

'शङ्का विकल्पमूला हि शाम्येत्स्वप्रत्ययादिति॥'[१]

(१) विकल्पार्णवतारकत्वात्स्वोपलब्धि स्वत उद्धृतं ज्ञानं मुख्यं।

(२) विकल्पमूला मन्त्रादिविषया षोढा शङ्का शाम्येत् विकल्प स्वात्म संविद्विश्रान्तो भवेत्॥'

अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

(१) प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात् संस्कारमञ्जसा॥ (तं० ४.३)

(२) **विकल्पः** संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम्॥ (तं० ३.३)

(३) **विकल्पक्षीणचित्तस्तु** परमाद्वैतभावितः।
मुच्यते नात्र सन्देह इति सत्यं ब्रवीमि ते॥

(४) विकल्पाज्जायते शङ्का सा शङ्का बन्धरूपिणी।
बन्धोन्यो न हि विद्येत ऋते शङ्कां विकल्पजाम्॥

(५) त्रिप्रत्ययमिदं ज्ञानमात्मा शास्त्रं गुरोर्मुखम्।
प्राधान्यात्स्वोपलब्धिः स्याद्विकल्पार्णवतारिणीम्॥

अभिनवगुप्तपादाचार्य एवं अन्य शैव आचार्य इन उपर्युक्त कथनों के माध्यम से यह सिद्धान्त निरूपित करते हैं कि—

१) 'चित्त' विकल्पमूलक है।

२) विकल्प बन्धनप्रद है।

३) विकल्प-शोधन से 'उद्योग' में साकल्य मिलता है।

---

१. तन्त्रालोक (१३।१९८) 'विवेक' (तन्त्रालोक' की टीका : जयरथ)।

आध्यात्मिक उत्कर्ष एवं आत्मिक अभ्युत्थान के लिए **विकल्प-संस्कार की विधि का प्रतिपादन** अभिनवगुप्त की निजी दृष्टि है।

अभिनवगुप्त की विकल्प-संस्कार-प्रक्रिया—यदि साधक अपने विकल्पों का संस्कार करे क्योंकि 'उद्योग' 'प्रयत्न' की मुख्य पद्धति यही है।

विकल्पों का संस्कार किया कैसे जाय?

१) संसारोन्मुख, भोगोन्मुख (कामिनी)-काञ्चन एवं अन्य ऐन्द्रिय उपभोगों के प्रति सतृष्ण) प्रवाहित विकल्पों के मार्ग को परिवर्तित करना और

२) इस विकल्प-प्रवाह को स्वरूप-चिन्तन की दिशा में संलग्न करना—इन दोनों प्रयासों से विकल्पों का संस्कार होता है और **'प्रयत्न' एवं 'उद्योग' का मुख्य कार्य है**।

गुणदि स्पन्दों के निष्यन्द प्रत्येक क्षण आत्मा के यथार्थ स्वरूप पर आवरण डालते रहते हैं—

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभाः सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपंथिनः॥'

'विकल्प' प्रत्येक कालखण्ड में मायिक उपलब्धियों एवं ऐन्द्रिय उपभोगों एवं स्वार्थों के पूर्त्यर्थ प्रवृत्त रहता है। परिणाम—

कुत्सित विकल्प—कुत्सित संस्कार। सांसारिक विषयों की मूर्त्ति की तृष्णा—चित्त को कभी भी स्थैर्य प्राप्त न होना। अहर्निश विकल्पसंस्कार, सत्परामर्श द्वारा बाह्योन्मुखी प्रसार से विरति—चिद्रूप संवित् में एकनिष्ठ एकाग्रता प्राप्त करने का 'उद्योग' (प्रयत्न)—चित्त में परिमार्जित (संस्कार युक्त) विकल्पोद्भव—असत् विकल्पों का ह्रास।

संस्कृत विकल्प भी अन्ततः हैं तो विकल्प ही अतः उनका भी त्याग आवश्यक है।

विकल्प संस्कारों की अनेक भूमिकायें हैं यथा—

'चतुःर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ।
अस्फुटः स्फुटताभावी प्रस्फुटन् स्फुटितात्मकः॥'

विकल्प संस्कार की भूमियाँ
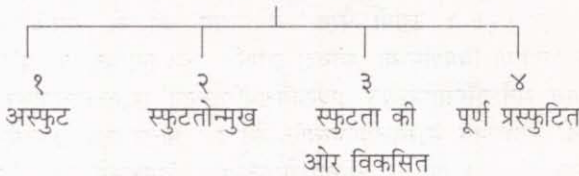
अपनी चरमावस्था में पहुँचा विकल्पसंस्कार का यह स्तर असत् संस्कारों का ध्वंस कर देता है।

ततः स्फुटतमोदार ताद्रूप्य परिबृंहिता।
संविदभ्येति विमलाभे विकल्पस्वरूपताम्॥ (तन्त्रालोक)

विकल्प अपनी संस्कारावस्था में चरम भूमि पर पहुंचने पर संविद्रूप बन जाते हैं या स्वयं संवित् पारमार्थिक विकल्प के रूप में प्रस्तुत हो जाता है। संस्कृत विकल्पों के संस्कार—अन्य संस्कृत विकल्प। (इनका रूप शुद्धविद्या का ही अंश होता है—'शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः) = सद् ज्ञान या सत्तर्क के विकल्प ॥ योग में 'सत्तर्क' को योग का उच्चतर अंग स्वीकार किया गया है। **'सत्तर्क'**—तामसिक, राजसिक विकृतियों का नाश।—असत् तर्क का ध्वंस। विकल्पों को कितना भी संस्कृत क्यों न किया जाय किन्तु उनका **पारमार्थिक संस्कृत स्वरूप भी शिवत्व-प्राप्ति नहीं करा सकता।**

विकल्पसंस्कार और उद्योग—किसी भी विकल्प या विकल्पांश के रहते चिदानन्द शिवत्व (चिन्मात्र शिवभाव) प्राप्त होना संभव नहीं है।

पारमार्थिक एवं संस्कृततम विकल्पों से भी मुक्ति प्राप्त करना आवश्यक है। इन सुसंस्कृत विकल्पों का भी तब तक पुनः परिमार्जन (परिष्कार, संस्कार) करना आवश्यक है जब तक कि विशेष स्पन्द रूपान्तरित होकर सामान्य स्पन्द की अद्वैतात्मक भूमिका पर आरूढ़ होकर निर्विकल्प आत्मसंवित् में विश्रान्ति न प्राप्त कर लें।

'चित्तं मन्त्रः' की स्थिति ऐसी ही विकल्पशून्यावस्था का विकास भूमि है जहाँ चित्त के साथ मन्त्रों की विमर्शात्मक तद्रूपता आने पर 'चित्त' 'मन्त्र' एवं 'देवता' तीनों में तादात्म्य, एकरूपता या एकाकारता आ जाती है। विकल्प-संस्कार ही अपनी चरम भूमि पर यात्रा कराते कराते साधक को ऐसे उच्चतम सिद्धि-शृंग पर पहुँचा देते हैं जहाँ योगी का परिष्कृत चित्त ही 'मन्त्र' बन जाता है। मन्त्र में शक्ति का उदय होने के पूर्व तक या स्पन्दात्मक शाक्त बल के उदय के पूर्व या मन्त्र एवं मननकर्ता के अहं की एकाकारता के पूर्व तक 'मन्त्र' मन्त्र नहीं वर्ण मात्र रहते हैं और उनका जप केवल शब्दोच्चारण मात्र रहता है—'जप' नहीं बन पाता।

विविक्तये = स्वरूपाभिव्यक्ति के लिए। **निजं भावं** = तुर्यभोगाख्यं स्वभावम्। **जाग्रदेव** = जाग्रत अवस्था में ही ॥ **सततं** = सर्व काल = सदैव ॥ **भावं** = अपना चिदानन्द, चिन्मय, नित्यात्मक आत्मस्वरूप ॥

स्पन्दात्मक परसंवित् में प्रवेश करने हेतु **'सततोद्योग'** एक प्रमुख साधक है।

शिव सूत्र (१।५) 'उद्यमो भैरवः' में 'उद्यम' की जो व्याख्या की गई है—'योऽयं प्रसरदरूपाया विमर्शमय्याः संविदो झगिति उच्छलनात्मक पर प्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यमः स एव सर्वशक्तिसामरस्येन अशेषविश्वभरितत्वात् सकलकल्पनाकुलालंकवलनमत्वाच्च **भैरवो** भैरवात्मक स्वस्वरूपाभिव्यक्ति हेतुत्वात् भक्तिभाजाम् अन्तर्मुखैतत्तत्त्वाधानधनानां जायते। ... भावनं हि अन्तर्मुखोद्यन्तृतापद विमर्शनमेव ॥' 'परप्रतिभोन्मेषावष्टम्भोपायिकां भैरवसमापत्तिम् अज्ञानबन्धपशमैक हेतुं ... प्रशान्तभेदावभासंभवति ॥' (शि०वि० १।५)

'भैरव' का पर्याय ही है 'उद्यम' ॥—संवित् तत्त्व का उच्छलनात्मक पर प्रतिभोन्मज्जनरूप उद्यम। भैरव का अर्थ है—भैरवात्मकस्वस्वरूपाभिव्यक्ति।

'आत्मनो भैरवं रूपं भावयेद्यस्तु पूरुषः ।
तस्य मन्त्राः प्रसिध्यन्ति नित्ययुक्तस्य सुन्दरि ॥'

यही है बन्धन के प्रशमोपाय, उपेय विश्रान्ति—इसे ही कहा गया है—'उद्यमो भैरवः ॥' (१।५)

स्पन्द का स्वरूप-लक्षण—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन् ।
धान्वा यत् पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ २२ ॥

अत्यन्त क्रोधाविष्ट होने पर, आनन्द के चरम सोपान पर आरूढ़ होने पर, 'मैं क्या करूँ?' इस प्रकार की (किंकर्तव्यविमूढ़ता) अवस्था में पड़ने पर, (दौड़ने के लिए विवश होने पर अकस्मात्) दौड़ पड़ने पर—(कोई भी व्यक्ति) जिस अवस्था में प्रवेश करता है वही 'स्पन्द' तत्त्व उदित हो जाता है ॥ २२ ॥

* **सरोजिनी** *

'स्पन्द' के दो रूप हैं—(१) सामान्य स्पन्द (२) विशेष स्पंद ।

'गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्' (१९)

गुणादिस्पन्द—ये 'विशेष स्पन्द' कहलाते हैं और 'सामान्य स्पन्द' के आश्रित हैं।

स्पन्दतत्त्व तो जाग्रत आदि भेदात्मक अवस्थाओं में भी व्याप्त रहता है—'जाग्रदादिविभेदेऽपि तदभिन्ने प्रसर्पति ॥' (३)

'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्व विविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावं न चिरेणाधिगच्छति ॥ (२१)

अकस्मात् क्रोधावेश की चरमसीमा पर पहुंचने, विवशतावश अकस्मात् दौड़ पड़ने, किंकर्तव्यविमूढ़ होने पर, व्यक्ति के भीतर शक्ति प्रत्यस्तमित दशा का प्राकट्य होता है और इन अवसरों पर स्पन्दतत्त्व जाग्रत् अवस्था में भी उदित हो उठता है—'तस्य च स्पन्दतत्त्वस्य अतिक्रुद्धे, प्रहृष्टे, धावमाने च 'किं करोमि' इत्येवं चिन्ताविष्टे यदा शक्ति प्रत्यस्तमयः तदा स्पन्दतत्त्वस्य स्फुट एवोदयो गुरूपदेशात् अधिगन्तव्यः ॥' (भट्टकल्लटः वृत्ति) ।

जहाँ जब एवं जिस अवस्था में समस्त शक्तियों का लय हो जाता है और मन केवल अनन्य रूप से एक चित्त वृत्ति परायण हो जाता है उस अवस्था में आत्मस्वस्वरूप 'स्पंद' स्पष्टतया स्थित रहता है यथा **क्रोधावेश** में, **भयावेश** में, **प्रेमावेश** में, **हर्षावेश** में। इसी भाव को सुस्पष्ट करता हुआ ग्रन्थकार कहता है—

अत्यधिक क्रुद्धया उत्तेजित है या अत्यधिक आह्लादित है या वह जो—'मैं क्या करूँ?'—इस प्रकार सोच रहा हो, या (इधर-उधर) दौड़ रहा हो—वह जिस पद (अवस्था) में जाता है (जिस भावभूमि पर आरूढ होता है) वहाँ **'स्पंदतत्त्व'** प्रतिष्ठित रहता है ॥ २२ ॥

अनन्य विषयक भावभूमि या एक चिन्ताप्रसक्त चिन्तन-भूमि ही 'स्पंद' है। योगी लोग उपायमार्ग में अन्य सभी चित्तवृत्तियों का प्रशमन करके एकाग्र हुआ करते हैं और अति क्रोध, अति हर्ष आदि कोई योगी तत्त्व विमर्शन हेतु तत्काल अंतर्मुखी हो जाता है तो वह शीघ्र ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है किन्तु जो योगी नहीं है वे इस स्तर पर भी मूढ ही रहते हैं।

कोई व्यक्ति दारुण उपधात या शत्रु-साक्षात्कार के कारण या मर्मस्पर्शी वचनबाण से विद्ध होने के कारण उत्पन्न **संजिहीर्षा** या अत्यधिक उत्पन्न क्रोध या प्राणेशी के मुखारविन्द को देखने के कारण अत्यन्त प्रसन्नता या किसी अत्याचारी से अपनी रक्षा करने हेतु 'मैं क्या करूँ?—इस प्रकार उत्पन्न चिन्ता, या किसी शिकार के पीछे धनुष बाण लेकर दौड़ते समय अपने शरीर को भूल कर शिकार के ऊपर लगी दृष्टि के कारण **दौड़ते रहने** या सिंह या अजगर आदि को देखकर उत्पन्न **असीम भय** के समय अन्य समस्त वृत्तियों के नष्ट हो जाने पर उत्पन्न **अत्यन्त भय** की अवस्था में जिस मनोभूमि पर आरूढ होता है वह स्पंद की ही भूमि है। इस अन्यवृत्तिक्षयात्मक पद पर जो आरूढ होता है उस योगी की इस वृत्तिक्षयात्मक अवस्था विशेष में स्पन्दतत्त्व अवश्यमेव प्रतिष्ठित रहता है—'वृत्तिक्षयात्मके पदे अवस्था विशेषे स्पंदः प्रतिष्ठितः स्पंदतत्त्व अभिमुखी-भूतमेव तिष्ठति ॥'[१]

अतः इस वृत्तिक्षयपक्ष को समझकर शीघ्र कूर्मांग सङ्कोच (जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को अपने भीतर समेट लेता है) की भाँति क्रोधसंशय आदि वृत्तियों का शमन करके महाविकास-व्याप्ति की युक्ति द्वारा अपनी स्पन्द शक्ति का विमर्शन करना चाहिए। **'विज्ञानभैरव'** में कहा भी गया है—[२]

> **कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यगोचरे ।**
> बुद्धिं निस्तिभितां कृत्वा तत्वमावशिष्यते ॥ १०१ ॥
>
> **आनन्दे** महति प्राप्ते दुष्टे वा बाँधवेचिरात् ।
> आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मना भवेत् ॥ ७१ ॥
>
> **क्षुताद्यन्ते भये शोके** गह्वरे वारणद्रुते ।
> **कुतूहले** क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगः ॥ ११८ ॥[३]

द्वेष से अमश्र के उद्दीप्त होने पर अत्यन्त क्रुद्ध मनुष्य पहले जिस अवस्था पर पहुँचता है उसकी चित्तवृत्ति जिस स्फार या उन्मुखता का स्पर्श करने लगती है, समागत प्रिय व्यक्ति को देखने आदि से उत्पन्न हर्ष प्राप्त करके जिस परमानन्द की अनुभूति करता है, अनेक कर्तव्यों के कल्लोल में फँसकर—'यह करूँ या यह करूँ'—इस प्रकार का परामर्श करके जब निश्चयकारिणी दशा पर पहुंचता है, अपनी प्रेयसी के आमंत्रित करने या संभ्रमवश दौड़कर जिस अवस्था पर आरूढ़ होता है उसमें आत्मस्वभाव 'स्पन्द' स्पष्टतया उपलब्ध होता है।[४]

१-३. स्पन्दनिर्णय। ४. स्पन्दप्रदीपिका।

जब, जहाँ, जिस अवस्था में समस्त शक्तियों का लय हो जाता है वहाँ स्पन्दतत्त्व का उदय दृष्टिगत होता है । इसका कारण यह है कि क्रोध से भरी सारी दु:खभूमियाँ प्रकट हो जाती है और हर्षातिरेक से समस्त सुखभूमियाँ प्रकट हो जाती हैं ।[1]

'क्या करूँ' 'क्या न करूँ'—इन प्रश्नों के उपस्थित होने पर मोहजन्य समस्त इन्द्रियवृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं । इसीसे **'विज्ञानभैरव'** में कहा गया है कि—'क्रोधादि के अन्त में, भय में, शोक में, शून्य में, अरण्य में, किसी काम की प्रवृत्ति को एकाएक रोक देने पर, घनघोर संग्राम में, कुतूहल में, क्षुधा-पिपासा का अन्त होने पर ब्रह्मसत्ता सर्वथा निकट रहती है—किन्तु पहचानी नहीं जा पाती ।[2]

'रहस्यस्तोत्र' में कहा गया है—क्रोध एवं हर्ष की विवशता की पराकाष्ठा में, कर्तव्याकर्तव्य के विमर्श में, एक भाव का स्पर्श होने से पूर्व जो दशा रहती है—वहाँ 'स्पन्द' अपने अन्दर बल का सञ्चार करता रहता है:—'क्रोधहर्षविवश: परां दशामाश्रि-तोऽथ विमृशंश्च य: क्रियाम् । यत्स्पृशत्यनियतक्रियास्पदं स्पन्दमात्मबलदं वदन्ति ते। एषोऽ-न्यत्र त्रुटे: पात: प्रोक्त: सर्वज्ञतादिभाक्' ।

इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म त्रुटिमात्र काल में सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता का स्पर्श होने लगता है । सुई से कमल की एक पंखुड़ी को छेदने में जितना समय लगता है—उसको 'त्रुटि' कहते हैं ।[3]

एक त्रुटि के लिए मनुष्य में 'सर्वज्ञता' सर्वकर्तृत्व एवं सर्वेश्वरत्व का उदय हो जाता है ।

जहाँ-जहाँ, जब एवं जिसके द्वारा समस्त शक्तियों का लय हो जाता है वहाँ स्पन्दतत्त्व का उदय स्पष्टत: दृष्टिगत होता है—[4]

यत्र यत्र यदा येन सर्वशक्तिलयो भवेत् ।
स्फुट: स्यात् स्पन्दतत्त्वस्य तत्र तत्र तदोदय: ॥

क्रोध से समस्तु दु:खभूमियों एवं हर्ष से समस्त सुखोत्पन्न भाव उत्पन्न होते हैं । क्या करूँ एवं क्या न करूँ—इससे मोहजन्य समस्त इन्द्रियों की समस्त वृत्तियाँ दौड़ने लगती हैं—[5]

क्रोधाद् दु:खभुव: सर्वा हर्षात् सुखभुव: स्मृता: ।
किं करोमीति मोहोत्था धावन्तीन्द्रिय वृत्तय: ॥

'विज्ञानभैरव' में कहा गया है कि—क्रोधादि के अन्त में, भय में, शोक में, एकान्त अरण्य में, कुतूहल आदि में ब्रह्मसत्ता सर्वथा निकट ही रहती है—

'क्रोधाद्यन्ते भये शोके, गह्वरे, वारणे रणे ।
कुतूहले, क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्ता समीपगा ॥'[6]

'स्पन्दतत्त्व' के दो भेद हैं—(१) 'सामान्य स्पन्द' (२) 'विशेष स्पन्द' ।

१-३. स्पन्दप्रदीपिका । ४-६. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

(१) **'प्रतिष्ठित स्पन्द'** (२) **'अप्रतिष्ठित स्पन्द'**[१] जो उपादेय स्पन्द है वही स्पन्द **'प्रतिष्ठित स्पन्द'** है। 'उपादेयः प्रतिष्ठितः स्पन्दः ॥'

'अवस्था युगलं चात्र कार्य-कर्तृत्व शब्दितम्।
कार्यताक्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥' (१४)

कारिका में स्पन्दतत्त्व की निम्न अवस्थायें बताई गई थी—

१. कार्य २. कर्ता; १. भोग्य २. भोक्ता; १. वेद्य २. वेदक।

'गुणदिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्' (का० १९)

द्वारा (१) **'सामान्य स्पन्द'** एवं (२) **'विशेष स्पन्द'** की ओर संकेतित किया गया। **'सामान्य स्पन्द'**—सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण, महत्, अहङ्कार आदि स्पन्द ॥ **सामान्य स्पन्द के निष्यन्द (प्रवाह)** सुख, दुःख, मोह आदि की तरंगे। **स्पन्दनिष्यन्द**—चित स्वरूप का आच्छादन ॥ **स्पन्द-निष्यन्द** (अज्ञानियों को)—अधःपतिते करते हैं—

'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्वविविक्तये ॥' (२१)

स्पन्दतत्त्व का 'विवेक'—स्वरूपाभिव्यक्ति। विवेक = 'मैं शुद्धबुद्ध मुक्त, शुद्धबुद्धैकस्वरूप हूँ तथा मेरा ही विलास जगत् है, जगत् मेरी स्मृति है—जगत् मेरा जृंभण है। मैं विश्वात्मा हूँ।'

यत्पदं गच्छेत् = जिस पद को प्राप्त करता है। (**गच्छेत्** = उपलभ्यते।) **तत्र** = वहाँ ॥ निर्दिश्यमान पद में उपलक्षणीय। **तत्र** = उसमें ('तस्मिन्') 'तस्मिन्'। कस्मिन्? 'यत् पदम् अति क्रुद्धो गच्छेत्' **'यत्पदं'** = (यां भूमिकां) = जिस भूमिका को।

गच्छेत् = मन से प्राप्त करता है (मनसा आसादयेत्?) 'अतिप्रहृष्टो यत्पदं गच्छेत्' 'किं करोमि इति यत्पदं गच्छेत्' 'अतिक्रुद्धो यत्पदं गच्छेत्' 'धावन्वा यत्पदं गच्छेत्' संशयाविष्टो यत्पदं गच्छेत्, उत्सहमनो यत्पदं गच्छेत्, **'क्रुद्धः'** = क्रोधित। क्रोध शब्द से उपलक्षित भाव—**क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा** भेद से चतुर्विधि।

प्रहृष्ट—आनन्दित। प्रहृष्ट शब्द से उपलक्षित भाव—**हर्ष, उत्साह विस्मय** एवं **हास** ॥[२]

सामान्य स्पंद तत्त्व—जो स्पन्द **'प्रतिष्ठित'** (उपादेय) है वह अचलत्व का सूचक है (अचल व्यपदेश हेतुः)। **विशेष स्पन्द** = सुखित्वादि अनित्य विशेष स्पन्द। **प्रतिष्ठित स्पन्द** = सुखित्वादि अनित्य विशेष स्पन्द के विषय नहीं हैं क्योंकि वे अप्रकम्प (अविचल) हैं, स्वभावमात्राधार हैं। और मुख्य स्पन्द हैं—'सुखित्वाद्यनित्य-विशेषस्पन्दाविषयत्वादप्रकम्पस्थितिः स्वभावमात्राधारः सामान्यरूपो मुख्यस्पन्दः ॥'

'मुख्य', 'उपादेय' एवं 'प्रतिष्ठित' स्पन्द = 'सामान्य स्पन्द': लक्षण—

(१) यह उपादेय है, मुख्य है एवं प्रतिष्ठित है।

(२) सुखित्वादि अनित्य **विशेषस्पन्दों** का विषय नहीं है।

१-२. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दकारिकाविवृति'।

(३) स्वभावमात्राधार है ।

(४) अचल है ।

(५) अविशिष्ट है—'सामान्य' है ।

(६) 'प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषशक्तिचक्रपरमात्मधर्मः'—लक्षण वाला है । 'स्पन्द' क्या है?

'यत्पदं अतिक्रुद्धो गच्छेत्' : **'क्रोध'** = क्रोध, शोक, भय, जुगुप्सा । **क्रोध** करते समय, **शोक** करते समय, **भयभीत** होते समय, **घृणा** करते समय मन की जो विकारा-वस्था हुआ करती है—वह मानसिक अवस्था ही **'स्पन्द'** है ।

प्रत्यग्रक्षत, दारुण उपद्रव, द्वेषी के अवलोकन आदि के समय मन की जो विशिष्ट एकाग्रावस्था होती है और उससे तीव्रतर कोपाविष्ट व्यक्ति उससे आविर्भूत मानसिक विकारावस्था के पूर्व शीघ्र ही **क्रोधाविष्ट होकर मन की जिस अत्यन्त आवेगपूर्ण भूमिका में प्रवेश कर जाता है;** तथा मृत्यु के बाद भी जी उठने वाली प्राणप्रिय प्रियतमा को जीवित देखने से उत्पन्न परमानन्द से आनन्दनिर्भर होकर (हर्षित, उत्साहित, विस्मयाविष्ट एवं हास्यलीन होकर) व्यक्ति **मन की जिस अत्यन्त आवेगपूर्ण एवं एकाग्र भूमिका में प्रवेश कर जाता है,** कोई व्यक्ति—

क्रोधित राजा शत्रु या किसी बलवान् व्यक्ति का प्रतीकार करने हेतु उद्यत होने पर भी अनिश्चयात्मिका बुद्धि के कारण जो यह सोचने लगता है कि **'अब मैं क्या करूँ और क्या न करूँ?'** अर्थात् मैं इस समय किस उपाय का अवलम्बन ग्रहण करूँ?—इस प्रकार प्रतिपत्तिमूढ़ एवं शङ्कावृत व्यक्ति उस समय जिस निरालम्ब चित्तवृत्ति या एकनिष्ठ मनोभूमिका में प्रवेश करता जाता है—वहाँ पर **'प्रतिष्ठितस्पन्द'** प्राप्त होता है—'तत्र प्रतिष्ठित स्पन्दोपलब्धिरित्यर्थः' ।

इस प्रकार के प्रकार त्रय द्वारा दुःख, सुख एवं मोह को अपने विषय के रूप में ग्रहण करके उससे उद्वेलित अन्तःकरण वाला होकर और तज्जन्म व्यापारों को स्वीकार करके **जाग्रत अवस्था** में अनुभूत विषयों में एकनिष्ठचित्त होकर व्यक्ति जिस एकाग्र मनोभूमि में प्रवेश करता है वही है—'स्पन्द तत्त्व' ॥

अत्यन्त क्रुद्ध होकर या अपने इष्टजन की अप्रत्याशित मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यन्त **शोकाविष्ट होकर**, या किसी अतिक्रुद्ध काले सर्प या क्रोधित व्याघ्र को **देख कर अत्यन्त भयभीत होकर**, अत्यन्त जुगुप्सास्पद पदार्थ आदि को देखने के कारण अत्यन्त **घृणाक्रान्त होकर**—व्यक्ति जिस विशिष्ट मनोभूमि में—(क्रोधातिशय, शोका-तिशय, भुयातिशय, एवं जुगुप्सातिशय के कारण) प्रवेश करता है वहाँ भी प्रतिष्ठित स्पन्द प्राप्त होता है ।

यहाँ जो **क्रोध, शोक, भय एवं जुगुप्सा** की अवस्थाओं का उल्लेख किया गया उसका कारण यह है कि **'क्रोध'** शब्द से यहाँ—क्रोध, शोक, भय एवं जगुप्सा चारों मनोविकार उपलक्षित हैं ।[१]

---

१. 'स्पन्दकारिकाविवृति' (रामकण्ठाचार्य) ।

किसी अत्यन्त प्रसन्न उस व्यक्ति के समान जो कि अपनी शक्ति, अपने पराक्रम एवं सम्पत्ति की संभावना को देखकर सुदुष्कर कार्यों को भी निष्पादित करने हेतु, अन्य विकल्पों से शून्य होकर, अत्यन्त उत्साह से संवलित होकर **जिस एकाग्र एवं एकनिष्ठ मनोभूमि में पदार्पण करता है;** या कोई व्यक्ति किसी अदृष्टपूर्व एवं परमरमणीय तथा अत्याकर्षक पदार्थ को देखने आदि के कारण जिस एकाग्र एवं एकनिष्ठ मनोभूमि में प्रविष्ट होता है, या चूहा या अन्य हास्यास्पद वस्तु को देखकर कोई व्यक्ति हास्यातिशय की जिस एकनिष्ठ एवं एकाग्र मनोभूमि में पहुँचकर अन्य सब कुछ, भूल जाता है उस **मनोभूमि में भी 'प्रतिष्ठित स्पन्द' विद्यमान रहता है** या उपलब्ध होता है ।

इस व्याख्यान में जो—हर्ष, उत्साह, विस्मय एवं हास्य की मनोभूमियों का उदाहरण दिया गया है उसका कारण यह है कि यहाँ **'हर्ष'** शब्द से हर्ष, उत्साह, विस्मय एवं हास्य ये चारों मनोभाव उपलक्षित हैं ।

इसी प्रकार किसी वस्तु के दूर, अस्पष्ट, अग्राह्य, अश्राव्य आदि होने के कारण कोई व्यक्ति उस पदार्थ के विषय में निश्चित अवधारणा न बना सकने के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ व्यक्ति के समान संशय से घिरकर जिस संशयाविष्टावस्था में उपनीत होता है और वहाँ एकाग्र हो जाता है—वहाँ भी प्रतिष्ठित स्पन्द की विद्यमानता रहती है ।

'धावन्वा यत्पदं गच्छेत्'—'तत्र' = (उस पद में भी 'प्रतिष्ठित स्पन्द, विद्यमान रहता है) 'तत्र' = वहाँ भी = उस पद में भी ॥

(जीवन बचाने के लिए) दौड़ता हुआ व्यक्ति संसार की सारी वस्तुओं एवं सारी आकांक्षाओं एवं एषणाओं से मुक्त होकर केवल सुदूर या रक्षित स्थान की ओर ही सारा ध्यान केन्द्रित रखकर भागता है, (या दौड़—प्रतियोगिता में एक धावक अपनी समस्त चेतना दौड़ने की क्रिया में ही लय कर देता है)—इस क्रिया में दौड़ने वाले की जो **लक्ष्यैककेन्द्रित मनोभूमि होती है**—वहाँ भी **'प्रतिष्ठित स्पन्द'** विद्यमान रहता है । इस मनोभूमि में भी—इच्छा-प्रयत्न-ज्ञान-क्रिया आदि वृत्तियों का पृथक्-पृथक् (विभाग द्वारा) ग्रहण नहीं होता प्रत्युत् अद्वय ईश्वर रूप की ही अभिव्यक्ति होती है ।

जब व्यक्ति दौड़ता है तो पैर उठाने, पैर रखने एवं पुन: पैर उठाने-रखने में जो भिन्न-भिन्न क्रियाओं का भेद (अन्तर) है उसका दौड़ने वाले को ज्ञान नहीं होता वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के व्यवहार में भी यही स्थिति है ।

अत्यन्त कुशलतापूर्वक वर्ण एवं स्वरोच्चारण में व्यग्र वाग्वृत्ति वाला एकाग्र व्यक्ति भी जिस पद को प्राप्त करता है, वीणा-वेणु वादन आदि में त्वरिततर व्यापारार्यमाण करांगुलि-कलाप जिस पद में प्रविष्ट होता है—वहाँ भी **प्रतिष्ठित स्पन्द** प्राप्त होता है ।

'धावन' शब्द समस्त कर्मेन्द्रिय व्यापारों का उपलक्षक है । अतिक्रुद्ध, अतिभीत, अतिविस्मयाविष्ट, अतिसंशय ग्रस्त, अतिवादैकनिष्ठ व्यक्तियों की एकाग्र मनोभूमियों को कारिकाकार ने 'उपाय' के रूप में गृहीत किया है । ये मनोभूमियाँ प्रबुद्धों के लिए प्रत्यवमृश्यमाण तो हैं और प्रतिष्ठित स्पन्द पाने के उपाय भी है फिर भी ये प्रबुद्धों के

लिए अनुभूयमान नहीं है क्योंकि ये दुःखादिमूलक हैं अतः प्रबुद्ध व्यक्ति इससे मुक्त होकर उपदेश की शक्ति के कारण **आत्मस्वरूप के विवेचन में सक्षम प्रज्ञातिशय द्वारा स्पन्द तत्त्व का अनुभव करते हैं ।**[१]

मायाशक्ति द्वारा उद्भावित भेदावभास की शक्ति से उल्लसित (भेद भरी) अनेकताओं द्वारा अनन्त ज्ञान एवं क्रियाओं द्वारा व्यवधीयमान के समान यह **'प्रतिष्ठित स्पन्द'** प्रबुद्ध साधकों को भी उपलब्धि गोचर नहीं । यद्यपि यह भी सत्य है कि समस्त प्राणी समस्त अवस्थाओं में, नित्योदित प्रतिष्ठित स्पन्द प्रकाश से परिस्फुरित समापत्ति का, उन्मेष करने में समर्थ है किन्तु माया शक्ति से उद्भावित भेदावभासजन्य नानात्व के उल्लास से व्यवधीयमान प्रतिष्ठित स्पन्द उपलब्ध नहीं हो पाता ।[२]

जागृति अवस्था में स्पन्दतत्त्व की अनुभूति—

अत्यधिक क्रुद्ध या अत्यधिक हर्षित होने पर या अकस्मात् दौड़ पड़ने पर और किंकर्तव्यविमूढ़ होने (मैं क्या करूँ?' की स्थिति में अवस्थित होने) पर जब व्यक्ति के अन्तःकरण में शक्तिप्रत्यस्तमित दशा का उन्मेष होता है तब उस क्षणिक एकाग्रता की अवस्था में स्पन्द तत्त्व का स्पष्टतः उदय होता है और इसकी अनुभूति गुरूपदेश से प्राप्त होता है ।

भट्टकल्लट स्पन्दसर्वस्व में कहते हैं—

'तस्य च स्पन्दतत्त्वस्य अतिक्रुद्धे प्रहृष्टे धावमाने च किं करोमि, इत्येवं चिन्ताविष्टे यदा शक्तिप्रत्यस्तमयः, तदा स्पन्दतत्त्वस्य स्फुट एवोदयो गुरूपदेशात् अधिगन्तव्यः ॥'[३]

सहसा क्रोध की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ या हर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ या किसी तर्कशून्य कारणों से—'मैं क्या करूँ?'—इस प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता की अवस्था में पड़ा हुआ या अकस्मात दौड़ पड़ने के लिए विवश व्यक्ति जिस विशिष्टावस्था में प्रविष्ट हो जाता है उसी में प्रतिष्ठित स्पन्द तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है ।

शक्तिप्रत्यस्तमित दशा—दैनिक जीवन में कभी कभी ऐसे विशिष्ट क्षण आते हैं जब कि मनोभावों के रूप में प्रवाहित विशिष्ट स्पन्द-प्रवाह किसी विशिष्ट स्थिति के आ जाने से अकस्मात् तत्काल रुक जाते हैं । बाह्य प्रसृत स्पन्द-प्रवाहों का यह गति-निरोध या यह गतिनिरोधात्मक अवस्था को ही 'वृत्तिक्षयावस्था' 'निस्तिमितबुद्धिदशा' या 'शक्तिप्रत्यस्तमित दशा' कहते हैं । 'शक्तिप्रत्यस्तमितदशा' के क्षणों में शक्ति की प्रवहमानता अवरुद्ध नहीं होती प्रत्युत् बाह्योन्मुख प्रवाह अकस्मात् अपने मार्ग की दिशा परिवर्तित करके क्षणभर के लिए अन्तर्मुखी हो जाता है और विद्युत के समान तीव्र गति से गतिमान होकर सामान्य स्पन्द से एकाकार होकर फिर विशेष स्पन्द रूप से प्रवाहित हो जाता है ।

जाग्रतावस्था में सामान्य स्पन्दतत्त्व की अनुभूति 'शक्तिप्रत्यस्तमित' क्षणों में ही

१-२. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

३. भट्टकल्लट : 'स्पन्दसर्वस्व' ।

संभव है । क्योंकि इन विशिष्ट क्षणों में विशेष स्पन्दों का क्षोभ पूर्णतः शान्त हो जाता है ।

जब किसी व्यक्ति के मन में क्रोध, हर्ष, भय या अन्य कोई विशिष्ट मन:स्थिति उत्पन्न होती है तब वह मन की अन्य वृत्तियों को तिरोहित करती है । वर्तमान मनोभाव जितनी ही तीव्रता के साथ उभरते हैं उतनी ही तीव्रता से पुराने मनोभावों को तिरोहित कर देते हैं । किसी (भय, क्रोध, काम, लोभ, आदि) मनोभाव पर तत्कालोत्पन्न तीव्रतम मनो-भाव जितनी तीव्रता से आक्रमण करता है उतनी ही तीव्रता से पूर्ववर्ती मनोभाव तत्काल नष्ट होता है और नया तत्काल (पूर्वमनोभाव विस्मृत करके) उत्पन्न होता है । जितनी तीव्रता से उभर आने वाला भाव उभर आता है उतनी ही तीव्रगति से उकसा पूर्ववर्ती मनोभाव डूब जाता है । इन दोनों भावों के अप्रत्याशित अन्त एवं आरंभ के मध्य में जो (मध्य में) एक बहिर्मुखी विशेष वृत्ति उदित है—यह अकस्मात् उत्पन्न होने वाली क्षणिक मनोवृत्ति निर्विकल्प, स्तब्ध एवं भयानक मनोवेग के रूप में उदित होती है ।

'विज्ञानभैरव' (१११) में कहा गया है—

क्षुधाद्यन्ते भये शोके गह्वरे वारणद्रुते ।
कुतूहले क्षुधाद्यन्ते ब्रह्मसत्तामयी दशा ॥

यह क्षण एक निर्विकल्प क्षण है और इसमें विद्युत की तीव्रतम कौंध की भाँति एक मनोभाव उदित होकर नष्ट हो जाता है यथा सिंह को देखकर उत्पन्न भय ॥

इस क्षण के उदित होने पर सुख, दु:ख, मूढ़ता आदि अन्त:करणावृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और इस नवोत्पन्न विशिष्ट क्षण में मात्र **सामान्य स्पन्द तत्त्व** अस्तित्व में रहता है । मनोभावों को उन्मज्जन एवं निमज्जन की यह क्रिया अविराम गति से चलती रहती है किन्तु जब यह उदित होती है तो उसका व्यक्ति को मान भी नहीं रह जाता । क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण बुद्धि इसे पकड़ नहीं पाती ।

यही क्षण शक्तिपात के समय भी उदित होता है । गुरु अपनी शक्तिपात-सामर्थ्य द्वारा इन मध्यवर्ती संधिक्षणों एवं तन्निहित स्पन्द तत्त्व की अनुभूति अपने शिष्यों को करवा देते हैं । शक्तिपात की दृढ़ता से बहिर्मुखी स्पन्द प्रवाह को योगी कूर्मांगसंकोचवत् अपने भीतर समेटकर (अन्तर्मुखी होकर) इस विशिष्ट एवं एकाग्रतानिष्ठ क्षण पर स्थिर रहने की क्षमता प्राप्त कर लेता है ।

प्रस्तुत कारिका में—क्रोध, हर्ष एवं मूढ़ता से—सुख, दु:ख एवं मोह युक्त अन्त:करण की वृत्तियों को ग्रहण करके ज्ञानेन्द्रियों की जागृतावस्था एवं दौड़ने की क्रिया द्वारा समस्त बाह्यवर्ती कर्मेन्द्रियवृत्तियों का ग्रहण किया गया है और यह संकेतित किया गया है कि—जागृतावस्था में भी स्पन्द तत्त्व समान रूप से उपलब्ध होता है ।

जागृति की अवस्था में भी स्पन्द तत्त्व का साक्षात्कार—

प्रबुद्ध साधकों को गुरु अपने विशेषानुग्रह के द्वारा जाग्रत अवस्था में भी स्पन्द शक्ति की अनुभूति करा देते हैं । बार-बार अभ्यास करने पर वे उसे स्थिरता (एकाग्रता में स्थिरता) प्राप्त कर लेते हैं ।

मूढ़ एवं प्रबुद्ध साधकों की अवस्था की तुलना (योगमार्गीय साधना का अवलम्बन)—

यामवस्थां समालम्ब्य यदऽयं मम वक्ष्यति ।
तदवश्यं करिष्येऽहमिति सङ्कल्प्य तिष्ठति ॥ २३ ॥
तामाश्रित्योर्ध्वमार्गेण सोमसूर्यावुभावपि ।
सौषुम्णेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ॥ २४ ॥
तदा तस्मिन् महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यादनावृतः ॥ २५ ॥

कोई सेवक या शिष्य—'यह (मेरा स्वामी या शास्ता) मुझसे (जो कोई भी कार्य करने हेतु) कहेगा उसे मैं अवश्य करूँगा'—इस प्रकार सङ्कल्पबद्ध होकर, जिस अवस्था (वृत्ति प्रत्यस्तमित अवस्था) का अवलम्बन ग्रहण करके स्थित रहता है ॥ २३ ॥

(उस साधक की) उसी अवस्था का अवलम्बन ग्रहण करके उसके चन्द्रमा एवं सूर्य शरीर-मार्ग (ब्रह्माण्डगोचर) का त्याग करके ऊर्ध्व मार्ग द्वारा सुषुम्णा-मार्ग में (प्रवेश करके) उसी में लयीभूत हो जाते हैं ॥ २४ ॥

तब उस 'माहव्योम (चिदाकाश) में चन्द्रमा एवं सूर्य के लीन हो जाने पर प्रबुद्ध योगी तो अनावृतस्वरूप वाला होकर अवस्थित होता है किन्तु मूढ़ (मुह्यमान) (उस अवस्था में भी) सुषुप्ति पद जैसी प्रगाढ़ तमावस्था में पड़ा रहता है ॥ २५ ॥

* सरोजिनी *

सूर्य और चन्द्रमा, ऊर्ध्वपथ के द्वारा इस सांसारिक पदार्थ को पीछे छोड़ते हुए, सुषुम्ना के मार्ग में स्थित हो जाते हैं किन्तु यह तभी संभव हो पाता है जबकि योगी उस अवस्था में दृढ़ अवस्थान करते हुए निम्न दृढ़ सङ्कल्प लेता है—[१]

मैं निश्चित रूप से एवं आवश्यक रूप से वह सभी कहूँगा जो कि यह यथार्थसत्ता मुझसे कहेगी । तब उस महाव्योम जहाँ चन्द्र एवं सोम लुप्त हो चुके हैं वह योगी जो कि सुषुप्ति की भाँति कार्य करता है, निश्चिय ही जड़ है तथा वह उसमें आच्छादित तत्त्व अवश्यमेव प्रकाशित हो उठता है ।

योगी सङ्कल्प करता है एवं दृढ़निश्चय करता है कि मुझे समस्त बहिर्भाव का त्याग कर देना चाहिए तथा वह आवश्यक रूप से ऐसा कर भी देता है या उसे उसके प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित कर देना चाहिए जो कि उसका शङ्कर से अभिन्न स्वभाव कहता है ।[२]

यह मेरा जो शङ्करात्मा स्वभाव है वह जो मुझसे कहेगा और जो चिदानन्दघन, अनुभूतपूर्व स्वरूप मुझसे कहेगा विमर्शन करेगा उसे मैं अवश्य करूँगा और बहिर्मुखता का त्याग करके तत्प्रवण ही हो जाऊँगा—ऐसा सङ्कल्प करके जिन क्रोधादि अवस्थाओं

१-२. स्पन्दनिर्णय ।

में अनुभूतचरी, चिदानन्दघन स्पन्दात्मिका अवस्था का अवलम्बन ग्रहण करके स्थित होता है और विकल्पों का शमन करके अविकल्प अवस्था का अवचिल रूप में आश्रय लेता है और ऐसा करके जो योगी **प्राणापान दोनों को हृदयभूमि में एकसाथ मिलाकर सौषुम्न मार्ग में स्थित ब्रह्मनाड़ी में ऊर्ध्वमार्ग वाले उदान पथ** से शमित करके एवं ब्रह्माधिष्ठित लोक का त्याग करके और ऊर्ध्व कपाटान्त देह व्याप्ति का त्याग करके और तब सूर्य और चन्द्रमा को लय करने वाले महा व्योम में (निःशेषवेद्योपशम रूप परमाकाश में) स्थित होने पर भी गुणनिष्यन्द से व्यामोहित होकर सौषुप्तवत् हो जाता है—शून्यादिभूमि में अवस्थित हो जाता है—वह योगी पूर्णतया अनभिव्यक्तस्वभाव वाला होकर मूढ़ कहलाता है क्योंकि जिसका स्वस्वभाव सम्यक् रूप से अभिव्यक्त नहीं होता वह स्वप्न आदि के द्वारा मुह्यमान होकर अप्रबुद्ध ही रहता है।[१] किन्तु जो वहाँ पर भी अपने प्रयत्न-कौशल से उद्यन्तृताशक्ति द्वारा क्षण मात्र भी शिथिल नहीं होता वह तमोगुण से अनभिभूत होने के कारण चिदा-काशमय होने के द्वारा ही अवस्थित होकर 'प्रबुद्ध' कहलाता है। अतः अनवरत प्रयास से योगी ही होना चाहिए ॥[२] **'सौषुम्ण अध्व'** का महत्व क्या है? 'सुषुम्णा' वाहिनि प्राणेसिद्धयत्येव मनोन्मनी' = **'मनोन्मनी'** का उदय ॥ अब इसी स्पन्दतत्त्व के जीवन में उदय होने के लिए उपाय का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहता है—'यामवस्थां ... ब्रह्माण्डगोचरम् ॥'

'ये हमारे गुरुदेव है' 'ज्ञानाग्रगण्य हैं और ये अनिर्वचनीय सद्वस्तु का भी निर्वचन कर सकते हैं। इनकी आज्ञा का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। ये जो कुछ भी मुझसे कहेंगे मैं अवश्य करूँगा—यह दृढ़ संकल्प धारण करके साधक जब उन्मुखतारूप वृत्ति का आलम्बन लेकर स्थिर हो जाता है तब उसकी उस अवस्था में ऊर्ध्वमार्ग से विषुवत प्रवाह के द्वारा सोम, सूर्य, अपान प्राण, मन, सुषुम्णा के मार्ग में (जो कि पराशक्ति का मार्ग है—मध्यम नाड़ी है)—विलीन हो जाते हैं। पता नहीं गुरुदेव क्या आज्ञा देंगे?—यह कुतूहल वासनाओं को पीस डालता है। उस समय साधक ब्रह्माण्ड स्थित शरीर-विषय का परित्याग करके 'देहाहंभाव' से मुक्त हो जाता है। कहा भी गया है कि—देह में अहं प्रत्यय का द्वीप भग्न हो गया। अनन्त संवित् रूप निर्मल समुद्र से एकता हो गयी। इन्द्रियसमूह अन्तर्मुख हो गया। बस तुम एक अद्वितीय विश्वात्मा हो ॥'—[३]

'जाते देहप्रत्ययद्वीपभंगे प्राप्तैकत्वे निर्मले बोधसिन्धौ।
अध्यावर्त्यैवेन्द्रियग्राममन्तर्विश्वात्मा त्वं नित्यमेकोऽवभासि ॥'

ऐसी अवस्था में 'महाव्योम' अर्थात् परचिदाकाश में सूर्य एवं चन्द्रमा, ज्ञान और क्रिया—दोनों शान्त हो जाते हैं। स्वभाव में अभिव्यक्ति नहीं होती। स्वप्न, जाग्रत आदि के दृश्यों से मोह नहीं होता। वह प्रबुद्ध और अनिरुद्ध हो जाता है, मानो सुषुप्ति हो। किन्तु उस समय वह प्रबुद्ध और आवरणरहित ही होता है।[४]

'रहस्यस्तोत्र' में कहा गया है—बड़े-बड़े आकाशगामी सिद्धपुरुष भी, जिन्होंने

१-२. स्पन्दनिर्णय। ३-४. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका'।

अपनी आत्मसंवित् में सूर्य-सोम अर्थात् ज्ञान-क्रिया को लीन कर लिया है, व्योममार्ग का अतिक्रमण कर चुके हैं और अपनी दृष्टि में भावना का अञ्जन लगाए हुए हैं उनमें भी किसी-किसी को तुम्हारे स्वरूप का दर्शन होता है—

'स्वात्मनि स्तिमितसोमभासकरं व्योममार्गमतिवर्त्यतस्थुषः ।
भावनाञ्जितदृशोऽपि खेचराः केचिदेव तव धामदर्शिनः ॥'

निरञ्जन तत्त्व के उदय में प्राण एवं अपान की प्रशान्ति को ही आत्मदर्शन की युक्ति बतलाया गया है ।[१]

'भोगमोक्षप्रदीपिका' में कहा गया है—हृदय में सोम-सूर्य के संचार से काम सिद्धि होती है और उनकी शान्ति से निरञ्जन तत्त्व की । यही शास्त्र का सर्वस्व है । इसी अवस्था में सहज मन्त्र का उदय होता है—

'कामाख्ये विषतत्त्वे निरञ्जनाह्वे क्रमाच्च सिद्धिः स्यात् ।
सूर्ये सोमे हृदयात्तयोः शमाच्चेति शास्त्रसर्वस्वम् ॥'

'बौद्धायनसंहिता' में कहा गया है कि—चन्द्रमा शान्त हो जाय और सूर्य का उदय न हो, उस समय समस्त देवताओं (इन्द्रियों) का विलय और सभी मन्त्रों का उदय होता है— शान्ते चंद्रे त्वमात्राख्ये यावन्नोच्चरते रविः ।
उदयः सर्वमन्त्राणां विलयश्च दिवौकसाम् ॥

'मालिनीविजय' में कहा गया है—जिस अवस्था में जीव अन्याधार—विनिर्मुक्त होकर स्वरूप में लीन हो जाता है, वही **सम्पूर्ण मन्त्रों की उत्पत्ति का क्षेत्र (स्थान)** होता है ।'[२]

इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि—जब पुरुष का चित्त धर्म एवं अधर्म के संधिस्थल में निरुद्ध हो जाता है तब वह जो बोलता है वही मन्त्र हो जाता है । स्वर-वर्ण-मातृका से निर्मित मन्त्र ही मन्त्र नहीं होते—

यत्राधारविनिर्मुक्तो जीवो लयमवाप्स्यति ।
तत् स्थानं सर्वमन्त्राणामुत्पत्तिक्षेत्रमिष्यते ॥
धर्माधर्मान्तरे चित्तं निरुद्धं यत्तदा तु सः ।
यद्वक्ति स भवेन्मन्त्रः किं पुनर्मातृकोत्थितः ॥

तां = उस । (अर्थात् 'यामवस्थां' द्वारा उपलक्षित एवं वाक्य-निर्दिष्ट अवस्था में) उस दशा को । **सुषुम्णा** = कालभोक्त्री = 'भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य' (हठ०प्र०४।१७)।

आश्रित्य = (प्राप्त करके) आश्रय लेकर ।

चन्द्रसूर्यौ = पुरुष के चन्द्रसूर्य (मन एवं प्राण) दोनों ही—

अस्तमितः = विलीन हो जाते हैं । क्या करके विलीन हो जाते हैं? 'ब्रह्माण्डं शरीर स एव स्वप्रसराधिकरणं, तं हित्वा' (व्यक्त्वा) अर्थात् संवेद्यता के अभाव के कारण

१-२. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

(के द्वारा) उसका अतिक्रमण करके **किस मार्ग से विलीन होता है?** ऊर्ध्वमार्ग द्वारा विलीन होता है अर्थात् सर्वातिरिक्त अलौकिकमार्ग से विलीन होता है ।

चन्द्र = 'मन:प्रसररूपा ज्ञानशक्ति' । यह द्विप्रकारा है—(१) 'इदं हेयम्' (२) 'इदं उपादेयम्' (यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है) ॥

आलम्बनीय निजी विषय को न पाकर (अतिक्रमण करके) उस अवस्था में मध्यमार्ग प्राप्त करके उसका स्वकारण ही लीन हो जाता है । 'सूर्य'—'प्राणप्रसररूपा क्रियाशक्ति' । यह प्राणप्रसरणरूपा क्रियाशक्ति जो कि नाड़ी-मण्डल में संचार करती है और सामान्य प्राणरूपता प्राप्त करके लोकातिरिक्त मार्ग से अपने पद में लीन हो जाती है । **'सुषुम्णा'** ७२ हजार नाड़ियों में श्रेष्ठतम है,शेष निरर्थक हैं—'शेषास्त्वनिरर्थका:' (ह०प्र०) **'सौषुम्नेऽध्वन्यस्तमित'**—सुषुम्णा मार्ग में अस्तमित । सुषुम्णा = 'मध्यमा नाड़ी'[1] शरीर के मध्य में स्थित सुषुम्णा नामक मध्य नाड़ी मार्ग में, अर्थात् परा पारमेश्वरी शक्ति के प्रवहणमार्ग में, प्रशमित ज्ञेय कार्यों में संवर्द्धित उपराग के परित्याग के द्वारा परशक्ति के रूप की प्राप्ति होती है । सुषुम्णा कालभोक्त्री है शांभवी शक्ति है—

'सुषुम्णा शांभवी शक्ति:' = 'भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य' ।

उस कौन सी दशा का आश्रय ग्रहण करके? 'यामवस्था समालम्ब्य'—सम्यक् रूप से परित्यक्त समस्त वस्तुओं की व्यापृति के स्तिमित होने से समस्तशक्तिसम्पन्नता का आलम्बन लेकर पुरुष स्थित होता है । **क्या करके?** आलम्बन लेकर । समालम्बन क्रियापूर्वक क्रियान्तरनिष्ठ वाक्य के रूप में कारिकाकार कहते हैं—'इति संकल्प्य' ॥ —इस प्रकार का संकल्प करके ।

किस प्रकार? 'यदयं मम् वक्ष्यति तदवश्य करिष्येऽहम्'—मुझसे जो कुछ भी कहेंगे उसे मैं अवश्य करूँगा ।' क्योंकि आज्ञा के अतिक्रमण से तत्काल मृत्यु आदि संभावित रहती हैं ।

अयं यद (यदयं) वस्तु = यह जो वस्तु । **मम** मुझसे (मेरा) । कर्तव्य के रूप में । **वक्ष्यति** = कहेंगे (जल्पिष्यति) **तदवश्यं** = उसे अवश्य । सर्वात्मना सभी अन्य कार्यों का परित्याग करके मैं—**करिष्ये** = संपादित करूँगा ।—यही दोनों की वाक्यार्थ संगति है।

किसी कारण से अवश्यमेव करणीय कार्यों को करने हेतु आदेशित वाणी से कारयितव्य वस्तु-विवक्षा से आक्षिप्त पुरुष द्वारा उन वचनों को सुनने से समस्त वृत्तियों के निलीन होने से साधकसंविदात्मक तुरीयावस्था अवश्य प्राप्त कर लेता है—'संवित् तुरीयां दशाम् अवश्यमेवाविशति ॥' परिणामस्वरूप वह उसके प्रत्यवमर्श के अभ्यास से परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है—'संवित् तुरीयां दशाम् अवश्यमेवाविशति, तत्प्रत्यवमर्शाभ्यासात् परतत्त्वोपलब्धि: ॥'[2]

---

१. इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणायाममुद्राभि: सरला भवेत् ॥ (ह०यो०प्र०)

२. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

यहाँ **'ब्रह्माण्डगोचर'** शब्द द्वारा शरीराकाश के चन्द्र-सूर्य शब्दों के अर्थात् मन एवं प्राण के प्रसरण का प्रतिपादन किया गया है ।

उपदेश का प्रयोजन—इस उपदेश का प्रयोजन यह है कि—इस उपदेश द्वारा प्रत्यभिज्ञापित तुरीय दशा के प्रत्यवमर्शाभ्यास की काष्ठा पर आरूढ़ प्रबुद्ध साधक को, समस्त बाह्याभ्यन्तर की अध्वा को अतिक्रान्त करके परमपद में विश्रान्ति प्राप्त होती है—

'प्रत्यभिज्ञापित तुरीय दशा प्रत्यवमर्शाभ्यासकाष्ठाधिरोहिणः प्रबुद्धस्य निखिल बाह्याभ्यन्तराध्वातिक्रान्तपरमपदविश्रान्तिलाभः इति ॥'

कहा भी गया है—'यां स्पन्दरूपामवस्थाम्' ॥[१]

योगशास्त्र में सोम सूर्य (शशिभास्करे) के अनेक अर्थ बताए गए हैं—

(१) **सोम**—अपान । **सूर्य**—प्राणवायु ॥[२]

(२) **सोम**—चन्द्रनाड़ी, । **सूर्य**—सूर्य नाड़ी = (चन्द्रस्वर एवं सूर्यस्वर)
(वामनाड़ी) (दक्षिण नाड़ी) नासापुट में प्रवाहित
श्वास-प्रवाह ।

(३) 'ठ' 'ह' ।

(४) **सोम**—इड़ा नाड़ी । **सूर्य** = पिंगला नाड़ी श्वास-प्रवाह ।

(५) **सोम**—वामनासापुट प्रवाहित प्राण । **सूर्य** = दक्षिणनासापुट प्रवाहित प्राण ॥

(६) अधोप्रदेश में स्थित वायु 'सूर्य' = हृदयस्थ वायु ॥

१. **नाड़ी** २. नाड़ियों में प्रवाहित **श्वास**—प्राणापान आदि को सूर्य-चन्द्र (ह + ठ) कहा गया है । ('हश्च ठश्च सूर्यचन्द्रौ') 'प्राणापानयोग' सूर्यचन्द्रयोग, 'गङ्गा यमुना संयोग' आदि इन्हीं दो तत्त्वों के साधनापरक अभिधानान्तर हैं । जब तक साधक 'सूर्य' एवं 'चन्द्रमा' (पिंगला नाड़ी एवं इड़ा नाड़ी) की दासता में रहता है अर्थात् जब तक उसके प्राण इड़ा एवं पिंगला में प्रवाहित होते रहते हैं तब तक वह बन्धन, माया, अज्ञान, अविद्या एवं संसरण-चक्र में पड़ा रहता है किन्तु जैसे ही उसका प्राण-संचार इन दोनों मार्गों का त्याग करके तृतीय मार्ग—सुषुम्णा नाड़ी मार्ग में होने लगता है वह ऊर्ध्वधाम की यात्रा करने एवं आत्मबल का संस्पर्श पाने के कारण मुक्त हो जाता है ।

प्रस्तुत कारिका में **योगशास्त्रीय नाड़ीगत साधना** को आत्मीकृत करने का उपदेश दिया गया है । शास्त्रों में 'प्राणापानसमायोग' को ब्रह्माद्वैत के प्रकाशन का साधन माना गया है—

---

१. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दकारिकाविवृति' ।
२. सिद्धसिद्धान्तपद्धति (गोरक्षनाथ)—
सुषुम्णा को मध्यमा नाड़ी भी कहते हैं—द्वयं तु मध्यमा नाड़ी ।
हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥

'प्राणापानसमायोगाच्छब्दतत्त्वसमाश्रयात् ।
विज्ञानतत्त्वं सापेक्षात् ब्रह्माद्वैतं प्रकाशते ॥'

गीता में 'प्राणापान' (सूर्य-चन्द्र) को प्राणायाम के प्रसंग में इस प्रकार निरूपित किया गया है— 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापाने तथापरे ॥
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणा: ॥'

प्राणापान की गति रोककर या समान करके योगी सुषुम्णा नाड़ी में प्राणों का संचार करके परमपद प्राप्त करते हैं ।

'हठयोगप्रदीपिका' में कहा गया है कि प्राणापान, नादबिन्दु की एकता से योग की संसिद्धि प्राप्त होती है—

'प्राणापानौ नादबिन्दूमूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नाम संशय: ॥ (३।६४)

योग पद्धति के अनुसार—इड़ा पिंगला में वायुसंचार रोककर इसे सुषुम्णा (मध्यमा) में प्रवाहित करके इसे ब्रह्मरंध्र में रोकना चाहिए—

'ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायु च मध्यगम् ।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥ (ह० ४।१६)

शाक्तभूमिका में प्रविष्टोन्मुखी योगियों की स्थितियों का विवेचन—

स्पन्दसूत्रकार ने मूढ़ एवं प्रबुद्ध योगियों की साधनावर्ती अनुभूतियों के अन्तर का विवेचन करते हुए कहा है कि—

'यह स्पन्दस्वरूपात्मिका चिद्रूपा शक्ति मुझे जिस प्रकार की स्वरूपविमर्शनात्मिका अनुभूति प्रदान करेगी मैं उस पर आरूढ़ रहूँगा'—इस प्रकार संकल्प लेकर जिस प्रकार की वृत्तिप्रत्यस्तमितावस्था का आश्रय ग्रहण करके अवस्थित रहता है ।

(जिस अवस्था का आलम्बन ग्रहण करके यह मुझसे जो कहेगी उसे मैं अवश्य करूँगा—इस प्रकार का संकल्प ग्रहण करके ही योगी (अग्रवर्ती साधना के लिए) स्थित रहता है ।)

भट्टकल्लट की व्याख्या—जिस स्पन्दस्वरूपा अवस्था को ग्रहण करके 'यह मुझसे जो कुछ भी कहेगी उसे मैं अवश्य करूँगा'—इस प्रकार के अध्यवसाय पूर्वक जो योगी स्पन्दतत्त्व में अधिष्ठित होकर—

'यां स्पन्दस्वरूपरूपामवस्थामवलम्ब्य' 'यत्किंचित अयं मम वक्ष्यति, तत् अवश्यं करिष्यामि'—इत्यध्यवसायेन स्पन्दतत्त्वमधिष्ठाय यो वर्तते ॥'

उसका आश्रय ग्रहण करके सोम एवं सूर्य (प्राणापान) दोनों शरीर छोड़कर ऊर्ध्व मार्ग से सुषुम्ना मार्ग में लय हो जाते हैं ।

भट्टकल्लट की व्याख्या—उस पुरुष की उस अवस्था का आश्रय ग्रहण करके, सोम और सूर्य दोनों को सुषुम्ना मार्ग में अर्थात् मध्यनाड़ी में स्तमित करके तथा

'ब्रह्माण्डगोचर' (शरीमार्ग) का त्याग करके योगी गण—'तस्य तामवस्थामाश्रित्य पुरुषस्य सोमसूर्यौ द्वावपि सौषुम्ने अध्वनि मध्यनाड्यभिधाने अस्तमयं कुरुतः ब्रह्माण्डगोचरं शरीर-मार्गं परित्यज्य योगिनः ॥'

'उस समय उस महाव्योम में शशि-भास्कर (प्राणापान) के प्रलीन हो जाने पर भी मूढ़ साधक उस अवस्था में भी सुषुप्तिपद के समान प्रगाढ़ अंधकार में पड़ा रहता है किन्तु प्रबुद्ध भूमिका पर अवस्थित योगी की चिन्मात्र आत्म संवित् की अनुभूति पर कोई भी आवरण नहीं रहता ॥'

भट्टकल्लट की व्याख्या—उस महाव्योम में सूर्य-चन्द्र के अस्त हो जाने के उपरान्त भी जिसके स्वभाव (आत्मा) की अभिव्यक्ति नहीं होती वह स्वप्न आदि के मुह्यमान अप्रबुद्ध योगी (आत्माभिव्यक्ति के ऊपर पड़े आवरण द्वारा) मोहावृत (निरुद्ध) रहता है किन्तु प्रबुद्ध योगी की आत्माभिव्यक्ति के ऊपर ऐसा कोई आवरण नहीं रहता—'तस्मिन् महाव्योम्नि प्रत्यस्तमित शशिभास्करे यस्य स्वस्वभावाभिव्यक्तिः न सम्यक् वृत्ता स स्वप्नादिना मुह्यमानोऽप्रबुद्धो निरुद्धः स्यात्, प्रबुद्धः पुनरावृत एव भवति ॥'

सौषुम्ण अध्व = 'सुषुम्णा' को ही 'पश्चिम पथ' भी कहा गया है । योगपद्धति यह है कि प्राण संचार इड़ा-पिंगला से रोककर सुषुम्णा में प्रवाहित किया जाता है—'इड़ां च पिंगला बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥' (३।७४) ऊपर 'चन्द्रमा' है और नीचे 'सूर्य' है—'ऊर्ध्वनाभेधस्तात्तोरुर्ध्व भानुरधः शशी' विपरीतकरणी मुद्रा में सूर्य ऊपर चन्द्र नीचे से जाता है ।

शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ हैं । उनमें १४ तथा १४ में ३ नाड़ियाँ प्रमुख हैं और उनमें भी 'सुषुम्णा' नाड़ी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसीलिए योगी **स्वात्माराम मुनीन्द्र ने** 'कुण्डलिनी' एवं 'मनोन्मनी' के साथ सुषुम्णा की भी वन्दना की है—

> सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
> मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ (हठयोगप्रदीपिका ४।६४)

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जब तक प्राण 'मध्यमार्ग' (सुषुम्णा नाड़ी) में प्रवेश नहीं करता तब तक ज्ञान की बात करना केवल दम्भ एवं मिथ्या प्रलाप है—

> 'यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे ।
> तावज्ज्ञानं वदति तदिद दम्भ मिथ्या प्रलापः ॥ (हठयोगप्र० ४।११४)

'अमृतसिद्धि' में भी यही बात कही गई है—

> 'यावद्धि मार्गतो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः ।
> असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम् ॥'

योग का सर्वोच्च सोपान 'असंप्रज्ञात समाधि' है । सुषुम्णा उसका भी साधन है क्योंकि प्राणों के सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करने पर मनोन्मनीरूप असंप्रज्ञात समाधि की भी प्राप्ति होती है—

> 'सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ।' (४।२०)

सुषुम्ना में प्राणसंचार एवं 'मनोन्मनी' का उदय—चित्त के अस्तित्त्व के दो घटक हैं—(१) 'वासना' (२) 'प्राण' । इनमें से एक के भी नष्ट हो जाने पर दूसरा स्वयमेव नष्ट हो जाता है—

'हेतुद्रयं तु चित्तस्य वासना च समीरण: ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यत: ॥ (हठयोगप्रदीपिका ४।२२)

'द्वे बीजे राम! चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने ।
एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यत: ॥' (योगवासिष्ठ)

'मध्यमार्गे सुषुम्नायां चरन् गच्छन् मारुत: प्राणवायु: यावत् यावत्कालपर्यन्तं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरंध्रपर्यन्तं नं विशति ब्रह्मरंध्रं गतस्य स्थैर्यति ब्रह्मरंध्रं गत्वा न स्थिरो भवति ॥ सुषुम्नायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते । ('ज्योत्स्ना': ह०प्र०)

योग-विधान के अनुसार नाड़ी चक्र का विशोधन करके प्राण-संयम करने से सुषुम्णा के प्रवेशद्वार का भेदन करके प्राण उसके मुख में प्रवेश कर जाता है और सुषुम्णा में प्राण के प्रवेश से मन में स्थिरता का उदय हो जाता है । मन का यही सुस्थिरीभाव या सुस्थिरावस्था **'मनोन्मनी'** (असंप्रज्ञात समाधि) कहलाती है—

(१) विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रविशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुत: ॥ (२।४१)

(२) मारुते मध्यसंचारे मन:स्थैर्यं प्रजायते ।
यो मन: सुस्थिरीभाव: सैवावस्था मनोन्मनी । (२।४२)

अभ्यस्त (प्राणायाम से नियंत्रित) वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली-बोधन के साथ सुषुम्णा में प्रवेश कर जाता है—

'वायु: परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधत: ॥ (हठयोग प्र०४।१९)

सुषुम्णा और कालभक्षण—जब प्राणवायु सुषुम्णा में प्रवहित होने लगता है तब मन, देश, काल एवं वस्तु के परिच्छेद से शून्य ब्रह्म में प्रविष्ट हो जाता है और तब चित्तवृत्ति के निरोध का ज्ञाता योगी प्रारब्धसहित संपूर्ण कर्मो को निर्मूल कर देता है—

'सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे
तदा सर्वाणि कर्माणि निमूलयति योगवित् ॥'

सुषुम्ना में प्राण-प्रवाह से 'अमरोली', 'वज्रोली' एवं 'सहजोली' भी उदित हो उठती हैं— चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ (हठयोग प्र० ४।१४)

सोमसूर्य रात्रिदिवसात्मक काल के धारक हैं किन्तु सुषुम्णा काल की भोक्त्री है—

'सूर्याचन्द्रमसौ धत्त: कालं रात्रिंदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥' (ह०प्र०)

सुषुम्णा और कुण्डलिनी—सुषुम्णा के समानार्थक एवं पर्याय—**स्वात्माराम मुनीन्द्र** ने 'हठयोगप्रदीपिका' में सुषुम्णा नाड़ी के निम्न पर्याय बताए हैं—

'सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः' ॥ ४ ॥

यह सच्चिदानन्द ब्रह्म की प्राप्ति का द्वार है और कुण्डलिनी इसी सुषुम्णा के द्वार को रोककर सो रही है—

(१) 'कुण्डलीबोधेनैव षटचक्रभेदादिकं भवति तस्मात् सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्मसच्चिदानन्दलक्षणं तस्य द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्ना तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्नाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां ... समावृत्ति समाचरेत् ॥ (ज्योत्स्ना: ३।४-५) ।

सुषुम्णा और प्राणापत ऐक्य—(२) 'अपानवायुम् ऊर्ध्वं प्रोत्सारयन् मूलबन्धं-कृत्वा सुषुम्नामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अन्तर्धारितं प्राणं न्यञ्चन्नीचैरधोऽञ्चन् गमयन् । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा । नरः पुमानमतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावा-च्छक्तिराधारशक्तिः कुण्डलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति ।

(३) 'प्राणापानयोरैक्ये कुण्डलिनीबोधो भवति ।'

सुषुम्णा एवं चित्तस्थैर्य मुक्ति—(४) 'कुण्डलिनी बोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्म-रंध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति । चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवति ॥' (हठयोगप्रदीपिका 'ज्योत्स्ना' १।४८) ।

पद्मासन लगाकर सुषुम्णा मार्ग से प्राण को मस्तक में ले जाने वाला योगी मुक्त है—

'पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥' (१।४९)

(५) मारुते प्राणवायौ मध्ये सुषुम्नामध्ये संचारः सम्यक् चरणं गमनं मूर्धपर्यन्तं यस्य स मध्य संचारस्तस्मिन् सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुंष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था ॥' (ज्योत्स्ना: २।४२)

सुषुम्णा एवं उन्मनी—'महावेध' के अभ्यास से भी इड़ा-पिंगला के मार्गों को छोड़कर वायु मध्यमार्ग (सुषुम्णामार्ग) में प्रवेश कर जाती है—

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ (३।२७)

ऐसा करने से तीनों नाड़ियों (इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा) का वायु अभिन्न हो जाता है और मोक्ष का कारण बनता है—'सोमसूर्याग्नि संबन्धो जायते चामृताय वै ॥' (३।२८) ऐसी अवस्था में इड़ा—पिंगला में प्राणसंचार का अभाव होने से 'मृतावस्था' उत्पन्न हो जाती है—'मृतावस्था समुत्पन्ना' (३।२८) ।

'मध्यमा नाड़ी' को सरल करने के उपाय निम्न है—(१) आसन (२) प्राणायाम (३) मुद्रा—'इयं मध्यमा नाड़ी सुषुम्ना योगिना दृढ़ाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयमः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला भवेत् ।'

'इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ (३।१२४ ह०प्र०)

ध्यातव्य बिन्दु—स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में योग की साधना का आत्मीकरण इसलिए किया गया क्योंकि इन योगियों ने अनुभव किया न तो मात्र 'ज्ञान' से और न तो मात्र 'योग' से । 'परामर्थ' 'परमपद' 'उन्मनी' 'सहजावस्था' 'प्रत्यभिज्ञा' 'शाक्तभूमिका' प्राप्त की जा सकती है अतः उन्होंने दोनों का आत्मीकरण किया । कारण सुस्पष्ट है—

'विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात् ।
तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत् ॥ ('योगबीज')

स्पन्द एवं प्रत्यभिज्ञा का योग हठयोग नहीं राजयोग है । राजयोग का स्वरूप निम्नाङ्कित है—वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पवृत्ति राजयोगः । (ज्योत्स्ना ३.१२६) ।

सहजविद्योदय निष्यन्द

'सा विद्या या विमुक्तये, ज्ञानान्न ऋते मुक्तिः' के अनुसार 'विद्या' एवं 'ज्ञान' दोनों मोक्ष के साधन हैं । योगियों ने ज्ञान का स्वरूप पृथक् रीति से परिभाषित किया है । यदि विद्या को 'ज्ञान' का पर्याय मान लिया जाय तो 'ज्ञान' का निम्न अर्थ विद्या का पर्याय माना जाना चाहिए । ज्ञान क्या है?

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्, प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्या, मोक्षं स गच्छति नरः न कथंचिदन्यः ॥
—हठयोग प्र०

आचार्य **भट्टकल्लट** ने अपनी 'स्पन्दकारिकावृत्ति' ('स्पन्दसर्वस्व') के द्वितीय निष्यन्द का नामकरण—**'सहजविद्योदय'** किया है ।

स्वरूपस्पन्द निष्यन्द में तो रचनाकार ने यह प्रमाणित किया कि—

(१) विश्व के कण-कण में चैतन्यस्वरूपा स्पन्दशक्ति अनुस्यूत है ।

(२) साधक विकल्पों को संस्कृत करके स्वसंवेदन को विशुद्ध बनाकर अपने हृत्पद्म में शाक्त भूमिका की अनुभूति एवं विश्वात्मभाव को अधिगत करके पशुभाव से मुक्त होकर विश्वात्मैक्य की अनुभूति करते हैं ।

सहजविद्योदय निष्यन्द में रचनाकार यह प्रतिपादित करता है कि विकल्पसंस्कार की पद्धति का अनवरत अभ्यास प्रबुद्ध योगियों को शुद्धविकल्पात्मक, अहंविमर्शात्मक, निर्मलशुद्धविद्यास्वरूप **'सहजविद्या'** की अनुभूति प्रदान करता है । **'सहजविद्या'** अहंविमर्श स्वरूप का साक्षात्कार कराती है और यह शुद्ध विकल्पात्मिका है । इसके द्वारा स्वस्वरूप का साक्षात्कार भी होता है । योगी को मन्त्रवीर्य की अनुभूति होती है तथा वह प्रबुद्धावस्था से सुप्रबुद्धावस्था में प्रवेश करता है ।

'सहज' शब्द दो शब्दों से निर्मित हुआ है—'सह' + 'ज' = जन्म के साथ-साथ

उदित । 'सहज' स्वाविर्भूत, सरल, अकृत्रिम, स्वयंभू, स्वाभाविक, आदि अर्थों का द्योतक है । 'हठयोगप्रदीपिका' की टीका 'ज्योत्स्ना' में सहज शब्द का अर्थ—'स्वाभाविक ध्येयाकार वृत्तिप्रवाह' किया गया है और इस 'सहजतत्त्व' के बिना ज्ञान को 'दंभमिथ्याप्रलाप' भी कहा गया है । 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा गया है 'ज्ञान' योगसाधना सापेक्ष है क्योंकि—

(१) 'यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहज सदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥' (ह०प्र०)

(२) योगियों की 'सहजावस्था'—
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ (ह०प्र०)

(३) 'ज्योत्स्ना' में 'सहजावस्था' का स्वस्वरूप—

'जातः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य प्रिरिहृतानि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेन्द्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-संप्रज्ञात समाधिभिर्मानसिक व्यापारे व्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति । असंगो ह्ययं पुरुषः शुद्धः पुरुषः सत्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति । सैव **सहजावस्था'**

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ (ह०योग०)

('तत्वदर्शनमात्माऽपरोक्षानुभवः दुर्लभं, सहजावस्था

विकल्प-संस्कार-आचार्य अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक') (आ०४) में कहते हैं कि—

(१) परमेश्वर के 'स्व' भाव में प्रवेशेच्छा विकल्पों के संस्कार से ही निष्पादित होती है ।

(२) साधक को सर्वप्रथम विकल्पों का संस्कार करके सद्विकल्प-गणपति बनना चाहिए । एतदर्थ उसे सर्वप्रथम-शास्त्र-स्वाध्याय, चिन्तन एवं मनन करना चाहिए । → पुष्टि, तुष्टि की प्राप्ति, स्वात्म कुसुम का प्रस्फुटन 'प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कार-मञ्जसा ॥' (तन्त्रालोक ४।२)

(३) संस्कृत विकल्प → संस्कृत विकल्प → संस्कृत विकल्प → संस्कृत विकल्प
विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्यात्मसंस्कृतम् ।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोप्यन्नं सदृशात्मकम् ॥ (४।३)

(४) संस्कार-शुद्ध विकल्प → स्वात्म संस्कृत शुद्धविकल्प ।
अस्फुट संस्कृत विकल्प → स्फुट संस्कृत विकल्प—
'भ्रश्यदस्फुटत्व' 'भाव्यमान स्फुटीभाव' → निर्विकल्प भाव ।

विकल्प-संस्कार की चार अवस्थायें—(तन्त्रालोक)

अस्फुट विकल्प	भविष्यत् स्फुटत्व (भविष्य में स्फुटता की प्रक्रिया होती है ।)	प्रस्फुटता का प्रवर्तन	पूर्णाप्रस्फुटन (कली, मुकुल, विकसदवस्थ सुमन कुसुम की भाँति)

विकल्प शीघ्र विकसित नहीं होते । अत: अन्तराल में अनेक अवस्थायें आती हैं—

(१) अस्फुट—स्फुटताभावी के मध्य-'भ्रश्यदस्फुटत्व' अवस्था

(२) ईषत्प्रस्फुटत्व के बाद अंकुरित प्रस्फुटत्व अवस्था

(३) आसूत्रित स्फुटत्व, उद्‌गच्छत्स्फुटत्व आदि अनेक अवस्था

विकल्पों की संस्कार-प्रक्रिया का क्रमिक विकास—स्फुटतम वैकल्पिक तद्रूपतामयी एक संवित् शक्ति का उल्लास → 'स्व' रूप की प्राप्ति → सङ्कोच का कलङ्क नष्ट ।

(४) पारमार्थिक विकल्प भी हेय हैं—

> परमार्थविकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डित: ।
> को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथ वाशुभे ।।

विकल्प चाहे शुभ हों या अशुभ—विकल्प तो विकल्प ही हैं → निर्विकल्पात्मक भाव ही श्रेयस्कर है—

(५) विकल्प संविद के संस्कार से और अविकल्प संविद रूप में क्रमश: स्फुरित होने से स्वात्म में ही ज्ञान, क्रियात्मक संविद्रूप भैरवीय तेज का विमर्श होने लगता है । इस विमर्श में 'मैं स्वयं भैरव शिव हूँ' यह महानुभूति उदित होती है । अस्फुटत्व → स्फुटतमावस्था = शांभव समावेश की आनन्द भूमि यही है । यही है **प्रस्फुटित विमर्श भूमि का आवेश**—

> अतश्च भैरवीयं यत्तत्तेज: संवित्स्वभावकम् ।
> भूयो भूयो विमृशतां जायते तत्स्फुटात्मता ।। (तन्त्रा० ४।७)

विकल्पों का संस्कार करते-करते अपने संवेदन को निर्मल बनाया जाता है और अपने हृदय में शाक्तभूमिका की अनुभूति करके पशुत्व से मुक्त होकर विश्वात्मभाव प्राप्त किया जाता है ।

विकल्प-संस्कार का निरन्तर अभ्यास → (प्रबुद्ध योगियों के हृदय में) 'सहज विद्या' (विशुद्ध विकल्प या अंहंविमर्शात्मक स्वरूप की अनुभूति) → शुद्ध विद्या का प्रकाश स्वरूप का साक्षात्कार एवं मन्त्र वीर्य की अनुभूति—प्रबुद्ध से सुप्रबुद्धावस्था में प्रवेश ।।

बौद्ध दर्शन में सहज तत्त्व का स्वरूप—(१) वज्रयानी सिद्धों एवं मत्स्येन्द्र के

योगिनी कौल मार्ग में 'सहज' = पुरुष तत्त्व + शक्ति तत्त्व का समागम प्रज्ञा + उपाय, (यो० कौ० में—शिव + शक्ति) का समागम ।। (२) 'कौलज्ञाननिर्णय' में—'सहज' = 'कुरुते देहमध्ये तु सा शक्तिः सहजा प्रिये ।।' (सहज शक्ति को शरीरस्थ करके वहीं उपलब्ध करना चाहिए ।) 'सहज' = सहज ज्ञान सहज स्वभाव आदि ।

नाथपंथ में 'सहज' के प्रयोगों की दिशायें—(१) **'सहज'** = परम तत्त्व (२) **'सहज'** = परमज्ञान, परम स्वभाव, (३) **'सहज'** = परमपद, परमसुख, (४) **'सहज'** = सहज जीवन पद्धति । (५) शरीर के भीतर शक्ति से संगम प्राप्त करने की योग पद्धति ।

विकल्प—घट पट आदि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी पदार्थ 'विकल्प' है । **अहं परामर्श के भेद**—शुद्ध अहं परामर्श ।। मायीय अहं परामर्श ।।

जब मितात्मा विश्व से अभिन्नतयावस्थित सविन्मात्र में या विश्व से असंस्पृष्ट स्वच्छ आत्मा में अवस्थित रहता है तब उसे शुद्ध अहं परामर्श कहते हैं । जब की मायीय (अशुद्धपरामर्श) वेद्यस्वरूप देह, बुद्धि, प्राण, शून्य आदि को अपना आलम्बन बनाता है—उन्हीं को अपना स्वरूप मान बैठता है तब इसे **अशुद्ध परामर्श** कहते हैं । इसी भेद दशा की प्रतीति ही **'विकल्प'** है । इसी की शुद्धि से सहजविद्या का उदय होता है ।

कारिकाकार ने जिस सद्विद्या (सहज विद्या) का प्रतिपादन किया है एतत्संबन्ध में अभिनवगुप्त 'तन्त्रालोक' (३।१०) में कहते हैं कि (१) भावों के प्रतिघाती भाव **मायात्मक** होते हैं किन्तु (२) अप्रतिघाती भाव तो **सद्विद्यामय** होते हैं । मायात्मक भाव स्थूल एवं भेदप्रधान होते हैं ।

> भावानां यत्प्रतीघाति वपुर्मायात्मकं हि तत् ।
> तेषामेवास्ति सद्विद्यामयं त्वप्रतिघातकम् ।। (३।१०)[१]

सद्विद्यामय भाव ज्ञान शक्तिस्वभाव होते हैं—'तत्सद्विद्यामयं ज्ञानशक्तिस्वभावम् ।। (विवेक पृ० ३२९) ।। मायात्मकपदार्थप्रतिबिम्बरूप एवं ज्ञानात्मकभाव उनके ग्राहक होते हैं ।[२]

प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्द शास्त्र के जो छत्तीस तत्त्व हैं उनमें 'ईश्वर तत्त्व' से निम्न स्तर पर किन्तु मायातत्त्व के स्तर से उच्चतर स्तर पर एवं दोनों के अन्तराल में 'शुद्धविद्यातत्त्व' अवस्थित है—

(१) 'विश्वं पश्चात्यन्निदन्तया निखिलमीश्वरो जातः ।
सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयोरभेदमतिः ।।'[३]

(२) 'ईश्वरो' बहिरुन्मेषो, निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।
सामानाधिकरण्यं च, सद्विद्याहमिदं धियोः ।।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।३)[४]

(३) 'तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका ।
विद्याशक्तिस्तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः ।।' (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।७७)[५]

---

१. तन्त्रालोक । २. विवेक ।
३. षट्त्रिंशत्तत्वसंदोह । ४-५. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ।

(४) 'उन्मेषनिमेषौ बहिरन्तः स्थिती एवैश्वर सदाशिवौ बाह्याभ्यन्तरयोर्वेद्यवेदकयो-रेकचिन्मात्र विश्रान्तेरभेदात्सामान्याधिकरण्येनेदं विश्वमहमिति विश्वात्मनो मतिः शुद्धविद्या' —प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ।[१]

इस स्वरूप वाली **'शुद्धविद्या'** जो एक तत्त्व है वह इस प्रसंग में ग्राह्य नहीं है। शुद्ध विद्या इस प्रसंग की 'सहज विद्या' नहीं है।

यहाँ 'शुद्धविद्या' पद उस शुद्धविमर्श को द्योतित करता है जिसके उदित होते ही योगी के अन्तःकरण में सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व आदि माहेश्वर षडात्मक स्वधर्म प्रकाशित हो उठते हैं।

विद्या शब्द का व्युत्पत्यात्मक अर्थ—

'विद्या' पद लाभवाचक 'विदलृ' धातु एवं विचारमूलक 'विद्' धातु एवं ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है।

सहज विद्या—(१) विदलृ (लाभ)—'विद्या'
(२) विद् (ज्ञान)—'विद्या'
(३) विद् (विचार)—'विद्या'

(१) **लाभोद्योतक 'विद् लृ' धातु** = 'विद्या'। इस अर्थ में 'विद्या' पद 'विमर्श' की उस उच्चतमावस्था का सूचक है जिसका विकास होने पर योगी माहेश्वर शक्तियों (सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व आदि) को या शिव धर्मों को सहज रूप से अधिगत कर लेता है।

(२) **विचार-द्योतक विद् धातु = 'विद्या'** = इस अर्थ में 'विद्या' पद विमर्श की उस उच्चतमावस्था को द्योतित करती है जिसका विकास होने के बाद योगी—'मैं अनादि हूँ' स्वातन्त्र्य, स्वात्मविमर्श, शिवत्व मेरा स्वभाव है'—का ज्ञान या अनुभव होने लगता है।

(३) **ज्ञान द्योतक विद् धातु = 'विद्या'**। मैं स्वयं शक्तियों का स्वामी शिव हूँ। 'विश्व' मेरा स्पन्दन है। यही उन्मनन भी है।

'सहज अभ्यास', 'सहज जप', 'सहज ज्ञान', 'सहजयोग, 'सहज विद्या' आदि का उदय संभव है। **'हठयोगप्रदीपिका'** में कहा गया है कि—'सहजावस्था' योग की एक उच्चावस्था है। इसके निम्न लक्षण हैं—

(१) इस अवस्था में समस्त कार्य कलाप अकृत्रिम रूप से निष्पादित होते हैं।
(२) इसमें कुण्डलिनी उद्बुद्ध रहती है।
(३) इसमें समस्त सायास कार्यों का त्याग कर दिया जाता है।
(४) यह स्वयमेव उत्पन्न होती है—स्वयंभू स्थिति है—

'उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ (उपदेश ४।११)

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति।

(५) 'सहजावस्था' अत्यन्त दुर्लभ है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्‌गुरोः करुणां विना ॥ (हठ० प्र० ४।९)

'सहजविद्या' सहज ज्ञान (यौगिक ज्ञान) को आत्मीकृत (क्रोडीकृत) करके चलता है और यौगिक विद्या या यौगिक ज्ञान योग की दृष्टि में इस प्रकार है—

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्,
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो,
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ (४।१५)

जब तक 'सहज सदृश तत्त्व' का ध्यान में उदय नहीं होता तब तक 'ज्ञान' दंभ एवं मिथ्या प्रलाप मात्र है—

यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वम् ।
तावज्ज्ञानं वदति तददिं दंभ मिथ्याप्रलापः ॥ (ह० प्र० ४।११४)

योगियों ने 'राजयोग', 'समाधि', 'उन्मनी', 'मनोन्मनी', 'तत्त्व', 'अमरत्व', 'लय', 'शून्याशून्य', 'परं पद', 'अद्वैत', 'निरालम्ब', 'निरञ्जन', 'अमनस्क', 'तुर्या', 'जीवन्मुक्ति' एवं 'सहजा' सभी को समानार्थक माना है—

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ।
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥

—स्वात्माराम मुनीन्द्र (हठयोगप्रदीपिका ४।३-४)

[५] द्वितीयो निष्यन्दः

सहजविद्योदयनिष्यन्दः

स्पन्दस्वरूप आत्मबल-प्राप्त मन्त्रों की शक्तियों में वृद्धि—

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनः ॥ २६ ॥

उस स्पन्दस्वरूप आत्मबल के साथ तद्रूपता प्राप्त करने से समस्त मन्त्र सर्वज्ञता आदि (षड्विध) शांभव बलों को प्राप्त कर लेते हैं और (वे मन्त्र) मांत्रिक साधक के अभीष्टों को उसी प्रकार सिद्ध कर देते हैं यथा शरीरधारी प्राणियों की इन्द्रियाँ (अपने अभीष्टों को सिद्ध कर देती हैं) ॥ २६ ॥

* **सरोजिनी** *

तत् + बलं = उस स्पन्दरूपात्मक आत्मबल ॥

'सर्वज्ञबलशालिनः मन्त्राः तद् बलं आक्रम्य देहिनाम् करणानीव अधिकाराय प्रवर्तन्ते ॥'

तत् = वह । स्पन्द तत्त्वात्मक बल, प्राणरूप वीर्य । स्पन्दरूप 'आत्मबल' **आक्रम्य** = ('अभेदेन आश्रयतया अवष्टभ्य') ॥ (On catching hold of that strength) **बलं** = प्राणरूप वीर्य ॥ (Life vitality) निरावरण चिद्रूप (कल्लट) **तद् बलं** = वह शक्ति (That strength) **आक्रम्य** = अधिष्ठाय = (कल्लट) **'स्पन्द-तत्त्वात्मक'** : स्पन्द तत्त्व से युक्त ॥[१] **तत्** = उस (बल को) 'तदाक्रम्य' = तत् + आक्रम्य ॥ (कल्लट)

सर्वज्ञता = सर्वज्ञता (सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वज्ञातृत्व, पूर्णतृप्तित्व आदि) सब कुछ जानने की क्षमता ॥

सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों से समृद्ध 'मन्त्र' स्पन्दात्मक शक्ति या प्राण रूप वीर्य को, (सम्यक् अभेदापत्ति के साथ) प्राप्त करके प्राणियों को अधिकार सम्पन्न बनाने हेतु उसी प्रकार प्रवर्तित होते हैं जिस प्रकार इन्द्रियाँ प्राणियों को ऐन्द्रिय विषय प्राप्त कराने हेतु प्रवर्तित होती है ।[२]

---

१. क्षेमराज : स्पन्दनिर्णय । २. स्पन्दनिर्णय ।

मान्त्रीशक्ति के प्रकटीकरण की विधि एवं जाग्रत मन्त्रों की अचिन्त्य शक्ति **आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दनिर्णय'** में इस श्लोक को द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया है और सात श्लोकों में समाप्त कर दिया है । यह 'सहजविद्योदय निष्यन्द' का प्रथम श्लोक है ।[१]

प्रस्तुत श्लोक में 'मन्त्र शक्ति' का निरूपण किया गया है और उसके प्रथमोदय पर प्रकाश डाला गया है । 'मन्त्र' उस बल को प्राप्त करके सर्वज्ञत्व की शक्ति से आवेष्टित हो उठते हैं (Get endued with the power of omniscience) और अपने कार्यों का संपादन उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार सशरीरी व्यक्ति की इन्द्रियाँ किया करती हैं । ये 'मन्त्र' अपने आराधकों के चित्त के साथ लयीभूत हो जाते हैं (Get absorbed) वे शान्तरूप एवं अशुद्धियों से रहित होकर आराधकों के चित्त में लीन हो जाते हैं अत: ये मन्त्र शिव की यथार्थ शक्ति प्राप्त किये हुए होते हैं ।[२]

'अनन्त', 'व्योमव्यापी' आदि मन्त्र सर्वज्ञत्वादि सामर्थ्य आदि के द्वारा प्राणियों के अधिकार के लिए प्रवर्तित होते हैं । जिस प्रकार प्राणियों की इन्द्रियाँ अपने बल के द्वारा ऐन्द्रिय विषयों के प्रकाशन का कार्य करती हैं ठीक उसी प्रकार 'मन्त्र' भी साधकों के लिए कार्य संपादित करते हैं और ये सृष्टि-संहार-तिरोधान-एवं अनुग्रह आदि कार्य निष्पादित करते हैं ।

उस शक्ति (स्पन्दात्मक शक्ति) को प्राप्त करके ये पवित्र मन्त्र (यथा अनन्त, व्योमव्यापी आदि मन्त्र) सर्वज्ञता आदि की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं तथा सृष्टि-स्थिति-संहार-तिरोधान एवं अनुग्रह आदि देव कार्यों को निष्पादित करते हैं । ('तत् स्पन्द-तत्त्वात्मकं बलं प्राणरूपं वीर्यमाक्रम्य अभेदेन आश्रयतया अवष्टभ्य भगवन्तोऽनन्तव्योम-व्याप्यादयो मन्त्रा: सर्वज्ञबलेन जृंभमाणा देहिनां प्रवर्तन्ते—सृष्टिसंहारतिरोधानअनुग्रहादि कुर्वन्ति ॥')[३]

मन्त्र-विज्ञान और उसका विधान—

मन्त्र में चार बातें मुख्य होती हैं—(१) 'बीज' (२) 'पिण्ड' (३) 'पद' (४) 'नाम' । **उनका धर्म है**—(१) मनन एवं (२) त्राण । **उनका बल है**—निरावरण चित् का उल्लास (पराशक्ति) उसी शक्ति को लेकर 'मन्त्र' सहज नादशक्ति से उद्‌बोधित होकर प्रदीप्त होते हैं उनमें सर्वज्ञता आदि का बल आ जाता है । जब सिद्धमन्त्री उनका प्रयोग करता है तब वे—(१) **'अनुग्रह'** और (२) **'निग्रह'** करने में समर्थ होते हैं ।

जिस प्रकार एक शरीरधारी अपने कर-चरणों का प्रयोग करता है ठीक उसी प्रकार एक सिद्धमन्त्री मन्त्रों का प्रयोग करता है । आत्मा के परत्व का अवबोध होने के कारण मन्त्रज्ञ इच्छा मात्र से मन्त्रों का यथेष्ट प्रयोग कर सकता है ।

'त्रिकसार' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—वर्णातीत निराकार परम तत्त्व का बोध हो जाने पर 'मन्त्र' मन्त्राधिपों के साथ किंकर हो जाते हैं अर्थात् वशीभूत हो जाते हैं ।

१-३. स्पन्दनिर्णय ।

'विदिते तु परे तत्त्वे वर्णातीते ह्यविग्रहे ।
किंकरत्वं तु गच्छन्ति मन्त्रा मन्त्राधिपैः सह ॥'

यदि ऐसा नहीं है तो बड़े प्रयत्न से प्रयोग करने पर भी कठपुतली के समान निष्फल चेष्ट ही रहते हैं क्योंकि सत्यसंकल्पचिच्छक्ति के बल का स्पर्श न होने के कारण वे केवल वर्ण-मात्रा अर्थात् **मात्र जड़ अक्षर ही बने** रहते हैं—**'त्रिकसार'** में यही कहा गया है—

हंसपारमेश्वर नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—केवल वर्णरूप 'मन्त्र' पशुभाव में स्थित है । सुषुम्नामार्ग से उच्चारण करने पर वे 'पशुपति' हो जाते हैं । वस्तुतः शाक्त मार्ग में ही मन्त्रों की सफलता है ।

'पशुभावे स्थिता मन्त्राः केवला वर्णरूपिणः ।
सौषुम्णेऽध्वन्युच्चरिताः पतित्वं प्राप्नुवन्ति ते ॥'

वस्तुतः शाक्त मार्ग में ही मन्त्र साकल्य प्रदान करते हैं—'ऐष शाक्तो मार्गोऽत्र च मन्त्राणां साकल्यम्' ।

तत्त्वरक्षा-विधान में कहा गया है—**आत्म संवित् अथवा परम पद में मन्त्र का प्रयोग नहीं करना चाहिए,** क्योंकि वह शक्ति और क्रिया से रहित है शक्ति के विषय में ही मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए । वही जप सफल होता है अन्य नहीं—

'अशक्तत्वान्निष्क्रियत्वान्न पुंसि न परे पदे ।
शक्तौ नियोजयेन्मन्त्रं जपस्तु सफलो भवेत् ॥'

श्रीवैहायसी नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—

संधिस्थल में **नादोर्ध्वध्वनि से बोधित 'जप'** करना चाहिए यथा सूत्र में मणि ग्रथित होते हैं । ठीक इसी प्रकार शक्ति के ताने-बाने से निर्मित मन्त्राक्षरों का ध्यान करना चाहिए । वह शक्ति परम व्योम में रहती है और परमामृत से समृद्ध है । उक्त रीति से **'जप'** करने पर **'मन्त्र'** अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है अपने को आच्छादित नहीं रखता—

'विषुवत्कं जपं कुर्यान्नादोर्ध्वध्वनिबोधितम् ।
मन्त्राक्षराणि मणिवच्छक्तौ प्रोतानि भावयेत् ॥
तामेव च परे व्योम्नि परमामृतबृंहिताम् ॥'

श्रीकालपरा नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—शब्द नादात्मक हैं अतः उसके साथ प्रत्यय, संवित् संलग्न रहकर बढ़ाती रहती है । मन्त्र बोध के स्वरूप में स्थित संवित् अभिन्न है अतः वह आत्मबोध भी करा देती है—

'शब्दो नादात्मकस्तस्मात् प्रत्येनोपबृंहितः ।
मन्त्रबोधस्वरूपस्थमभिन्नो बोधयत्यपि ॥'

संकर्षणसूत्र में भी इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—चिद्रूपता स्वात्मैकनिष्ठ है । भाव और अभाव उसकी दशायें हैं—परिष्कार हैं । वह स्वसंवेदन

संवेद्य है। प्रकृति से अतीत भी वहीं, प्रकृति का विषय भी वही यही मन्त्रों का प्रत्ययात्मक कारण है। **मन्त्र बाहर और भीतर** वर्णरूप से प्रकट होते हैं। वे शाश्वत पदरूप होते हैं। वे मनुष्य के कर चरणादिक के समान हैं। वीर्य का योग होने पर किसी भी काल में प्रयोग करने पर वे सिद्ध होते हैं—

स्वात्मैकनिष्ठं चिद्रूपं भावाभावपरिष्कृतम्।
स्वसंवेदनसंवेद्यं प्रकृत्यातीतगोचरम्॥
इयं योनिः स्मृता विप्र मन्त्राणां प्रत्ययात्मिका।
ते मन्त्रा वर्णरूपेण सबाह्याभ्यन्तरोदिताः॥
नैष्कालिकपदावस्थाः करणानीव देहिनाम्।
प्रयुक्ताः सर्वकालेषु सिद्ध्यन्ते वीर्ययोगतः॥

जब शुद्ध बोधात्मक रूप से अन्तर्बाह्य दोनों में उदित मन्त्र का एक बार भी जप किया जाता है तब वह लक्ष बार किये हुए जप के समतुल्य हो जाता है।

'जपसंहिता' में भी कहा गया है—'एक ही मन्त्रनाथ अन्तर एवं बाह्य दोनों में उदित होकर एक हो जाता है और तब उस जप को लक्ष्य संख्या से भी अधिक समझना चाहिए'— 'एकस्य मन्त्रनाथस्याप्यन्तर्बाह्योदितस्य च।
यदैक्यं तं जपं विद्धि लक्षसंख्याधिकं मुने॥'[१]

तेन = उसके द्वारा। प्रस्तुत व्याख्यान के कारण।

एते = ये मन्त्र। आराध्यदेवतावाचकवर्णादिसंनिवेश पूर्णमन्त्र।

शिवधर्मिणः = शिव अर्थात् परमेश्वर के अनन्यसाधारण सर्वज्ञता आदिगुण (धर्म) वाले। शिव से अभिन्नस्वरूप॥

किस कारण? क्योंकि **'तत्'** = समनन्तर प्रतिपादितस्वरूप वाले शिव से सम्बद्ध। **बल** = सामर्थ्य॥ शक्ति।

आक्रम्य = उच्चिचारयिषावस्था में उसके साथ अभेदोपपत्ति स्थापित करते हुए स्वीकार करके।

सर्वज्ञबलशालिनः = सर्वज्ञ शिव के बल द्वारा श्लाघमान होकर **'अधिकाराय प्रवर्तन्ते'** = यथास्व प्रतिनियत कार्य संपादन के स्वाम्यार्थ प्रसृत होते हैं (प्रसरन्ति)।

मन्त्र-विज्ञान

ये मन्त्र यदि परमेश्वर से अभेदावस्था प्राप्त न कर लें तब तक ये उत्पादविनाशधर्मक एवं वर्णमात्रात्मक होने के कारण तृण को भी झुकाने में असमर्थ हैं। पारमात्मिकी शक्ति से भिन्न रहने पर ये तृणा को भी टेढ़ा नहीं कर सकते॥

मन्त्रों की असमर्थता कब और क्यों?—

'एते हि अनासादित परमेश्वराभेददशा उत्पाद-विनाशधर्मक वर्णमात्रात्मकाः तृणमपि कुब्जयितुमशक्ताः॥'—परमेश्वर में अभेदापत्ति के बिना मन्त्रों की यही स्थिति रहती

---

१. उत्पलदेवाचार्य : 'स्पन्दप्रदीपिका'।

है क्योंकि उस स्थिति में ये आद्यन्त, उत्पन्न एवं विनष्ट एवं अनित्यधर्मा वर्णाक्षर मात्र रहते हैं । ये मन्त्र—'तद बलं आक्रम्य सर्वज्ञबलशालिनः' हुआ करते हैं ।

उक्त पारमेश्वर शक्ति को पाकर ('उक्त बलाक्रमणेन') ये मन्त्र सुनिर्दिष्ट कार्यों या अभीष्टों को निष्पादित करने में सहायक हो जाते हैं और ये दीक्षादिक के द्वारा वृश्चिक-विष की अपसारणा से लेकर आकर्षण (स्तंभन, मोहन, वशीकरण, आकर्षण आदि) पर्यन्त परापर सिद्धियों (अभीष्ट-साधन) के निष्पादनाधिकार में अप्रतिहतशक्ति बन जाते हैं—'उक्त बलाक्रमणेन तु नियतेतिकर्तव्यतासहाया दीक्षादि वृश्चिकविषाकर्षणान्त परापर स्वकार्यसंपादनाधिकाराप्रतिहतशक्तयो भवन्ति ।'

यदि सभी मन्त्रों में उक्त पारमेश्वर शक्ति के प्राप्ति की पराक्रम-क्षमता समान है तो फिर इनमें अधिकारों की भिन्नता क्यों है? वे सभी साधनों में अभीष्टार्जन करने में सफल क्यों नहीं हो पाते? ये मन्त्र किस प्रकार साधकों के नियत अधिकार के लिए प्रवर्तित होते हैं? ये साधकों के कार्यों में उसी प्रकार सहायक होते हैं जैसे कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ ('देहिनां करणानिव') ॥

परमेश्वर के द्वारा ही चेतनत्वापादन हेतु उत्पन्न प्रवृत्ति आदि में साम्य होते हुए भी इन्द्रियाँ अपने लिये प्रकृति द्वारा प्रदत्त शक्ति के बल से शब्दादिक विषयों के प्रकाशन में समर्थ है—और उनका सामर्थ्य उसी सीमा तक पर्यवसित है ।

इन इन्द्रियों का अधिकार पृथक्-पृथक् है । सभी इन्द्रियाँ सभी इन्द्रियों के अधिकार या सामर्थ्य का उपयोग नहीं कर पातीं (यथा—नेत्रेन्द्रिय देख पाती है किन्तु सुन नहीं पाती और श्रवणेन्द्रिय सुन पाती है किन्तु देख नहीं पाती आदि-आदि) । उसी प्रकार ये मन्त्र साधकों के स्वीकृत परस्वभाव एवं अहंभाव की प्रतिपत्तियों के विषय में यथा नियताधिकार के क्षेत्र में ही प्रवर्तित होते हैं उसका अतिक्रमण करके नहीं—

मन्त्र विज्ञान—'मन्त्राः साधकानां स्वीकृतपरस्वभावाहंभावप्रतिपत्तीनां यथानियमिताधिकाराय प्रवर्तन्ते ॥'—

अतः सर्वज्ञबलशाली होने के बाद भी ये मन्त्र इन्द्रियों की ही भाँति नियताधिकार मात्र हैं—'तस्मात् करणवत् सर्वज्ञबलशालिनोऽपि मन्त्रा नियताधिकारा एव ॥'[१]

'मन्त्र' का स्वरूप, उसका लक्षण एवं उसके प्रभाव के विषय में शास्त्रों ने बहुत विवेचन किया है निम्नांकित उद्धरण ध्यातव्य हैं—

'मननमयी निजविभवे निजसंकोचे भये त्राणमयी' ॥

(१) कवलितविश्वविकल्पा अनुभूति कापि **मन्त्र**शब्दार्थः[२] ।

(२) 'मननत्राणधर्माणो मन्त्राः' ।

(३) 'वर्णात्मको न मन्त्रो दशभुजदेहो न पंचवदनोऽपि ।[३]
संकल्पपूर्वकूटौ नादोल्लासो भवेन्मन्त्रः ॥[४]

१. रामकण्ठाचार्यः 'स्पन्दकारिकाविवृति' । २-४. महार्थमञ्जरी ।

(४) 'सेयमेवंविधा भगवती संविद्देव्येव मन्त्रः ।'[१]

(५) 'सर्वक्रोडीकारो स्थिततत्वाद् देव्येव मन्त्रः ॥'[२]

(६) 'चिदग्निसंहारमरीचिमन्त्रः संविद्विकल्पान् ग्लपयन्नुदेति' ।[३]

(७) मन्त्राश्चिन्मरीचयः ।

(८) जब तक कि मन्त्र निर्मल नहीं हो जाते तब तक ये सिद्ध नहीं हो सकते—'यावन्न निर्मला मन्त्रास्तावत्सिद्धिः कथं भवेत्? (१६।४४ ने०तं०) ।

(९) पशुप्रमाताओं के लिए तो मन्त्र एक **'करण'** है किन्तु आचार्य **'कारण'** हैं—और शिवस्वरूप हैं—

मन्त्राकरणरूपास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः कारणं तत्र शिवरूपो यतः स्मृतः ॥ (ने०तं० १६।३।१६०)

(१०) **मन्त्रोदय होता कैसे है? इन्हें शिवात्मक क्यों कहते हैं?**

शिवशक्तिनियोगाच्च मन्त्राणामुदयः परः ।
सर्वत्रकलदा मन्त्रा यतस्तेऽतः शिवाः स्मृताः ॥ (ने०तं० १६।४६)

(११) मन्त्र शक्ति का प्रभाव क्या है? अचिन्त्य है—

यद्यत्प्रकुरुते ज्ञानी शिवशक्तिसमाश्रयात् ।
तत्तन्निष्पद्यते तस्य शिवशक्तिप्रभावतः ॥ (नेत्रतन्त्रः १६।७०)

तस्य वै संमुखा मन्त्रा दृष्टप्रत्ययकारकाः ।
क्षणेन कुरुते सर्वं शिवः परमकारणम् ॥ (नेत्रतन्त्रः १६।७१)

तं प्रबोध्यते यस्तु ज्ञानयोगबलान्विताः ।
मन्त्रशक्तिप्रभावेण स दीक्ष्यान्दीक्षयेत्प्रिये ।
क्षयं नयत्यसौ पाशान् ददात्येव परं पदम् ॥ (नेत्रतन्त्र १६।७४)

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा । (ने०तं० १६।७०)

(१२) **मन्त्र-सिद्धि के उपाय**—(१) दीपन (२) बोधन (३) ताडन (४) अभिषेचन (५) विमलीकरण (६) इंधन (७) निवेशन (८) सन्तर्पण (९) गुप्तिभाव—

एवं नव प्रकारेण मन्त्रवादमशेषतः ।
यो जानाति स जानाति मन्त्र-साधन-साधनम् ॥

मन्त्र और मन्त्रविज्ञान—श्लोक क्र० २६ एवं २७ में कारिकाकार ने यह प्रतिपादित किया है कि योगियों की जो पवित्र भारती है उसमें आत्मशक्ति का सञ्चार हो जाता है और उनके द्वारा उच्चारित मन्त्र वर्णमात्र नहीं रहते प्रत्युत् वे **'सर्वज्ञबलशाली'** बन जाते हैं और किसी भी इच्छित आकांक्षा को पूर्ण करने वाले एवं सारे कार्यों का निष्पादन करने वाले होते हैं ।

१-३. महार्थमञ्जरी ।

मन्त्रात्मिकाशक्ति—सभी प्रकार के मन्त्र (मन्त्राः) स्पन्दस्वरूपात्मिका संवित् शक्ति के साथ एकाकारता प्राप्त करने के फलस्वरूप सर्वज्ञता आदि (सर्वज्ञता, सर्वात्मक बोध, अप्रतिबंधित स्वातन्त्र्य, अपनी अनन्त शक्तियों का निर्बाध प्रसार, अनन्तशक्ति, शक्ति चक्रों के ऐश्वर्य, सर्वकर्तृत्व, सर्वव्यापकत्व, परम संतृप्ति आदि) आत्मबलों (बल) को अधि-गत करके यथाकांक्षित कार्यों के निष्पादन करने का अधिकार उसी प्रकार अधिगत कर लेते हैं जिस प्रकार शरीरी प्राणियों की इन्द्रियाँ अपने निजी संकल्प मात्र के द्वारा ही अपने समस्त आकांक्षित कार्यों का निष्पादन कर लेती हैं ॥ २६ ॥

भट्टकल्लट कहते हैं—समस्त प्रकार के मन्त्र आवरण शून्य चिद्रूपता (आत्म चैतन्य) के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के परिणामस्वरूप सर्वज्ञता आदि माहेश्वर बलों को प्राप्त कर लेते हैं तथा समस्त शरीरधारी जीवों की इन्द्रियों की भाँति अपनी अनुकम्पा आदि अधिकार सम्बद्ध कार्यों को निष्पादित करने लगते हैं । आत्मबल का संस्पर्श प्राप्त करने के बिना वे मन्त्र किसी आकारान्तर विशेष (शक्ति शून्य वर्णों, मन्त्रों और मात्राओं वाले विशेष रूप वाले) के द्वारा किसी भी कार्य का निष्पादन एवं फल-सिद्धि में समर्थ नहीं हो पाते ।

'तत् बलं निरावरणचिद्रूपमधिष्ठाय, मन्त्राः सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघा-युक्ताः प्रवर्तन्ते अनुग्रहादौ स्वाधिकारे, करणानि यथा देहिनाम्, नान्येन आकारादि विशेषेण ॥' ॥ २६ ॥[1]

वहीं ये शान्त रूप एवं निरञ्जन (माया जन्य रागों से मुक्त) मन्त्र आराधकों के चित्त के साथ चिदाकाश में संलीन हो जाते हैं अतः ये समस्त मन्त्र शिव धर्मात्मक माने जाने चाहिए ॥

भट्टकल्लट कहते हैं—ये 'शान्तरूप' 'निरञ्जन' (मायाकालुष्यविवर्जित) मन्त्र सांसारिक भोगसिद्धि से निवृत्त होकर साधक के चित्त के साथ स्वभाव (निर्मल संवित् तत्त्व = स्वस्वभाव) में या सामान्य स्पन्दात्मिका शाक्त भूमि में विलीन हो जाते हैं । मन्त्रों का स्वस्वभाव है कि वे आत्मा का शिव के साथ तादात्म्य स्थापित कर देते हैं । इसी कारण **समस्त मन्त्रों को शिवात्मक कहा जाता है । भट्टकल्लट** के शब्दों में—'तत्रैव स्वस्वभावव्योम्नि निवृत्ताधिकाराः प्रलीयन्ते, शान्तरूपाः, माया-कालुष्यरहिताः, सह साधकचित्तेन अनेन कारणेन शिव संयोजनास्वभावेन, इति शिवात्मिका उच्यन्ते ॥'[2]

'मन्त्र' आवरणशून्य **चिद्रूपता के साथ तादात्म्य** (एकाकारता) अधिगत करने के अनन्तर ही सर्वज्ञता आदि माहेश्वर बल प्राप्त कर पाते हैं इसके पूर्व नहीं । मन्त्र के दो रूप हैं—(१) 'साञ्जन एवं (२) 'निरञ्जन' । सांसारिक भोगों की प्राप्ति की ओर उन्मुख मन्त्रों को **साञ्जन** मन्त्र कहा जाता है किन्तु जिनका प्रयोग निराकांक्ष होकर स्वस्वरूपा-भिव्यक्ति के लिए किया जाता है उन्हें **'निरञ्जन'** कहा जाता है ।

---

१. 'स्पन्दसर्वस्व' । २. 'स्पन्दसर्वस्व' ।

मन्त्रों का चिदाकाश में लय एवं उनकी शिवात्मकता—

तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः ।
सह साधकचित्तेन तेनैते शिवधर्मिणः ॥ २७ ॥

वे शान्त (शुद्ध संवित्) एवं निरञ्जन (मायिक आच्छादनों से शून्य) मन्त्र (निवृत्ताधिकार होकर) आराधक के चित्त के ही साथ वहीं (स्वस्वभाव व्योम, या स्पन्दात्मक बल या विशुद्ध चिद्रूप सामान्य स्पन्द रूप शाक्त भूमिका में) लीन हो जाते हैं। अतः वे (समस्त मन्त्र) शिवस्वरूप (ही) हैं ॥ २७ ॥

* **सरोजिनी** *

तत्रैव = 'स्वस्वभाव व्योम में' = विशुद्धचिद्रूपता में,

तत्रैव = वहीं (स्पन्दात्मक बल में) ॥ (स्वस्वभाव व्योम में—**भट्टकल्लट**) **निरञ्जनाः** = अञ्जन+शून्य (कृतकृत्य होने के कारण निवृत्तअधिकारमल) ॥ **कृतकृत्य** = अपने पदार्थ या लक्ष्य प्राप्त करने पर आत्मतृप्त ॥ (निरञ्जनाः शान्तरूपाः मन्त्राः स्पन्दात्मके बले सम्यक् अभेदापत्या प्रकर्षेण अपुनरावृत्या लीयन्ते । अधिकार-मलान मुच्यन्ते आराधकचित्तेन सह ।[१]

मन्त्र-विज्ञान—समस्त मन्त्र शिवधर्मी या शिवस्वरूप हैं । 'मन्त्र' अपने मूल रूप में आत्मा की किरणें हैं—चैतन्य की रश्मियाँ हैं—'मन्त्राश्चिन्मरीचयः' । 'प्रणव' (महा-मन्त्र) की १२ कलायें हैं । उनमें 'बिन्दु' नाद के रूप में विकसित होता है । नाद ही 'मन्त्र' के रूप में आकार ग्रंहण करता है । मन्त्र भी अशुद्धियों से मुक्त हो जाते हैं और उनके कार्यों की अशुद्धियाँ भी, उनके द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति के अनन्तर, लुप्त हो जाती हैं । ये मन्त्र एवं उनके स्वामी महेश्वर शिव के स्वभाव वाले हैं—शिवस्वभावी हैं—शिवधर्मी हैं—और स्पन्दसार हैं । ये स्पन्द से उत्पन्न होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं ।[२]

एक प्रश्न यह उठता है कि—मन्त्र एवं करणों का उदय तो समान स्रोत से होता हैं—उदय में तो दोनों समधर्मी हैं फिर करण सर्वज्ञात्मक क्यों नहीं हैं? परमेश्वर **'मायाशक्ति'** के द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों का आविर्भाव करता है और ये भेदपूर्ण हैं—द्वैतात्मक हैं । परमात्मा **'विद्याशक्ति'** के द्वारा आकाश के माध्यम से मन्त्रों को जन्म देता है । इन मन्त्रों का सार तत्त्व अधिष्ठात्री शक्तियों में निवास किया करता है । मन्त्रों के द्वारा सर्वज्ञता आदि गुण एवं शक्तियाँ प्राप्त की जाती हैं यह संगत तथ्य है क्योंकि मायिक धरातल पर भी मन्त्र में (किसी देवी के वाचक के रूप में) शरीर एवं पुर्यष्टक की भाँति बोध-संकोचत्व (Limitation in knowledge) नहीं है प्रत्युत् उसमें सर्व-ज्ञत्वादि गुण निहित है ।[३]

इस पंक्ति की व्याख्या उपर्युक्त विधि से अनन्त भट्टारक के संदर्भ में भी की जानी चाहिए जो कि विद्यापाद पर स्थित है एवं सृष्टि करते हैं ।

१-३. स्पन्दनिर्णय ।

इस श्लोक के दूसरी व्याख्या भी की जानी चाहिए—दीक्षादिक में व्याप्त गुरुजनों की इन्द्रियों के रूप में समस्त 'मन्त्र' स्पन्द सिद्धान्त पर आश्रित हैं और वे साधक के मस्तिष्क के साथ स्पन्द में लय हो जाते हैं। दीक्षादिक में प्रवृत्त समस्त आचार्यादिकों के करण रूप समस्त मन्त्र उन स्पन्द तत्त्व रूप 'बल' को अधिगत करके—आराधक के चित्त के साथ भोगमोक्ष के साधन आदि के अधिकार के लिए प्रवृत्त होते हैं और वहीं शान्त, (वाचक शब्दात्मक शरीर रूप) एवं निरञ्जन (शुद्ध) रूप से लय हो जाते हैं।[१]

(१) मन्त्र स्पन्दसार हैं। **मन्त्रों की स्पन्दरूपता एवं स्पन्दसारता का प्रतिपादन** ही इस श्लोक का मुख्याभिप्राय है। शैव संप्रदाय के अनुसार (जिसमें ८ एवं १८ भेद हैं) 'मन्त्र' स्पन्द के साथ अभिन्न हैं। (२) मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि के रूप में होने वाली सृष्टि शुद्धासृष्टि है और **शिवस्वभावा** है किन्तु मायादिरूपा अशुद्ध सृष्टि भी शिव से भिन्न नहीं है प्रत्युत् **शिवस्वरूपा** ही हैं।

शुद्धासृष्टि मन्त्ररूपता है और उनके अधिपति देवता शिव के स्वभाव वाले हैं।[२]

ये 'मन्त्र' साधक के चित्त की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के निमित्त से अर्थात् उसकी आधारभूत इच्छा से पुनः लीन हो जाते हैं—उसी शक्तिमान स्वस्वभाव में लय प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि ये स्वस्वभाव के अनुगामी और शक्तिरूप हैं। यही बात **'कालपरा'** नामक ग्रन्थ में भी कहा गया है—पर अक्षर रूप वृक्ष में अनेक शक्तियाँ विद्यमान हैं। उनके विवर्त शक्ति के वर्णों के रूप में प्रकट होते हैं और मुख के द्वारा निःसृत होते हैं—[३]

परांक्षर तरोर्धातुर्माना शक्तेर्विवर्तगाः।
शक्तयो वर्णदेहेषु वक्त्राद्वर्णत्वमागताः॥

ये शक्तियाँ कृतकृत्य होने के कारण स्वयं शान्त हैं और निरञ्जन (कालुष्यरहित) है, या निरञ्जन तत्त्व से अनुप्राणित हैं। यही कारण है जो शिव शङ्कर में धर्म हैं वे ही मन्त्र में भी अर्थात् मन्त्र भी सर्वज्ञ एवं सर्वकर्ता हैं।

सह साधक चित्तेन लीयन्ते तत्र यत् स्मृतम्।[४]
शिवतात्मनि सर्वात्म्यात् चाहैतत्सोपपत्तिकम्॥

साधक के चित्त में मन्त्र लीन हो जाते हैं अर्थात् आत्मा ही शिव है।[५]

मन्त्र योग—ये शिवधर्मीमन्त्र जिस सीमा तक अधिकार-सम्पन्न हैं उस सीमा तक प्रवृत्त होते हुए, अञ्जन (वाच्योपराग मल से या वर्णादिरूप भावनात्मकता) से मुक्त होकर एवं शान्तरूप (शुद्ध अर्थात् संविन्मात्रावशिष्ट, एवं निर्विकार आत्मा के स्वरूप वाला) होकर **तत्रैव**—परमकारण एवं स्वस्वभावशिव में **संप्रलीयन्ते**—सम्यक् रूप से लीन हो जाते हैं अर्थात् उनके साथ ऐक्य प्राप्त कर लेते हैं।

निरञ्जन—अञ्जनरहित। वाच्योपराग मल से या वर्णादिरूप भावनात्मकता से रहित।

शान्तरूपाः = संविन्मात्रावशेष। शुद्ध एवं निर्विकार आत्मा वाले।

१-२. स्पन्दनिर्णय। ३-५. स्पन्दप्रदीपिका।

तत्रैव = स्वस्वभाव, परमकारण शिव में ।

सम्प्रलीयन्ते—सम्यक् रूप से लय हो जाते हैं । उसके साथ एकाकार हो जाते हैं । एकता प्राप्त कर लेते हैं ।

शिवधर्मिणः = शिव अर्थात् परमेश्वर के अनन्यसाधारण सर्वज्ञत्वादि गुण (धर्म) वाले अर्थात् शिव से अभिन्न स्वरूप वाले ।

आराधकचित्तेन सह = आराधक के मन के साथ । कैसे चित्त के साथ? उस अवस्था में अभिसंधि उपाधि से रहित होने के कारण स्वाभाविक मात्रावशेष साधक-चित्त के साथ ।

इसके द्वारा इसे तात्त्विकमन्त्रवीर्यात्मक प्रतिपादित क्यों किया गया? क्योंकि मांत्रिक चेतना के उदय एवं अस्तमन की दशाओं की परमकारणस्वरूप शिव के साथ अभिन्नता है—

'मन्त्रचेतसोः उदयास्तमयदशयोः परमकारणात् शिवाभेदः ॥'

इस प्रकार मन्त्रात्मक एवं साधक के चित्त के साथ एकात्मक होने के कारण स्वयं शिव एवं शक्ति ही वर्णसंकल्पादिरूपधारिणी होकर प्रकट हो जाती हैं और इस तरह होकर शिव की शक्ति स्वस्वभावबल का स्पर्श न पाने वाले साधकों में भेदविभ्रम उत्पन्न करती हुई केवल नियतार्थसाधनाधिकार को ही प्रवर्तित करती है । यथा प्रतिपादित स्वस्वभाव में ही सुदृढ़ आत्मप्रतिपत्ति हुआ करती है ।[१]

'मन्त्र सर्वार्थसाधनाधिकारी हुआ करते हैं: 'मन्त्राः सर्वार्थसाधनाधिकारिणो भवन्ति'

जो यथाप्रतिपादित स्वस्वभाव में ही सुदृढ़ रूप से आत्मप्रतिपत्ति कर चुके हैं उनके उदय एवं अस्तमय (अस्तमन) के परिज्ञाता समस्त मन्त्र सर्वार्थसाधनाधिकारी होते हैं और वे इसके लिए उन-उन कर्तव्यों के साहित्य (एक साथ होना या रहना के नियमादिक की अपेक्षा भी नहीं रखते)

'मन्त्राः सर्वार्थसाधनाधिकारिणो भवन्ति तत्तदितिकर्तव्यतासाहित्यनियमाद्यपेक्षां बिना' इस स्थिति में—

मन्त्र विज्ञान—

'यद्यद्वचनं येन येनाभिसंधिना उच्चारयति तत तस्यामोघमन्त्रतामापद्यते ॥'

अतः योगियों के द्वारा, स्वभावबलाक्रमण वाले, सिद्ध एवं स्वतः सिद्ध मन्त्रों के पराक्रम (सामर्थ्य) प्रत्यवम्रष्टव्य हैं ।

मन्त्र शिवधर्मी हैं—'मन्त्रा एव शिवधर्मिणो' ।

जब तक कि कोई 'क्रिया' ज्ञान नहीं बन जाती एवं कोई 'कार्य' ज्ञेय नहीं बन जाता अर्थात् परतत्त्वाभेदापत्तिलब्धात्मक एवं (इस प्रकार) **शिवात्मक** नहीं बन जाते तब तक **'मन्त्र'** शिवधर्मी नहीं बन पाते ।[२]

---

१. स्पन्दकारिकाविवृत्तिः रामकण्ठाचार्य । २. स्पन्दविवृति (रामकण्ठाचार्य) ।

'मन्त्र' द्विविध प्रकार हैं—(१) भोगरूप = 'साञ्जन' (२) मोक्षरूप = 'निरञ्जन' यहाँ निरञ्जन (मायाकालुष्य रहित) एवं शान्त मन्त्रों के विषयों में ही कहा गया है क्योंकि वे ही चिदाकाश में लीन होते हैं ।

इन मन्त्रों के द्वारा साधक की आत्मा शिवभाव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेती है ।

'मन्त्र' का स्वरूप—(१) 'मन्त्र' परावाक् स्वरूप है—देवतारूप हैं—कुण्डलिनी-शक्तिरूप हैं । **'कामधेनुतन्त्र'** में वर्णमाला के प्रत्येक वर्ण को कुण्डलिनीस्वरूप कहा गया है ।

(२) 'मन्त्र' अहंविमर्शस्वरूप हैं । प्रत्येक विमर्श अभिलापात्मक ही होता है । अभिलाप तो वर्णात्मक होता है अत: प्रत्येक विमर्श शब्दात्मक होता है । वाणी या शब्द—(१) परा (२) पश्यन्ती (३) मध्यमा (४) वैखरी चार सोपानों पर व्यक्त होते हैं । शब्द (वाणी, वाक् तत्त्व) से पूर्णत: पृथक् 'विमर्श' संभव नहीं है । **'वर्ण' 'पद' एवं 'मन्त्र'** ये तीनों **शब्द के अध्व** (मार्ग) हैं । 'कला' 'तत्त्व' एवं 'भुवन' ये तीन **'अर्थाध्व'** हैं । इन्हीं ६ अध्वाओं (षडध्व) से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है । **'शब्द' एव 'अर्थ' शिव-शक्ति के रूप है ।**

शब्दना-विरहित विमर्श की सत्ता संभव नहीं है । विमर्शात्मक शब्दना अपने उच्चतम शिखर पर **'परावाक्'** कहलाती है । यह आन्तर शब्दना के स्वरूप वाली (स्पन्दात्मिका शब्दना) **'परावाक्'** मयूराण्डरसवत् अपने भीतर समस्त वाचक एवं वाच्य (शब्दराशि) को अविभक्त रूप में अवस्थित रखती है और अहं रूप (बीजरूप) में अवस्थित है । समस्त **'मन्त्र' इसी अहमात्मक परावाक् के स्वस्वरूप हैं । 'परावाक्' 'सामान्य स्पन्द' है ।** सामान्य स्पन्द गतिशून्य होकर भी किंचित् चलत्ता वाला है इसी 'परावाक्' से 'पश्यन्ती' 'पश्यन्ती' से 'मध्यमा' एवं 'मध्यमा' से 'वैखरी' का विकास होता है । 'वैखरी वाक्' में प्रसृत परावाक् अपने स्थूलतम सोपान पर आरूढ़ होती है और वैखरी वाक् के (१) **पूर्व मालिनी** (मातृका) एवं (२) **'मालिनी'** दो स्तरों पर व्यक्त होती है । परावाक्-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी—(१) पूर्वमालिनी—अ से क्ष पर्यन्त वर्णमाला ('स्वच्छन्द तन्त्र' में भी मान्य) (२) मालिनी—न से क पर्यन्त वर्णमाला (मालिनी विजयोत्तर आदि तन्त्रों में प्रतिपादित) ॥

मालिनी का क्रम—न, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, थ, च, ध, ई, ण, उ, ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, उ ढ, ठ, झ, ञ, ष, र, ट, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, क (मालिनीविजयोत्तरतन्त्र) ।

पशुप्रमाता एवं पतिप्रमाता में साम्य एवं सभी अवस्थाओं में शिवत्व की व्यापकता—

यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभावसमुद्भवः ।
तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ॥ २८ ॥
तेन शब्दार्थ चिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥ २९ ॥

जिससे कि पशुप्रमाता सर्वमय है क्योंकि (पशुप्रमाता भी प्रति प्रमाता की भाँति जगत् के समस्त) भावों (घट, पट आदि) के साथ संवदेनस्वरूप तादात्म्य प्राप्त करके समस्त भावों की सृष्टि करता रहता है ॥ २८ ॥

अतः शब्द (वाचक) एवं अर्थ (वाच्य) की चिन्ताओं (विमर्शन) में ऐसी कोई अवस्था ही नहीं है जो शिवरूपात्मिका न हो । नित्य रूप से (सदैव) सर्वत्र भोक्ता (आत्मा) ही भोग्य (प्रमेय पदार्थ) के रूप में अवस्थित है ॥ २९ ॥

* **सरोजिनी** *

शिव सर्वत्र स्थित है, सदैव स्थित है, सर्वव्यापक है । इसी प्रकार जीव भी सर्वत्र स्थित है, सदैव स्थित है, एवं सर्वव्यापक है । जीव 'सर्वमय' है । शब्द एवं अर्थ के माध्यम से व्यक्त ऐसी कोई संवेदनात्मक अवस्था ही नहीं है जो शिवात्मक न हो ॥ सारांश यह कि—आत्मा ही **शिव** है । आत्मा ही **जगत्** है । यह सब जगत् **आत्मा** ही है । सब चिन्मय़ है ।

इस श्लोक में यह प्रतिपादित किया गया है कि—शुद्धासृष्टि तो शिवस्वभावा है ही किन्तु जो मायादि रूपा अशुद्ध सृष्टि है वह भी शिवस्वरूपा है ।[१]

सृष्टि के दो रूप हैं—(१) शुद्धा सृष्टि (२) अशुद्धा सृष्टि ।

जीवात्मा समस्त विश्व के साथ अभिन्न है क्योंकि समस्त वस्तुओं का सृजन उसी एक के द्वारा किया गया है क्योंकि वह समष्टि का (हस्तामलकवत् एक साथ ही) ज्ञान प्राप्त करता है और सर्वव्यापक है—विश्वव्यापकत्व प्राप्त है । अतः ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो कि शिव से अभिन्न न हो । अनुभविता सर्वत्र विद्यमान है और वह अनुभूत पदार्थ के रूप में भी विद्यमान है ।[२]

यस्मात् = जिसके द्वारा । जिसके कारण ।
जीवः = प्राणी । ग्राहक ।
सर्वमयः = शिववद्विश्वरूप ।
शब्दार्थ = शब्द = वाचक । **अर्थ** = पदार्थ ।
अर्थ—वाच्य ॥
चिन्तासु = विकल्पज्ञान आदि रूपों में स्थित चिन्ताओं में ।

सावस्था = वह अवस्था । आदि-मध्य-अन्त रूप अवस्थायें । **'सर्वमेव शिव-स्वरूपम् इत्यर्थः ।।'** ग्राहक, भोक्ता, चिदात्मा ही भोग्य भाव से देह-नील आदि के रूप में सदैव नित्य रूप से सर्वत्र विचित्र तत्त्वभुवनादिक पद में स्थित हैं । कोई भी भोग्य वस्तु भोक्ता से भिन्न नहीं है 'न तु भोग्यं नाम किंचिद् भोक्तुर्भिन्नमस्ति ॥'[३]

जीव—इस शब्द से प्रारंभ करके एवं 'शिव' शब्द से उपसंहार करने के द्वारा ग्रन्थकार ने—'जीवशिवयोर्वास्तवो न कोऽपि भेदः'—इस प्रकार देहादिक अवस्थाओं में

१-३. स्पन्दनिर्णय ।

कोई अपूर्णमन्यता मन्तव्य नहीं है प्रत्युत् चिद्घनशिवस्वभावता ही भंग्योपदेश द्वारा यहाँ प्रतिपाद्य है ।[१]

भट्टकल्लट ने 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार की है—यह जीवात्मा सर्वमय है क्योंकि यह स्वीय संवेदनों के माध्यम से प्रत्येक भाव का सृजन करता है । अनुभव में आने वाला प्रत्येक पदार्थ उसके संवेदन का विषय बन जाता है । यह मितप्रमाता किसी भी बाह्य पदार्थ का अनुभव करने के अनन्तर उसे अपने शरीर के रूप में ग्रहण कर लेता है । इसका शरीर मात्र सिर, पैर आदि अंगों वाला शरीर नहीं रह जाता प्रत्युत् बाह्यार्थ भी अनुभव के विषय बन जाने पर उसका शरीर बन जाते हैं—

'सर्वात्मक एवायमात्मा सर्वानुभावोत्पत्तिद्वारेण अनुभूयमानस्यैव संवेदनात् बाह्यार्थ-मनुभूयमानमेव शरीरत्वेन गृह्णाति, न तु शिरः पाण्यादिलक्षितम् एकमेवास्य शरीरम्' ॥

'तेन शब्दार्थचिन्तासु ..... संस्थितः ।'

इस कारिका की व्याख्या **भट्टकल्लट** ने 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस प्रकार की है—'तेन तथाविधेन सर्वात्मकेन स्वभावेन, शब्दार्थयोः चिन्तासु न सा अवस्था या शिवस्वभावं न व्यञ्जयति, अतो भोक्तैव हि भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितो न त्वन्यत् भोग्यमस्ति ॥ २९ ॥

साधकों के चित्त में 'मन्त्र' लीन हो जाते हैं और इस प्रकार आत्मा ही शिव है । इसको प्रमाणित करने हेतु ग्रन्थकार ने २८, २९ कारिकायें कही हैं ।

उत्पलदेव कहते हैं—

सह साधकचित्तेन लीयन्ते तत्र यत् स्मृतम् ।
शिवात्मनि सर्वात्म्यात् चाहैतत्सोपपत्तिकम् ॥

बोद्धा होने के कारण जीव या आत्मा सर्वमय, सर्वात्मक एवं विश्वरूप है । **उत्पलदेव** कहते हैं—

'यस्माज्जीव आत्मैव सर्वमयः सर्वात्मको विश्वरूपः बोद्धृरूपत्वात् । कहा भी गया है—तत्त्व ज्ञान के होते ही सब चिन्मय हो जाता है । वेद्य का ऐसा कोई भाग नहीं है जो कि वेदक से बाहर हो । 'वेद्य' ही वेदक है । 'वेदक' संवित् है । 'संवित्' आत्मा है ।' तब तो सबसे बड़ा यथार्थ यही है कि—आत्मा ही जगत् है ।

'यदैव विदितं विश्वं तदानीमेव चिन्मयम् ।
यन्नास्ति भागो वेद्योऽसौ नाथ यो वेदकाद् बहिः ॥
वेद्यो वेदकतामाप्तो वेदकः संविदात्मताम् ।
संवित् त्वदात्मा चेत् सत्यं तदिदं त्वन्मयं जगत् ॥'

छान्दोग्य श्रुति में भी कहा गया है—

'आत्मैवेदं जगत् सर्वं नेह नानास्ति किंचन' ॥' (छा० ३।९।१२)

---

१. स्पन्दनिर्णय ।

अर्थात् इदम् के रूप में प्रतीयमान यह सब जगत् आत्मा ही है । आत्मा में नानात्व किंचिन्मात्र भी नहीं है ।

समस्त भावों का समुद्भव आत्मा से ही होता है । संविद् के आरोहण से ही 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' आदि वाणियों का उदय होता है और समस्त सत्तायें इसीसे सिद्ध होती है । आचार्यों ने भी कहा है कि—सभी के कारण तुम्हीं हो क्योंकि घट में मृत्तिका के समान सभी में तुम्हारा अन्वय है । जब संवित् के बिना विश्व की सिद्धि हो ही नहीं सकती—संपूर्ण विश्व संविद्—समन्वित है—तब तो असंवित् विश्व का कारण कैसे हो सकता है? संवित् ही सत् है और सत् ही संवित् है । संवित् की उपासना किये बिना वहीं संपूर्ण सत् है—यह अनुभव में नहीं आ सकता—

त्वत्कारणत्वं सर्वस्मिन्नपि ज्ञातं त्वदन्वयात् ।
संवित्समन्विते विश्वे नाऽसंवित् कारणं भवेत् ॥
संविदायतनं ज्ञातं तत् सदाख्यां प्रपद्यते ।
तावतैव न लभ्या स्यादनुपासितसंविदा ॥

तथा यह भी कहा है कि—

त्वदात्मकत्वं भावनां विवदन्ते न केचन ।
यत्प्रकाश्यदशां याता नाऽप्रकाशः प्रकाशते ॥

अर्थात् सभी भाव तुम्हारे ही स्वरूप है इसमें किसी का विवाद नहीं है क्योंकि सब प्रकाशित होते हैं । क्या कहीं अप्रकाश भी प्रकाशित होता है? और भी कहा गया है—'तुम प्रकाशक एक ही हो । सर्जन भाषण और बोधन-ये तीनों तुम्हारे प्रकाश हैं । तुम अन्य प्रकाशों से व्यतिरिक्त हो, जैसे दूसरे प्रकाशक सूर्य आदि । किन्तु तुम्हारे प्रकाश के उदय के बिना कोई दूसरा प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता । श्रुति, पंचरात्र भी तो यही कहते हैं कि वहाँ सूर्य चन्द्र आदि का प्रकाश नहीं है । उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित हो रहा है—

'सृजन् वदन् ज्ञापयंश्च त्रिधौकस्त्वं प्रकाशकः ।
व्यतिरिक्तः प्रकाशेभ्यो न यथाऽन्ये प्रकाशकाः ।
न प्रकाशाः प्रकाशन्ते त्वत्प्रकाशोदयं विना ॥'

पंचरात्र में भी कहा गया है कि—'न तत्रादित्यो भाति' अर्थात् वहाँ सूर्य-चन्द्रादि प्रकाश नहीं है । उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित हो रहा है ।

संवित् सर्वमय है—इसका अन्य उदाहरण भी है । जितने संवेद्य हैं वे संवेदनरूप अनुभव के द्वारा ही संविदित होते हैं । उनसे तादात्म्य होता है । तद्भावरूपता होती है और अभेद का संवेदन होता है ।

'स्वात्मसप्तति' में कहा गया है—सभी वस्तुएं ज्ञानस्वभाव का ही विषय होती हैं और उसके साथ तादात्म्य प्राप्त हो जाती है । जीव ज्ञान स्वरूप है अतः वह सर्वमय है—

'यद्वद् वस्तुस्वभावेन ज्ञानेन विषयीकृतम् ।
तद्वत्तादात्म्यमायाति जीवः सर्वमयो ह्यतः ॥'

'संवित्प्रकाश' में कहा गया है—अग्नि से समाविष्ट सब अग्निरूप ही दिखता है, वैसे ही ज्ञान समाविष्ट सब ज्ञानरूप ही देखिए'—

'यथाऽग्निना समाविष्टं सर्वं तद्रूपमीक्ष्यते ।
तथा ज्ञानसमाविष्टं सर्वं तद्रूपमीक्ष्यताम् ॥'

'आगमरहस्य' में भी कहा गया है—ज्ञान से आकार वर्ग भासित होता है अतः यह विश्वमयी विभूति ज्ञान ही है । तुम्हीं विश्वात्मक हो, यह केवल शास्त्रसिद्ध ही नहीं है, आत्मसंवित् से संविदित् होने के कारण अनुभवसिद्ध भी है—

आकार वर्ग उपरि प्रतिभासतेऽस्य,
ज्ञानस्य सापि तव विश्वमयीविभूतिः ।
विश्वात्मकस्त्वमिति नाऽऽगमसिद्धमेतत्,
किन्तु स्वसंविदितरूपतयापि सिद्धम् ॥

संवित् तत्त्व ही प्राण के माध्यम से वाणी का रूप धारण करता है—'संविदेव प्राणद्वारेण वाग्रूपतां धत्ते ॥'

इसीलिए कहा भी गया है—संवित् तत्त्व वाणी का रूप-अर्थात् परा-पश्यन्ती-मध्यमा एवं वैखरी भी बन जाता है । इन चारों वाणियों का वक्ता निर्विशेष परमस्थायी और नित्योदित निजाकृति है । सूर्य के समान तेज का विस्तार करता हुआ वह हृदय में प्रकाशित होता है और चिदिच्छा-शक्ति से संबुद्ध है और आत्मबल ही उसका बल है—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णापरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥
केवलं बुद्ध्युपादानात् क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥
अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृत्क्रमा ।
स्वरूप ज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥
स्वयं रौति य एषोन्तर्निर्विशेषनवात्मकः ।
स परः परमः स्थायी नित्योदित निजाकृतिः ॥
चिदिच्छाशक्तिसम्बुद्धः स्पन्द आत्मबलेरितः ।
सवितेव स तेजांसि विचिन्वन् हृदि राजते ॥

'प्रत्यभिज्ञा' में भी कहा गया है—प्रत्यवमर्शात्मा चिति ही सरस परावाक् है । परमात्मा का यह स्वातन्त्र्य ही मुख्य ऐश्वर्य है । वह सर्वदेशकाल में स्फुरित होती हुई सभी का आधार है और परमेश्वर का हृदय है—और उसका रूप है अन्तः संकल्प—

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषाऽऽधारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥'

इस महासत्ता का रूप है अन्तःसंकल्प । उसमें शब्द एवं अर्थ-दोनों एक साथ स्फुरित होते हैं । अतः दोनों का अभेद ही प्रख्यात है । ग्रन्थकार कहते हैं—'शब्दानुवेधन के बिना प्रत्यय का उदय नहीं होता'—

'यतः शब्दानुवेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥'

'वाक् का मूल संवित् है' । कहा भी गया है—

जैसे निजात्मा संवित् से संपूर्ण जगत् अनुविद्ध है वैसे ही संवित् से सम्पूर्ण वाणी अनुबिद्ध है—

'यथा तथा जगद्विद्धं सर्वमेव निजात्मना ।
तथा तयाऽनुविद्धेयं सर्वतो भाति भारती ॥'

योगिनाथ का कथन है कि—परतत्त्व में किसी भी वस्तु की सिद्धि के लिए वाणी को स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि रूप के अनुसंधान से वस्तु का निश्चय होता है । उसकी उन्मुख वृत्ति से ही वस्तु के सद्भावना की कल्पना होती है । उसके बिना किसी को आत्मलाभ नहीं हो सकता क्योंकि उस अवस्था में केवल स्वरूप ज्योति रहती है । वहाँ विभाग और क्रम की अपेक्षा नहीं होती । उसका रूप योगिगम्य होता है । उसी उन्मुखता से चिन्तनमयी वाग्धारा बनती है । तदनन्तर विशिष्ट शब्द के विषय की स्फुरणात्मिका विवक्षा होती है । इसके बाद वह शब्द का रूप धारण करके अर्थ को प्रकट करती है । इसलिए संवित्प्रसूत वाणी के बिना किसी अर्थ का अवधारण नहीं हो सकता ।'—

'तस्मात् सर्वस्य सिद्ध्यर्थं भारती कारणं परे ।
परेष्टव्या तदा रूपान्वेषणेनार्थ निश्चयात् ॥
तस्या औन्मुख्यवृत्त्यैव सद्भावपरिकल्पनात् ।
नहि तामन्तरेणैषा लभेताऽऽत्मानमम्बिके ॥
सा च तस्यामवस्थायां स्वरूपज्योतिरिष्यते ।
निर्विभागक्रमापेक्षा योगिगम्यानुरूपिणी ॥

तत औन्मुख्यतश्चिन्तामयी भवति वाक् शिवे ।
विशिष्टशब्दविषयविवक्षास्फुरणात्मिका ॥
ततः शब्दात्मकत्वेन विवृत्तार्थमयी भवेत् ।
तदात्मतामन्तरेण यस्मान्नार्थावधारणम् ॥'

इस प्रकार सर्वप्रकाशक संवित्स्वरूप की प्रभा के समान प्रकाशन शक्ति अन्तस्संकल्परूपा वाणी बनकर फिर वर्ण, पद, वाक्य को जीवन-दान करती है और पदार्थ के रूप में बाहर दीखती है । यह प्रबुद्धों के लिए स्वानुभवसिद्ध है ।

है । अन्तस्थ भावों को जो स्वामी है, वही उन्हें प्रकाशित करता है, बिना उसकी इच्छा, अमर्श स्वल्प भी प्रवृत्त नहीं हो सकते—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥
स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य भावजातस्य भासनम् ।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते ॥

इसके अतिरिक्त—'जो कुछ बाहर दिखाई पड़ रहा है वह सब तुम्हारे ही भीतर है आँख बन्द करके जैसे सब कुछ भीतर देखा जा सकता है वैसे ही यह समस्त प्रपंच है— 'यत्किंचदाभाति बहिस्तदीश नूनं तवास्त्येव समस्तमन्तः ।
निमीलिताक्षा हृदि लक्षयेयुस्तथैव सर्वं कथमन्यथा ॥'

इस प्रकार 'स्वभाव' ही सर्वरूप में स्थित है । इस सर्वात्मक स्वभाव के कारण शब्द और अर्थ की चिन्ता करने पर ऐसी कोई अवस्था नहीं मिलती जो शिवस्वभाव को प्रकट नहीं करती हो—अर्थात् चित्स्वरूप न हो । संविद् में सब एक है उसी में सभी का अस्तित्व स्थित है । कहा भी गया है—

'जिन-जिन कारणों से भाव-नदियाँ पृथक्-पृथक् प्रवाहित होती हैं । उन्हीं-उन्हीं कारणों से बोध-समुद्र में एक हो जाती हैं'—

'येन येन विभिद्यन्ते हेतुना भावनिम्नगाः ।
तेन तेनैक्यमायान्ति बोधोदधिसमागताः ॥'

ग्रन्थकार ने पहले ही कहा है कि—शारीरिक, शाब्दिक या मानसिक ऐसा कोई व्यवहार नही है जिसके प्रारंभ में आप विराजमान न हों । अतः ठीक ही कहा गया है कि संविदात्मा भोक्ता अर्थात् अनुभविता ही भोग्य भाव से अनुभाव्य के रूप में सर्वदा और सर्वत्र स्थित हैं । उससे पृथक् भोग्य नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।[१]

श्रुति कहती है—मैं अन्न भी हूँ और भोक्ता भी हूँ—'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः ॥'[२]

'तत्वविचार' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—'स्वभावस्थित भाव' ही परस्पर भोक्ता और भोग्य के रूप में सम्बद्ध होते हैं । उनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है । **'ज्ञान' के ये ही नाम हैं**—द्रष्टा, अनुभविता, स्मर्ता, ग्राहक, भोक्ता वेदक, कर्ता, उपलब्धा, संवेत्ता और ज्ञाताः—[३]

'स्वस्वभावस्थिता भावाः संबध्यन्ते परस्परम् ।
भोग्यभोक्तृत्वभावेन न कदाचित् स्वभावतः ॥
द्रष्टाऽनुभविता स्मर्ता ग्राहको भोक्तृवेदकः ।
कर्तोपलब्धा संवेत्ता ज्ञातेति ज्ञानसंज्ञकाः ॥'

१-३. स्पन्दप्रदीपिका ।

इसका अभिप्राय यह है कि ज्ञान ही ज्ञेय के रूप में चमकता है, फैलता है । कहा भी गया है कि—'आपसे भिन्न जो भाव दिखायी पड़ते हैं, वे तो अपने आत्मा ही हैं, परन्तु मुग्धतावश अन्य भोग्य के रूप में मालूम पड़ते हैं । मूर्खजन पशु के समान उसके भोग के लिए संसार में भटकते हैं । जो इन दृश्य भावों को आपके वैभव के रूप में देखते हैं वे आपके समान ही प्रभु हो जाते हैं और विश्व को अपने वश में कर सकते हैं'—

ज्ञान ही ज्ञेय रूप में प्रथित हो जाता है—'ज्ञानमेव ज्ञेयरूपतया प्रथत इति' ।

'भोक्तुर्विभोर्ये भवतो विभिन्नः स दृश्यते मुग्धतया स्व आत्मा ।
ते भोग्यभूताः पशुवत् परेषां भोगाय भूयोऽत्र भवे भ्रमन्ति ॥
भवं भवद्वै भवभूतमेव विभावयन्तो भगवन् भवेयुः ।
भवद्वदेव प्रभुभावभाजो विश्वं वशे वर्तयितुं समर्थाः ॥'

'ज्ञानसंबोध' में कहा गया है कि—'ज्ञान' ही तीन रूपों में स्थित है (१) 'ज्ञाता' (२) 'ज्ञेय' (३) 'ज्ञान' ।[१]

गीता में— 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥'

उत्पलाचार्य कहते हैं कि—द्रष्टा ही है । अज्ञानी जन इस दृश्य को अध्यात्मरूप से नहीं देखते । शीशे में प्रतिबिम्ब के समान यह जगत् **द्रष्टा और दृश्य** के रूप में दो प्रकार से भासित हो रहा है । बोधानुवेध से ही घट पटादि बाह्य सद्भाव प्राप्त करते हैं अतः **ज्ञानाद्वैत ही सत्य है । कहीं भी ज्ञेय की सत्ता है ही नहीं । 'ज्ञानसंबोध'** की दृष्टि इस प्रकार है—

'ज्ञाता ज्ञेयं ज्ञानमिति ज्ञानस्यैव त्रिधा स्थितिः ।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरित्यत्रोक्तं तदेव यत् ॥'[२]

उत्पलाचार्य की दृष्टि इस प्रकार है—

'द्रष्टैवाऽस्ति न दृश्यमेतदबुधैरध्यात्मना ज्ञायते ।
आदर्श प्रतिबिम्बवज्जगदिदं भिन्नं द्विधा भाति यत् ॥
सत्तां यान्ति घटादयो बहिरमी बोधानुवेधात् सदा ।
ज्ञानाद्वैतमतः स्वतोऽस्ति न पुनर्ज्ञेयस्य सत्ता क्वचित् ॥'[३]

'आत्मसप्तति' में कहा गया है कि—यह जो कुछ दीख रहा है वह दर्शन से भिन्न नहीं है । 'दर्शन' द्रष्टा से भिन्न नहीं है अतः द्रष्टा ही जगत् है ।'

'यदिदं दृश्यते किंचिद्दर्शनात्तन्न भिद्यते ।
दर्शनं द्रष्टृतो नान्यद् द्रष्टैव हि ततो जगत् ॥[४]

'संकर्षण सूत्र' में भी कहा गया है कि—जिससे यह विश्व दृष्टिगत होता है, जो समस्त विश्व का द्रष्टा और जो चराचर रूप में दृश्य हो रहा है उसी का नाम है विष्णु—

१-४. स्पन्दप्रदीपिका ।

'येनेदं दृश्यते विश्वं द्रष्टा सर्वस्य यः सदा ।
दृश्यश्चराचरत्वे यः स विष्णुरिति गीयते ॥'

'जाबालिसूत्र' में भी कहा गया है कि—द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, जिसके चैतन्यस्वभाव का कभी लोप नहीं होता वही जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का एकमात्र कारण है—भगवान् वासुदेव अर्थात् आत्मा—

'द्रष्टा स्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धाऽपरिलुप्तचैतन्यस्वभावो जगदुत्पत्ति-स्थितिलयैकहेतुर्भगवान् वासुदेव आत्मेति ॥'

पञ्चरात्रोपनिषद् में कहा गया है—'ज्ञाता च ज्ञेयं च वक्ता च वाच्यं च भोक्ता च भोग्यं च ॥' वहीं यह भी कहा गया है कि—सर्वान्तर, स्वयंज्योति, स्वसंबोध्य एवं स्वयंभू वही है—'सर्वान्तरं सर्वबाह्यं स्वयंज्योतिः स्वयं सम्बोध्यं स्वयंभूरिति च ॥'

श्रुति भी कहती है—वही ज्ञाता, वही ज्ञान, वही मन्त्रात्मा है अतः मन्त्र भी शिव-रूप ही है । 'स एव ज्ञाता तज्ज्ञानमिति' ।

'एवमेष एवं मन्त्रात्मा । तेषां चात एव शिवधर्मित्वं सिद्धम् ॥'

अब पक्षान्तरोपन्यासभंगिमा से प्रकरणारंभ करते हुए स्वस्वभाव शिव के विश्वाभिव्यक्तिमय शक्तिचक्रविभवन शीलत्व को उपपत्तियों एवं उपलब्धियों द्वारा प्रतिपादित किया जा रहा है ।

इस प्रकरण का सम्बन्ध इस कारिका से है—

'यस्य इति वा संवित्तिः स जीवन्मुक्तः ॥'

यस्य = जिस साधकोत्तम का । **संवित्तिः** = सम्यक् ज्ञान ।

सततम् = निरन्तर, अव्यवधानपूर्वक सभी अवस्थाओं में ।

युक्तः = समाहित । स्वभावबल परिशीलन से अप्रमत्त एवं एकाग्रचित्त । **स जीवनम्** = नियतदेहाधिकरणों एवं प्राणों को धारण करते हुए भी **मुक्तः** = सर्वव्यापक सर्वात्मक, सर्वेश्वर, स्वतन्त्र, स्वस्वभावाहङ्कारी, जन्ममरणादि के चक्र से निष्क्रान्त परमेश्वर । **न संशयो** = भ्रान्ति या सन्देह नहीं है । क्या करते हुए जीवन्मुक्त? **अखिलं** = अशेष-अनन्त-वस्तु-व्यक्ति-विचित्र विश्व को स्वनिर्मित चराचर को **क्रीडनक** मानते हुए और सृष्टि को लीला मात्र समझते हुए विभावित करते हुए ।

इस प्रकार विश्व को अपनी क्रीड़ा के रूप में देखते हुए एवं जीते हुए मुक्त जीवन्मुक्त है । टीकाकार पूछता है? 'कथं यस्य संवित्ति?' उसी के उत्तर स्वरूप—उन्तीसवाँ श्लोक कहा गया है—

'तेन शब्दार्थचिन्तासु .... संस्थितः ॥'

तेन = वक्ष्यमाण कारण से ।

तेन वक्ष्यमाणहेतुना 'शब्दार्थचिन्तासु सा अवस्थैव नास्ति या न शिवः'—इति यस्य संवित्तिः स जीवन्मुक्त इति ।'

शब्द = अर्थप्रत्यायक पदसमूह ।

अर्थों = जात्यादिभेद से बहुविध अभिधेय वस्तुजात ।

चिन्ता = उसकी चिन्ता उस-उस प्रकार की विकल्पना । अनन्त चिन्तनीय वस्तुओं के प्रति अपने उपराग से विचित्र ज्ञान से युक्त व्यवहारों से सम्बद्ध शब्द एवं अर्थों में उत्पन्न चिन्ताओं में । **सा अवस्था**—वह दशा । (वह दशा कोई नहीं है न तो शब्द रूपा चिन्ता और न तो अर्थरूपा चिन्ता जो कि साक्षात् शिव न हो ।) **भोक्तैव** = अनुभविता ही, ईश्वर ही ।

सदा = नित्य । **सर्वत्र** = समस्त अवस्थाओं में ।

भोग्यभावेन = अनुभवनीयवत् स्वात्मा द्वारा ।

स्थितेः = अवस्थित है । (भोग्य पदार्थ कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं ।) चूँकि तत्त्वों के अनवमर्शमात्र से भोक्तृभोग्य विभाजन रूप द्वैत विजृंभित (प्रकटीभूत) हुआ है । ऐसा क्यों कहा गया? इसलिए कि—'न सावस्था न या शिवः ॥'

यस्मात् जीवः = जिससे कि आत्मा । **सर्वमयः** = विश्वरूप ॥ परस्पर व्यतिरिक्त (भिन्न) प्रतिपत्ति (उपलब्धि) । जीव का जो व्यवहार है वह भी वेद्य-वेदकाभेदपूर्वक ही उपपन्न है ।

लेकिन यह कहाँ से?—इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहता है—'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपातिप्रतिपत्तितः सर्वभावसमुद्भवात् सर्वमयो जीवः ।'

—उस किसी संवेद्य का (घट, सुख-दुःखादिक का) जो संवेदन या ज्ञान होता है उसका जो 'रूप' (स्वभाव) है उसके कारण—'तादात्म्य प्रतिपत्ति' (अभेदसंवित्) होती है और इसके कारण जो 'सर्वभावसमुद्भव' (समस्त भावो की उत्पत्ति) है उसके निर्वर्तमान हो जाने के कारण जीव सर्वमय हो जाता है ।

यह आत्मा अपने विषय को जानकर ही उनका समुद्भव (सृजन करती है अन्यथा नहीं क्योंकि संवेद्यमान वस्तु ही रूप प्राप्त कर सकती है असंवेद्यमान वस्तु नहीं । संवेद्यमानता क्या है? यह है उन-उन रूपों द्वारा प्रकाशमानता । प्रकाशमानता क्या है? प्रकाशमानता है—प्रकाश से अव्यतिरिक्तता । इसीलिए न्यायवादी भी कहता है—चेतना-च्चापि वेद्यत्वादतदरूपाप्रवेदनात् ॥')

इस प्रकार यह जीव जिस-जिस वस्तु को जानता है वह उसका शरीर ही बन जाता है ।

संवेद्यमानता सामान्यतः द्विविध प्रकारी है—(१) **'भूतात्मक'** (२) **'भावात्मक'**।

(१) **भूतात्मक संवेद्यमानता**—माया शक्ति के वैभव से विस्मारित तात्विकस्वभाव वाला होने के कारण वस्तु संवेदनावसर पर स्वरूप के अपरामर्शत्व के कारण मुकुलित सामर्थ्य वाला होकर यह जीव अविच्छिन्न अहंकार का आस्पद बन कर शिर-पाणि आदि शरीरांगों से युक्त शरीर को अपना स्वरूप समझने लगता है और यह जन्ममरणादि के चक्र में फँस जाने से इसकी **भूतात्मक संवेद्यमानता** हुआ करती है ।

(२) **भावात्मक संवेद्यमानता**—जब यह जीव शब्दादि विषयों को अपने से व्यतिरिक्त मानकर उनका स्वभिन्न वेद्य पदार्थ समझकर उनका परामर्श करता है तब उसकी वह संवेद्यमानता भावात्मक कही जाती है ।

इस प्रकार जीव संवेद्यमानता लक्षण वाले भावसंसर्ग की अवस्था में संवेद्यवस्तु से अव्यतिरिक्त होने के कारण सर्वमय, विश्वरूप होने पर भी वस्तु संवेदन तत्त्व परामर्श के उन्मिषित न होने के कारण सभी को आत्मा से व्यतिरिक्त कारणान्तरलब्धात्मक मानकर और सभी आत्माओं को अपने से भिन्न मानकर और अपनी आत्मा को देहादि अनित्य एवं अनात्म वेद्य में अहंबुद्धि स्थापित करके जन्ममरणादिक आवागमन के चक्र में फँसकर संसारी जीव कहलाने लगता है । किन्तु जब शिव रूपी सूर्य की शक्ति रूपी रश्मि के शक्तिपात से उत्पन्न प्रबोध से उन्मिषित विशद् दृष्टि वाला होकर स्फुटतर प्रकाश से प्रकाशित होकर अपने को अनित्य देहादिक से मुक्त होकर सत्यात्मस्वभाव में स्थित हुआ देखता है और जब यथावस्थित वस्तु संवेदन का यथार्थ परामर्श करता है तब वह संकल्पमात्रविलिखित-विचित्र-विश्वाभिव्यक्तिमय शक्तिचक्र वाला शिव बन जाता है । इसीलिए कहा गया है कि 'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्याप्रतिपत्तिः' उन उन वस्तुओं के संवेदन स्वभाव के बल से जो तादात्म्य प्रतिपत्ति (संवेद्यमानवस्तु के साथ अभेद संवित्ति) होती है उससे समस्त भावों की उत्पत्ति होती है अतः तब जीव सर्वमय बन जाता है । उससे उसकी सर्वमयत्वप्रतिपत्ति के कारण ऐसी कोई अवस्था है ही नहीं जो कि शिव नहीं होती ।

'सा अवस्था नास्ति या शिवमयी न भवति ॥'

ऐसी स्थिति में भोक्ता ही ईश्वर बनकर भोग्यभाव से ईशितव्य वस्तु रूप में सदा सर्वत्र संस्थित रहता है । जिसकी ऐसी संवित्ति है वही 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है ।

आत्मा ही विश्वरूप में स्थित है—'आत्मन एव विश्वरूपत्वेन स्थितिः ।' विश्वप्रपञ्च का कोई निमित्तान्तर नहीं है । ब्रह्मवादियों ने कहा भी है—

'कल्पयत्यात्म-नात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुद्ध्यते भेदादिति वेदान्तनिश्चयः ॥

अन्य विद्वानों ने भी कहा है—

विविधैरुपाधिभिरवस्थितैर्बहिः, स्फटिकादिवत्तव विचित्रतोच्यताम् । यदि ते कदाचन कथञ्चन क्वचिद्भवितुं क्षमास्त्वदवभासतः पृथक् ॥

परमाणु पाकपरिणाम विभ्रमा,
द्युत वा विवर्त इति विश्वमिष्यताम् ।
विबुधोत्तमैर्यदिह तद्विकल्पना-
स्तव शक्तिरेव न तथोपपादयेत् ॥

तदिहापि च प्रतिनिमेषमुन्मिष-
न्निमिषद्विकल्पविविधाशु मण्डलः ।

अथ चाति शुद्धवपुरद्भुतैकभूः,
स्फुरसि त्वमेव शिव चिन्मयो मणिः ॥

इसे विवृति में पृथक्-पृथक् रूप से व्याख्यात किया गया है—

'सर्वात्मक एवायमात्मा' आदि द्वारा, 'तेनतथाविधेन'—आदि द्वारा एवं—'एवं स्वभावे यस्य' आदि ग्रन्थों के द्वारा व्याख्यात किया गया है ।[1]

पशुप्रमाता जीव सर्वमय है क्योंकि (वह भी पति प्रमाता शिव की भाँति) यह भी समस्तभावों (घटपदादिक भावों) के साथ संवेदनात्मक तदात्मकता रखने के कारण उनका सृजन करता रहता है ॥ २८ ॥

भट्टकल्लट कहते हैं—यह जीवात्मा सर्वात्मक है क्योंकि यह व्यक्तिगत संवेदन के माध्यम से विश्व के भावों (पदार्थों) का सृजन करता रहता है जो भी पदार्थ उसके अनुभव में आता है वही उसके संवेदन का आलम्बन बन जाता है । यह पशुप्रमाता (जीवात्मा) जिस किसी भी वस्तु का संवेदन (अनुभव) करता है उसको आत्मीकृत करके **उसे अपने शरीर** के रूप में स्वीकार कर लेता है । परिणामस्वरूप इस पशुप्रमाता का यह शिर हाथ आदि अंगों से युक्त शरीर ही उसका एक मात्र शरीर नहीं रह जाता प्रत्युत् संवेदन में आने वाले प्रत्येक पदार्थ उसके शरीरांग बन जाते हैं—

'सर्वात्मक एवायमात्मा सर्वानुभावोत्पत्तिद्वारेण अनुभूयमानस्यैव संवेदनात् बाह्यार्थमनुभूयमानमेव शरीत्वेन गृह्णाति, न तु शिर पाण्यादिलक्षितम् एकमेवास्य शरीरम्[2] ॥ २८ ॥

वाचकवाच्यात्मक वस्तुओं की संवेदनाओं (अनुभवों) की ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है जो शिवस्वरूप न हो । **प्रत्येक स्थान पर भोक्ता (आत्मा) ही भोग्य (पदार्थ = प्रमेय) के रूप में अवस्थित है ।**

भट्टकल्लट कहते हैं कि चूँकि आत्मा सर्वमयस्वभाव है अतः शब्दों एवं अर्थों से सम्बद्ध ऐसी कोई अवस्था नहीं है जोकि शिवात्मक स्वभाव को व्यक्त न करती हो अर्थात् जो शिव न हो । प्रत्येक स्थान में यह भोक्तारूप वेदकसत्ता आत्मा ही भोग्य पदार्थों (वेद्य पदार्थ) के रूप में अवभासित एवं उल्लसित हो रही है । भोग्य (संवेद्य = प्रमेय) पदार्थ भोक्ता (संवेदक = चेतन प्रमाता) से पृथक् नहीं है ॥ २९ ॥

'तेन तथाविधेन सर्वात्मकेन स्वभावेन, शब्दार्थयोः चिन्तासु **न सा अवस्था या शिवस्वभावं न व्यञ्जयति, अतो भोक्तैव हि भोग्यभावेन सर्वत्रावस्थितो, न त्वन्यत भोग्यमस्ति** ॥ २९ ॥

('ऐसी कोई अवस्था नहीं है जो शिवस्वरूप न हो' तथा 'समस्त प्रमेय मुझ प्रमाता का ही शरीर है'—) इस प्रकार का, जिस योगी का, संवेदन हो वह निःशेष जगत् को अपनी आनन्दात्मिका क्रीड़ा के रूप में देखता हुआ, अपने सत्स्वरूप के साथ एकाकार हो जाता है अतः वह योगी निःसंशय जीवन्मुक्त है ।

---

१. रामकण्ठाचार्यः 'स्पन्दकारिकाविवृति' । २. स्पन्दसर्वस्व ।

भट्टकल्लट कहते हैं—जिस योगी का यह विश्वात्मक स्वभाव हो अर्थात्—'यह समस्त जगत् मन्मय है'—वह समस्त जगत् को अपनी क्रीड़ा के रूप में देखते रहने तथा नित्ययुक्त (अपने चिरन्तन आत्मस्वभाव से अपृथक्) रहने के कारण जीवित रहता हुआ भी ईश्वर के समान मुक्त रहता है तथा उसकी शरीरादिक वस्तुओं पर कोई भी (प्रतिबन्धात्मक, आवरणात्मक मायात्मक) बन्धन नहीं रहता (अर्थात् सारे बन्धनों से मुक्त रहता है)।[१]

जीवन्मुक्ति का स्वरूप—

इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥ ३० ॥

जिसका (जिस योगी का) ऐसा संवेदन हो कि समस्त विश्व मेरी क्रीडा है—वह संपूर्ण विश्व को अपनी क्रीडा के रूप में देखता हुआ चारों ओर से (सभी जागतिक भावों के साथ) युक्त (समस्त पदार्थों के साथ तद्रूपतावश उनसे एकाकार) होता हुआ **'जीवन्मुक्त'** (कहलाता) है—इसमें कोई शंका नहीं है ॥ ३० ॥

*** सरोजिनी ***

इस कारिका में आत्मा की विश्व के साथ अभेदात्मकता एवं 'विश्वोऽहं' के विमर्श में 'जीवन्मुक्तित्व' का प्रतिपादन किया गया है । परमात्मा तो विश्ववपु है ही किन्तु मितात्मा भी विश्ववपु है । परमात्मा तो अपनी अखण्ड स्पन्दात्मिका विमर्श शक्ति के द्वारा अनन्त प्रमाता-प्रमेयों, वेदक-वेद्यों से पूर्ण जगत् को अस्तित्व प्रदान करके उन्हें अपने शरीर के रूप में धारण करता है किन्तु मितात्मा (पशु) अपने संवेदनों के द्वारा प्रत्येक भूतात्मक एवं भावात्मक पदार्थ की सृष्टि करके उन्हें अपने शरीर के रूप में ग्रहण करके अवस्थित रहता है अतः वह भी ईश्वरवत् है ।

संवित्ति = ज्ञान । संवेदन ।
अखिल = समग्र ।
वा = 'वा' शब्द का प्रयोग स्वार्थ में है । **वा** = किं बहुना ॥ कहाँ तक कहें?
इति = इस प्रकार (उक्त प्रकार रूप) ।
क्रीडात्वेन = क्रीडाराम, खेलने का बगीचा । 'खेलने के बगीचे के रूप में ॥'
पश्यन् = विभावयन् । विभावित करता हुआ ।
जीवन्मुक्ति = जीते हुए भी ईश्वरवत् मुक्त ।[२]

जीवन्मुक्ति और उसका स्वरूप—

स्पन्दशास्त्र में मुक्ति का स्वरूप = 'जीवन्मुक्ति'—बहुत कहाँ तक कहें? जिसको इस प्रकार की 'संवित्ति' (ज्ञान) हो गया है कि समस्त दृश्यमान जगत् मेरा ही स्वरूप है—मन्मय है वह समग्र जगत् को अपने खेल के बगीचे के रूप में देखता है क्योंकि वह नित्ययुक्त एवं नित्यमुक्त है । बन्धन के कारण अज्ञान के नष्ट हो जाने पर एवं प्रबोध की

---

१. स्पन्दसर्वस्व । २. स्पन्दप्रदीपिका ।

प्राप्ति हो जाने से वह साधक जीवितावस्था में ही ईश्वरवत् मुक्त है । आत्मबोध में सम्यक् विश्रान्ति हो जाने पर जो अलुप्तानुभव है रूप में स्थित है वह तत्त्ववित् विषयोपभोग करता हुआ भी जीवन्मुक्त रहता है—

'सम्यक् स्वबोधविश्रान्तौ योऽलुप्तानुभवः स्थितः ।
विषयानपि सोऽश्नन् स्याजजीवन्मुक्तस्तु तत्त्ववित् ॥'[१]

जिन लोगों की यह मान्यता है कि उत्क्रान्ति के बिना मोक्ष नहीं होता उनका पक्ष असमीचीन है क्योंकि—'यदि स्वभाव का अनुभव किये बिना ही केवल उत्क्रान्ति के बल से पुरुष को कैवल्य की प्राप्ति हो जाय तो जो मूर्ख फाँसी पर चढ़कर मरता है उसको भी मोक्ष मिल जाय' ।

'बिना स्वभावानुभवेन पुंसः कैवल्यमुत्क्रान्तिबलाद्यदि स्यात् ।
अत्राऽपि पक्षे ननु मोक्षभाक्त उद्बन्धनं यः कुरुते प्रमूढः ॥'

यह भी कहा गया है कि 'गुण वासना वासित पुरुष भी प्रलयकाल में विदेह होने पर भी बद्ध ही रहते हैं । विशुद्ध ज्ञान के आश्रय से शरीरधारी भी मुक्त हो जाते हैं ।'—

'विदेहा अपि बुद्धयन्ते प्रलये गुणवासिताः ।
शरीरिणोऽपि मुच्यन्ते विशुद्धज्ञानसंश्रयात् ॥'[२]

'ज्ञानगर्भ' में भी कहा गया है—'हे त्रिलोकीनाथ! जो मनुष्य आपकी उपासना करके किल्बिश रूप उपद्रवों का नाश कर चुके हैं उन्हें बहुत शीघ्र ही अद्वैत भावना के आवेश से यह अनुभव प्राप्त हो जाता है कि मुझमें ही यह भावना के आवेश से यह अनुभव प्राप्त हो जाता है कि मुझमें ही यह समस्त जगत् स्थित है । मैं ही सब हूँ एवं मैं ही सर्वत्र हूँ ।' यह संवित्त किस स्वरूप का है?—इसी अभिप्राय से कहा गया है—

'तेन शब्दार्थचिन्तासु न साऽवस्था न यः शिवः ।
भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ॥'

—जिसकी इस प्रकार की संवित्ति है वह 'जीवन्मुक्त' है ।[३]

अर्थात् शब्द चिन्तारूप एवं अर्थचिन्तारूप ऐसी कोई भी अवस्था नहीं है जो शिव न हो—यही संवित्ति **'जीवन्मुक्ति'** है ।

जीवन्मुक्त कौन है? 'Who possess this sort of recognition or he who regards this whole universe as a play and is always united, is beyond doubt liberated in life'.

वा—यह शब्द प्रथम निष्यन्दोक्त **निमीलन समाधि** को विकल्पित करते हुए उसकी समापति की दुर्लभता को ध्वनित करता है । अतः उसका यह अर्थ है—इस प्रकार की संवित्ति दुर्लभा है । इसका ज्ञान केवल उसको होता है जो जन्म-मरण के चक्र से निर्मुक्त है ।

१-२. स्पन्दप्रदीपिका । ३. रामकण्ठाचार्य (स्पन्दकारिकाविवृति)।

वा—'प्रथम अध्याय में प्रयुक्त (Involutive meditation) (निमीलन समाधि) ऐच्छिक बताने के लिए 'वा' प्रयुक्त हुआ है । ब्रह्माण्ड के साथ अपनी अभिन्नता या तादात्म्यभाव आवश्यक तो है किन्तु है कठिन । अत: उसका अर्थ इस प्रकार होगा—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा या अवबोध (Recognition) केवल उस व्यक्ति को प्राप्त होता है जिसके कोई आगामी जन्म नहीं होते । जो अपुनर्भवता । जन्ममरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है वह संपूर्ण **जगत् को क्रीड़ा के रूप में देखता है** या वह चैतन्य के विकास के द्वारा विश्व की रचना करता है एवं संहार करता है तथा सतत् रूप से एकीकृत (United) है जैसे कि एक योगी होता है—'वे जो कि सदा एकात्म्यभाव से मुझ में ध्यान लगाकर मेरी अर्चना करते हैं'—(मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ॥ (गीता १२।२) अर्थात्—ऐसे योगी जगत् को खेल समझते हुए अपने संवित् के उन्मेष एवं निमेष द्वारा सृजन एवं संहार करते हुए नित्य उपासना करते हैं—

'अखिल जगत् क्रीड़ात्वेन पश्यन् निज संविदुन्मेषनिमेषाभ्यां सृजन् संहरन् नित्ययुक्ता उपासते ॥'

ऐसा व्यक्ति जीवितावस्था में ही सारे बन्धनों को भस्मसात् कर देता है? कैसे करता है? ज्ञानाग्नि के द्वारा । वह भौतिक शरीर के पञ्चत्व प्राप्त करने पर शिव बन जाता है । वह जीवित रहकर भी कभी बन्धनग्रस्त (Feltered) नहीं होता ॥ 'सततं समाविष्टो महायोगी जीवन्नेव प्राणादिमानापि विज्ञानाग्नि-निर्दग्ध-अशेषबन्धनो देहपाते तु शिव एव । जीवश्चेन्जीवन्मुक्त: । न तु कथञ्चित् बद्ध: ॥'

दीक्षा एवं मुक्ति—'दीक्षादिना गुरुप्रत्ययो मुक्ति:' 'ईदृशात्तु ज्ञानात्समाचाराद्वा स्वप्रत्ययतो एव मुक्ति:'—योगी दीक्षा एवं गुरु की शक्तिपात की शक्ति पाकर मुक्त हो जाता है—**'महासमापत्ति'** प्राप्त कर लेता है ।[1]

आत्म संवित् के मुख्यत: दो भाव हैं—(१) पशुभाव (२) पतिभाव ये भावद्वय ही आत्मा के द्विविध आसन हैं ।

यह चैतन्य सत्ता चाहे पशुभाव में अवस्थित हो या पतिभाव में किन्तु है तो वेदक ही । विश्व वेद्य है । वेद्य सत्ताओं की सत्ता का अधिष्ठान तो वेदक सत्ता ही है । 'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्या: कथं प्रिये? वेदकं वेद्यमेकं तु ॥'

भट्टकल्लट कहते हैं इस दृष्टि से तो मुख, हस्त, चरण आदि अंगों से युक्त पाञ्चभौतिक शरीर ही 'पशु' का शरीर नहीं है प्रत्युत् प्रत्येक वेद्य पदार्थ के संपर्क में आने पर या उसका संवेदन करने पर यह पशुप्रमाता उन वेद्यों में संवेदन के साथ अनुप्रविष्ट भी होता है अत: उनमें संवेदन द्वारा प्रविष्ट होने के कारण वे समस्त वेद्य पदार्थ भी उसके शरीर हैं और इसी कारण उनमें 'ममायं' की भावना एवं रागानुग समापत्ति हुआ करती है—तादात्म्य हुआ करता है ।

जीवात्मा (पशुप्रमाता, मितात्मा) भी विश्वशरीरी है ।

---

१. आचार्य क्षेमराज: 'स्पन्दनिर्णय' ।

शिवसूत्र एवं स्पन्दशास्त्र—एक तुलना—

(१) शुद्धविद्योदयाच्चक्रेशत्वसिद्धिः ॥ (१।२१)

(२) विद्यासमुत्थाने स्वाभाविके खेचरी शिवावस्था (२।१५)

(३) कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया (३।३)

(४) धीवशात्सत्वसिद्धिः (३।१२) विद्याविनाशे **जन्मविनाशः** (३।१८)

(५) कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्याः पशुमातरः । (३।१९)

(६) मात्रास्वप्रत्ययसंधानेनष्टस्य **पुनरुत्थानम्** । (३।२४)

(७) **शिवतुल्यो जायते ।** (३।२५)

(८) भेदतिरस्कारे **सर्गान्तरकर्मत्वम्** (३।३६)

(९) भूतकञ्चुकी तदा विमुक्तो भूयः पतिसमः परः । (३।४२) तदारूढप्रमितेस्तत्क्षयाज्जीवसंक्षयः ॥ ४१ ॥

इसी कारिका में शक्ति के दो रूपों का परिचय दिया गया है जो निम्नांकित है—

(१) भोग्य रूप—बन्धन (२) 'सर्वं शक्तिमयं जगत्' 'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः'—मानकर शक्ति का उपास्य रूप ग्रहण करके उसकी उपासना—मुक्ति ॥

'बन्धयित्री' बन्धन प्रदान करने वाली । 'बन्धन' क्या है? क्षेमराज के कथनानुसार (१) शिवाभेदाख्यात्यात्मका ज्ञानस्वभावो अपूर्णंमन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा **बन्धः** ॥ (२) आत्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो । (३) अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव ॥ (४) 'ज्ञानं **बन्धः** (शिवसूत्र १।२) (५) मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ॥

स्वातन्त्र्य हानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥

अर्थात् आत्म तत्त्व में अनात्म तत्त्व का एवं अनात्म तत्त्व में आत्म तत्त्व की प्रतीति ही बन्ध है । मल या अज्ञान ही इस बन्धन रूप संसार का अंकुर है । **'क्रियाशक्ति' बन्धन एवं मोक्ष दोनों का कारण है ।**

इस सिद्धान्त में **जीवन्मुक्ति ही मुक्ति है ।** कहीं अन्यत्र जाने का नाम मोक्ष नहीं प्रत्युत् अज्ञानग्रंथि का उद्भेद ही मोक्ष है—

नान्यत्र गमनं स्थानं मोक्षोस्ति सुरसुन्दरि ।
अज्ञानग्रंथिभेदो यः स मोक्ष इति उच्यते ॥

विशेष—त्रिकदर्शन में योगसाधना एवं कुण्डलिनी योग मान्य है अतः 'स्वमार्गस्था' का यौगिक अर्थ भी लिया जा सकता है । मूलाधार में अवस्थित कुल-कुण्डलिनी (शिव कला) ब्रह्ममार्ग के द्वार पर फण रखकर सो रही है । जब तक वह जागकर स्वमार्ग (अपने पति परमशिव के पास पहुँचने के मार्ग) (सुषुम्णा मार्ग) का

आश्रय नहीं लेती तब तक न तो जीव का उद्धार होता है और न तो यह कुल शक्ति ही कृतार्थ हो पाती है अतः 'स्वमार्गस्था' का अर्थ है—सुषुम्णा स्थित ब्रह्म नाड़ी में संप्रविष्ट होकर संस्थित ॥

'मयि स्थितमिदं जगत् सकलमेव सर्वत्र वा ।
स्थितोऽहमिति धारणाद्वितयभावनावेशतः ॥
जगत्त्रितयनाथ तानतिचिरेण सम्प्राप्यते ।
नृभिस्तव सपर्यया दलितकिल्बिषोपप्लवैः ॥'[१]

गीता में भी कहा गया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

'पंचरात्र' में भी कहा गया है कि 'प्रज्ञा के राजमहल पर आरूढ़ पुरुष अशोच्य हो जाता है मानों पर्वत के उच्च शिखर पर स्थित पुरुष नीचे की वस्तु को देख रहे हों ॥'—

प्रज्ञा प्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥'[२]

यहाँ नित्य उद्युक्तता एवं उन्मुक्तता को ही उपाय के रूप में ध्वनित किया गया है—'अत्र च नित्योद्युक्तरूपत्वमेवोपायो युक्त्याध्वनितः ॥' कहा भी गया है—

'अतः सततमुद्युक्तः स्पन्दतत्त्व विविक्तये ।
जाग्रदेव निजं भावमचिरेणाधिगच्छति ॥' (२१)[३]

जीवन्मुक्त कौन है? 'यस्य इति वा संवित्तिः स जीवन्मुक्तः ॥'[४]

यस्य वा—जिस साधकोत्तम की । **संवित्तिः** = सम्यक् ज्ञान ॥ **सततम्** = सभी अवस्थाओं में व्यवधानरहित होकर अखण्ड रूप में । **युक्तः** = समाहित । स्वभावबल परिशीलन अप्रमत्त-एकाग्रमानस साधक । **स जीवन** = नियत देहाधिकरणों एवं प्राणों को धारण करता हुआ । **मुक्तः** = सर्वव्यापक-सर्वात्मक-सर्वेश्वर स्वतन्त्र स्वस्वभावाहंकार प्रतिपत्ति की दृढ़ता से जन्ममरण के चक्र से मुक्त होकर रहने वाला यह साधक परमेश्वर ही है । **न संशयो** = इस विषय में कोई भ्रान्ति नहीं है ।

प्रश्न उठता है कि क्या करता हुआ जीवन्मुक्त? **'अखिलम्'** अर्थात् अशेष । अनन्त वस्तु व्यक्ति विचित्र इस 'विश्व' या जगत् को **'क्रीडात्वेन'**—अर्थात् स्वनिर्मित-चराचर भावक्रीडनको परचितलीलामात्र के रूप में 'पश्चन्' अर्थात् विभावित करता हुआ ॥[५]

अनुन्मिषित स्वस्वभावनिभालनक्षमविमलविज्ञान दृष्टि वाला व्यक्ति अपने को दूसरे से भिन्न मानकर उसके कारण उत्पन्न हर्ष एवं शोक तथा भय आदि विकारों का अनुभव करता हुआ आवागमन के चक्र में पड़ा हुआ दुःख भोगता है । किन्तु जो साधक

---

१. ज्ञानगर्भ । २. पञ्चरात्र ।
३-४. स्पन्दप्रदीपिका । ५.स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) ।

उपर्युक्त रीति से क्रीड़ापरायण होकर स्वपरिकल्पित भय क्रोध शोक के कारणभूत भावप्रतिच्छकों के द्वारा क्रीड़ा करता हुआ तद्याथात्म्य को जानकर कालुष्य से भय आदि विकारों के कालुष्य से स्वल्पमात्र भी दुष्प्रभावित नहीं होता एवं भावों को स्वस्वभाव शक्ति का विजृंभण मात्र मानकर याथात्म्यवेदी होकर स्वल्पमात्र भी विकारग्रस्त नहीं होता वह जगत् एवं उसके समस्त व्यापारों को अपनी क्रीड़ा मानकर जीवितावस्था में ही मुक्त हो जाता है ।[१]

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—

'एवं स्वभावं यस्य चित्तं' यथा 'मन्मयमेव जगत् सर्वम् इति'—स सर्व क्रीडात्वेन पश्यन् नित्ययुक्तत्वात् जीवन्नेव ईश्वरवत् मुक्तो, न त्वस्य शरीरादि बन्धकत्वेन वर्तते ॥'[२]

अर्थात् जिस योगी के चित्त का इस प्रकार का स्वभाव विकास हो उठा हो कि— 'यह निखिल विश्व मेरा अपना ही स्वरूप है'—वह संपूर्ण प्रमेयात्मक जगत् को अपने क्रीडनक (खिलौने) के रूप में देखता हुआ नित्ययुक्त (स्वरूप सत्ता से निरन्तर आश्लिष्ट) होने के कारण षाटकौशिकक्षर काया में रहता हुआ भी ईश्वर के समान मुक्त रहता है । ऐसे प्रबुद्ध योगी के लिए उसके शरीरादिक बन्धनरूप नहीं रहा करते ॥

संवेद्य विषयों के प्रकार—आत्मा वेदक है और उसके संवेदन के विषय वेद्य (संवेद्य) पदार्थ है । इनके दो प्रकार है—

(१) पाञ्चभौतिक विषय (२) भावात्मक विषय ।

(१) **पाञ्चभौतिक विषय**—विषयों के वे प्रकार जो कि पृथिव्यादिक पञ्चभूतों से निर्मित हैं—बाह्येन्द्रियों से ग्राह्य हैं: स्थूल शरीर एवं उनके अनेक संघटक भौतिक अंग ।

(२) **भावात्मक विषय**—ये शरीरांग युक्त कोई काया नहीं है प्रत्युत् अमूर्त भाव हैं—संवेदनयों, भावनायें, संवेगों, विचारों, अनुभूतियों अमूर्त भाव हैं—संवेदनायें, भावनायें, संवेगों, विचारों, अनुभूतियों के अमूर्त अस्तित्व हैं यथा-सुख, दु:ख, मान, अपमान, धर्म, अधर्म, जय, पराजय, आह्लाद, निराशा आदि ॥

इन्हें 'भावाभाव' के आधार पर भी विभक्त कर सकते हैं यथा—

(क) **भावात्मक विषय**—जगत् में भावसत्ताक पदार्थ यथा—घट, पट, शरीर, इन्द्रियाँ, सुख, दु:ख, अमर्ष, हर्ष आदि ॥

(ख) **अभावात्मक विषय**—जगत् में अविद्यमान पदार्थ यश—वन्ध्यापुत्र, खपुष्प, शश-विषाण, सर्प-कर्ण आदि ॥

संवेदन की विशेषता—(१) संवेदन में मूर्तामूर्त दोनों विषयों की समान अनुभूति होती है । (२) संवेदन में समस्त अनुभूतियाँ भावात्मक ही हुआ करती हैं अभावात्मक नहीं । (३) जो कुछ संवेदन के विषय हैं उन्हीं का अस्तित्व होता है अन्य का नहीं ।

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) ।

२. स्पन्दसर्वस्व (स्पन्दकारिकावृत्ति) ।

(क) जीवात्मा जो जो संवेदन करती है वह वह उसका शरीर बन जाता है 'एवञ्च यद् यदयं जीव: संवेत्ति तत्तदस्य शरीरमेव संपद्यते न तु नियत शिर: पाण्याद्यवयव-सन्निवेश एव (स्पन्दकारिकाविवृति: ३.३) ।

(ख) संवेद्यमानतावस्था में ही संवेदक शरीरी बन जाता है—संवेद्यमानतावस्थाया-मेव शरीरीभवति ॥ (रामकण्ठाचार्य ३.३) ।

(ग) संवेद्यमानता तत् तत् विषयों का प्रकाशन है । संवेद्यमानता च तेन तेन रूपेण प्रकाशमानता । (स्प०का०वि० ३.३)। संवेदक की जिस भी विषय की ओर औन्मुख्य होता है—संवेद्यमानता के काल में वे ही समस्त विषय उसके शरीर बन जाते हैं । संवेद्यमानता के समय किसी भी विषय के शरीर बनने का अर्थ है—संवेदन के काल में संवेदन के द्वारा उस विषय का सर्जन करना । संवेदनात्मक औन्मुख्य—एक का संहार दूसरे का सृजन । परमात्मा की भाँति निरन्तर प्रतिक्षण मितात्मा द्वारा प्रलयोद्भव = संहार + सृजन ।

तदात्मता महासमापत्ति—

अयमेवोदयस्तस्य ध्येयस्यध्यायिचेतसि ।
तादात्मतासमापत्तिमिच्छतः साधकस्य वा ॥ ३१ ॥
इयमेवाऽमृत प्राप्तिरयमेवाऽऽत्मनो ग्रहः ।
इयं निर्वाणदीक्षा च शिवसद्भावदायिनी ॥ ३२ ॥

ध्याता (योगी) के चित्त में ध्येय (देवता) का साक्षात्कार होना यही है कि इच्छा होते ही (तत्काल) (ध्याता का अपने देवता के साथ एकता रूप समापत्ति (समाधि = देव साक्षात्कार रूप समावेश) प्राप्त हो जाती है ॥ ३१ ॥

यही (तदात्मता समापत्ति) अमृतत्त्व की संप्राप्ति है, यही आत्मग्रहण है । यही निर्वाण दीक्षा है और (यही) शिवभावप्रदायिका है ॥ ३२ ॥

* **सरोजिनी** *

प्रस्तुत इस श्लोक में यह बताया गया है कि मन्त्रात्मा शिवभाव के उदय की अन्य युक्ति क्या है । इसी प्रयोजन से कहा गया—'अयमेवो.... साधकस्य वा ॥' इसमें **'महा-समापत्ति'** का भी वर्णन किया गया है ।[१]

'समापत्ति' ध्याता के मस्तिष्क में केवल यही उस ध्येय वस्तु का 'उदय' है जिसके साथ ध्याता ऐकात्म्य प्राप्त कर चुका है । यह तदात्मता समापत्ति ही अमृतत्त्व की प्राप्ति है । यही आत्मसाक्षात्कार है । यह वह निर्वाण है जो कि शिव के साथ ऐकात्म्यभाव या तद्रूपता की प्राप्ति का विधान करता है ।[२]

अयमेव = यही । **उदयः** = आविर्भाव प्रकटीकरण । मन्त्र के देवता का उदय । प्रकटीभाव ।

---

१. स्पन्दप्रदीपिका । २. स्पन्दनिर्णय ।

तस्य = उसका ।

ध्येय = ध्यान का विषय ।

ध्यायिचेतसि = ध्याता के चित्त में ।[1]

तदात्मता = तादात्म्यभाव ॥

समापत्ति = समाधि । आत्मसाक्षात्कार ।

(१) यही ध्याता के मस्तिष्क में **अभिव्यक्ति** है : **उदय** है : **प्रकटीभाव** है ॥

(२) यह अभिव्यक्ति **ध्येय की अभिव्यक्ति** है ।[2]

(३) इस ध्येयाकार अभिव्यक्ति में साधक आत्मा के साथ ऐकात्म्य प्राप्त कर लेता है—तद्रूप हो जाता है : तादात्म्यभाव प्राप्त कर लेता है । 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्'—के अनुसार ध्याता के चित्त में—'न सावस्था न या शिवः'—इस प्रकार प्रतिपादित शिवस्वभाव ध्येय का तथा किसी सिद्धि के लिए किसी विशेष मन्त्र के देवता का यही 'उदय' या प्रकटीभाव है । **'तदात्मता समापत्ति'** शिवैक्यावेश है । यह 'न सावस्था न या शिवः' की अनुभूति है । यह पञ्चवक्त्र (शिव) आदि का साधक के अपने से पृथक् रूप में अपना स्वरूप प्रदर्शित करना नहीं है—यह देवता का साधक से पृथक् व्यक्तित्व प्रदर्शन नहीं है—यह **साधक से पृथक् होकर उसे दर्शन देना नहीं है** 'न तु पञ्चवक्त्रादेर्व्यतिरिक्तस्याकारस्य दर्शनं' ।[3] यह तदात्मतासमापत्ति की निश्चयात्मिका बुद्धि भी नहीं है—'न तु निश्चयमात्रेण तदात्मता समापत्तिः'[4] प्रत्युत् यह है—इच्छा करने वाले साधक का अविकल्प विश्वाहन्तात्मक शिवैक्यरूप इच्छा परामर्श-शिवैक्यावेश ।[5] इसी बात को इस प्रकार भी कहा गया है—'मैं ही तत्संवेदन रूप से तादात्म्यप्रतिपत्ति से विश्वशरीर चिदानन्दघन शिव हूँ' ।[6]

—'अहमेव तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितो विश्वशरीरश्चिदानन्दघनः शिव इति'—इस प्रकार का सङ्कल्प अविकल्प शेषीभूत रूप से फल प्रदान करता हूँ—उसका ध्येय मन्त्र देवता सभी साधकों के समक्ष अभिमुख होता है । परमेष्ठिपाद द्वारा भी कहा गया है—

> 'साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन्भुवनान्तरे ।
> किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः केषां न सिध्यति ॥' (उ०स्तो० १।४)

यही समापत्ति—परमाद्वयरूप अमृत की प्राप्ति है—'इयमेव च समापत्तिः परमाद्वयरूपस्य अमृतस्य प्राप्तिः॥'

अन्य अमृत में तो कतिपय काल तक शरीर अमर रहता है किन्तु बाद में साधक की मृत्यु हो जाती है किन्तु इस अमृतत्व की प्राप्ति में ऐसा नहीं होता । 'स्वच्छन्दतन्त्र' में भी इसकी पुष्टि की गई है—

(१) नैव चामृतयोगेन कालमृत्युजयो भवेत्,

१-६. स्पन्दनिर्णय ।

—इस प्रकार कहकर इस तन्त्र द्वारा अंत में उपसंहार में यह कहा गया है—

(२) अथवा परतत्त्वस्थ: सर्वकालैर्न बाध्यते ॥ (७।२२३)

(३) सर्वं शिवशक्तिमयं स्मरेत्—
जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्येयं भावना सदा ।
य: शिवं भावयेन्नित्यं न काल: कलयेत्तु तम् ॥
योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्त: स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥
स्वच्छन्दश्चैव स्वच्छन्द: स्वच्छन्दो विचरेत् सदा ॥ (७।२५८)

(४) यही 'ज्ञान' भी है—'अयमेव आत्मनो ग्रहो ज्ञानं यदुच्यते आत्मा ज्ञातव्य इति तत्र इदमेव—सर्वज्ञसर्वकर्तृस्वतन्त्रशिवस्वरूपतया प्रत्यभिज्ञानं आत्मनो ज्ञानम्' ।

(५) त आत्मोपासका: सर्वे न गच्छन्ति परं पदम् ॥ (स्व० ४।३८८)

आत्मसाक्षात्कार के लिए 'दीक्षा' भी आवश्यक है—[१]

(१) दीक्षा गुरु का शिष्य की आत्मा के प्रति अनुग्रह है जो कि दीक्षा के समय शिष्य की आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाने की पद्धति के लिए अनिवार्य है । गुरु उपलब्धि के मार्ग को जानकर (सम्प्राप्ति की इस पद्धति को जानकर) **शिष्य की आत्मा को शिव के साथ मिलाकर एकाकार देता है ।**

(२) पारमार्थिक स्वरूपदायिनी दीक्षा निर्वाण दीक्षा है जो निम्नांकित है—

'एवं यो वेद तत्त्वेन तस्य निर्वाणदायिनी ।
दीक्षा भवत्यसंदिग्धा तिलाज्याहुतिवर्जिता ॥ (प० २५)

यह मोक्षदायिनी दीक्षा (Liberative initiation) है । यह 'पुत्रक' आदि की दीक्षा शिवाभिन्न रूप में स्थित है और शिव से एकता प्राप्त कराती है । जो परासत्ता को जानता है वह उस दीक्षा को प्राप्त करता है जो कि तिल एवं घी की आहुतियों (Offerings) से रहित रहकर भी मोक्ष प्रदान करती है ।[२]

इस दीक्षा में यह भावना की जाती है कि—'मैं स्वयमेव शिव हूँ । मैं ज्ञान एवं आनन्द से परिपूर्ण हूँ । मेरा शरीर यह विश्व है क्योंकि इसके साथ मेरी पूर्ण एकता है । यह एकता इसकी चेतना के रूप में स्थित है । मेरी विश्व के साथ अभिन्नता एवं एकता है ॥'

'ओ परमात्मन्! इस विश्व में ऐसा कौन है जो कि साधकों के लिए पवित्र स्थान की भाँति पवित्र नहीं है? सभी आपके साथ अभिन्न हैं । ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ मन्त्र अपना फल नहीं देते?'

'ऐसी कौन सी अवस्था है जो शिव नहीं है?' साधक को शिव बनकर शिव की

१-२. स्पन्दनिर्णय ।

पूजा करनी चाहिए ॥ 'समग्र विश्व को शिव एवं शक्ति का ही रूप मानना चाहिए ॥'—जिसे इस प्रकार का दृढ़ ज्ञान हो चुका है वह चाहे जीवित ही क्यों न हो स्वच्छन्द (स्वतन्त्र) है । वह योगी 'स्वच्छन्द' पर ध्यान करता है । वह 'स्वच्छन्द' के साथ योग के द्वारा ऐकात्म्य प्राप्त कर लेता है और 'स्वच्छन्द' की भाँति जीवन व्यतीत करने लगता है । वह स्वच्छन्द बनकर **स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर, निरावलम्ब एवं निर्बन्ध जीवन जीने लगता है** ।[१] यही 'प्रत्यभिज्ञा' (Cognition) है और यही 'आत्मज्ञान' है । 'आत्मा का ज्ञान होना चाहिए'—इसका अर्थ यह है कि **आत्मा शिव के साथ अभिन्न है** ।[२]

पूर्वोक्त मन्त्रात्मा ध्येय का यही ध्याता के चित्त में उदय है । जो साधक या ध्याता मन्त्रात्मा से एकत्व चाहता है, उसकी यही तदात्मता अथवा ध्येयस्वरूपापत्ति है । **'विश्वसंहिता'** में कहा गया है—'जब चित्त ध्येय में लीन हो जाता है तब उसे 'ध्यान' कहते हैं । इसमें ध्येय प्रत्यक्ष हो जाता है और ध्याता तन्मय हो जाता है ।'—

'ध्येये चित्तं यदा लीनं तदा ध्यानमुदाहृतम् ।
ध्येयः प्रत्यक्षतां याति ध्याता तन्मयतां व्रजेत् ॥
ऋच्छतस्त्विति पाठाद्वा ध्येयं चिन्तयतोऽत्र या ।
तदात्मतासमापत्तिरैक्यं तस्योदयः स तु ॥'

(मूल श्लोक में 'इच्छतः' के स्थान में 'ऋच्छतः' पाठ भी माना जाता है ।) उसका अभिप्राय यह है कि ध्येय का चिन्तन करते करते जो उसके साथ तदात्मतापत्ति है अर्थात् एकता है, वही उसका उदय है । ग्रन्थकर्ता 'इच्छतः' एवं 'ऋच्छतः' दोनों का आशय ठीक मानते हैं क्योंकि मन्त्रोच्चारण की इच्छा से मन्त्रदेवता के साथ जो तादात्म्य है, वह वस्तुतः संवेदन द्वारा उससे एकता ही है । मन्त्र न्यास द्वारा जीवन में देवता का आविर्भाव ही होता है ।

यह जो स्वरूप-संवेदन है, यही आत्मा की अमृतत्व की प्राप्ति है । जरा एवं मरण की परम्परा का विच्छेद होने से जो अपुनर्भवता है उसे हम 'मुक्ति' नहीं कहते । दुग्ध-समुद्र से स्वतः उद्भूत यही आत्मा का अनुग्रह है । यही **'निर्वाण-दीक्षा'** है और यही परमात्मा से मिलन है ।

'मोक्षधर्म' में कहा गया है—सभी संकल्पों का त्याग करके सत्व में चित्त को निविष्ट कर देना चाहिए । जब चित्त सत्व में विलीन हो जाता है तब काल पर विजय प्राप्त हो जाती है—

'हित्वा तु सर्वसंकल्पान् सत्वे चित्तं निवेशयेत् ।
सत्वे चित्तं यदा लीनं ततः कालञ्जयो भवेत् ॥'

यह जो स्वरूप-संवित्ति है यही आत्मा को अमृतत्त्व-प्राप्ति है । जरामरण की परम्परा का उच्छेद होने से यही अपुनर्भवता है और हम इसे ही जन्ममरण के चक्र का अभाव कहते हैं—

१-२. स्पन्दनिर्णय ।

'येयं स्वरूपसंवित्तिः साऽमृताप्तिरिहात्मनः ।
जरामरणविच्छेदादपुनर्भवता न तु ॥
दुग्धाब्ध्युद्गतस्यायमेव चात्मनोऽनुग्रहः स्वतः ॥
निर्वाण दीक्षा तच्चेयं परात्मनियोजिका ॥'

जन्ममरण की परम्परा का विच्छेद मुक्ति नहीं है यह 'आत्मा का अनुग्रह है ।'

आत्मसंबोध में भी कहा गया है कि—'स्वभाव-संवित् का ज्ञान ही मनुष्य के लिए भव से मुक्ति का हेतु होता है । एक बार का अमृतपान मृत्युग्रस्त को अमर बना देता है ।

'भवेद्भवानामभयाय नूनं स्वभाव संविद्विदितैव पुंसाम् ।
अमर्त्यतां मर्त्यजने करोति सकृत्सुधाप्राशनमात्रमेव ॥'

दीक्षा पद का क्या अर्थ है? ज्ञानसद्भाव का दान एवं अखिल मल का क्षपण । बोधानुवेध से दीक्षा देने से **'दान'** एवं **'क्ष'** से क्षपण अर्थ बोधित होता है—

ददाति ज्ञानसद्भावं क्षपयत्यखिलं मलम् ।
बोधानुवेधाद्दीक्षोक्ता दानक्षपणधर्मिणी ॥[१]

अभेदोपलब्धि नाम वाले इस **चतुर्थ निष्यन्द** के ये प्राथमिक दो श्लोक हैं । इनमें अभेदोपलब्धि के उपायों की चर्चा करते हुए कारिकाकार मन्त्र, न्यास आदि समस्त विधिसंस्कारों की सार्थकता एवं उनकी उपादेयता को रेखांकित कर रहा है । मन्त्रात्मा शिवभाव का उदय कैसे हो—इसकी ये अन्य युक्तियाँ हैं । 'ध्यानी' साधक के चित्त मन्त्रात्मा 'ध्येय' का जो आविर्भाव होता है उसे ही कारिकाकार ने 'उदय' कहा है । 'ध्यानी' साधक की मन्त्रात्मा 'ध्येय' से एकत्वापत्ति या ध्येयस्वरूपापत्ति (तदात्मता) ही साधना का लक्ष्य है ।

मन्त्र योग—तस्य = उसका 'किसी ध्याता का । स्मर्तव्य, मन्त्रवाच्य, देवता का ध्यान के विषयीभूत देव का ।

उदय = उस ध्यानालम्बन या ध्येय की प्रतिपत्ति हेतु की गई साधनाओं एवं क्रियाओं के द्वारा उस अमोघशक्ति उपास्य देवता का साकार रूप में प्रथन या आविर्भाव 'उपास्येनाकारेण प्रथनम्' ॥

किस अधिकरण में?—**ध्यायि चेतसि** = ध्याता के चित्त में । **चेतसि** = चित्त में । संकल्प में ।

कौन सा उदय?—**इच्छतः** इच्छावस्था में वर्तमान मन्त्रोच्चार करने की इच्छा रखने वाले **साधकस्य** = साधक का ॥ अभियुक्त का । **तदात्मता समापत्तिः** = वस्तु सामर्थ्यसिद्धा समापत्ति । उस ध्येय आत्मा के स्वरूप के भाव के साथ होने वाली तदात्मता के द्वारा प्रादुर्भूत समापत्ति या एकीभाव । भाव यह कि—न्यास आदि के लिए मन्त्रोच्चारण की इच्छावस्था में मन्त्रों के द्वारा रुद्ध देवताकार साधकचित्त प्रयत्नविरहित संपद्यमान अभिन्नरूपत्व ही परामर्शक्षमसंवित् वाले ध्याता के मुख्य आराध्य देवता का

१. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

प्रत्यक्षरूप दर्शन (न कि व्यतिरेकविभाव्यमाना कारता)। कारण स्पष्ट है—'शिवोभूत्वा शिवं यजेत् ॥' **तदात्मतासमापत्ति** = देवता के साथ एकीभाव। **उदयः** = आराध्यदेवता का प्रत्यक्षदर्शन।[1]

विध्यन्तरसंस्कारकत्व के प्रतिपादनार्थ अगली कारिका कही गई है जो यह है—

'इयमेवामृतप्राप्ति .... शिवसद्भावदायिनी ॥'

यह जो स्वरूप का संवेदन है यही आत्मा की अमृतत्त्व-प्राप्ति है। **इयमेव** = यही॥ अर्थात् यथा प्रतिपादित शरीरादिक विनश्वर वस्तुओं के आलम्बन से उसमें आविर्भूत अहं प्रत्ययरूप स्वप्रकाशव्यतिरिक्त वेद्यभावप्रतीति से युक्त मिथ्याज्ञान के उच्छेद से अनवच्छिन्न स्वच्छ स्वच्छन्द स्वस्वभावमात्रैकतत्त्वोपलब्धिरूप संवित् का सम्यक् ज्ञान।

अमृतप्राप्तिः = अमृत अर्थात् अविनाशी शिवात्मक आत्मा की प्राप्ति (उपलब्धि) : 'अमृतस्य अविनाशिनः शिवात्मकस्यात्मनः प्राप्तिरूपोपलब्धिः ॥' न कि—द्रव्यविशेषात्मक जड़ एवं अनित्य = अर्थानुगतामृतप्राप्ति ॥

किसी वस्तु की प्राप्ति। अर्थात् यह अमृत प्राप्ति नहीं है = पीयूषोपलब्धि अमृतत्वोलब्धि नहीं है। जड़ पीयूष को अमृत इसलिए कहते हैं क्योंकि यह कालान्तर स्थायी है 'न तु द्रव्यविशेषात्मकस्य जडस्यानित्यस्य वस्तुनः कस्यचित् प्राप्तिरमृतप्राप्तिः, सा हि जीवस्य कालान्तर स्थायिशरीरत्वकारणभावात् एतदुपचारेण एवमुच्यते ॥'[2]

अयमेवात्मनोग्रहः—यही मात्र आत्मग्रहण है—

'आत्मनो ग्रहणं कुर्याद्दीक्षाकाले गुरुर्धिया ॥'

इस प्रकार की मन्त्रोच्चारणेच्छाक्षणभाविनी जो संवित् है वही आत्मा है। उस आत्मा या जीव का ग्रहण 'आत्मनोग्रह' है। उन-उन दीक्षादिक विधि विशेषों में आत्मा की अर्थात् शिष्य से सम्बद्ध अपना ग्रहण ॥

उसके कारण तादृग्विधिसम्पदा प्राप्त करने हेतु परिकल्पित आत्मा के विशिष्ट स्वरूप की जो परमकारणभूतस्वभाभेदसमापत्ति आविर्भूत होती है वह परामृश्यमाना होने पर आत्मग्रहणात्मक विधि की संपादिका होती है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी साधन या उपाय के द्वारा उस अमूर्त आत्मतत्त्व का ग्रहण नहीं होता क्योंकि ग्रहीता एवं सर्वव्यापकसंविद्रूप परमात्मा से वह अभिन्न है।

'इयमेव निर्वाणदीक्षा'—यही निर्वाणदीक्षा भी है।

'निर्वाण' क्या है? द्वैतभाव से निर्वृति ही निर्वाण है—'निर्वाणं निर्वृतिर्द्वैत प्रत्ययात्' द्वैतप्रत्ययवाले 'क्षोभ' के परिक्षय से जो आत्यन्तिकी प्रशान्ति या संवित् स्वस्वभावव्यव-स्थिति आविर्भूत होती है वही निर्वाण है—'निर्वाणं निर्वृतिर्द्वैतप्रत्ययलक्षण क्षोभपरिक्षयात् आत्यन्तिकी प्रशान्तिः संविदः स्वस्वभावव्यवस्थितिः ॥' **'दीक्षा'**—तदर्था-दीक्षा। स्वरूपसंबोधनात्मक भेदमय बन्धक्षपण लक्षण संस्कार विशेष—'दीक्षा

१-२. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति'।

स्वरूपसंबोधदानात्मको भेदमय बन्धक्षपणलक्षणश्च संस्कार विशेषः ॥'—इस प्रकार की वह दीक्षा 'निर्वाण दीक्षा' कहलाती है ।

यही संवित्—**'शिवसद्भावदायिनी'** है । 'शिवसद्भावदायिनी'—स्वस्वभाव परमेश्वर शिव का जो सद्‌भाव (सत्ता) है । (जिसके द्वारा 'अहमेवास्मि' : 'मैं ही हूँ' का भाव जाग्रत होता है) उसकी अबाधित प्रतिपत्ति (जो कि सिद्धावस्था में आविर्भूत होती है) को देने वाली (प्रतिपादिका) । यह दीक्षा और कैसी है?—

(१) वह सुप्रबुद्ध गुरु को गोचर एक निरुत्तर संस्कार है ।

(२) वह परमशिवात्मकरूप प्राप्तिमात्र है ।

(३) वह वाह्यसाधनसाध्यविधिविशेषात्मक नहीं है । कहा भी गया है—'इयमेव सा मिथ्याज्ञानशून्यस्य' ।[१]

तदात्मतासमापत्ति : योगी का देव-तादात्म्य मन्त्रदेवता और चित्त—

आत्म चैतन्य का अविराम अनुसंधान करते रहने पर योगी का संकल्प, उसकी उत्कण्ठा, उसकी भावात्मक तीव्रता इतनी प्रबल हो जाती है कि मन्त्रोच्चारण करने के क्षण ही उसका चित्त ध्येय देवता के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है । उसकी यह तीव्र एकाग्रता ही उसे शिवत्व प्रदान कर देती है ।

भट्टकल्लट कहते हैं—'तत्संवेदनद्वारेण यः तदात्मग्रहो मन्त्रन्यासात्मकः स एवोदयः तस्य ध्येयस्य मन्त्रात्मनः साधकचेतसि, तादात्म्यं तत्स्वभावत्वप्राप्तिः मन्त्रदेवतया सह साधकस्य मन्त्रोच्चारणेच्छया संपादिता ॥'

'तदात्मतासमापत्ति'—शिवत्व प्रदान करने के मार्ग में 'अशुद्धि' (का०क्र० ९) तथा 'क्षोभ' (का० क्र० ९) ही प्रधान प्रतिबन्धक (प्रतियोगी) तत्त्व हैं । पुर्यष्टक देह, प्राण, मन आदि की भूमिका नगण्य है (यदि 'अशुद्धि' एवं 'क्षोभ' का अभाव हो जाय)। इन अशुद्धियों में भी **'कार्ममल'** सर्वाधिक प्रतियोगी (विपरीतगामी) तत्त्व है । **उत्पलदेवाचार्य** कहते है—

'देवादीनां च सर्वेषां, भविनां त्रिविधं मलम् ।
तत्रापि कार्ममेवैकं, मुख्यं संसारकारणम् ॥'[२]

इस 'स्पन्दसूत्र' में यह कहा गया है कि—

(१) देवता का साक्षात्कार 'ध्याता' को होता है अर्थात् देव-साक्षात्कार के लिए 'ध्यान' प्रमुख तत्त्व है अतः 'देवोदय' के लिए प्रथमतः ध्यान-साधना आवश्यक है ।

(२) किसी भी ध्यानयोगी को अपने इष्टदेवता का प्रथम साक्षात्कार केवल उसके ध्यानप्रवण चित्त में ही होता है । योगसूत्र में कहा गया है ऐसे साक्षात्कार 'मूर्धा' की 'ज्योति' में हुआ करते हैं—'मूर्ध्नि ज्योतिषि' ॥

(३) यह साक्षात्कार 'संवेदन' (**भट्टकल्लट** के मत में) एवं 'ध्यान' (कारिकाकार

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' । २. प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेव ।

के मत में) के द्वारा होता है । निष्कर्ष यह कि वह संवेदन जो कि ध्याता को 'ध्यान' तक पहुँचा दे उसी **ध्यानलीन संवेदन** के द्वारा देव-साक्षात्कार होता है ।

(४) देव साक्षात्कार (देवता का उदय) कहते किसे हैं? क्या एकाग्रता की अवस्था में अपने चित्त-कल्पित देवाकार का क्षणिक अवभास या झलक ही देव साक्षात्कार है?—नहीं । इसीलिए कारिकाकार का कथन है कि कल्पनाप्रसूत आकार का साक्षात्कार देव-दर्शन नहीं है प्रत्युत् देव दर्शन तो वह है जिसमें निम्न लक्षण हों—

(१) ध्यानयोगी के चित्त में ध्यान का विषयीभूत ('ध्येय') देवता ही दिखाई दे अन्य आकार नहीं । कभी-कभी चित्त की एकाग्रता में जिसका ध्यान न किया जाय उसका दर्शन देव-साक्षात्कार की कोटि में नहीं आता क्योंकि संभव है कि वे विघ्न हो—चित्त विकृति के परिणाम हो या निर्बल चित्त की कल्पना हों ।

(२) इस ध्यान की स्थिति में ध्याता साधक की ध्येयाकाराकारिताचित्तवृत्ति भी हो । इसे ही **'तदात्मता समापत्ति'** कहा गया है । यह कल्लट ने इसे **'तत्स्वभावत्वप्राप्ति'** कहा है ।

(३) कारिकाकार का कथन है कि यह 'तदात्मतासमापत्ति' साधक द्वारा इच्छा करते ही प्राप्त हो जाती है । **भट्टकल्लट** का कथन है कि इच्छा सामान्य इच्छा नहीं प्रत्युत् यह वह इच्छा जो कि मन्त्रप्राणात्मिका हो—'**मन्त्रात्मनः** साधक चेतसि तादात्म्यं तत्स्वभावत्वप्राप्तिः मन्त्रदेवतया सह साधकस्य मन्त्रोच्चारणेच्छया संपादिता ॥'

ध्येय का उदय—(क) साधक 'मन्त्रात्मा' हो (ख) जो मन्त्र जपा जाय उसी देवता का ध्यान किया जाय तथा जिस देवता का ध्यान किया जाय उसी का 'मन्त्र' जपा जाय—**मन्त्रदेवतया सह** । **'मन्त्रोच्चारणेन'** । उसी मन्त्र की एवं उस मन्त्र के देवता के दार्शन की इच्छा करते हुए तदात्मक मन्त्र जपा जाय—'मन्त्रोच्चारणेच्छया' । ऐसा न हो कि 'मन्त्र' किसी अन्य 'देवता' का हो । **ध्यान** किसी अन्य देवता का हो तथा 'इच्छा' कही अन्यत्र टिकी हो । यदि ऐसा हुआ तो ऐसी स्थिति में भी 'देवोदय' संभव नहीं है । योगसूत्र में भी कहा गया है—'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (यो०सू०) ।

(४) प्रश्न उठता है कि यदि 'ध्याता' ध्येय के 'मन्त्र' का ही जप भी कर रहा हो, उसी का 'ध्यान' भी कर रहा हो तथा उसी ध्येय के दर्शन की 'इच्छा' भी कर रहा हो तो क्या इस स्थिति को या इस स्थिति में होने वाले विकल्पात्मिका अनुभूतियों को 'देवोदय' (देवसाक्षात्कार) कहेंगे?

तदात्मता समापत्ति—कारिकाकार कहते हैं कि यह भी देवोदय नहीं है । देवोदय (देव दर्शन, देवसाक्षात्कार) अपने अहं को मिटा देने में है—अस्मिता का ध्येय में लय कर देने में है—ध्याता-ध्यान-ध्येय की त्रिपुटी के एकाकार करने या होने में है । इसीलिए कारिकाकार का कथन है कि देवदर्शन 'तदात्मता समापत्ति' है—'तत्स्वभावत्वप्राप्ति' (भट्ट कल्लट) है ।

ध्याता योगी के चित्त में ध्येय (इष्ट देवता) का साक्षात्कार, (इच्छा के उदित होते

ही तत्काल) उस देवता के साथ होने वाले तादात्म्य को कहते हैं । 'संवेदन' के माध्यम से मन्त्रमूर्ति (ध्येय देवता) का मन्त्रात्मक या न्यासपरक (मन्त्र-जप या न्यास-क्रिया) पद्धति से अपनी आत्मा के रूप में ग्रहण (तद्रूपता, तादात्म्यभाव) हो जाता है । (देवता का साधक के द्वारा) उसी आत्मस्वरूप देवता की अपने से अभिन्नतया ग्रहण (आत्मस्वरूप में ग्रहण) देवता के साथ तादात्म्यभाव—साधक के चित्त में 'देवता का उदय' कहलाता है । यह तादात्म्य यह सूचित करता है कि ध्याता साधक ने उस देवता के स्वभाव को प्राप्त कर लिया है—('तादात्म्यं तत्स्वभावप्राप्तिः') ।

'आत्मग्रह', 'अमृतप्राप्ति' 'निर्वाण दीक्षा' एवं शिव सद्भाव'—ऐसा शाक्त-समावेश प्राप्त या शक्तिपात प्राप्त ध्याता साधक मन्त्रोच्चारण करने की इच्छा करने मात्र से ही मन्त्रदेवता के साथ उसका तादात्म्य या तत्स्वभाव प्राप्त कर लेता है । इसी स्थिति को 'अमृत प्राप्ति' एवं 'आत्मग्रह' भी कहते हैं ।

शिवत्वभाव की इस साधना के लिए अनेक आवश्यक तत्त्व हैं—यथा—(१) ध्यान (२) ध्येयाकार चित्त (३) स्वात्मसंवेदन (४) ध्येय (५) ध्येय के साक्षात्कार की इच्छा (६) तदात्मता (७) 'मन्त्रोच्चारण' (मन्त्रजप), (८) योगी के संवेदन में इतनी उदग्र तीव्रता हो कि मन्त्र का उच्चारण करते ही तत्काल चित्त मन्त्र के देवता के साथ एकाकार होकर उसे 'शिवभाव' 'अमृतत्व' 'आत्मग्रह' 'निर्वाणदीक्षा' 'शिवसद्भाव' के उच्चतम शिखर पर आरूढ़ हो जाय । 'तदा-त्मतासमापत्तिरिच्छतः साधकस्य या' (का० क्र० ३१) ।

भट्टकल्लट—'स्पन्दसर्वस्व' में कहते हैं—

'इयमेव मिथ्याज्ञानशून्यस्य साधकस्य निरावरणस्वस्वरूपसंवित्तिः अमृतत्वप्राप्तिः न तु रसास्वादरूपस्य धातुसारस्य स्थूलस्यास्वादनम् अमृतप्राप्तिरुक्ता, यैव, मन्त्रोच्चारण-मात्रेणैव मन्त्रस्वरूपावस्थिति प्राप्तिः सैवात्मनो ग्रहणमित्युक्ता । यस्मात् 'आत्मनो ग्रहणं कुर्याद्दीक्षाकाले गुरुर्धिया' इति । न न पुनर्लोष्टादिवत् हस्तेन तस्यामूर्तस्य ग्रहणं भवति, अतएव चेयमेव सा निर्वाणदीक्षा शिवसद्भावयायिनी, परमशिवस्वरूपाभि-व्यञ्जिका ॥ ३२ ॥'

अयमेव = यही । **उदय** = आमसंवेदन के द्वारा जो 'तदात्मग्रह' है, मन्त्रन्यासा-त्मक (मन्त्रात्मक + न्यासात्मक = मन्त्र जप + न्यासविधान) आत्मग्रह है वही 'उदय' है ।

उत्पलदेवाचार्य—'अयमेव तस्य पूर्वोक्तस्य ध्येयस्य मन्त्रात्मनो ध्यायिचेतस्यु-दयः ॥' (ध्याता के चित्त में उदय) ।

समापत्ति = एकीभाव । मन्त्रात्मतापत्ति । तदात्मतया ध्येयस्वरूपापत्तिः इत्यर्थः ॥

विश्वसंहिता में 'ध्यान' की व्याख्या इस प्रकार की गई है । 'ध्येये चित्तं यदा लीनं तदा ध्यानमुदाहृतम्' यही है 'ध्यान' का स्वरूप । जब ध्येय में चित्त ध्येयाकार होकर लयीभूत हो जाय तो उसी अवस्था को 'ध्यान' कहा जाता है । ध्येय का प्रत्यक्षीकरण कब होता है? ध्याता को प्रत्यक्षीकरण (देवदर्शन) तभी प्राप्त हो पाता है जब ध्याता

ध्येय के साथ तन्मय हो जाय—'ध्येयः प्रत्यक्षतां याति ध्याता तन्मयतां व्रजेत् ॥' कैसे साक्षात्कार हो पाता है?

(१) ऋच्छतस्त्विति (२) पाठाद्वा (३) चिन्तयतोऽत्र या फिर इससे होती है—तदात्मतासमापत्तिरैक्यं तस्योदयः स तु ॥' मन्त्र देवता के साथ जो तादात्म्य प्राप्त होता है और जो कि अन्तः संवेदन के द्वारा आत्मग्रह का कारण बनता है उस मन्त्रन्यासात्मक आत्मग्रह का आविर्भाव ही 'उदय' है। (उत्पलदेवाचार्य)।

रामकण्ठ की व्याख्या—तस्य = उसके। उस। किसी। **ध्येय** = उन उन आकारों के द्वारा स्मर्तव्य, मन्त्र-वाच्य देवता विशेष ॥

उदयः = उस-उस अर्थ क्रिया के संपादक अमोघ शक्ति के द्वारा उन-उन उपास्यों का आकारात्मक प्रथन। **इच्छतः** = इच्छा करने वाले का। इच्छावस्था में स्थित मन्त्रजप की इच्छा करने वाले का। **समापत्तिः** = एकीभाव। **'तदात्मता'** ध्येय की जो आत्मा है (उसका स्वस्वरूप है) उसका भाव ही 'तदात्मता'। उसके द्वारा प्राप्त 'समापत्ति' (एकीभाव)।

न्यासादिक के अभिप्राय से मन्त्रोच्चारणावस्था में मन्त्ररुद्ध देवाकार में साधक के चित्त में बिना प्रयत्न के संपद्यमान अभिन्न रूपत्व है वही है परामर्श करने में संक्षम संवित्ति वाले ध्याता का (मुख्याराध्य देवता का) प्रत्यक्ष देव दर्शन स्वरूप 'उदय' ॥ यही है शिवरूपतापत्ति ॥

रामकण्ठाचार्य कहते हैं कि—**इयमेव** = यही। यथाप्रतिपादित शरीरादिक विनश्वर वस्तु में अहं प्रत्यय का आलम्बन ग्रहण करने वाले स्वप्रकाश व्यतिरिक्त वेद्यभाव प्रतीति युक्त मिथ्या ज्ञान के उच्छेद के द्वारा अनवच्छिन्न-स्वच्छ-स्वच्छन्द स्वभावमात्रैक तत्त्वोपलब्धिरूपा संवित् (सम्यक् ज्ञान) ही 'अमृत प्राप्ति' है—'अमृत' का अर्थ है अविनाशी शिवात्मक आत्मा 'प्राप्ति' = उपलब्धि।

अमृतप्राप्ति—अविनाशीशिवात्मक आत्मा की प्राप्ति न कि जड़ अमृत की प्राप्ति ॥ ('न तु द्रव्यविशेषात्मकस्य') जड़, अनित्य एवं सामुद्र अमृत को यहाँ अमृत नहीं कहा गया है। **आत्मग्रह** = इस प्रकार के मन्त्रोच्चारण के काल में क्षणभाविनी जो संवित् तत्त्व रूप आत्मा है। उसका ग्रहण = **आत्मग्रह** ॥ या दीक्षा के समय गुरु द्वारा शिष्य की आत्मा का ग्रहण = आत्म ग्रह ॥

निर्वाण दीक्षा = द्वैतप्रत्यय से निर्वृत्ति ही 'निर्वाण' है। यह निर्वाण है क्या? **रामकण्ठाचार्य** कहते हैं—यह द्वैत प्रत्यय के परिक्षय से प्राप्त आत्यन्तिकी प्रशान्ति है। यह संवित्तत्त्व के स्वस्वभाव की व्यवस्थिति है।

'दीक्षा' क्या है? 'स्वरूप संबोधदानात्मक भेदमय बन्धक्षपणलक्षण वाला संस्कारविशेष दीक्षा है—'दीक्षा स्वरूपसंबोधदानात्मको भेदमयबन्धक्षपणलक्षणसंस्कार-विशेषः'।

शिवसद्भावदायिनी = स्वस्वभावात्मक शिव (परमात्मा) का जो सद्भाव (सत्ता)

है वही है शिवसद्भाव । इसके द्वारा 'अहमेवास्मि' (मैं ही हूँ)—इस अबाधित प्रतिपत्ति का अनुभव सिद्धावस्था में हुआ करता है । इस अनुभव को प्रदान करने वाली—'शिव सद्भावदायिनी' ।

यह एक निरुत्तर संस्कार है और यह सुप्रबुद्ध गुरुओं को ही अनुभूत होता है अन्य को नहीं । यह क्या है? यह है परमशिवात्मकस्वरूप की प्राप्ति । यह कोई बाह्य साधनों से साध्य विधिविशेषात्मक विधि नहीं है ।

'दीक्षा के समय गुरु शिष्य की आत्मा को ग्रहण करें' 'आत्मनो ग्रहणं कुर्याद्दीक्षा-काले गुरुर्धिया'—ऐसा शास्त्रों में कहा गया है । अतः सुस्पष्ट है कि दीक्षावसर पर गुरु शिष्य की आत्मा का ग्रहण करते हैं ।

भट्टकल्लट की व्याख्या का सारांश—'इयमेव .... ग्रहः ॥

(१) यही वह मिथ्याज्ञानशून्य साधक की निरावरणस्वस्वरूप संवित्त । यह किसी भौतिक पदार्थ (धातुसार से निर्मित स्थूल वस्तु) का रसास्वाद नहीं है और न तो इसकी प्राप्ति अमृतत्व प्राप्ति ही है ।

'पारद' रस कहलाता है । 'रस' से निर्मित औषधियाँ चिरञ्जीवत्व प्रदान करती हैं और शक्तिदायिनी होती हैं किन्तु उन्हें तथा सामुद्र पीयूष को अमृत नहीं कहा गया है ।

'आत्मग्रह' आत्मा की अनुभूति है । यह तब होती है जब मन्त्र के उच्चारण से मन्त्रस्वरूप में अवस्थिति होती है—अर्थात् मन्त्र-देवता के साथ स्वरूपसाक्षात्कार की स्थिति प्राप्त होती है । अन्तर्विमर्श की स्थिति में शिष्य को प्रदत्त मन्त्र की देवता के स्वरूप में अवस्थान ही 'आत्मग्रह' है ।

(२) आकारशून्य आत्मा को मिट्टी के ढोंके या किसी अन्य स्थूल पदार्थ की भाँति हाथ से पकड़ा नहीं जाता । इस कारण यह आत्मानुभूति ही **'निर्वाण दीक्षा'** होती है । यह साधक के भीतर अनुत्तर शिवभाव को अभिव्यक्त कर देती है ।

इच्छतः = इच्छया ॥ **भट्टकल्लट** ने 'इच्छतः' का अर्थ इच्छा ही किया है । प्रश्न है कैसी इच्छा?

(१) 'परा' गता इच्छा = सूक्ष्मतम आत्मस्पर्श = आन्तरिक विमर्श से संबद्ध अव्यक्त ध्वनि ॥

(२) पश्यन्ती गता इच्छा = सूक्ष्मतर आत्मस्पर्श = अव्यक्त ॥

(३) मध्यमा गता इच्छा = सूक्ष्म आत्मस्पर्श = अव्यक्त ध्वनिरूपा ॥

(४) वैखरी गता इच्छा = स्थूल आत्मस्पर्श = व्यक्त ध्वनिरूपा ॥

स्थूल शब्दोच्चारण की स्थितियाँ—(१) आन्तर्विमशात्मिका, अव्यक्त नाद से सम्बद्ध ॥ अन्तर्मुख । (२) अव्यक्तानुगामिनी व्यक्तध्वनिमयी, वैखरीमयी ॥ बहिर्मुख

इच्छतः पद में (मन्त्रोच्चारण के संदर्भ में) विमर्शात्मिका अव्यक्त इच्छा ॥ ('शाक्तोपाय' वाले साधकों के सभी कार्य विमर्शात्मक होते हैं ।)

वैखरीवाक् आणव उपाय से सम्बद्ध है । इस स्तर पर मन्त्र साधकों का (निम्न-स्तरीय साधकों का) मन्त्रोच्चारण वैखरीवाक् के स्तर पर स्थूल वर्णों द्वारा स्थूल पद्धति से किया जाता है और उच्चारित ध्वनि एवं मन्त्र व्यक्त होते हैं न कि अव्यक्त ।।

मन्त्रों का विमर्शात्मक उच्चारण इतना शक्तिसम्पन्न होता है कि साधक का चित्त एवं परप्रकाशात्मक 'बिन्दु' ('यथा शरो धनुः संस्थो यत्नेनाताड्य धावति । तथा बिन्दुर्वरारोहे उच्चारेणैव धावति ।) की तीव्रता धनुष से चलाए गए शर की भाँति होती है ।

भट्टकल्लट ने जिस 'संवेदन' का उल्लेख किया है उसका स्वरूप क्या है? यहाँ उस 'संवेदन' का उल्लेख किया गया है जिसमें कि विकल्पों को संस्कारित करने से योगी की एकाग्रता इतनी तीव्र हो जाती है कि वह इन्द्रियों के द्वारों से बाह्योन्मुख होती हुई संवित् तत्त्व के प्रवाह को अलंग्रास द्वारा हृदय के अन्तरतम् में संकेन्द्रित कर लिया जाता है । इस अवस्था में मन्त्र-विमर्श के बाद तत्काल ही मन्त्रदेवता के साथ चित्त का तादात्म्य (एकीभाव) हो जाता है । इस साक्षात्कार को संवेदनात्मक इसलिए कहा जाता है क्योंकि देवता अपने यथार्थ स्वस्वरूप से पृथक् कोई शारीरिक सत्ता नहीं है । यह भूमिका शाक्तोपाय के उस उच्च स्तर पर स्थित है जिसमें परमेश्वर का तीव्र शक्तिपात होता है । ऐसे सिद्ध योगियों का आध्यात्मिक स्तर इस प्रकार का होता है—

(१) अस्मिंश्च यागे विश्रान्तिं कुर्वतां भवाडम्बरः ।
हिमानीव महाग्रीष्मे स्वयमेव विलीयते ।।

(२) केतकी कुसुम सौरभे भृशं भृंग एवं रसिको न मक्षिका ।
भैरवीय परमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेशचोदितः ।।

अर्थात् यथा ग्रीष्मर्तु में हिमसन्तति स्वयं गल जाती है उसी प्रकार योगी के लिए संसार एक व्यर्थाडम्बर है । केतकी सुमन के परिमल का प्रेमी भौंरा ही होता है न कि मक्षिका । इसी प्रकार भैरवीय अभेद भूमिका के प्रति किसी विरले योगी की ही उत्कण्ठा होती है न कि सामान्य व्यक्ति की ।। **'निर्वाण दीक्षा'** में 'दीक्षा' का क्या अर्थ है? 'कुलार्णवतन्त्र' में कहा गया है—

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते कर्म वासनाः ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।। (तं० वि०: क्षेमराज)

'दीक्षा' के अनेक प्रकार हैं यथा (१) 'हौत्री' (२) 'वैधी' (३) 'कलावती' (४) 'स्पार्शी' आदि ।

मन्त्र के देवता और चित्त का सम्बन्ध—ध्येय देवता का ध्याता साधक के चित्त में 'उदय'—देव साक्षात्कार ध्याता योगी के चित्त में ध्येय (ध्यानालम्बन देवता) का प्रत्यक्ष साक्षात्कार होना इसे ही कहते हैं कि उसके चित्त में इच्छा (देव-साक्षात्कार की इच्छा) होते ही (साधक की) देवता के साथ उसका तादात्म्य प्राप्त हो जाय ।।

भट्टकल्लट कहते हैं—संवेदन के माध्यम से जो उस ध्येय (मन्त्रस्वरूप या मन्त्र-

ध्येय परमात्मा) का आत्म रूप से ग्रहण हो जाता है—तादात्म्य प्राप्त हो जाता है उसी को साधक के चित्त में उस देवता का उदय (देव साक्षात्कार) कहा जाता है।

तादात्म्यप्राप्ति या भगवत्प्राप्ति—'तादात्म्य' शब्द का अर्थ है—उसके स्वभावत्व की प्राप्ति अर्थात् साधक द्वारा अपने लक्ष्यभूत इष्टदेवता के स्वभाव का अधिगम ॥ मन्त्रयोगी मन्त्रोच्चारण करने की इच्छा मात्र से मन्त्र के देवता के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है—

'तत्संवेदनद्वारेण यः तदात्मग्रहो मन्त्रन्यासात्मकः स एवोदयः तस्य ध्येयेस्य मन्त्रात्मनः साधकचेतसि, तादात्म्यं तत्स्वभावत्वप्राप्तिः मन्त्रदेवतया सह साधकस्य मन्त्रोच्चारणरूपेच्छया संपादिताः ॥'[१]

अमृतप्राप्ति—साधक के द्वारा **देवता के स्वभाव की प्राप्ति ही–'अमृतप्राप्ति' है**। इसे ही आत्मा का ग्रहण ('आत्मग्रह') भी कहते हैं यही **'निर्वाणदीक्षा'** है। यही साधक को शिवभाव प्राप्त करा देती है।

भट्टकल्लट का कथन है कि निर्मल स्वात्मसंवेदन ही अमृतत्व (अक्षय शिवभाव) प्राप्त कराना है। धातुओं के संमिश्रण (यथा स्वर्णभस्म, ताम्र भस्म, रजत भस्म) से संरचित, शारीर धातुओं के पुष्टिवर्धक एवं स्वादिष्ट रस का आस्वाद ग्रहण ही अमृतत्व की प्राप्ति नहीं है। आध्यात्मिक साधना के पंथ में आत्मग्रह (आत्मानुभूति) उस स्थिति की संज्ञा है जिसमें मन्त्र का उच्चारण करने से ही मन्त्रस्वरूप में अवस्थान—मन्त्र के देवता के साथ तद्रूपता स्वरूप-तादात्म्य प्राप्त होती है। इसीलिए यह कहा गया है कि—'दीक्षावसर पर गुरु आत्मा का ग्रहण करें।

निराकार आत्मा को मिट्टी के ढेले या किसी स्थूल पदार्थ की भाँति नहीं पकड़ा जा सकता अतः यह आत्मानुभव निर्वाणदीक्षा ही है जो अनुत्तर शिवभाव अभिव्यक्त करता है।

भट्टकल्लट अपने शब्दों में कहते हैं—'इयमेव सा मिथ्याज्ञानशून्यस्य साधकस्य निरावरणस्वरूपसंवित्तिः अमृतत्वप्राप्तिः न तु रसास्वादरूपस्य धातुसारस्य स्थूलस्यास्वादनम् अमृतप्राप्तिरुक्ता, यैव मन्त्रोच्चारणामात्रेणैव मन्त्रस्वरूपावस्थिति प्राप्तिः सैवात्मनो ग्रहणमित्युक्ता। यस्मात् 'आत्मनो ग्रहणं कुर्याद्दीक्षाकाले गुरुर्धिया' इति ॥ न पुनर्लोष्टादिवत् हस्तेन्तस्यामूर्तस्य ग्रहणं भवति, अत एव चेयमेव सा निर्वाणदीक्षा शिवसद्भावदायिनी, परमशिवस्वरूपाभिव्यंजिका ॥'[२]

१-२. स्पन्दसर्वस्व।

[६] तृतीयो निष्यन्दः
विभूतिस्पन्दनिष्यन्दः

विभूतियाँ और स्पन्द— **भट्टकल्लट** की 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में अन्तिम निष्यन्द 'विभूति स्पन्द' के नाम से है। दो निष्यन्दों (**रामकण्ठाचार्य** की 'विवृति' में अनेक निष्यन्दों) में सामान्य स्पन्द तत्त्व के स्वरूप का और उसमें समाविष्ट सुप्रबुद्ध प्रमातृभाव में अवस्थित होने की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। 'विभूतिस्पन्द' में शाक्त भूमिका की अनुभूति प्राप्त करने पर योगी में अनेक सिद्धियाँ आविर्भूत हो जाती हैं। ये 'मितसिद्धियाँ, एवं 'अमितसिद्धियाँ' कहलाती हैं।

'अमितसिद्धियाँ' उत्कृष्ट योगियों में होती हैं और सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञातृत्व, सर्वव्यापकत्व, अमित तुष्टि आदि के स्वरूप वाली हैं। तीव्र आत्म शक्ति से सांसारिक आसक्तियों का त्याग करके योगी 'चक्रेश्वर' पद प्राप्त करता है—

'यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ (स्पन्द का० ५१)

'नो निश्चयः पशुजनस्य जडोस्मि कर्म संपाशितोऽस्मि मलिनोस्मि परेरितोऽस्मि।
इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्ध्या सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ॥

'विभूतिस्पन्द' में सर्वप्रथम दिदृक्षानुरूप, यथेच्छित—(तं०सा०आ० ४) पदार्थों के साक्षात्कार हेतु 'सोमसूर्योदय' के विधान तथा 'स्वप्न स्वातन्त्र्य' का उल्लेख किया गया है। तदुपरान्त स्वरूपाश्रयस्वरूप स्वबलाश्रय प्राप्त करके त्रिकाल-दर्शित्व की सिद्धि का विवेचन किया गया है। बुमुक्षा-निवृत्ति सार्वत्रिक **सर्वज्ञता, 'बिन्दु' 'नाद' 'रूप'** एवं **'रस'** की सिद्धि, दिदृक्षामात्र से समस्त पदार्थों का साक्षात्कार, कला-समूहों के द्वारा अप्रभावित (अपीड़ित) रहने, क्रियात्मिका शक्ति को शिवमार्ग पर आरूढ़ करने से अनेक सिद्धियों की प्राप्ति—'ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका' (४८) का वर्णन तो किया ही गया है साथ ही इसमें—अज्ञानोत्पन्न **'ग्लानि'** के द्वारा धातु, बल आदि के क्षय, पशुत्व की प्राप्ति, परामृतरस से वंचित होने, अस्वतन्त्रता की प्राप्ति, आत्मस्वरूप पर आवरण, बन्धन ('सेयं क्रियात्मिकाशक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी बन्धयित्री स्वमार्गस्था') पुर्यष्टक के पाश द्वारा बन्धकत्व आदि का भी विवेचन किया गया है।

पातञ्जल योगसूत्र का अध्यायीकरण—(१) 'समाधिपाद' (२) 'साधनपाद' एवं 'विभूतिपाद' के नाम से किया गया है। किन्तु इसमें (योगसूत्र) में अन्तिम 'पाद' 'कैवल्यपाद' हैं जब कि स्पन्दकारिका में अन्तिम 'निष्यन्द' विभूति निष्यन्द' है।

योगशास्त्र में 'कैवल्य' को विभूतियों से उच्चतर मानकर इसको अन्त में रक्खा

गया है और विभूतियों के समानार्थक नहीं माना गया है । 'स्पन्दशास्त्र' में मितसिद्धियों को तो हेय माना गया है किन्तु अमित सिद्धियों को हेय न मानकर (कैवल्य के समतुल्य मानकर) 'विभूति' एवं 'कैवल्य' दोनों अध्यायों को अंतिम अध्याय के रूप में एकीकृत करके रक्खा गया है ।

विभूतियाँ और योगसूत्र—योगसूत्र के विभूतिपाद में—'प्रज्ञालोक' (सूत्र ५), अतीतानागत ज्ञान (सूत्र १६), संपूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान (सूत्र १७), पूर्वजन्मों का ज्ञान (सूत्र १८), परचित्त का ज्ञान (सूत्र १९), अन्तर्धान (सूत्र २१), मृत्यु का पूर्व ज्ञान (सूत्र २२), दूरदेश स्थित पदार्थों का ज्ञान (सूत्र २५), समस्त लोकों का ज्ञान (सूत्र २६), समस्त ताराव्यूह का ज्ञान (सूत्र २७), ताराओं की गति का ज्ञान (सूत्र २८), शरीर व्यूह का ज्ञान (सूत्र २९), क्षुत्पिपासानिवृत्ति की क्षमता (सूत्र ३०), स्थैर्य (सूत्र ३१), सिद्धों के दर्शन (सूत्र ३२), समस्त बातों का (प्रातिभबल से), ज्ञान (सूत्र ३३), चित्त के स्वरूप का ज्ञान (सूत्र ३४), पुरुष का ज्ञान (सूत्र ३५), श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद की अनुभूति (सूत्र ३६), परचित्त का ज्ञान एवं परशरीरावेश (सूत्र ३८), ऊर्ध्वगति (सूत्र ३९), शरीर की दिव्यता (सूत्र ४०), दिव्य श्रवण (सूत्र ४१), आकाशगमन (सूत्र ४२), महाविदेहावस्था (सूत्र ४३), पञ्चभूतों पर विजय (सूत्र ४४), अणिमादिक अष्टसिद्धियों की प्राप्ति (सूत्र ४५), शरीर सम्पदाओं की प्राप्ति (सूत्र ४६), मन सहित इन्द्रियों पर विजय (सूत्र ४७), शरीर के बिना भी विषयानुभव एवं प्रधान (प्रकृति) पर विजय (सूत्र ४८), सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व (सूत्र ४९), सिद्धियों में भी वैराग्य होने पर (दोषबीजक्षय द्वारा), कैवल्य विवेक ज्ञान (सूत्र ५२), विवेकज ज्ञान (सूत्र ५४), बुद्धि-पुरुष दोनों की समशुद्धि से 'कैवल्य' (सूत्र ५५) आदि सिद्धियों का सविस्तार विवेचन किया गया है किन्तु स्पन्दशास्त्र में विभूतियों का अत्यल्प विवेचन किया गया है ।

योगियों की यथाकांक्षित अभीष्टों की तत्काल सिद्धि—

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रत्यर्थान् हृदि स्थितान् ।
सोम-सूर्योदयं कृत्वा सम्पादयति देहिनः ॥ ३३ ॥
तथा स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थान् प्रणयस्यानतिक्रमात् ।
नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितवद् यं प्रकाशयेत् ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार आत्मस्वभाव स्रष्टा (धाता) योगियों के द्वारा दिदृक्षा रूपा अभ्यर्थना किये जाने पर उनके सोम-सूर्य (दोनों नेत्रों) में तीव्र अवधानात्मक शक्ति को उदित करके उनके हृदय में स्थित अभीष्ट पदार्थों को जाग्रत अवस्था में ही प्रकाशित (उदित) कर देता है उसी प्रकार वह (योगियों की) सुषुम्णा नाड़ी में सतत स्थित रहने के कारण (योगियों के) प्रणय का अतिक्रमण न करने के कारण (योगियों को उनके) स्वप्न में भी उनके अभ्यर्थित पदार्थों का अतद्वय साक्षात्कार कराता है ॥ ३३-३४ ॥

*** सरोजिनी ***

स्थितान् = अभिमत अर्थों को । **सम्पादयति** = प्रकट करता है । **प्रकाशयति इच्छया** = दिदृक्षात्मिक रूप से । **अभ्यर्थित** = याचित ।

जाग्रति = जाग्रदवस्था में। **धाता** = स्रष्टाऽऽत्मस्वभाव (उत्पल)।

धाता = जो संपूर्ण विश्व को अपने भीतर धारण करता है। जो शङ्कर से अभिन्न अपने यथार्थ स्वभाव का प्रतिनिधित्व करता है। **यथेच्छाभ्यर्थितो** = 'अन्तर्मुख-स्वरूपविमर्शबलेन प्रसादितो' 'धाता' = शङ्करात्मा स्वभाव। (धत्ते सर्वात्मानं इति धाता)।

जाग्रतः = जागरावस्था ॥ **अतिक्रम** = उपेक्षा करना (To overlook)।

देहिनः = प्राणी (अभिव्यक्तस्वातन्त्रस्य देहिनः देहभूमिकायां एव प्रकटीभूतः)। **जाग्रत** = परतत्त्व में जागरुक।

सोमसूर्ययोः = चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों के (ज्ञान-क्रिया नामक दोनों शक्तियों के) ॥ **सोमसूर्य** = प्राणापान।

हृदि = चित्त में। **प्रणय** = प्रार्थना।

अर्थान् = प्रयोजनों को। **मध्ये** = सौषुम्न धाम में।[१]

सम्पादयति = निष्पादित करता है। योगी के शरीर में अनुप्रविष्ट होकर परमात्मा संपादित करता है।

ज्ञान की शक्ति के द्वारा भास्यमान होकर ही कोई क्रिया क्रियाशक्ति द्वारा उन्मीलित हुआ करती है।[२] **सोमसूर्ययोः** = 'अपान-प्राणयोश्चक्षुषोश्चोदयं कृत्वा चक्षुरादिषु अव-धानेन (उत्पल)।

आत्मस्वभावरूप स्रष्टा स्वबल के आश्रय से जागृतावस्था में अपनी इच्छा से ही प्रेरित होकर हृदयस्थित अभिमत अर्थों को सोम-सूर्य (प्राणापान) को उदित करके सम्पादित करता है। कोई पदार्थ इच्छानुगामी होकर सृष्टि में अस्तित्व में श्राता है स्वतन्त्र रूप से नहीं। पदार्थ इच्छा का उल्लंघन नहीं कर सकता।[३]

जिस प्रकार धाता उत्कण्ठा पूर्वक प्रार्थित होने पर जाग्रत एवं शरीरधारी प्राणियों को हृदय में पदार्थों को, सूर्य एवं चन्द्रमा को प्रकट कराकर प्रदान करता है उसी प्रकार वह स्वप्नावस्था (Dreaming state) में भी इच्छित पदार्थों को व्यक्त करता है। परमेश्वर योगी की नित्य, अक्षय एवं प्रार्थनापूर्ण प्रवृत्ति के कारण उसके समक्ष उसके केन्द्रीय पथ (सुषुम्ना) में प्रकट होकर उसकी समस्त अभिलाषायें पूर्ण करता है। **'विज्ञानभैरव'** में भी कहा गया है।

अनागतायां निद्रायां विनष्टे बाह्यगोचरे।
सावस्था मनसा गम्या परादेवी प्रकाशयेत् ॥ (७५)
पीनां च दुर्बलां शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे।
प्रावेश्य हृदये ध्यायन् स्वप्नस्वातन्त्र्यमाप्नुयात् ॥ (५५)[४]

धाता अनाच्छादित रूप में **सौषुम्नधाम में स्थित** होकर स्वप्न में भी अभीष्ट आणव-शाक्त-शांभव समावेशो को एवं अन्य समावेशाभ्यास से रसोन्मृष्ट दर्पण के

१-४. स्पन्दनिर्णय।

जिज्ञासित पदार्थों को अवश्य प्रकट करता है । ऐसे योगियों को स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी व्यामोह नहीं होता ॥[१]

'यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतो जाग्रतोऽर्थान् हृदि स्थितान्'—नित्यात्मक स्वस्वभाव के अन्तरावलोकन (Introspection) के माध्यम से उत्कण्ठापूर्वक प्रार्थित किये जाने पर जाग्रत योगी के द्वारा या उसे जिसके प्रति उसकी अपनी यथार्थ स्वतन्त्रता ने जाग्रतावस्था में अपने को व्यक्त किया हो, जो शरीरधारी हो, या जिसके प्रति सूक्ष्म जगत् के ज्ञान ने सशरीरी अवस्था में भी अपने को अभिव्यक्त कर दिया हो, 'वह' हृदय में मूलबद्ध पदार्थों को प्रदान करता है या प्रकाश, ध्वनि आदि के ज्ञान के रूप में प्रार्थित पदार्थों को प्रदान करता है तथा बुद्धि उन्मेष प्रदान करता है तथा ज्ञान के सामान्य विघ्नों से परिचय कराता है ।[२]

'सोमसूर्योदयं कृत्वा संपादयति देहिनः'—सोम-सूर्य अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया शक्ति (Cognitive and operative energies) को प्रकट करके ।

ज्ञानशक्ति के द्वारा जिसे प्रकट किया जाता है उसे क्रियाशक्ति विकसित करती है—'ज्ञानशक्त्या भास्यमानं हि क्रियाशक्त्या उन्मील्पते' ।[३]

परमेश्वर योगी के शरीर में अनुप्रविष्ट होने के उपरान्त दक्षिण एवं वाम प्रकाशों के क्रमिक विकास के द्वारा (ध्यान द्वारा उद्बुद्ध बुद्धि के रूप में स्थित एवं क्रमशः क्रिया एवं ज्ञान का प्रतिनिधित्व करने वाले) ज्ञानों के विशिष्ट रूपों के अन्तःप्रवाहों को संपादित करता है ।

'धाता' स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है या योगी के सुषुम्णा मार्ग में अनाच्छादित (अनावृत) रूप में व्यक्त होता है । जो योगी (१) भगवत् प्रार्थनापरायण है (२) योग-निद्रारूढ़ है (३) प्रणयपरायण है—उसके प्रगाढ़ ध्यान के उपाय से उसके **सुषुम्नापथ में धाता परमेश्वर अनाच्छादितरूप से प्रकट होता है** ।[४]

वह योगी उस 'चितिशक्ति' (Power of consciousness) का ध्यान करता है जो कि विश्व का मन (विश्वोदगिरण) करने एवं विश्व को ग्रास बनाने में तत्पर है और साथ ही जो दो सृष्टि के ध्रुवों के मध्य संघर्ष या घर्षण (विसर्गारणि) के रूप में स्थित है और जो कि विश्व-वमन एवं विश्व-कवलीकरण का प्रतिनिधत्व करते हैं ।

वमन एवं ग्रासीकरण में निरत विसर्गारणि के रूप में संस्थित चिति शक्ति के परामर्श द्वारा नित्य आराधना करने पर भगत्प्रार्थना पर योगनिद्रारूढ़ योगी के सुषुम्ना पथ में धाता अनावृत रूप से स्थित होकर स्वप्न में भी अभीष्ट पदार्थों को, आणव-शाक्त-शांभव समावेश से रसोन्मृष्ट दर्पण प्रदान करता है अर्थात् समस्त जिज्ञासित अर्थों को प्रकट कर देता है ।[५]

धाता उस योगी के प्रति जिसका बुद्धि रूपी दर्पण (Intellectual mirror) विशुद्ध हो चुका है, निःसंदेह निद्रावस्था (Sleeping state) में भी आणव-शांभव—शाक्त समावेश आदि इच्छित अभीष्टार्थ प्रदान करता है ।

१-५. स्पन्दनिर्णय ।

इस योगी को स्वप्न एवं सुषुप्ति किसी भी दशा में जड़ता (Insentiency : चैतन्य-राहित्य) के वशीभूत नहीं होना पड़ता । (यहाँ 'स्वप्न' के द्वारा **'सौषुप्त'** भी उपलक्षित है ।) योगी को स्वप्न एवं सुषुप्ति में भी व्यामोह नहीं होता ।

इस उपर्युक्त प्रसंग में अभीष्टार्थ के प्रकाशन में नित्य प्रार्थनासंवलित एवं भगवतोन्मुखी प्रवृत्ति ही उपाय है । परमात्मा देवी आराधना (Divine propitiation) की उपेक्षा कभी नहीं करता । परमात्मा की प्राप्ति का साधन क्या है? अन्तर्मुख स्वरूप का परिशीलन (Devotional meditation on internal nature) अन्तःस्वभाव का भक्तिसंवलित ध्यान ॥

'परमेश्वरो हि चिदात्मा यद्यन्तर्मुखोचितसेवाक्रमेण अर्थ्यते तत्तत्संपादयत एव ॥'

(चैतन्य का स्वामी परमात्मा वे सारे अभीष्ट प्रदान करता है जो उससे माँगे जाते हैं किन्तु यह तभी देता है जब कि अन्तर्मुखी सेवा की जाय) ।

यदि योगी इस प्रकार एकाग्रचित्त नहीं है तो वह 'योगी' नाम धारण नहीं कर सकता । 'यदि पुनरेवं सावधानो न भवति तदा नास्य योगिता' । अतः योगी के लिए सावधानी अत्यावश्यक है । आचार्य उत्पलदेव इन कारिकाओं के प्रारंभ में कहते हैं—

'स्पन्दतत्त्वोदयं प्रोच्याकृत्रिमं तत् एव च ।
मन्त्रोदयं च तद्वीर्यं तद्विभूतीरथाऽऽह तु ॥'

भाव यह कि **अकृत्रिम स्पन्दतत्त्व** के उदय का वर्णन करके अब उसीसे मन्त्रोदय, उसका प्रभाव और उसकी विभूतियों का वर्णन किया जा रहा है । स्पन्दतत्त्व का उदय होने पर जाग्रतावस्था में ही निजभाव की प्राप्ति होने पर **'स्वातन्त्र्य'** प्राप्त हो जाता है । वैसा ही स्वप्न में भी होता है । इसी दृष्टि को उपबृंहित करते हुए कारिकाककार ने तैंतीसवीं एवं चौंतीसवीं कारिकायें कहीं हैं ।

ये दोनों कारिकायें 'विभूतिस्पन्द' की प्रथम एवं द्वितीय कारिकायें हैं । उत्पलदेवाचार्य कहते हैं—जैसे आत्मस्वभाव रूप स्रष्टा जाग्रत अवस्था में अपनी इच्छा से ही प्रेरित होकर हृदयदेश में स्थित अभिमत अर्थ का सम्पादन करता है । यह सम्पादन स्वबल के श्राश्रय से किया जाता है । प्रश्न उठता है यह कैसे? सोम-सूर्य, अपान एवं प्राण तथा नेत्रों को उदित करके अवधानपूर्वक इच्छित पदार्थ को ही देखता है । अभिप्राय यह है कि मनुष्य के सामने असंख्य वस्तुएँ रहती हैं—गणिका, नट, मल्ल, दर्शक आदि । उनमें से वह जिस वस्तु को देखना चाहता है उसी को देखता है क्योंकि उसी में स्वरूप का अनुप्रवेश होता है । ठीक इसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी अपने स्वभाव में स्थित रहकर हृदय में अभीष्ट पदार्थों को ही स्पष्ट करके देखता है क्योंकि आत्मसंवित् इच्छा का अतिक्रमण नहीं करती । प्राचीन कथन है—'दृढ़ अभीष्ट विषयक इच्छा को छोड़कर दूसरी वृत्ति नहीं होती ।'—'मुक्त्वा दृढामभीष्टेच्छां नाऽन्यवृत्तिर्यदा भवेत् ॥'

यह कहना चाहते हैं कि इच्छानुगामी ही पदार्थ सृष्टि में होता है, स्वतन्त्र रूप से किसी पदार्थ का उदय नहीं होता । पदार्थ इच्छा का अतिक्रमण नहीं करता ।

'रहस्यस्तोत्र' में कहा गया है कि—बुद्धि विस्मृत पदार्थ का स्मरण करके

अशेषवित आत्मा के सम्मुख रख देती है। बुद्धि जो-जो रसपूर्वक अभ्यर्थना करती है, आत्मसंवित् स्वप्न में भी उसका अतिक्रमण नहीं करती'—

'विस्मृतार्थमभियुज्यधीर्यया त्वामशेषविदमाशु शंसति।
यद्यदित्थमनयाऽर्थ्यते रसात् स्वप्न गोऽपि विलंघयिष्यति॥

एक सिद्ध ने भी कहा है—चिदाकांश में स्थित होकर जो अनुसंधान करता है वह अखण्डित ही देखता है॥'—

'चिद्व्योम्निस्थोऽनुसन्धत्ते यत्तत्पश्यत्यखण्डितम्' ज्योतिःशास्त्र में भी कहा गया है कि—

'येन येनेन्द्रियार्थेन विद्धः स्वपिति मानवः।
तस्य तस्येन्द्रियार्थस्य सुप्तः कर्माणि पश्यति॥'

अर्थात् मनुष्य जिस-जिस इन्द्रियार्थ से अनुविद्ध होकर शयन करता है। स्वप्नावस्था में उन्हीं-उन्हीं पदार्थों के कर्म देखता है।[१]

यथा देहिनो = जिस प्रकार प्राणी। **देही** = देह मात्र को ही आत्मा के रूप में मानने वाला (देहात्मप्रतिपन्न) संसारी प्राणी।

जाग्रतो = यथास्वविषयग्रहण व्यग्र इन्द्रियवृत्तिलक्षण वाली जागृतावस्था में। **हृदिस्थितान्** = आशयनिविष्ट अभीष्टों को देखने हेतु॥ **अभीष्ट** = भाव॥ **इच्छाभ्यर्थित्** = इच्छा के द्वारा अर्थात् देखने की इच्छा के द्वारा अभ्यर्थित। उस अवस्था में स्थित स्वबल के द्वारा, तादात्म्यसमापत्ति के द्वारा उस अभीष्ट संपत्ति की याचना॥ **धाता** = सर्वकर्मकर्ता, परमेश्वर या परमात्मा॥[२]

संपादयति = यथाभिप्राय प्रकाशित करता है।

क्या करके? **सोमसूर्ययोः** सूर्य-चन्द्ररूपी आँखों के।

उदयम् = अभिप्रेतार्थावधारणमात्रावधानरूपस्वरूपप्रथन॥

कृत्वा = करके (विधाय)। **तात्पर्य**—जो कोई संसारी पुरुष जिस किसी भी पदार्थ को देखने की इच्छा करता है वह उस दिदृक्षावस्था में शीघ्र ही धाता परमात्मा में अभेद (अभिन्न रूप) के साथ (उसमें) प्रवेश करता है (आविशति)॥ उसकी यह अवस्था उसकी प्रार्थना कही जाती है। वह उसके द्वारा अभ्यर्थित धाता उस मात्रा में अर्थप्रथन (अभीष्ट पदार्थ को प्रदान करना) के लिए अवधानात्मक क्रिया द्वारा नेत्रों को उदित करके — स्वरूपाभिव्यक्ति रूप उदय को संपादित करके—सन्निहित अन्य अनेक दृश्यों की दिदृक्षा के द्वारा ही अभ्यर्थित पदार्थ को प्रदर्शित करता है अन्य अनाभीष्ट पदार्थों को नहीं।

सोमसूर्ययोः = चन्द्रमा एवं सूर्य दोनों के। अर्थात् **दोनों आँखों के**। चन्द्रमा एवं सूर्य रूपी नेत्र द्वय के।

उसके द्वारा शुश्रूषाभ्यर्थित दोनों कानों को उदित करके श्रव्यान्तर के संनिधि में रहने पर भी सुश्रूषित पदार्थ को ही सुनाता है (श्रावयति)॥ इस प्रकार यहाँ समस्त इन्द्रियों को योजित करके कारिका का अर्थ स्पष्ट करना चाहिए। समस्त इन्द्रियाँ योज्य हैं।

---

१. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका'। २. रामकण्ठाचार्यः 'स्पन्दविवृति'।

भगवान् के दो नेत्र सूर्य एवं चन्द्रमा के रूप में जगत्-प्रख्यात हैं । यहाँ पर 'सोमसूर्य' शब्द को आँखों के रूप में प्रयुक्त करके कारिकाकार ने जीव को विश्वरूप परमात्मा के साथ एकीभूत दिखाकर दोनों में अभेदत्व प्रतिपादित किया है । वृत्तिकार कहते भी हैं—'चक्षुरादिष्ववधानेन' । इसी प्रकार सभी जीवों का सर्वार्थप्रथन (अभीष्ट वस्तुओं की सम्प्राप्ति) स्वेच्छा से निष्पादित हुआ करता है । वह संसारियों की इच्छा परमकारण भेदरूपा है: 'सा च इच्छावस्था संसारिण: परमकारणाभेदरूपा ।।'

स्वतन्त्र परमेश्वर ही यथेष्ट रूप में समस्त पदार्थों को प्रकाशित करता है । इस प्रकार परमात्मा की मायाशक्ति से सञ्जात देहादिव्यवच्छेद वाले (पार्थक्य, विभाग, खण्ड या पृथकता से युक्त) संसारी प्राणी परमार्थ प्राप्त नहीं कर पाते ।।

जो साधक प्रबुद्ध हैं, उक्तोपदेशाभ्यास प्रकर्ष के कषण-पाषाण पर जिनका प्रज्ञा-कृपाण निशितीकृत (धारदार किया हुआ, तीक्ष्ण किया हुआ) हो चुका है, जो सत्यात्म-संवित् हैं, जो अहंकारादिक कषायों से मुक्त हैं उनके लिए प्रत्यभिज्ञा का उपदेश नहीं दिया गया है । ऐसे सिद्ध, **'समाधियोगी'** को उपदेश की क्या आवश्यकता?

तथैव = उसी प्रकार ।। **नित्यं** = सदैव सभी ज्ञातृ-ज्ञेय संबन्ध दशाओं में । **प्रणयस्य** = इच्छावस्था में तादात्म्य प्रतिपत्तिरूपा प्रार्थना का ।। **अनतिक्रमात्** = उल्लंघन न करने से । 'प्रत्यवमर्शाविहितत्वेन अनुपेक्षणात्' ।।

स्वप्नेऽपि = स्वव्यापार से उपरत चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा मनोमात्रग्राह्य-स्वसृष्टिविषय वाली स्वप्नावस्था में ।

अभीष्टान् = इच्छित पदार्थों को, साधकाभिमत पदार्थों को ।

स्फुटतरं = स्पष्टतापूर्वक । **मध्ये स्थितो** = हृदय में सदासीन ।

अवश्यं = अवश्यमेव । नियमों के द्वारा यह धाता—**प्रकाशयति** = प्रथित करता है (प्रथयेत्) ।। प्रकाशित करता है । प्रदान करता है ।

इसका तात्पर्य निम्नांकित है—[१] जो सर्वदा, समस्त अनुभवों में, धातु सर्वेश्वर स्वस्वभावा के तल्लीनत्व लक्षण वाले प्रणय को, (स्वसामर्थ्यसिद्ध प्रार्थना को) प्रतिक्षण प्रत्यवमर्श द्वारा अवहित होने के कारण अतिक्रमित नहीं करता (नातिक्रामति) उसके लिए यह 'धाता' जागृतावस्था के समान स्वप्नावस्था में भी अपने अभिमत (अभीष्ट) पदार्थों को ही प्रकाशित करता है । उसके स्वप्न पदार्थ स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित होते हैं क्योंकि उसकी सर्वकर्तृत्वलक्षण वाली स्वशक्ति प्रतिबन्धों को उद्भावित नहीं करती क्योंकि वह अंससारी है । वह अपनी शक्ति द्वारा स्वातन्त्र्यपूर्वक यथेष्ट पदार्थों का सृजन करती है—'स्वतन्त्र: स्वशक्त्या यथेष्टं तान् सृजति' भर्तृहरि ने कहा भी है—

'प्रविभज्यात्मनात्मानं सृष्ट्वा भावान् पृथग्विधान् ।
सर्वेश्वर: सर्वशक्ति: स्वप्ने भोक्ता प्रपद्यते ।।'

अत: **स्वप्नस्वातन्त्र्य** की बात कही गई है । उसके लिए स्वप्न एवं जागरण दोनों में कोई अन्तर नहीं है—'तस्य स्वप्न जागरयोर्विशेषो नास्ति ।'

---

१. रामकण्ठाचार्य: 'स्पन्दविवृति' ।

देहाद्यहन्ताजनित अनवच्छिन्न स्वमाहात्म्य का निरोध ही **'तम'** है उसके द्वारा जो 'वरण' अर्थात् स्थगन (स्वभाव-तिरोधान) होता है उसका निर्भेद (अनन्त निज वैभवाभि-व्यक्ति के कारण विनाश) है वही उस अवस्था में आविर्भूत होता है । इसी को वृत्ति में कहा गया है—(१) 'यथा अस्य अनभिव्यक्तस्वस्वरूपस्य', (२) 'स्वप्नेऽप्यभीष्टार्थानिव पश्यति' ।

'अयमेवोदयस्तस्य' 'इयमेवामृतप्राप्ति' वाली कारिका में—संवित्तत्व की उपलब्धि हेतु उत्तम विधि संस्कारों को कारण के रूप में प्रतिपादित किया गया था किन्तु प्रस्तुत श्लोक द्वय में संसारी प्राणियों के व्यवहार-निदर्शन द्वारा सिद्ध्यन्तर कारणत्व का प्रतिपादन किया गया है ।[1]

धाता = चित् शक्ति । **देहिनः** = जिसका स्वस्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो पाया है ऐसा योगी = 'अनभिव्यक्तस्वरूप योगी' ॥ **अभ्यर्थित** = अभ्यर्थना का विषय बना हुआ । याचित । **अभ्यर्थना** = आन्तरिक इच्छा । योगी की आन्तरिक संकल्पात्मक वृत्ति । योगी की संकल्पात्मक इच्छा । इसे ही 'दिदृक्षारूपा अभ्यर्थना' भी कहा जाता है । **सोमसूर्य** = नेत्र द्वय । 'नेत्र' अन्य इन्द्रियों का भी उपलक्षक है—प्रतीक है—वाचक है । योगी जिस भी इन्द्रिय के विषयों का साक्षात्कार करना चाहता है तो धाता (स्पन्द, चिति शक्ति, आत्मा) उस-उस इन्द्रिय में विशिष्ट अवधानात्मक शक्ति को उदित कर देता है ।

कारिका ३४ में **भट्टकल्लट** ने 'स्वप्न स्वातन्त्र्य, का उल्लेख किया है । कल्लट कहते हैं कि—ऐसे योगी के 'मध्य' (सुषुम्णा) में निरन्तर, प्रतिक्षण 'हृदय' (चित् शक्ति) की अनुभूति स्पष्टतर रूप में प्राप्त होती रहती है । इसी अवस्था का नाम **'स्वप्न स्वातन्त्र्य'** है क्योंकि एक सिद्ध योगी स्वप्नावस्था में अपने समस्त 'आकांक्षित पदार्थों का साक्षात्कार कर लेता है । उसकी आकांक्षा को धाता कभी उपेक्षित नहीं कर सकता ।

सोमसूर्य तीव्रतम अवधानात्मक शक्ति का नाम है । (**कल्लट**)[2]

इस तीव्रतम अवधानात्मक शक्ति के विकास का परिणाम—नटों, मल्लों के आकर्षक प्रदर्शनों के सामने रहने पर भी आकांक्षित पदार्थों के स्वरूप में ही आवेश तथा आकर्षक से आकर्षक दृश्यों, स्थानों, पदार्थों से अप्रभावित रहने की शक्ति का आयत्तीकरण ॥ अर्थात् तीव्र एकाग्रता ।

स्वप्न स्वातन्त्र्य का अधिकारी = मध्यनाड़ी में प्राणापान का लय किए हुए सिद्ध योगी । **भट्टकल्लट** कहते हैं—

'यथास्थानाभिव्यक्तस्वरूपस्य योगिनो जाग्रदवस्थायां यथा-यथा इच्छा भवति, तथैव तस्यानेकार्थ संनिधानेऽभिमतस्यैव कस्यचिदर्थस्य दर्शनं भवति नटमल्लप्रेक्षादिषु सोम-सूर्योदयं कृत्वा चक्षुरादिष्ववधानेन ॥ ३३ ॥'—(**भट्टकल्लट**)[3]

---

१. रामकण्ठाचार्यः 'स्पन्दविवृति' ।

२. भट्टकल्लट—**'सोमसूर्य'** = ज्ञानेन्द्रियों में आकांक्षित पदार्थों के प्रति तीव्रतम अवधानात्मक शक्ति उदय = विकास । प्रकटीकरण ।

३. 'स्पन्दसर्वस्व' ।

उस योगी को जिसके स्वस्वरूप की पूर्णाभिव्यक्ति नहीं हो पाई हो उसको अपनी जाग्रत अवस्था में (अपने समक्ष अनेक पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी) अपनी इच्छा के अनुसार अपना अभिलषित विशिष्ट पदार्थ ही दृष्टिगत होता है अन्य (अपने समक्ष स्थित अन्य) पदार्थ नहीं । इसका कारण क्या है? कारण यह है कि ऐसे अवसरों पर धाता (चिदात्मा) उस योगी में सोम-सूर्य को उदित कर देता है अर्थात् उसकी ज्ञानेन्द्रियों में आकांक्षित ग्राह्य विषय के प्रति तीव्र एकाग्रता की शक्ति आविर्भूत कर देता है यथा नटों आदि के चमत्कारपूर्ण 'कार्यों में दिखाई पड़ती है ऐसी अद्भुत एकाग्रता (वृत्ति-निरोधात्मक एकाग्रदृष्टि) आविर्भूत हो जाती है ।

भाव यह है कि—जिस प्रकार प्रेक्षक अपने समक्ष स्थित अनेक वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी नटों के चमत्कार-प्रदर्शन-स्थल पर केवल चमत्कारों को ही देखता अन्य को नहीं ।

उसी प्रकार एक योगी नटों की भाँति चमत्कार प्रदर्शन करने वाली प्रकृति के द्वारा योगी के समक्ष अनेक आकर्षक, चमत्कार पूर्ण एवं मोहक पदार्थों को प्रस्तुत करने के बाद भी एक योगी सभी का त्याग करके केवल स्वाभीष्ट पदार्थों का ही प्रेक्षण, चुनाव एवं साक्षात्कार करता है ।

'तथा स्वप्नेऽपि अभीष्टार्थानेव पश्यति, प्रणस्यानतिक्रामात् इच्छाभ्यर्थनाया अनति-क्रमात् । यच्च तन्मध्ये हृदयं स्फुटतरम् अभिव्यक्तं नित्यं तदेतत् 'स्वप्नस्वातन्त्र्यम्' इत्युच्यते, अयमेव तमोवरणनिर्भेद इत्यर्थः' ॥ ३४ ॥ (**भट्टकल्लट**)[1]

प्रत्येक योगी अपनी स्वप्नावस्था में भी स्वाकांक्षित वस्तुओं को ही साक्षात्कृत करता है । चिदात्मा उसके 'प्रणय' (आभ्यन्तर आकांक्षास्वरूप अभ्यर्थना) को कभी नहीं टालती—इसीलिए ऐसा होता है । ऐसे योगी के सुषुम्णा वर्त्म में चिदात्मा, की स्फुटतर अनुभूति प्रतिक्षण विद्यमान रहती है । इसे ही **'स्वप्न स्वातन्त्र्य'** की संज्ञा दी गई है ।

प्रणय = आभ्यन्तर उत्कट आकांक्षा ॥ **स्फुटतरं** = सुस्पष्टतर । **मध्ये** = मध्यमार्ग (सुषुम्ना मार्ग) में । **स्फुटतरं** = और अधिक स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त है । यह **'स्वप्न स्वातन्त्र्य'** कहलाता है । अन्य शब्दों में इसे **'तमोवरणनिर्भेद'** कहते हैं—इस समय योगी के मानस पर **तमावरण नहीं रहता** ।

भट्टकल्लट ने इन तीन कारिकाओं में योगियों की श्रेणीत्रय की ओर भी संकेत किया है—का० (३३) में—**जाग्रतो देहिनः** का० (३४) में 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितो? का० (३५) में—**अन्यथा** शब्दों का प्रयोग करके संभवतः 'असिद्ध' 'सिद्ध' एवं 'अनावधात' (प्रमादी) तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया है । इन तीन कारिकाओं में इन योगियों की पृथक्-पृथक् संकल्प शक्ति का भी प्रस्तुतीकरण किया गया है । **देहिनः** का अर्थ है—'अनभिव्यक्तस्वरूप योगी' (कल्लट) है । (ये 'अपरिपक्व' 'असिद्ध' योगी हैं । 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये स्थितः' की व्याख्या—'यच्च तन्मध्ये हृदय' 'स्फुटतरम् अभिव्यक्त

---

१. 'स्पन्दसर्वस्व' ।

नित्यम्' (कल्लट) है । **निष्कर्ष**—सुषुम्णा में 'हृदय' (स्वरूपभूत स्पन्द) की अनुभूति सुस्पष्ट होती है ।[१]

'देहिन' का अर्थ देहाभिमानी सांसारिक प्राणी नहीं है क्योंकि **भट्टकल्लट** ने अपनी 'वृत्ति' में कहा है कि वे **'योगी'** हैं किन्तु वे योगी हैं जो सांसारिक प्रपंच (मायिक बन्धनों) में मग्न होकर बन्धनग्रस्त हो गए हैं किन्तु वे साधनारत भी हैं किन्तु उनका स्वस्वरूप अभिव्यक्त नहीं हो पाया है—'अनभिव्यक्तस्वस्वरूपस्य, योगिनो' जिस प्रकार आत्मस्वभावरूप स्रष्टा जाग्रत अवस्था में अपनी इच्छा से प्रेरित होकर हृद्देशस्थ अभिमत को स्वबल के आश्रय से सोम सूर्य (प्राणापान) एवं नेत्रों को उदित करके अवधानपूर्वक सम्पादित करता है उसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी अपने स्वभाव में स्थित रहकर हृदय में अभीष्ट पदार्थों को ही देखता है क्योंकि आत्म संवित् इच्छा का अतिक्रम नहीं करता । मनुष्य के सामने असंख्य वस्तुओं के वर्तमान रहने पर भी मनुष्य जिसे देखना चाहता है उसी को देखता है क्योंकि उसी में स्वरूपानुप्रवेश हुआ करता है । पदार्थ कभी भी इच्छा का अतिक्रमण नहीं कर सकता । 'बुद्धि जो जो रसपूर्वक (सतृष्ण होकर) अभ्यर्थना करती है आत्म उसे उसके समक्ष प्रस्तुत कर देती है । मानव जिस-जिस इन्द्रियार्थ से अनुविद्ध होकर शयन करता है स्वप्नावस्था में उन्हीं उन्हीं पदार्थों को देखता है ।

स्पन्दतत्त्व का उदय होने पर जाग्रत अवस्था में ही निजभाव की प्राप्ति होने पर प्रमाता स्वतन्त्र हो जाता है ।

धाता = चित शक्ति ।। **हृदिस्थितान्** = मन में कल्पित, इच्छित् । यथाभिलिषित पदार्थ, यथा अनभिव्यक्तस्वस्वरूप वाले योगी को जाग्रदवस्था में जो-जो इच्छायें होती हैं (सामने सैकड़ों अन्य वस्तुओं के विद्यमान रहने पर भी) अपनी अभीष्ट वस्तु को ही देखता है अन्य को नहीं उसी प्रकार इस प्रसंग में भी समझना चाहिए ।।—(**भट्टकल्लट**) ।

जिस प्रकार 'धाता' (चिदात्मा = चित् शक्ति) इच्छात्मक अभ्यर्थना किये जाने पर सामान्य व्यक्तियों को भी उनकी आँखों के सामने उन पदार्थों का दर्शन करवाता है जिन्हें कि उन्हें हृदय में देखने की इच्छा होती है । उसी प्रकार **योगियों** को भी स्वप्नावस्था में उन अभीष्ट पदार्थों का साक्षात्कार करवाता है । वह धाता (चिदात्मा) ऐसे योगियों के मध्यधाम (सुषुम्ना मार्ग) में प्रतिक्षण स्फुटतर स्थिति में विद्यमान रहता है और उनके प्रणय का कभी भी अतिक्रमण नहीं करता ।

इसके विरुद्ध—यदि योगी, स्वरूप-साक्षात्कार अधिगत कर चुकने पर भी उस भाव पर निश्चलतापूर्वक अवस्थित नहीं रह पाता तो उसके लिए जाग्रत-स्वप्न दोनों अवस्थाओं में भावों की सर्जना उसी प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक चलती रहती है जिस प्रकार सामान्य प्राणियों की चलती रहती है ।

भावों की पूर्णस्वातन्त्र्यपूर्वक उत्तरोत्तर सृष्टि करते रहना स्पन्द शक्ति का अकाट्य स्वभाव है ।

---

१. ऐसा योगी जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में शाक्त स्पन्दना की अनुभूति करता रहता है तथा सृष्टि, संहार आदि के अधिकार प्राप्त करता है ।

भट्टकल्लट की व्याख्या—यथा = जिस प्रकार की । **इच्छा** = अभिलाषा होती है । **सोमसूर्योदय** = आँख । यदि किसी भी व्यक्ति को आँख एवं अन्य ज्ञानेन्द्रिय के ग्राह्य विषयों में से किसी भी आकांक्षित विषय का साक्षात्कार करने की इच्छा होती है तो उसकी उसी ज्ञानेन्द्रिय में उसके अनुकूल ग्रहण शक्ति का आविर्भाव होता है । 'सोमसूर्य' = (**भट्टकल्लट**) = आँख । आँख सभी ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण है अतः यहाँ सभी के ज्ञानेन्द्रियाँ के प्रतीक के रूप में उल्लिखित हैं ।

स्पष्टीकरण—'सोमसूर्योदयं कृत्वा' 'मध्ये' 'यथेच्छाभ्यार्थितो' आदि शब्दों की व्याख्या आवश्यक है । **'सोमसूर्योदयं कृत्वा'** = (१) **भट्टकल्लट** 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इसकी व्याख्या 'सोमसूर्योदयं कृत्वा चक्षुरादिष्ववधानेन' के रूप में करते हैं । **सोमसूर्य** = दोनों नेत्र ॥

(२) **भट्टकल्लट** ने नेत्रेन्द्रिय (सोमसूर्य) को अन्य ज्ञानेन्द्रियों (श्रवणेन्द्रिय, त्वगेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय) का उपलक्षण (बोधक) मानकर यह सूचित करने का प्रयास किया है कि धाता (चित शक्ति, आत्मा) योगियों के हृदय में इच्छा के रूप में स्थित (अर्थात् अव्यक्त इच्छा के रूप में आकांक्षित) पदार्थों को उनकी आकांक्षाओं से सम्बंधित समस्त ज्ञानेन्द्रियों में तदनुकूल अवधानात्मक शक्ति का उदय करके (योगियों) की आकांक्षाओं की पूर्ति कर देता है यथा—

(१) **सुश्रूषा होने पर**—विश्व के किसी भी दूर से दूर स्थित शब्द को सुनने हेतु श्रवणेन्द्रिय में तदनुकूल **तीव्रावधान शक्ति** ।

(२) **दिदृक्षा होने पर**—विश्व के किसी भी दूर से दूर स्थित पदार्थ के देखने हेतु चक्षुरेन्द्रिय में तदनुकूल **तीव्रावधान शक्ति** ।

(३) **घ्राणेच्छा होने पर**–विश्व के किसी भी दूर से दूर स्थित सुंगंधों एवं सुगंधित पदार्थों की सुगंधों को प्राप्त करने हेतु घ्राणेन्द्रिय में तदनुकूल **तीव्रावधान शक्ति** ।

(४) **स्पर्शेच्छा होने पर**—विश्व के किसी भी दूर से दूर स्थित पदार्थों के स्पर्शों को प्राप्त करने हेतु त्वगेन्द्रिय में तदनुकूल **तीव्रावधानशक्ति** ।

(५) **स्वादेच्छा होने पर**—विश्व के किसी भी दूर से दूर स्थित पदार्थों के स्वाद ग्रहण करने हेतु रसनेन्द्रिय में तदनुकूल तीव्रावधान शक्ति उत्पन्न कर देता है ।

इसे ही योगशास्त्र में **पञ्चतन्मात्र साधना** की सिद्धि कहा जाता है । शब्द संवित् स्पर्श संवित्, रूप संवित्, रस संवित् एवं गंध सवित् की साधना में सिद्धि होने पर योगियों में इन विषयों की संवेदना बिना पदार्थों की उपस्थिति के भी हो जाती है । यथा—इत्र न होने पर इत्र-गंध, स्वादिष्ट पदार्थ न होने पर भी जीभ में उसका स्वाद आने लगना आदि-आदि ।

भट्टकल्लट कहते हैं—'नटमल्लप्रेक्षादिषु सोमसूर्योदयं कृत्वा चक्षुरादिष्ववधानेन' । **नटमल्ल** = भाव यह है कि गणिका, नट, मल्ल, दर्शक आदि सभी के अपने समक्ष विद्यमान रहने पर भी द्रष्टा जिसे देखना चाहता है उसी में स्वरूप का अनुप्रवेश होता है ।

उसी प्रकार द्रष्टा स्वप्नावस्था में भी अपने स्वभाव में स्थित रहकर हृदय में स्थित अभीष्ट पदार्थों को देखता है। क्योंकि आत्मसंवित् इच्छा का अतिक्रमण नहीं करती—'प्रणयस्या नतिक्रमात्' (स्पन्द का० ३४)।

यथेच्छाभ्यर्थितो = अभ्यर्थना (याचना) शब्दों के माध्यम से व्यक्त की जाती है। किन्तु यह अभ्यर्थनाभिव्यक्ति शब्दवृत्ति के माध्यम से नहीं प्रत्युत (शब्दानभिव्यक्त) मात्र हृदय में इच्छा के माध्यम से व्यक्त होने पर भी उसे अभ्यर्थना मान लिया जाता है अर्थात् भले योगी किसी पदार्थ को न माँगे किन्तु यदि वह उसकी इच्छा मात्र कर ले तो भी धाता उसे उसकी अभ्यर्थना (याचना) मानकर उसे पूरा कर देता है—

'सोमसूर्योदयं कृत्वा' (१) वाक्य के सोम-सूर्य को **भट्टकल्लट** ने चक्षु क्यों कहा? कारण यह है कि—'चक्षो: सूर्योऽजायत्' आँखों से सूर्य की उत्पत्ति हुई है अत: 'सूर्य' चक्षु के प्रतीक के रूप में प्रयुक्त मान लिया गया।

(२) अगली कारिका में 'नित्यं स्फुटतरं मध्ये' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'मध्य' सुषुम्णा नाड़ी को कहते हैं। योगी के प्राण एवं अपान इसमें प्रवेश करते ही निरुद्ध हो जाते हैं—इड़ा पिंगला का प्रवाह रुक जाता है—सुषुम्णा में प्राण प्रवाह होने लगता है और ऊर्ध्वपथ से जाते जाते यह प्राणापान निरुद्ध हो जाता है।

इन्हीं दृष्टियों से **रामकण्ठाचार्य** ने (स्पन्द का०वि०) में—'चक्षुषोरुदयं कृत्वा—इति उपलक्षणमात्रमेतत् मन्तव्यम्' कहा है और इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'सोमसूर्ययो: चक्षुषो: उदयम् अभिप्रेतार्थावधारणमात्रावधानरूपस्वरूपप्रथनं विधाय —इति उपमानवाक्यम्'।

स्पन्दप्रदीपिकार उत्पलाचार्य ने 'सोमसूर्य' को प्राणापान का द्योतक माना है—'सोमसूर्ययोरपानप्राणयोश्चक्षुषोश्च उदयं कृत्वा—चक्षुरादिष्ववधानेन इत्यर्थ: ॥'

निष्कर्ष—भट्टकल्लट के 'अनेकार्थसन्निधाने—नटमल प्रेक्षादिषु' की व्याख्या को ध्यान में रखकर स्पन्दप्रदीपिकाकार भी कहते हैं—'अनेकार्थसन्निधानेपि गणिका नट-मल्लप्रेक्षकादिषु मध्याद्यदेव वस्त्वभिमतं तदेव यथा पश्यति—स्वरूपानुप्रवेशात्।'

'जाग्रत्येव निजभावाप्त्या स्वातन्त्र्यं तथा स्वप्नेऽप्यस्तीति वक्तुमाह ... यथेच्छा-भ्यर्थितो ... प्रकाशयेत् ॥ (स्पन्द प्र०)

'स्वबलावष्टम्भात्' हृदिस्थितान् अभिमतानर्थान् पदार्थान् सम्पादयति प्रकाशयति ॥ 'स्वप्नेऽप्यभीष्टानेवार्थान् ॥ मध्ये हृदि स्वस्वभावे स्थित: सन् स्फुटतरं कृत्वा सदैव प्रकाशयति दर्शयति कुत:? प्रणस्येच्छाभ्यर्थनाया अनतिक्रमात् अत्यागात् ॥'

प्राणी प्रथमत: इच्छा करता है फिर कहता है (प्रार्थना करता है—अभीष्टप्राप्त्यर्थ वाणी द्वारा उसे व्यक्त करता है) अत: 'इच्छावस्था संसारिण: परकारणाभेदरूपा। परमेश्वर एव स्वतन्त्रों यथेष्टमिदमखिलं प्रकाशयति—इति परमार्थं तदीयमायाशक्ति-जनितदेहादि व्यवच्छेदा: ससांरिणो न प्रपद्यन्ते ॥ (रामकण्ठाचार्य)।

मध्ये (रामकण्ठ की दृष्टि में) = हृदय में। **मध्ये** = हृदि स्वस्वभावे (उत्पल) ॥ **मध्ये**—हृदयं (**भट्टकल्लट**) ॥

वैसे 'मध्य' का अर्थ सुषुम्णा भी होता है ।

अभ्यर्थना—यो यः कश्चित्, संसारी यमेवार्थं द्रष्टुमुत्पन्नेच्छो भवति, स तद्दिदृक्षावस्थायां झगित्यवश एवं परमात्मानं धातारमभेदेन आविशति, सा अवस्था अस्य प्रार्थना (**रामकण्ठाचार्य**) ॥

स्वप्न स्वातन्त्र्य—जो योगी मध्यमार्ग (सुषुम्णा) में 'हृदय' (स्पन्द तत्त्व = संवित् तत्त्व) की निरन्तर सुस्पष्ट अनुभूति प्राप्त करते रहते हैं उनकी इस अवस्था को 'स्वप्न-स्वातन्त्र्य' कहते हैं । योगी के हृदय पर से तमोगुण का आच्छादन दूर हो जाता है । इस 'स्वातन्त्र्य' के भी तीन प्रकार है—(१) 'जाग्रत स्वातन्त्र्य' (२) 'स्वप्न स्वातंत्र्य' और (३) 'सुषुप्ति स्वातन्त्र्य' : 'स्वप्नेन सौषुप्तमत्युपलक्षितम्' (स्प० नि०) ।

योगी के स्वरूपस्थित न रहने के परिणाम—

अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात् सृष्टिस्तद्धर्मकत्वतः ।
सततं लौकिकस्येव जाग्रत्स्वप्नपदद्वये ॥ ३५ ॥

नहीं तो (स्वस्वरूप का साक्षात्कार कर लेने के अनन्तर अपने स्वरूप में अविचल रूप से स्थिर न रहा जा सका तो) ('उसके अर्थात् योगी की) जाग्रत एवं स्वप्न दोनों अवस्थाओं में सांसारिक प्राणियों की ही भाँति निरन्तर स्वतन्त्र रूप से भावों की सृष्टि चलती रहती है—क्योंकि स्वातन्त्र्यपूर्वक भावों की निरन्तर सर्जना करते रहना 'उसका' (स्पन्द शक्ति का अपना) धर्म है ॥ ३५ ॥

*** सरोजिनी ***

अन्यथा = स्वरूपस्थिति के अभाव में (**भट्टकल्लट**)—आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाने के अनन्तर भी यदि योगी अपने निश्चल, नित्य, चिद्रूप आत्मस्वरूप में स्थिर न रह सके तो इस स्थिति के अभाव में । **सृष्टि** = आलविड़ालदर्शनरूपा सृष्टि (**भट्टकल्लट**), विचारों और दृश्यों का सर्जन कल्पनाओं की सृष्टि ।

सृष्टि स्वतन्त्रा स्यात् = (स्वरूप में निश्चल अवस्थान के अभाव में) योगी की जाग्रत्-स्वप्न दोनों अवस्थाओं में आलविड़ालदर्शनरूपा (असंगत) भावसृष्टि निरन्तर स्वतन्त्र रूप में चलती रहती है । **'सृष्टि'** = जाग्रत् एवं स्वप्न की अवस्थाओं में मन के भावों की सर्जना, कल्पनाओं, भावनाओं एवं विचारों का असंगत प्रवाह (सृष्टि) ।

तद्धर्मकत्वतः = उसके उस प्रकार के धर्म वाला होने के कारण अर्थात् चूँकि स्पन्द शक्ति का यह अविचल धर्म या स्वभाव ही है इसलिए । **लौकिकस्येव**—सांसारिक प्राणियों की भाँति ही । **जाग्रत्स्वप्नपदद्वये** = जाग्रतावस्था एवं स्वप्नावस्था दोनों में 'धर्म' = सृष्टिस्वभाव, प्रसवधर्म (**भट्टकल्लट**) ।

सततं = निरन्तर ।

अन्यथा योगी एक सामान्य व्यक्ति के समान जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाओं में सदैव सृष्टि का विषय (Subject of creation) बना रहेगा क्योंकि सृष्टि स्वतन्त्र है क्योंकि वह

जाग्रत एवं स्वप्न में स्वातन्त्र के लक्षण से उपहित है। यदि पूर्वोक्त रीति से धाता सदैव आराधित नहीं हो पाता तो अपने आन्तर स्वरूप की अभिव्यक्ति का अभाव होने के कारण यह योगी जाग्रत एवं स्वप्न दोनों अवस्थाओं में सदैव एक अति सामान्य लौकिक व्यक्ति की भाँति ही होगा और परमात्मा की उस सृष्टि से अधिशासित रहेगा जो कि विश्व की सामान्य एवं विशिष्ट वस्तुओं के प्रकटीकरण एवं निश्चयीकरण के कार्य में निरत रहती है।[1] अर्थ यह है कि यह सृष्टि योगी को भी अति प्राकृत व्यक्ति की भाँति फेंक देगी—सांसारिक जीवन के गर्त में। भगवान् की सृष्टि स्वप्न-जागरादि पद के प्रकाशन से स्वातन्त्र्यस्वभावा है। इस प्रकार स्वप्न एवं स्वप्न-शून्य स्थिति के उन्मूलन की विवेचना एवं स्पष्टीकरण करने के उपरान्त ग्रन्थकार यह विवेचन करना चाहता है कि पूर्ण प्रबुद्ध व्यक्ति स्पन्द तत्त्व में समावेश पाता है। इसी साधन से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान भी होता है।[2]

स्वरूप स्थिति न होने पर चित्त की चंचलता के कारण इच्छारूप स्वप्नादि सृष्टि स्वतन्त्र हो जाएगी। यहाँ स्वतन्त्र होने का अर्थ है—असमञ्जस-असंगत ही दिखाई पड़ना क्योंकि सृष्टि का स्वभाव ही ऐसा है। तत्त्व का स्वभाव ही है—इच्छाओं का प्रसार। जैसे पुरुष की इच्छायें जाग्रत एवं स्वप्न दोनों में ही स्वतन्त्र चलती रहती हैं—वे अज्ञानजन्य नहीं हैं—संविद का स्वमत ही है और वे सहास्त्रों होती हैं—उनका स्वरूप है—सम्बद्ध एवं असम्बद्ध विकल्प, किन्तु ज्ञानी की स्वाधीन होती है और अज्ञानी की उच्छृंखला[3]। प्राणी स्वप्न में भी अपने अभीष्ट पदार्थों को ही देखता है अन्य को नहीं। 'स्वप्नेप्यभीष्टार्थानेव पश्यति ॥'

इस प्रकार के समाधि व्युत्थान मात्र से योगी एवं सांसारिक प्राणी एक समान दृष्टिगोचर होने लगते हैं। नित्ययुक्तता के दृढ़ीकरणार्थ कारिकाकार 'अन्यथा तु स्वतन्त्रा स्यात्' वाली कारिका कह रहा है।

अन्यथा तु = उक्त प्रकार के विपरीत अन्य प्रकार से। सर्वकर्ता, स्वतन्त्र एवं अद्वैत परमेश्वर की—**ममैवेदं जगत्कार्यम्**—('यह समस्त जगत् मेरा ही कार्य है') इस प्रकार की प्रतिपत्ति के अभाव के कारण योगी के 'जागृति एवं स्वप्न पद' दोनों तद्धर्मक होने के कारण, सर्वगुणात्मकता के कारण, नानाभावविनिर्मिति रूपा सृष्टि हुआ करती है।

आत्मसंवित् से आविर्भूत होने के कारण स्वातन्त्र्यशक्ति या तदुत्पन्न नियति (सृष्टि) स्वतन्त्र हैं। जब तक कि साधक अपने को स्वतन्त्रकर्ता, सर्वप्रभु, विभु एवं आत्मस्वरूप मानकर सृष्टि को अपनी शक्ति समझकर उसका परामर्शन नहीं करता तब तक यह इस प्रकार अपरामृश्यमाना होने के कारण विचित्र विभ्र उत्पन्न करने में समर्थ रहती है तथा दुर्निवार रूप में उस सामर्थ्य का विस्तार करती रहती है।

लौकिकस्येवं—सांसारिक प्राणियों की भाँति।

सारांश यह है कि—जागरावस्था एवं स्वप्नावस्था दोनों सर्गस्वभावा हैं। वहाँ ज्ञानज्ञेयभाव से पारमेश्वरी शक्ति की ही स्थिति प्रतिपादित की गई है। उस इस द्वयात्मक

१-२. स्पन्दनिर्णय। ३. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका'।

पदद्वय में जो योगी यथोक्त संवित्ति में समाधान (एकाग्रता, ब्रह्म में मन को लगाना) के अपरित्याग से जो उत्थित हुआ हो उस सर्वथा स्वतन्त्र, सर्वकर्ता स्वात्मा में सुव्यवस्थित योगी के लिए सृष्टिस्वभाव रूप पदद्वय (जागृति-स्वप्न) शक्ति को प्रतिबंधित नहीं करता जो व्यक्ति इससे विपरीत अर्थात् 'अन्यथा' जीवन बिताता है तब सांसारिक प्राणियों की भाँति आत्मगत भावसृष्टि के द्वारा परवश बन जाते हैं—'लोकवन्निजयैव भावसृष्ट्या पर वशीक्रियते ॥' इसीलिए कहा गया है—

'अन्यथा स्वरूपस्थित्यभावे' ।[१]

भट्टकल्लट स्पन्दकारिकावृत्ति में इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'अन्यथा तु स्वरूपस्थित्यभावे स्वतन्त्रा स्यात् स्वप्ने आलबिड़ालदर्शनरूपा सृष्टिः, यस्मात् तत्तत्त्व सृष्टिस्वभावं प्रसवधर्मत्वात् यथा सततं सर्वस्य लोकस्य जाग्रदवृत्तौ स्वप्नावस्थायां च सम्बन्धा सम्बन्धविकल्पाः ॥'[२]

स्वबल का महत्व—

यथा ह्यर्थोऽस्फुटो दृष्टः सावधानेऽपि चेतसि ।
भूयः स्फुटतरो भाति स्वबलोद्योगभावितः ॥ ३६ ॥
यथा यत् परमार्थेन येन यत्र सदा स्थितम् ।
तत्तथा बलमाक्रम्य न चिरात् सम्प्रवर्तते ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार किसी व्यक्ति को कोई दूर देश-स्थित पदार्थ, चित्त के सावधान होने पर भी, प्रथम दृष्टि में स्पष्टतया दृष्टिगत नहीं होता है, किन्तु आत्मबल का प्रयोग करके देखने पर उसको वही पदार्थ सुस्पष्ट रूप में दृष्टिगत होने लगता है । उसी प्रकार योगी के लिए स्पन्दात्मक आत्मबल पर आरूढ़ होने की स्थिति में, स्वल्प समयावधि में ही समस्त पदार्थ, जो जिस समय, जिस देश और जिस आकार-प्रकार में विद्यमान हों, ठीक उसी अवस्था में बोध का विषय बन जाते हैं ॥ ३६-३७ ॥

* **सरोजिनी** *

अर्थोऽस्फुटो = दूरस्थित अस्पष्ट कोई पदार्थ, **स्वबलोद्योग** = प्रयत्नविशेष । **बलमाक्रम्य** = स्वबलं स्वस्वरूप का आश्रय लेकर । **अचिरेण** = बिना बिलम्ब के सामान्य व्यक्ति एवं योगी की तुलना की गई है ।

जिस प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी पदार्थ को प्रथम दृष्ट्या देखता है तो उसे वह अस्पष्ट दिखाई पड़ता है किन्तु विशेष प्रयत्न करने पर वह उसे सुस्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है । उसी प्रकार यदि योगी भी आत्मबल का प्रयोग करता है तो उसे स्वल्प काल में ही उन पदार्थों का ज्ञान हो जाता है । **आक्रम्य** = अपनी आत्मा में विलय कर लेने पर ।

यत्र = जहाँ शङ्करात्मा स्वस्वभाव में । **आक्रम्य** = पकड़कर ।
यथा = जिस प्रकार । अभेद व्याप्ति के द्वारा ।

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' । २. भट्टकल्लट—'स्पन्दसर्वस्व' ।

स्वबलोद्योगेन = अन्तर्मुखतदेकात्मता परिशीलन प्रयत्न द्वारा ।

प्रवर्तते = अभिव्यक्त होता है । **अचिरात्** = शीघ्र ही । **हि** = निश्चय ही । **परमार्थेन** = आनन्दघनरूप से ।

जिस प्रकार वही वस्तु पूर्ण एकाग्रता पूर्वक मनन किये जाने पर भी इसके पूर्व अस्पष्ट रूप में समझ में आती थी—अपनी निजी शक्ति के बल से देखी जाने पर सुस्पष्टतया दृष्टिगोचर होने लगती है । इसी प्रकार प्राणशक्ति पर अधिकार कर लेने पर उस वस्तु की वस्तुता उसी सत्ता के द्वारा, उसी स्थान में जिसमें कि वह रहती है—तत्काल अभिव्यक्त हो जाती है ।

वस्तु के वस्तुत्व का सम्यक् यथार्थ ज्ञान कैसे हो? इसी के उत्तर में ग्रन्थकार कहता है—'यथा ह्यर्थोऽस्फुटो .... सम्प्रवर्तते ।'

यथा दूरत्वादि दोषों के कारण अस्फुट (अस्पष्ट) रूप में दिखाई पड़ने वाली वस्तु पुनः अध्यक्ष निरीक्षण द्वारा स्वबलोद्योग से भावित पूर्णावलोकित होने पर स्फुटतर (सुस्पष्ट) दृष्टिगोचर होती है वह स्पन्दनतत्त्वात्मक बल है जिसके द्वारा आनन्दघन शङ्करात्मा स्वस्वभाव में, व्याप्त होकर परिशीलन प्रयत्न द्वारा स्फुटतापूर्वक अभिव्यक्त होता है ।

मानसिक अवधान के बाद भी कोई वस्तु दूर होने के कारण अस्पष्ट दिखाई पड़ती है किन्तु अपनी दर्शन-शक्ति से सूक्ष्मतापूर्वक देखी जाने पर वही वस्तु सुस्पष्ट रूप में दृष्टिगत होने लगती है । इसी प्रकार वह स्पन्द तत्त्व की प्राणशक्ति (Vital power) स्पन्दतत्वात्मक बल जो कि अपने निजी स्वरूप के साथ अभिन्न रूप से स्थित है आनन्दघन शङ्कर के साथ अद्वैतभाव से स्थित है—ज्यादा सुस्पष्ट रूप में व्यक्त होता है । किन्तु यह तभी होता है जबकि ध्यानावस्था में परमसत्य के साथ ऐकात्म्य प्राप्त कर लिया जाय ।

कृत्रिम ज्ञातृत्व की भूमि का विलय कर लेने पर योगी जो भी चाहता है वह पदार्थ तत्काल उपस्थित हो जाता है ।

आक्रम्य = आराधक द्वारा अपनी कल्पित देहादिक प्रमातृभूमि को अपने में निमग्न या लीन करके । 'स्पन्दात्मकं बलं आक्रम्य' ।

स्पन्दात्मक बल को अर्जित कर लेने पर योगी के समस्त जिज्ञास्य समक्ष प्रकट होते हैं । कर्तृत्व शक्ति केवल इस स्पन्दात्मक बल के माध्यम से ही अपने को व्यक्त करती है ।

आत्मा की विभूतियों में स्वातन्त्र्य की युक्ति का निरूपण करके अब ज्ञातृत्व और कर्तृत्व-सामर्थ्य की युक्ति बतलाते हैं । उनसे सूक्ष्म और व्यवहित आदि में ज्ञातृत्व की युक्ति कारिका ३६-३७ में बताई गई है ।

जैसे दूरस्थित घट पट आदि कोई पदार्थ अस्पष्ट, संदिग्ध दृष्टिगत होता है किन्तु चित्त को सावधान करके दूसरी ओर से हटाकर अपने प्रयत्न विशेष से विचार करने पर जिस समय दिखाई पड़ती है—विशेष प्रयास के अनन्तर दृष्टिगोचर होती है—विकसित

संवित् से देखने पर वही सम्यक् रूप से स्पष्ट, असंदिग्ध एवं अपने निश्चित रूप में दृष्टिगत होने लगती है क्योंकि स्वरूप में कोई आवरण नहीं रहता ।

आत्मबल के संस्पर्श से पुरुष सामने वाले पदार्थ के सदृश ही हो जाता है । अत: यथार्थ ज्ञान होता है । इसी से मिलता जुलता अद्वैत वेदान्तियों का अन्त:करणावच्छिन्न प्रमाता का विषयावच्छिन्न चैतन्य से एक होने पर यथार्थ ज्ञान होता है और उसमें बल का स्पर्श नहीं है ।

'तत्वयुक्ति' नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि—जो विषयाधिपति है, वह जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है उसको तत्त्वत: अर्थात् आत्मसंवित् के रूप में जान लेने पर चराचर का ज्ञान हो जाता है—

(१) अपि त्वात्मबलस्पर्शात् पुरुषस्तत्समो भवेत् ॥[1]

(२) विषयाधिपतिर्यों हि येन जानाति पार्वति ।
तस्य यो वेत्ति तत्त्वेन तेन ज्ञातं चराचरम् ॥[2]

यथा हि = जिस प्रकार निश्चय ही । कोई ॥

सावधाने = पूर्ण अवधान रखने पर । तदर्थ—दिदृक्षा हेतु निविड प्रयत्न करने के बाद भी । **चेतसि** = चित्त के ।

अस्फुट = अस्पष्ट ॥ **भाति** = (प्रथते) = दृष्टिगत होता है, प्रतीत होता है ।

भूयो = फिर (इसके अनन्तर) ॥ **स्वबलोद्योगभावित:** = अपनी सामर्थ्य एवं पुरुषार्थ से युक्त । अपनी सर्वज्ञ आत्मा का बल या सामर्थ्य । शक्ति = तत्त्व आदि लक्षणा वाली शक्ति ॥ उस शक्ति के द्वारा उद्योग = उद्यमो ॥ **उद्योग** = निविड-तरावधान से दर्शनोत्साहित ।

भावित = लक्षित ॥ **स्फुटतरो भाति** = प्रत्यभिज्ञायमान निरवशेष विशेष । **सोऽयम्**—यह तथ्य स्पष्टता से परिज्ञात हो जाता है ।

भावार्थ—जिस किसी भी व्यक्ति को अपना दर्शनीय अभीष्ट तत्काल स्पष्टत: नहीं दृष्टिगत होता, विस्फारित नेत्र होकर देखने पर भी सम्यक् रूप से दृष्टिगत नहीं हो पाता किन्तु क्षणान्तर में ही उसी स्थान में स्थित वही पदार्थ उसको सूक्ष्मतापूर्वक अनन्य दृष्टिपूर्वक 'न्यक्षनिक्षिप्ताक्ष' होकर देखने पर स्पष्टत: दृष्टिगोचर होने लगता है—इसका कारण क्या है?

इसका कारण यह है कि यद्यपि यह सत्य है कि बाद में भी उसे देखने के लिए द्रष्टव्य से अतिरिक्त किसी अन्य साधन का आहरण एवं उपयोग नहीं किया जाता किन्तु, प्रत्युत् होता यह है कि—साधक के अंतर में तात्विक स्वभावानुप्रवेश का आविर्भाव हो जाता है जिसके बल के स्पर्श से उस दिदृक्षु व्यक्ति को वह पदार्थ याथात्म्यरूप से प्रकाशित हो उठता है—अत: निष्कर्ष यह निकलता है कि—स्वबलोद्योग मात्र ही सभी

---

१. स्पन्दनिर्णय—आचार्य क्षेमराज । २. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

प्राणियों के सर्वार्थप्रकाशन का साधन है अन्य कोई भी नहीं—'तेन तात्त्विक स्वभावानु-प्रवेश एवं तस्य सञ्जायते, यद्बलस्पर्शात् तस्य सोऽर्थो याथात्म्येन प्रथते' ततः स्वबलो-द्योगमात्रं सर्वार्थप्रकाशनसाधनं सर्वदेहिनां नान्यत्किंचित् ।'[१]

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि पदार्थों को प्रकाशित कर सकने की (स्फुटतः देखने, समझने आदि की) शक्ति तो सभी व्यक्तियों में समान होती है किन्तु प्रबुद्ध योगियों के द्वारा प्रत्यवमृश्यमान होने पर ही किसी पदार्थ का सत्तत्व (तात्त्विक स्वरूप) प्रकाशित होता है अन्य के द्वारा नहीं । मायातिमिरतिरस्कृत सम्यक् ज्ञानहीन व्यक्तियों को यह ज्ञान नहीं हो पाता । अतः योगी को ही यह ज्ञात हो पाता है—स्मरण हो पाता है कि इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप यह है अन्य को नहीं ।

जिस प्रकार कि अस्फुटरूप से दृष्ट अर्थ **स्वबल प्राप्त** करके स्फुटतया देखा जा सकता है उसी प्रकार 'बल' (स्वस्वभाव सामर्थ्य) को प्राप्त करके दिदृक्षु व्यक्ति के = उसमें अभिन्नतया अधिष्ठित होने पर वे पदार्थ उन-उन अवस्थाओं—आकारों-देश-काल आदि स्थितियों में, असंवादी प्रकार से संप्रवर्तित होते हैं—सम्यक् रूप से अभिव्यक्त होते हैं और सम्यक् रूप से ज्ञेय बनकर अभिमुखीभूत होते हैं—

'सम्यक् ज्ञेयतया अभिमुखीभवति ॥'

यह वस्तु है क्या?

परमार्थेन = तत्त्वतः ॥ **यत्** = जो । गवादि ।

यथा = जिस प्रकार, 'येन अवस्थात्मना प्रकारेण'

येन = जिसके द्वारा यादृशविशिष्टसारभादिमान आकार द्वारा । यत्र = जहाँ । जिस व्यवहित एवं विप्रकृष्ट देश में, काल में ।

भावार्थ—किसी पदार्थ के अस्फुट रूप से दिखाई पड़ने पर उसके स्फुटतर अवभास के लिए जो सर्वज्ञस्वस्वभावाभेद बिना किसी प्रयत्न के सब में आविर्भूत हो जाता है, प्रबुद्ध उसके परामर्शाभ्यास द्वारा देशकालादिव्यवहित यथाभिमत अर्थों को तात्त्विक दृष्टि से जान लेता है । सर्वज्ञता आदि गुणों की अभिव्यक्ति का कारण यही है । कहा भी गया है— 'परिमितविषयमतीतानागतज्ञानं न ।

किंचिदाश्चर्यं विनावरण स्वस्वभावत्वात् ॥'

उस दशा में देशकाल आदि अनिरुद्ध, एवं स्वस्वभावबल अभिव्यक्त होता है । यहाँ **'अस्फुटोऽर्थो दृष्टः'** वाक्य उपलक्षणात्मक है अतः यह श्रुति आदि में भी योजनीय है । अतः इसका अर्थ यह हुआ कि इस प्रयुक्त वाक्य के द्वारा—दृश्य आदि पदार्थ को स्पष्टतर रूप से देखने आदि कार्यों के लिए प्रयत्नविशेषावस्था में संपद्यमान, प्रतिष्ठित स्पन्दानु प्रवेश के द्वारा, समस्त बुद्धि-नेत्र के व्यापार वाले जाग्रत अवस्था वाले पर-तत्त्वोपलब्धि ही यहाँ प्रतिपादित एवं वेदितव्य है । इसे कारिकाकर ने दो श्लोकों द्वारा व्यक्त किया—जो निम्न हैं—

---

१. 'स्पन्दविवृति' (रामकण्ठाचार्य)

(१) 'यथा किल दूरस्थित'
(२) 'यथा तेनैव प्रयत्नविशेषेण' ।[१]

आत्मबल का स्पर्श = 'स्वबलोद्योग'—

'सामान्य स्पन्द' ज्ञान का अनन्त रत्नाकर है । उसके संस्पर्श मात्र से चित्त के साथ समस्त ज्ञानेन्द्रियों में भी वह बिलक्षण सामर्थ्य आयत्त हो जाती है जिससे कि वे अस्पष्ट विषयों को भी सुस्पष्ट रूप में एवं उनके अपने गुह्य स्वस्वरूप में देख लेते हैं । 'स्पन्द शक्ति' की इस आकस्मिक गतिमयता को जो कि शम्पावत अकस्मात आती है—**'आत्मबल का स्पर्श'** कहलाती है । स्पन्द शक्ति की यह गतिमयता प्रत्येक काल में, प्रत्येक क्षण आन्तरिक रूप से प्रवाहित होती रहती है किन्तु प्राणियों को इस रहस्य का बोध नहीं रहता । योगियों को इसका बोध रहता है । वे इस मध्यवर्ती स्पन्द स्पर्श (आत्म बल) को ग्रहण कर लेते हैं । अत: उनकी संकल्पशक्ति में तीव्रता की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि योगी एकाग्रता की स्वल्प मात्रा में भी भूत, भविष्य एवं सुदूरस्थ पदार्थों, दृश्यों एवं अवस्थाओं को यथास्वरूप यथाकांक्ष स्वल्पावधि में जान लेते हैं या देख लेते हैं ।

वृत्तिकार भट्टकल्लट कहते हैं—

जिस प्रकार चित्त के सावधान रहने पर भी, किसी भी व्यक्ति को कोई दूरस्थित पदार्थ प्रथम दृष्टि में स्पष्टत: दृष्टिगत नहीं होती किन्तु तत्क्षण ही आत्मबल का प्रयोग करके उसको देखने पर वही पदार्थ स्पष्टतर रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है उसी प्रकार योगी को भी स्पन्दस्वरूप आत्मबल पर अवस्थित होने की अवस्था में स्वल्पकाल में ही वे समस्त पदार्थ, चाहे वे जिस समय, जिस देश एवं जिस आकार-प्रकार में भी स्थित हों ठीक उसी अवस्था में ज्ञान के विषय बन जाते हैं ॥

भट्टकल्लट कहते हैं कि जिस प्रकार किसी भी व्यक्ति को कोई भी दूरस्थित पदार्थ चित्त के एकाग्र न रहने पर प्रथम दृष्टि में स्पष्टतया दृष्टिगत नहीं होता किन्तु 'तत्क्षण ही आत्मबल या प्रयत्न विशेष के द्वारा वही पदार्थ स्पष्टतर रूप में दृष्टिगत होने लगता है । ठीक उसी प्रकार स्पन्दात्मक भूमिका पर अवस्थित योगी को उसी प्रकार का विशेष प्रयत्न करने पर स्वल्पावधि में ही उन समस्त पदार्थों का उसी प्रकार साक्षात्कार होने लगता है जिस रूप, जिस स्थान, जिस आकार एवं जिस स्थान में वे विद्यमान हों ।

इसका कारण क्या है? कारण यह है कि उस योगी के स्वरूप पर से तामसिक आवरण हट चुका है फलत: योगियों के लिए भूत-भविष्य (अतीतानागत) पदार्थों का यथार्थ रूप में बोध होना स्वाभाविक है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है ।

भट्टकल्लट अपने शब्दों में इस प्रकार कहते हैं—

(१) 'यथा किल दूरस्थित: कश्चिदर्थ: पुरुषेण पूर्वं सावधानेनापि न लक्ष्यते स एव स्फुटतरो भवति, प्रयत्नविशेषेण निरूप्यमाणस्तत्रैव स्थितस्य' ॥३६॥—'स्पन्दसर्वस्व' ॥[२]

---

१. रामकण्ठाचार्य: 'स्पन्दविवृति' २. भट्टकल्लट

(२) 'तथा तेनैव प्रयत्नविशेषेण यत् वस्तु येन रूपेण यदा यस्मिन् काले, यत्र देशे, यथा, येनाकारेण संस्थितं, तद् वस्तु तथा तद्बलं स्वस्वरूपमाश्रितस्याचिरेणैव कालेन प्रतिभाति निरावरणस्वरूपत्वात् तेनातीतागतं ज्ञानं परिमितविषयं न किञ्चिदाश्चर्यम्' ॥ ३७ ॥[१]

शैव दर्शन के अनुसार—

(१) ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अत्यन्त अस्पृष्ट, अदृष्ट, अश्रुत एवं अज्ञात दूरस्थ वस्तुओं को देख न पाने पर दिदृक्षा की तीव्रोत्कण्ठा होने पर दिदृक्षु प्रमाता की बहिर्मुखी प्रवाहित स्पन्द धारा अकस्मात अन्तर्मुखी होकर अपने मूल केन्द्र (सामान्य स्पन्द प्रवाह) में लय हो जाती है और इसी कारण एकाग्रता की तीव्रता उपबृंहित हो जाने के कारण वह वस्तु अत्यन्त दूरस्थ होने पर भी अत्यन्त सुस्पष्टता के साथ दृष्टिगत होने लगती है।

(२) स्पन्दशक्ति की गतिशीलता आन्तरिक रूप में सदैव चलती रहती है किन्तु प्राणी इसे जानते नहीं। इस गुप्त रहस्य को गुरु की अनुकम्पा से शिष्य जान लेता है। योगी तीव्र विमर्शात्मक गवेषणा एवं विशिष्ट गम्भीर प्रयत्नों के द्वारा अन्तरालानुगत संवित् संस्पर्शों को पकड़कर उन पर स्थिर रह सकने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। इन योगियों की सङ्कल्प शक्ति इतनी तीव्र होती है कि स्वल्प संवेदनात्मक एकाग्रता आने पर भी उसके द्वारा वह भूत एवं भविष्य तथा दूर से दूर वर्तमान वस्तुओं को प्रत्यक्षीकृत कर लेता है।

स्पन्दात्मक आत्मबल की शक्ति—

दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते ।
आच्छादयेद् बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार निर्बलशरीरी व्यक्ति भी आत्मबल को प्राप्त करके (कठिनतम कार्यों को भी) निष्पादित कर डालता है और अत्यन्त क्षुधातुर रहने पर भी अपनी क्षुधा को निवृत्त कर लेता है (उसी प्रकार एक सिद्ध योगी भी अत्यधिक दुर्बल रहने पर भी स्पन्दात्मक आत्मबल प्राप्त करके दुष्कर से दुष्कर कार्य को भी निष्पादित कर डालता है और अत्यधिक क्षुधातुर होने पर भी यथाकांक्ष अवधिपर्यन्त अपनी क्षुधा को नियन्त्रण में रख लेता है।) ॥ ३८ ॥

*** सरोजिनी ***

सामान्य व्यक्ति की शक्ति 'उद्योग बल' है और योगी की शक्ति **'स्पन्दात्मक आत्मबल'** है। विशेष परिस्थितियों में जो विलक्षण या असाधारण कार्य अकस्मात् निष्पादित हो जाते हैं उन्हें 'आवेश' या 'भावावेश' भी कहा जाता है किन्तु यह भावावेश है क्या? आत्मबल का संस्पर्श मात्र ही तो यह है।

दुर्बल व्यक्ति भी उस शक्ति को प्राप्त करके किसी कार्य में प्रवृत्त हो जाता है एवं बुभुक्षित व्यक्ति भी उस बल (संयम बल) से अपनी बुभुक्षा का शमन कर लेता है।[२]

---

१. भट्टकल्लट। २. स्पन्दनिर्णय।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि बल ही सर्वोपरि है और यह बल आत्मसापेक्ष बल है जिस प्रकार एक दुर्बल व्यक्ति जिसकी जीवनीशक्ति क्षीण हो गयी है—अपने को, किसी कार्य को पूर्ण करने में, संलग्न रखता है या अपने ऊपर सौंपे अपरिहार्य कार्य को अपनी स्पन्दात्मकशक्ति के द्वारा संपादित करता है । वह व्यक्ति उस जीवन शक्ति (Vitality) के द्वारा कठिनतम एवं दुःसाध्य कार्य को भी पूर्ण कर लेता है । उसी प्रकार अति बुभुक्षित व्यक्ति उसी प्रेरणा द्वारा अपनी भूख को शान्त कर सकता है । ताप शीत की पराधीनता उस व्यक्ति के लिए नहीं होती जो चेतना के स्तर पर आरूढ़ हो चुका है क्योंकि यह ताप एवं शीत की पराधीनता केवल चेतनारूढ़ व्यक्ति के स्तर पर ही प्रभावकारी होती है किन्तु वह चेतना में लय हो जाती है ।[१]

ज्ञानशक्ति का निरूपण करके ग्रन्थकार अड़तीसवीं कारिका में कार्य-कर्तृत्व की सामर्थ्य का वर्णन करता है—

जो पुरुष क्षीणधातु, अशक्त, कृश एवं दुर्बल भी हो गया है वह भी अपने उत्साहात्मक बल, एवं उद्योग को स्वीकार करके अपने कार्य में प्रवृत्त होता है और उसे सम्पन्न करता है । निर्बल व्यक्ति भी उद्योग-बल का आलम्बन लेकर युद्धभूमि में अपने अपूर्व शौर्य का परिचय देता है । असमर्थ व्यक्ति भी व्यायामाभ्यास से महती शक्ति प्राप्त कर लेता है । यह उद्योग-बल आत्मसंवित् का ही बल है । बुभुक्षित व्यक्ति अपने स्वभाव का अनुशीलन करके भूख को शान्त कर लेता है ।

पतञ्जलि ने कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास मिट जाने का उपाय बताया है । संयम के बल पर मनुष्य हाथी सरीखा बल प्राप्त कर सकता है इसका अभिप्राय यह है कि आत्मबल की अभिव्यक्ति होने पर शोक, मोह, जरा एवं मृत्यु आदि षडूर्मियों का नाश हो जाता है ।[२]

दुर्बलोऽपि = शक्तिहीन व्यक्ति भी । **यतः** = जिस कारण से ।

बल = सर्वकर्तृत्व-स्वातन्त्र्यलक्षण वाला सामर्थ्य ।

आक्रम्य = पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा अव्यतिरेकपूर्वक स्थित होकर ।

कार्ये = भारोद्वहन आदि कार्यों में । **प्रवर्तते** = क्रिया प्रधान हो जाता है ।[३]

आक्रम = आक्रमण । कब्जा करना । प्राप्त करना । घेरना । पकड़ लेना । **आक्रान्ति** = कब्जा करना । आरोहण । पराभूत करना, सामर्थ्य, शक्ति ।

तात्पर्य यह है कि जो परिकृशकाय होने के कारण शक्ति-क्षीण एवं सामर्थ्यहीन हैं वे भी संध्यादिक व्यापार में प्रवृत्त होकर, अभ्यास के बल से अन्य विषयों में अत्यधिक अशक्य कार्यों को भी स्वात्मबल से कर डालते हैं यथा व्यायाम आदि कार्य । यह बल या सामर्थ्य स्वस्वभाव बल की प्राप्ति से ही आता है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त से यह बल प्राप्त नहीं होता । सर्वकर्तृत्वलक्षण वाले आत्मतत्त्व के बल की

---

१. स्पन्दनिर्णय ।
२. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।
३. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' ।

आवश्यकता होती है । मायीय कर्ता माया के द्वारा शक्ति के प्रतिबद्ध हो जाने के कारण इस बल की प्राप्ति का उपाय किसी अन्य नियत कारणान्तर को मानता है और उस नियत कारणान्तर से नियत कार्य ही संपादित हो पाने को मानता है । किन्तु यदि वह यह सोच ले कि 'इस कार्य को मैं भी कर सकता हूँ' और पूर्ण सोत्साह होकर उस बल का अवलम्बन लेकर उस कार्य को करना चाहे तो उस कार्य को संपादित कर सकता है । किन्तु यह युक्ति प्राप्त करना केवल योगियों के लिए ही संभव हो पाता है—'इति युक्तिर्योगिन एव प्रतिपत्तिगोचरीभवति ।' यह उन्हें ही दृष्टान्तीकृत करके इस दार्ष्टान्तिक वाक्य को उपदिष्ट किया गया अर्थात् दुर्बल व्यक्ति भी सबल की भाँति संपाद्यकार्य को संपादित करने में समर्थ होता है और यह कार्य स्वस्वभावबल के आक्रमण (संप्राप्ति) द्वारा ही निष्पन्न होता है ।

तथा—उसी प्रकार समस्त कार्यों को संपादित करने में स्वतन्त्र स्वबल को प्राप्त करके और उसे स्वशक्ति द्वारा अधिष्ठित करके । **योऽतिबुभुक्षितः**—अत्यन्त भोजने-च्छाविष्ट व्यक्ति । उस बुभुक्षा को **आच्छादयेत्**—स्थगित कर दे । स्थगित कर देना चाहिए । स्वस्वरूपप्रथन के द्वारा अन्नादिक अभ्यवहार (भोजन करने की क्रिया) रूप कारण द्वारा क्षुधा-निवृत्ति रूप कार्य निष्पादित होता है । व्यक्ति को नित्य तृप्त होना चाहिए । प्रतिबन्ध-विदलन द्वारा व्यक्ति को असामर्थ्य का तिरोभाव करना चाहिए ।[१]

शाक्तबल (स्पन्दात्मिका शक्ति) के द्वारा सर्वकर्तृत्व की प्राप्ति—

स्पन्दात्मक आत्मबल एवं सर्वज्ञता तथा सर्वकर्तृत्व—जिस प्रकार दुर्बल शरीर वाला व्यक्ति भी आवेशावस्था में अशक्य कार्य को भी, अलक्ष्य आत्मबल की सहायता से निष्पादित कर लेता है और अत्यन्त क्षुधार्त होने पर भी अपनी बुभुक्षा को शमित कर लेता है उसी प्रकार सिद्धयोगी शरीर के अत्यन्त निर्बल होने पर भी स्पन्दात्मक आत्मबल पर अवस्थित होकर बड़े से बड़े दुष्कर कार्य भी निष्पादित कर लेता है ।

भट्टकल्लट—जिस प्रकार कोई अशक्तव्यक्ति अपने उद्योग बल का आश्रय ग्रहण करके व्यायामादिक बल से महती शक्ति प्राप्त कर लेते हैं उसी प्रकार योगी क्षीण धातु होने पर भी अपने अदम्य उत्साह बल से आत्मबल प्राप्त करके कठिन कार्यों को निष्पादित करने हेतु उन्मुख हो जाता है । इसके अतिरिक्त वह इसी स्वभाव का संतता-नुशीलन करने से अत्यधिक क्षुधार्त होने पर भी अपनी क्षुधा को अपने वश में कर लेता है । इसका कारण क्या है ? कारण है—'सर्वत्रैवात्मस्य रूपस्य कार्यकारण संपादन सामर्थ्यमविलम्बनम् ॥ अर्थात् स्वरूप में सर्वत्र कार्यों एवं उनके कारणों को सत्ता प्रदान करने की शक्ति है ।

भट्टकल्लट कहते हैं—'क्षीणधातुरपि तद्बलमुत्साहलक्षणमाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते, यथा च कश्चिद् अशक्तोऽपि व्यायामाभ्यासेन महती शक्ति प्राप्नोति उद्योग बलेन, तथानेन स्वभावानुशीलनेन बुभुक्षामपि आच्छादयति योऽतिबुभुक्षितः स्यात् यतः सर्वत्रैवा-त्मस्य रूपस्य कार्यकारणसंपादनसामर्थ्यमविलम्बितम् ॥ ३८ ॥

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति'

जिस किसी भी सामान्य शरीर में संवेदक स्पन्दतत्त्व स्थित हो उसमें उसके अनुकूल देश, काल एवं आकार में सर्वज्ञता आदि धर्म अभिव्यक्त होते हैं वहाँ देहाभिमान से मुक्त होकर उस आत्मतत्त्व को ही अहं रूप में अनुभव करने वाले योगी में सर्वव्यापक, सार्वदेशिक सर्वज्ञता आदि धर्म अवश्य व्यक्त हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

भट्टकल्लट कहते हैं—'अनेनात्मस्वभावेन अधिष्ठिते व्याप्ते शरीरे सर्वज्ञातदो यस्मात्, तत्र स्वल्पयूकाभक्षणमपि क्षिप्रमेव जानाति, तथा स्वात्मन्यवहितस्य सर्वत्र सर्वज्ञता भविष्यति ॥ ३९ ॥

आवेश और शाक्त बल—किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में, किन्हीं भयास्पद स्थितियों में एवं एकाग्रता की प्रगाढ़ता में या तीव्रावेश में व्यक्ति ऐसे कार्य कर डालता है जो कि सामान्यत: कभी कर ही नहीं सकता ।

'आवेश' भी आत्मबल (स्पन्द शक्ति या संवित् शक्ति) की शक्ति है । मन में उदित होने वाली अनन्त इच्छाओं, चिन्ताओं एवं क्षोभों के अन्तराल में स्थित नित्योदित उन्मेषतत्त्व, एकाग्र मनोभाव के क्षणों में, प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है ।

आवेश अकस्मात् प्रकट होने वाली वह अत्यन्त प्रबल एवं अदम्य वृत्ति या चिकीर्षा शक्ति है जिसके द्वारा शरीर में शाक्त शक्ति अलक्ष्य रूप में प्रवाहित होने लगती है । यह प्रत्येक प्राणी में विद्यमान आत्मशक्ति का अस्थायी संस्पर्श है । यह आवेशात्मक शाक्त प्रेरणा कहीं बाहर से नहीं आती प्रत्युत् हृदय में ही निहित रहती है और स्पर्शमात्र से उद्‌बुद्ध हो जाती है ।

सामान्य पशुओं में भी आवेशात्मक स्थितियों में आश्चर्यजनक कार्य करने के अनेक प्रमाण मिलते हैं (यथा गाय का सिंह से लड़ जाना आदि) यह शक्ति भी आत्मबल का उदाहरण है । मानवों में यह शक्ति आत्मबल से पूर्णत: सम्बद्ध है जब कि पशुओं में क्षणिकावेश के कारण इन आवेश का सम्बन्ध स्पन्द तत्त्व से उतना नहीं है ।

स्पन्दतत्त्व के समावेश से अधिगत शक्तियाँ—
(सर्वज्ञता आदि सिद्धियों की प्राप्ति)

अनेनाधिष्ठिते देहे यथा सर्वज्ञतादयः ।
तथा स्वात्मन्यधिष्ठानात् सर्वत्रैवं भविष्यति ॥ ३९ ॥

इस (आत्म स्वभाव) से शरीर के व्याप्त होने पर उसमें सर्वज्ञता आदि धर्म अभिव्यक्त हो उठते हैं उसी प्रकार (देहाभिमान से मुक्त होकर) आत्मतत्त्व को ही अहं के रूप में अनुभव करने वाले योगी में सर्वव्यापक सर्वज्ञत्व आदि धर्म अभिव्यक्त हो उठते हैं ॥ ३९ ॥

*** सरोजिनी ***

प्रस्तुत कारिका में आत्मबल की महिमा पर प्रकाश डाला गया है । किसी विशिष्ट परिस्थिति में व्यक्ति कुछ असाधारण कार्यों को निष्पादित कर डालता है जिसे वह सामान्य स्थितियों में निष्पादित नहीं कर सकता । इसे 'आवेश' का अभिधान दिया जाता

है। यह आवेशात्मक बल सामान्य व्यक्तियों में तो क्षणस्थायी होता है किन्तु योगियों में यह सार्वकालिक, सार्वत्रिक एवं सर्वावस्थानुगत होता है । यह उनमें अत्यन्त विलक्षण तीव्रता के साथ विद्यमान होता है और स्थायी होता है क्योंकि वे अपनी अहन्ता को आत्मा से तादात्म्यपूर्वक अनुभव करते हैं ।

अनेन = इससे । स्वस्वाभस्वरूप स्पन्दतत्त्व के द्वारा ।

अधिष्ठिते = अधिष्ठित होने पर । व्याप्त होने पर ।

यौगिक विभूतियों की प्राप्ति—उक्त कारिका में सर्वज्ञतादिक यौगिक विभूतियों की प्राप्ति का वर्णन किया गया है । योगशास्त्र में भी इन विभूतियों का वर्णन किया गया है तथा—'परिणामत्रय संयमादतीतानागतज्ञानम् ॥' (यो०सू०) (३।३) अर्थात् तीनों परिणामों में संयम कर लेने से अतीत, भूत एवं अनागत तीनों का ज्ञान हो जाता है ।

'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ (योगसूत्र ३।१७) ।

शब्द अर्थ और ज्ञान—इन तीनों का जो एक में दूसरे का अभ्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है उसके विभाग में संयम करने से संपूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है । न केवल इस शरीर के सम्बन्ध में वह सर्वज्ञ हो जाता है प्रत्युत् उसे सर्वत्र सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है ।

योग मार्ग की विभूतियाँ—जिस प्रकार इस तत्त्व के द्वारा शरीर के व्याप्त होने पर सर्वज्ञता आदि गुण अपने को व्यक्त कर देते हैं उसी प्रकार जहाँ भी योगी अपनी अन्तरात्मा में स्थित होता है वे उपर्युक्त गुण अपने को व्यक्त कर देते हैं ॥ ७ ॥

स्वस्वभावात्मा स्पन्दतत्त्व से शरीर के व्याप्त (अधिष्ठित) हो जाने पर जैसे प्राणी के तदवस्थोचित अर्थानुभव करणादिरूप सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्वादि धर्म उत्पन्न हो जाते हैं।[१]

कूर्मासंकोच के समान सर्वोपसंहार द्वारा या महाविकास की युक्ति द्वारा या जब अपनी अनपायिनी चिद्रूप आत्मा में अधिष्ठान करता है तब उस अभिज्ञान के प्रत्यभिज्ञात हो जाने पर वहीं समावेश की स्थिति प्राप्त हो जाती है । तब साधक सर्वत्र अर्थात् शिव से लेकर क्षितिपर्यन्त शङ्करोचित सर्वज्ञता, सर्वकर्तृत्व रूप गुणों से युक्त हो जाएगा ॥[२]

जिस प्रकार सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण तथा तदवस्थो चित अर्थानुभव व्यक्ति के शरीर में तब प्रकट होते हैं जब कि वह शरीर अपने स्वरूप से अभिन्न स्पन्द तत्त्व से अधिष्ठित हो जाता है उसी प्रकार यह सशरीरी आत्मा (Embodied Self) चिद्रूप आत्मा में स्थित होने पर (चाहे वह कछुए के अंग-संकोच की भाँति अपनी समस्त ऐन्द्रिय क्रियाओं को समेट कर या अपना पूर्ण विकास करके अभिज्ञानों से प्रत्यभिज्ञात समावेश की स्थिति या आत्मा पर प्रगाढ़ ध्यान करके एवं शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त सर्वत्र सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों को शिव बनकर प्राप्त कर लेता है) ।[३]

१-३. स्पन्दनिर्णय ।

भट्टकल्लट 'वृत्ति' में इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

अनेनात्मस्वभावेन अधिष्ठिते व्याप्ते शरीरे सर्वज्ञतादेयो यस्मात् तत्र स्वल्प यूकाभक्षणमपि क्षिप्रमेव जानाति, तथा स्वात्मन्यवहितस्य सर्वत्र सर्वज्ञता भविष्यति ।[१]

स्वस्वभाव के द्वारा अपने इस शरीर पर अधिकार कर लेने से इसके विषय में जैसे सर्वज्ञता आदि गुणों की प्राप्ति हो जाती है—कोई छोटा सा कीड़ा छू जाय तो पता चल जाता है उसी प्रकार अपने स्वरूप, या स्वभाव पर आधिपत्य स्थापित हो जाने पर सर्वत्र सब कुछ ज्ञात हो जाता है ।

'ज्ञानसंबोध' में कहा भी गया है—सब कुछ वही है क्योंकि वह व्यापक है । वह स्वभाव से ही सर्वज्ञ है । 'यह पुरुष सर्वज्ञ है'—इसी से सर्वज्ञता प्रस्फुटित होती है—

इस संदर्भ में यह भी कहा गया है—यदि सबके हृदय में विद्यमान तुम सर्वदा सर्वज्ञ न होते तो भला, नष्ट पदार्थविषयक स्मृति किसी को कैसे होती? जन्म लेते ही बालक स्तनपान की शिक्षा किससे प्राप्त करता है? छोटे-छोटे जन्तुओं को जल में तैरना कौन सिखाता है? यह सब तुम्हारी **सर्वज्ञता का ही उल्लास है**—

'सर्वज्ञः सर्वदैव त्वं सर्वस्य हृदये न चेत् ।
केनाऽन्यथास्य संभाव्या नष्टार्थविषया स्मृतिः ॥

तदहर्जातबालैश्च स्तनपानं क्व शिक्षितम्?
प्राणिभिर्वाप्सु तरणमेतत् सर्वज्ञ चेष्टितम् ॥'

अन्य भी कहा गया है—जो निम्नांकित है—

मधुमक्खी जब मधुसंचय करने लगती है तब उसको यह संवित् कैसे होती है कि मुझे किसका रस लेना चाहिए? किसका नहीं लेना चाहिए? कौन स्वादिष्ट है और कौन अस्वादिष्ट?—यह आपका ही विलास नहीं तो और क्या है? नन्हें-नन्हें कीड़े भी अपने भरण-पोषण की आश्चर्यजनक व्यवस्था कर लेते हैं । अज्ञानी पशु हाथी अपने ऊपर जल फेंककर स्नान करता है । वह किसके ज्ञान का फल है? भोले हिरनों को संगीत की पहचान कैसे होती है जिससे वे खाना-पीना भी भूल जाते हैं?—इस अनन्त संवित् का विलास हुए बिना चूहा बिल में रहते हुए भी बिल्ली से क्यों डरता है? विवेकरहित कछुआ पानी के भीतर छिप जाता है और अपने समस्त अंगों को समेट लेता है—यह बुद्धि उसे कहाँ से प्राप्त होती है? आत्मसंवित् ही तो मोर में बैठकर नाच रही है । पक्षी अगाध जल में कूदकर मछली पकड़ने का कौशल किससे सीखता है? हंस नीर से क्षीर का विवेक करने की संवित् किससे प्राप्त करता है? छोटा से छोटा जीव बोलकर अपनी भावना कैसे प्रकट करता है?

प्रातःकाल 'आज यह-यह काम करना है'—ऐसा संकल्प कहाँ से उदय होता है? मूर्ख पशुओं को अपने सींग, दाँत और पंजे से दूसरों पर प्रहार करने की विद्या किसने

---

१. भट्टकल्लटः स्पन्दकारिकावृत्ति (३९) ।

सिखाई है? यदि भीतर अखण्ड संवित् स्पन्दित न होता तो हाथी को अपने बल और सिंह को अपने तेज का पता कैसे चलता?

पशु पक्षियों को भी अतिवृष्टि और अनावृष्टि, एवं भूकम्प आदि की पूर्वसूचना कहाँ से प्राप्त हो जाती है? यमराज के समान भयंकर सिंह आदि प्राणियों से भी मनुष्य का प्रेम हो जाता है। बिना सबके हृदय में एक संविद् की स्थिति होते हुए भला ऐसी मित्रता या मिलनसारी कहाँ से आती है?—

भक्ष्यं स्यात्किमभक्ष्यं वा स्वाद्वस्वाद्विति निश्चये ।
मक्षिकाणं कुतः संवित्? क्षौद्रसंचितिकर्मणि ॥
सर्वज्ञस्याप्यधिष्ठातुस्तद्विजृंभितमन्यथा ।
कृमिमात्राल्पकायानां संम्भृतिर्विस्मयास्पदम् ॥
कतकस्य फलं वारिप्रसाधन विधित्सया ।
द्विपः सिपति तस्येषा प्रज्ञा ह्यज्ञस्य किं पशोः ॥
गीताकर्णनवैदग्ध्यं मुग्ध बुद्धेर्मृगस्य किम् ।
संभाव्यते हि येनाऽस्य रोमन्थविरता स्थितिः ॥
भक्षयिष्यति मामित्थमाखार्विवरवर्तिनः ।
मार्जारं प्रति का शंका सर्वज्ञ ज्ञापनं विना ॥
भयात् कूर्मः सवार्यन्तः सर्वाण्यंगानि गूहते ।
दुर्भेदबुद्धिस्तत्रास्यविवेकविकलस्य किम् ॥
वीक्ष्यान्यक्षीणपक्षाणां वैलक्षण्यमचेतनः ।
नृत्तमारभते बर्हीं स्फुरितं तज्जगद्गुरोः ॥
अगाधजलमध्यस्थमत्स्यभक्षणलक्षणम् ।
केनोपदिष्टं तन्मग्दोरनुमानं विना कृतम् ॥
अशक्तशक्ति कस्येयं सलिलात् पिबतः पयः ।
हंसस्य न पुनस्तस्य हृदयान्तर वर्तिनः ॥
कृकवाकोर्गिरः कस्मात् क्षेत्रज्ञव्यापिन विना ।
यासामाकलनोद्युक्तो कालवित्कलना ततः ॥
प्रवर्तते दिनारंभे निर्भ्रान्त कृत संविधिः ।
शृदन्त नखादीन प्राणिनामायुधानि यत् ॥
परप्रहरणोद्रेके केनाख्यातान्यसंविदाम् ।
बलं तेजः करी सिंहो जानाति निजभूर्जितम् ॥
को हेतुर्यावदन्तस्थप्रतिपत्तिर्न सस्फुरा ।
अतिवृष्टेरनावृष्टेर्व्यञ्जकं चिह्नमिङ्गितैः ॥
सूचयन्ति न तच्चित्रं पशवः पक्षिणोऽपि यत् ॥
कृतान्तकल्पैः सिंहाद्यैः प्रीतिः प्राणभृतां कुतः ।
विनैकस्य हृदिस्थस्य संवित्संवादसुस्थितम् ॥

यह सब आत्मसंवित् की ही विशेषाभिव्यक्ति है । अपने स्वरूप में स्थिति अर्थात् सबके स्वरूप में स्थिति है । कभी स्वरूप से च्युति नहीं होती । यही युक्ति है जिससे सर्वत्र सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता आदि अभिव्यक्त हो जाते हैं । कहा भी गया है—

एक ही भाव सबका स्वभाव है । सभी भाव एक ही भाव के स्वभाव हैं । जिसने एक ही भाव को तत्वतः अनुभव कर लिया उसने सभी भावों को तत्वतः अनुभव कर लिया—

एको भावः सर्वभावस्वभावः सर्वे भावा ह्येकभावस्वभावाः ।
एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः ॥

इस संबन्ध में एक रहस्य-युक्ति है कि जिस-जिस शरीर में संवित् दृढ़ता प्राप्त करेगा वहीं-वहीं उसके समस्त गुण प्रकट हो जाएँगे—

'रहस्ययुक्तिरत्रेयं शरीरे यत्र यत्र च ।
संविदो दार्ढ्यलाभः स्यात्तत्र तत्र गुणोदयः ॥[१]

सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्व आदि गुणों की अभिव्यक्ति के उपायों को प्रतिपादित करके कारिकाकार अब एक उपपत्ति के निदर्शन के द्वारा उसे प्रदर्शित कर रहा है ।

अनेन = इस चेतन आत्मा के द्वारा ।

अधिष्ठिते = अधिष्ठित होने पर ।

मैं हूँ—इस प्रतिपत्ति के द्वारा अध्यासित होने पर, **देहे** = शरीर के ।

सर्वज्ञतादयः = सर्वज्ञातृत्व आदि । शरीराश्रित समस्त ज्ञेय कार्य । सर्व+ज्ञता । 'ज्ञता' = ज्ञातृत्वादिक जिसमें हों वे वे ही कर्तृत्वादिक धर्म । **यथा** = जिस प्रकार । सभी में स्थित हैं ।

व्यक्ति केवल अपने शरीर के स्तर पर ही सर्वज्ञ नहीं हो जाता प्रत्युत् वह सर्वत्र सर्वज्ञ हो जाता है । यह आत्मा जिस जिस भी पदार्थ को अहं के रूप में स्वीकार करता जाता है वे सभी उसके शरीर बनते जाते हैं और समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ उसके आश्रित होते जाते हैं । वह इन सभी को जानने लगता है और सभी कार्य करने लगता है ।

तथैव = उसी प्रकार, देह की अहं के रूप में स्वीकार करने या अहं को देहाधिष्ठान मानने की भाँति ।[२]

ग्लानि और उसकी निवृत्ति—

ग्लानिर्विलुण्ठिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ॥ ४० ॥

---

१. उत्पलदेवाचार्य—'स्पन्दप्रदीपिका' । २. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' ।

औदासीन्य (मानसिक क्षोभ) शरीर में (धातु, बल, उत्साह, तेज शक्ति आदि) सभी कुछ नष्ट कर देने वाली है और उसका प्रसार अज्ञान से होता है । यदि वह उन्मेष के द्वारा उन्मूलित कर दी जाय तो कारण का अभाव होने से (वह) कहाँ से उत्पन्न हो पायेगी? ॥ ४० ॥

* **सरोजिनी** *

अज्ञानतः सृतिः = अज्ञान से संसरण चक्र का प्रादुर्भाव होता है । बौद्ध धर्म में भी इसे 'अविद्या' के रूप में ग्रहण किया गया है । 'भवचक्र' की प्रथम शृंखला 'अविद्या' मानी गई है ।

विलुप्तं = 'विच्छिन्नं । निमूर्लतां नीतं ॥' (**रामकण्ठाचार्य**)

उन्मेषेण = स्वभावालोकविकासेन (**रामकण्ठाचार्य**)

विलुण्ठिका = धातुबलवर्णतेजःशक्त्यादीनां हठेन हर्त्री ॥ (**रामकण्ठाचार्य**) **सृतिः** = सरणं, प्रवृत्तिः ।

ग्लानि = हर्षक्षति अनुत्साहरूपा । (उत्पलाचार्य) ॥

विलुण्ठिका = विलुम्पिका । विनाशिनी । (उत्पलाचार्य) ॥

भट्टकल्लट ने 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार की है—'ग्लानिः किल शरीरस्य विनाशिनी । सा च ग्लानिरज्ञानादुत्पद्यते । तदज्ञानम् उन्मेषेणात्मस्वभावेन यदि नित्योज्झितं तदा सा कुतः, कारणरहिता भवेत्? अनेनैव कारणेन वलीपलितभावः शरीरदार्ढ्यं च योगिनाम् ॥'[१]

उन्मेषेन = आत्मस्वभावेन (उत्पलाचार्य) दुःख की अनुभूति शरीर का चोर है । यह अज्ञान से उत्पन्न होती है । यदि यह अज्ञान उन्मेष के द्वारा विलुप्त होता है तो अपने कारण के अभाव में यह दुःख भला कहाँ रह सकता है ?

दुःख की भावना जो कि व्यक्ति अपने शरीर को अपनी आत्मा मानकर अनुभव करता है—चोर की भाँति कार्य करती है जब कि यह पूर्णज्ञान के धन को चुराती है एवं बन्धन रूपा निर्धनता देती है । दुःखोत्पत्ति एवं उसकी सत्ता अज्ञान के कारण या आनन्द एवं ज्ञान से अभिन्न अपने आत्मस्वरूप की अप्रत्यभिज्ञा (Non recognition) के कारण होती है ।

अज्ञान एवं अप्रत्यभिज्ञान एक ही तथ्य के दो पक्ष हैं ।

दुःखों के नष्ट हो जाने पर शरीर के अपरिहार्य दुःख भय भोग लुप्त हो जाते हैं और इनके लुप्त होने के अनुपात में योगी का यथार्थ स्वरूप उसी प्रकार प्रकट हो जाता है यथा स्वर्ण के तपाये जाने पर एवं उसके मल के नष्ट होने पर स्वर्ण अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट होता है अतः योगी का महत्तम धन है—अपनी दैहिक सत्ता में भी दुःखात्यन्ताभाव । जैसा कि योगिनी मदालसा ने भी कहा है कि—

---

१. स्पन्दकारिकावृत्ति (कल्लट) ।

'त्वं कञ्चुके शीर्यमाणे निजेस्मिन्देहे हेये मूढ़तां मा व्रजेथा: ।

शुभाशुभै: कर्मभिर्देहमेतन्मदादिभि: कञ्चुकस्ते निबद्धः ॥ मा०पु० २५।१४ ॥ क्षीयमाण देह के रहने पर भी परमयोगियों को ग्लानि कभी नहीं होती—और यह ग्लान्य-भाव ही योगियों की विभूति है । 'देहावस्थितस्यापि सर्वदा ग्लान्यभाव एव परयोगिनो विभूति: ॥' **अज्ञान** = 'अज्ञानं नाम जन्मपरिणामविवृद्धिक्षयविनाशात्मकविकारविर-हित नित्यनिर्विकारस्वस्वभावाप्रत्यभिज्ञानात् जन्मादिविकाराधिकरणे कलेवरादौ आत्माभि-मान: ॥ यस्मिंश्च सति प्रबुद्धो जन: तद्विकारान् जन्मादीन् आत्मनि आरोपयन् ग्लान्या विलुण्ठ्यते ॥ (**रामकण्ठाचार्य**) ।

आचार्य उत्पलदेव इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मसंवित् के उल्लास को कुण्ठित, लुप्त या विनष्ट करने वाली यदि कोई वस्तु इस शरीर में है तो वह है—**ग्लानि** । ग्लानि का अर्थ है अनुत्साह । उत्साह से ही स्वभाव की अभिव्यक्ति होती है । ग्लानि का जनक है—**अज्ञान** । यदि आत्मस्वभाव द्वारा उस अज्ञान को नष्ट कर दिया जाय तो जीवन में ग्लानि या अनुत्साह नहीं रह सकते । इसी अज्ञान और ग्लानि को मिटाकर योगी लोग जरा-मरण को मिटाकर शरीर को दृढ़ कर लेते हैं ।

ग्लानि = हर्षक्षति । अनुत्साहरूपा हर्षक्षति । **विलुण्ठिका** = विलुम्पिका, विनाशिनी । **सृति** = सरण । **विलुप्त** = निर्णोदित, नाशित ।[१]

ग्लानि = मान्द्य आदि जनित हर्ष की हानि ।

सा = वह ग्लानि । **'देहे'** = षाट्कौशिक कलेवर में ।

विलुण्ठिका = धातुबलवर्णतेज एवं शक्ति आदि का हठपूर्वक हरण करने वाली । **तस्याश्चाज्ञानत:** = प्रतिपादित तत्त्वावगमाभाव के कारण । **सृति:** = सरण अर्थात् प्रवृत्ति । **तत्** = अज्ञान । **उन्मेषविलुप्तं** = 'उन्मेष' के द्वारा अर्थात् वक्ष्यमाण स्वभावा-लोकविकास के द्वारा, **विलुप्त**—विच्छिन्न या निर्मूल । (ऐसी स्थिति में यह ग्लानि कारण-रहित होने के कारण भला अस्तित्व में कैसे रह सकती है? स्पष्ट है कि कारण के बिना कार्य रहता ही नहीं ।)

अज्ञान—जन्म-परिणाम-विवृद्धि-क्षय-विनाश से युक्त-विकारों से विरहित, नित्य, निर्विकार, स्वस्वभाव के अप्रत्यभिज्ञात होने से जन्मादिविकाराधिकरण शरीरादिक में जो आत्माभिमान है वही अज्ञान है—'अज्ञानं नाम जन्मपरिणामविवृद्धिक्षयविनाशात्मक-विकारविरहितनित्यनिर्विकारस्वस्वभावाप्रत्यभिज्ञानात् जन्मादिविकाराधिकरणे कलेवरादौ आत्माभिमान: ॥'

इसके होने से ही अप्रबुद्ध व्यक्ति उन विकारों को अर्थात् जन्मादिक विकारों को आत्मा में आरोपित करके ग्लानि के कारण विलुण्ठित हुआ करता है (लूट लिया जाता है, लँगड़ा हो जाता है) 'लुण्ठ' = चुराना, लूटना, सामना करना, लंगड़ा होना ।—

---

१. स्पन्दनिर्णय—क्षेमराज । २. उत्पलाचार्य—स्पन्दप्रदीपिका ।

लुण्ठति । लुण्ठिष्यति । अलुण्ठीत । लुण्ठयति । = लुण्ठक (डाकू, चोर) । **लुण्ठन** = लुण्ठा (लूट, डाका) लुण्ठी (लूटपाट) । लुण्ठक = डाकू ।

वक्ष्यमाण उन्मेष के परिशीलन से आविर्भूत सत्यात्मप्रत्यय वाले व्यक्ति को ग्लानि कैसे हो सकती है? **सहजानन्दहानिरूप ग्लानि का अभाव होना ही मुख्यफल है** और साधना का गौण फल है—वलीपलितादिक का अभाव ।—इन दोनों के अभाव की स्थिति में कारण के बिना कार्याभाव के कारण—भला ग्लानि कैसे रह सकती है? कहा भी गया है—'अनेनैव कारणेन वलीपलिताभावः शरीरदार्ढ्यं च योगिनाम्' ।[१]

'उन्मेष' द्वारा अज्ञान उन्मूलित होता है । 'उन्मेष' का स्वरूप क्या है? कारिकाकार कहता है—

'एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥

उन्मेष = आत्मबल । आकस्मिक आत्मबल । यदि किसी चिन्तनकर्ता का चित्त किसी एक विषय से सम्बद्ध चिन्ता में एकाग्रभाव से डूबा हुआ हो तो उसमें जिस स्वभाव के द्वारा सहसा कोई अन्य चिन्ता उभर आती है तो उस दूसरी चिन्ता की उत्पत्ति का कारण उन्मेष (आत्म बल का आकस्मिक विकास) है । कारिकाकार का कथन है कि 'ग्लानि' (औदासीन्य, बौद्धिक शैथिल्य, क्षोभ) शरीर के बल, तेज, धातु आदि सभी का विनाश करने वाली है । यह **'ग्लानि' अज्ञान से उत्पन्न होती है ।** यदि 'उन्मेष' का विकास किया जाय तो इस अज्ञान का मूलोच्छेद किया जा सकता है । अज्ञान के नष्ट होने पर (कारण के उच्छिन्न हो जाने पर) ग्लानि रूप कार्य का स्वयमेव उच्छेद हो जाता है ।

ग्लानि अज्ञान एवं उन्मेष—कारणकार्यवाद (Causation) (क) **'कारण'** = 'अज्ञान' (ख) **'कार्य'** = 'ग्लानि' । कारण का उच्छेद हो जाने पर कार्य स्वयं उच्छिन्न हो जाता है । **कारण (अज्ञान)–कार्य (ग्लानि)** ।

उन्मेष—अज्ञान का ध्वंस—ग्लानि का ध्वंस ।

ग्लानि = शरीर की विनाशक शक्ति है—'ग्लानिः किल शरीरस्य विनाशिनी',[२] 'ग्लानिर्विलुम्पिका देहे' ।[३]

'ग्लानि' और 'अज्ञान' का क्या सम्बन्ध है? यह 'ग्लानि' नामक मानसिक वृत्ति केवल 'अज्ञान' से उत्पन्न होती है—'सा च ग्लानिरज्ञानादुत्पद्यते ॥'[४]

'अज्ञान' का उच्छेद कैसे हो सकता है?—अज्ञानोच्छेद 'उन्मेष' से हो सकता है 'तदज्ञानम् उन्मेषेणात्मस्वभावेन यदि नित्योज्झितं तदा सा कुतः, कारणरहिता भवेत् ॥'[५]

योगियों के शरीर पर जरा के लक्षण क्यों नहीं होते?—कारणरूप **'अज्ञान'** के नष्ट हो जाने पर कार्यरूप **'ग्लानि'** भी नष्ट हो जाती है और **'उन्मेषतत्त्व'** का प्राचुर्य

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' ।
२. भट्टकल्लट—'स्पन्दसर्वस्व' । ३-५. स्पन्दकारिका ।

भी वर्तमान रहता है अतः योगी के शरीर में 'वलीपलित' नहीं होतीं और योगी का शरीर इनके अभाव के परिणामस्वरूप अत्यन्त दृढ़ रहता है—

'अनेनैव कारणेन वलीपलिताभावः शरीरदार्ढ्यं च योगिनाम्'[१] अर्थात् योगियों के शरीर जराजन्य झुर्रियों एवं श्वेत बालों से मुक्त होते हैं।

उन्मेष के दो पक्ष हैं—(१) सांयोगिक (आकस्मिक) (२) साधनात्मक।

(क) **साधनात्मक दशा में एकाग्रता की स्थिति में उत्पन्न उन्मेष**—जब कोई योगी विरागी होकर किसी निश्चित धारणा का आलम्बन लेकर एकाग्रता की चरमसीमा पर आरूढ़ हो जाता है तब उसमें स्वयमेव **'उन्मेष'** का आविर्भाव हो जाता है।

(ख) **भट्टकल्लट की व्याख्या—आकस्मिक या सांयोगिक उन्मेष—भट्टकल्लट** कहते हैं कि—किसी विशिष्ट विषय के विमर्शन में व्यापृत चित्त में स्वभाव द्वारा ही अकस्मात् जो चिन्ता प्रादुर्भूत हो जाती है उस चिन्ता का कारण 'उन्मेष' है।

'एकत्र विषये व्यापृतचित्तस्य यतो यस्मात् स्वभावात् झगित्यन्या चिन्तोत्पद्यते, स चिन्तायाः कारणम् उन्मेषो ज्ञातव्यः ॥'[२]

यह (उन्मेषतत्त्व) दो चिन्ताओं के मध्यवर्ती सन्धिकाल में अनुभव में आता है। यह आन्तर विमर्श का विषय है।

'यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां' कारिका (१।१) में प्रयुक्त 'उन्मेष' शब्द सङ्कल्पात्मक गतिमयता—इच्छाशक्ति—सङ्कल्प के द्योतक हैं—

'स्वस्वभावस्यैव शिवात्मक सङ्कल्पमात्रेण (प्रलयोदयौ) जगदुत्पत्तिसंहारयोः कारणत्वं' (स्पन्दकारिकावृत्तिः **भट्टकल्लट**) यह 'एकचिन्ताप्रसक्तस्य' वाली कारिका के 'उन्मेष' से पृथक् अर्थ वाला है।

उन्मेष का स्वरूप—

एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः ।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत् ॥ ४१ ॥

किसी एक विचार में संल्लीन व्यक्ति के मन में जहाँ से अन्य विचार उत्पन्न होता है उसे 'उन्मेष' समझना चाहिए तथा (व्यक्ति को) स्वयं उसको (अन्तरावलोकन के द्वारा) जानना चाहिए ॥ ४१ ॥

* **सरोजिनी** *

एकचिन्ताप्रसक्तस्य = दृश्यमान या स्मर्यमाण विशिष्ट वस्तुओं या दृश्यों के प्रति प्रसक्त व्यक्ति का इनमें से एक वस्तु की चिन्ता में मग्न होने पर **'यतो'** जिस कारण से। चिन्त्याभासानुपरक्तज्ञानात्मा स्वस्वभावप्रकाश के कारणभूत **'अपर'** (अन्य) चिन्ता से सम्बद्ध ज्ञानान्तर उत्पन्न हो जाता है।[३]

---

१. स्पन्दसर्वस्व। २. भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति'।
३. रामकण्ठाचार्यः।

पुरुष एक चिन्ता में संलग्न रहता है कि तत्काल दूसरी चिन्ता का उदय हो जाता है । यह किसके द्वारा होता है? इसी का अभिधान है—'उन्मेष' । प्रति व्यक्ति को उसी का अनुभव करना चाहिए ।

प्रथम चिन्ता की विस्मृति एवं दूसरी चिन्ता का उदय होना—इन दोनों के मध्य 'उन्मेष' स्थित है । **उस उन्मेष से अपनी आत्मा को पहचानना चाहिए** । दो चिन्ताओं के मध्य व्यापक रूप से अनुभूयमान 'स्वसंवेद्य' वही है किन्तु यह युवती के सहवास-सुख के समान उपदेश देने योग्य नहीं है ।[1]

आचार्य क्षेमराज स्पन्दनिर्णय में कहते हैं—यह 'उन्मेष' किस स्वरूप वाला है? यह किस उपाय से प्राप्य है—ऐसी आशङ्का का उत्तर देने के लिए ही ग्रन्थकार ने निम्न श्लोक कहा— 'एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः..... उपलक्षयेत् ।'

प्रसक्त = एकाग्रीभूत ।

प्रत्यभिज्ञा-टीका में भी कहा गया है कि—'शरीरमपि ये षट्त्रिंशतत्त्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति अर्चयन्ति च ते सिद्ध्यन्ति घटादिकमपि तथाभिनिविश्य पश्यन्ति अर्चयन्ति च तेऽपि इति नास्त्यत्र विवादः ।

इस विषय में कोई विवाद नहीं है कि केवल वे ही साफल्य नहीं पाते जो कि शरीर को भी शिव के रूप में मानते एवं पूजते हैं प्रत्युत वे भी जो शिव को ३६ तत्त्वों से अभिन्नमानकर पूजते हैं । उस दृष्टि से तो जो घटादि की भी पूजा करते हैं वे भी साफल्य पा लेते हैं ।[2]

भट्टश्रीवामन का कथन है कि—क्योंकि ज्ञात वस्तु चेतना पर स्वयं आधृत है तथा क्योंकि इसे चेतना से पृथक् रूप में विद्यमान के रूप में कल्पित नहीं किया जा सकता अतः सब कुछ चेतना का विषय है अतः प्रत्येक को चेतना के साथ अपनी अभिन्नता की अनुभूति करनी चाहिए—

'आलम्ब्य संविदं यस्मात्संवेद्यं न स्वभावतः ।
तस्मात्संविदितं सर्वमिति सविन्मयो भवेत् ॥'

श्रीज्ञानगर्भस्तोत्र में कहा गया है—'तुम्हारी क्रीड़ामय इच्छा (Playful desire) भेद का कारण बनती है जो कि 'प्रमाता' 'प्रमा' या 'ज्ञान' एवं 'ज्ञेय' के रूप में स्थित है। वह भेद (बहुत्व) तुम्हारी क्रीड़ात्मिका इच्छा के समाप्त हो जाने पर समाप्त हो जाती है । इस प्रकाश में कोई ज्ञानी पुरुष इसे अनुभव करता है—[3]

'प्रमातृ-मिति-मान-मेयमय भेदजातस्य ते ।
विहार इह हेतुतां समुपयाति यस्मात्त्वयि ॥
निवृत्तविवृतौ क्वचितदपयाति तेनाध्वधुना ।
नयेन पुनरीक्षते जगति जातुचित् केनचित् ॥'

---

१. स्पन्दप्रदीपिका २-३. स्पन्दनिर्णय

(१) 'जीव' समग्र का एक रूप है। (२) 'जीव' की ही समस्त शक्तियाँ हैं क्योंकि विश्व उससे ही उत्पन्न होता है।

('सर्वभावसमुद्भवत्वं जीवस्य । संविद्येय प्रसृतायां जगत: सद्भावात्सर्वभावसमुद्भ-वत्वं जीवस्य। जीवादेव उदयति विश्वं अत: अयं सर्वमयो विश्वशक्ति: ।')[१]

जीवात्मा सर्वमयता से अभिन्न है। **जीव समग्र से अभिन्न है ।** समग्र से जीव की एकात्मता या अभिन्नता इस बात से प्रमाणित होती है कि जीव की समस्त वस्तुनिष्ठ जगत् के ज्ञान से अभिन्नता है। जगत् नील सुख दुखादि रूप है। उपर्युक्त दोनों श्लोकों द्वारा समस्त भेदों के उन्मूलन का प्रतिपादन किया गया है। स्पन्दतत्त्व द्वारा विश्वोपदेश, मोक्ष एवं अभेद का उपदेश दिया गया है—

(१) 'सर्वभेदपादयोन्मूलन उपपत्ति परिघटिताश्च ज्ञानोपदेशकथा: ।'

(२) 'स्पन्दतत्त्वेन एव विश्वोपदेश: स्वीकृता: ।'

(३) 'एतत् प्रतिपत्ति सारतया एव मोक्ष: ।'

द्वैतवाद या व्यक्तिवाद के वृक्ष का उन्मूलन एवं समस्त विश्व के साथ ऐकात्म्य-भाव, अभिन्नता एवं अद्वैत भावना ही मुक्ति है।[२]

'उन्मेष'—किसी व्यक्ति का चित्त कभी किसी प्रकार की चिन्ता में लीन रहता है और तत्क्षण उसमें किसी अलक्षित आत्मशक्ति के कारण अकस्मात् कोई अन्य चिन्ता उदित हो जाती है। आत्मबल के इस तत्कालिक उदय को ही 'उन्मेष' का अभिधान दिया गया है। इसका साक्षात्कार या इसकी संवेदना साधक के स्वयं के सूक्ष्म आत्मनिरीक्षण के द्वारा ही संभव हो पाती है स्वत: नहीं।

'उन्मेष' का स्वभाव—भट्टकल्लट कहते हैं—

यदि किसी विषयविशेष में चित्त पूर्णत: लीन है—चिन्तन एवं विचार-विमर्श में निमग्न है तो जिस स्वभाव के द्वारा उसमें अकस्मात् किसी अन्य चिन्ता का आगमन या उदय होता है उस अन्य चिन्ता के उदय (आविर्भाव) का वह मूल कारण ही **'उन्मेष'** है। 'एकत्रविषये व्यापृतचित्तस्य यतो यस्मात् स्वभावात् झगित्यन्या चिन्तोत्पद्यते स चिन्ताया: कारणम् उन्मेषो ज्ञातव्य: ॥'[३]

भाव यह कि चित्त में एक चिन्ता के व्याप्त रहने पर भी जो अन्य चिन्ता अकस्मात् उदित हो जाती है उस अकस्मात् उदित चिन्ता का कारण **'उन्मेष'** कहलाता है।

'उन्मेष' अज्ञान का उच्छेदक है—'उन्मेष' (१) एकचिन्ताप्रसक्त (एक विशिष्ट विचार-विमर्श में एकाग्र एवं निमग्न) चित्त में अकस्मात् जो अपर विचार या चिन्ता आविर्भूत हो जाती है उसका कारण मात्र 'उन्मेष' है।

(२) इसकी अनुभूति योगियों को आत्म-शोध द्वारा ही संभव हो पाती है—'स तु स्वयमेव योगिना लक्षणीय: ॥'[४]

१-२. स्पन्दनिर्णय। ३-४. स्पन्दसर्वस्व।

(३) यह दो चिन्ताओं के अन्तरालवर्ती संधि-काल की वह अनुभूति है जो कि व्यापक रूप में अनुभूत हुआ करती है—'स तु स्वयमेव योगिना लक्षणीयः, चिन्ता द्वयान्तर्व्यापकतयानुभूयमानः ॥'[१]

एकचिन्ताप्रसक्तस्य—'स्पन्दनिर्णय' नामक ग्रन्थ में आचार्य क्षेमराज ने इस पदावली की व्याख्या यह की है कि—

जब कोई योगी अपने दैनिक जीवन के समस्त दैनन्दिन आवश्यक कार्यों का त्याग करके किसी आलम्बन विशेष को पृथक्-पृथक् रूप में अपनी धारणा का विषय बनाकर उसकी गंभीर गवेषणा करते हुए एकाग्रता के चरम शृंग पर आरूढ़ हो जाता है तब उसमें स्वयमेव चित्ततत्त्व का चमत्कारमण्डित **'उन्मेष'** उदित हो जाता है ।

विवेचना—'स्पन्दनिर्णय' के अनुसार 'उन्मेष' के उदय के लिए किसी भी व्यक्ति को वीतराग होकर चित्त को योगियों की भाँति एकाग्र करना चाहिए । एकाग्रता की यह प्रचण्डता एवं तीव्रता ही **'उन्मेष'** के उदय का कारण बनती है न कि सामान्य व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में उदित सामान्य एकाग्रता ।

भट्टकल्लट का मत इससे भिन्न सा प्रतीत होता है क्योंकि वे 'एकचिन्ता-प्रसक्तस्य' का अर्थ यह करते हैं—'एकत्र विषये व्यापृतचित्तस्य' क्षेमराज की व्याख्या के अनुसार तो **'उन्मेष तत्त्व' का उदय मात्र योगियों में[२] ही संभव है**—प्रचण्ड एकाग्रता के साधक योगियों में ही इसका आविर्भाव संभव है । काश्मीरी शैवदर्शन संसारित्व में भी शिवत्व के साक्षात्कार की संभावना में विश्वास रखता है क्योंकि विश्व भी तो शिवत्व का ही स्वरूप-विकास है—शक्ति का आत्मप्रसार है—शिवशक्ति का बाह्योन्मुखी विराट् प्रसार है और उसकी बाह्यवर्ती अभिव्यक्ति है । अतः 'उन्मेष' के उदय के लिए संसार का त्याग करके गुफागत, एकान्तिक एवं वैराग्यपूर्ण जीवन ही आवश्यक नहीं है प्रत्युत् संसार के प्रतिकण में विद्यमान उस उन्मेष तत्त्व को संसार के किसी भी पदार्थ एवं उसकी किसी भी अवस्था में देखा जा सकता है ।

भट्टकल्लट 'एक विषये व्यापृतचित्तस्य' कहकर यह सिद्ध करते हैं कि 'उन्मेष तत्त्व' चित्त में प्रतिक्षण आविर्भूत एवं लयीभूत अनन्त चिन्ताओं के अन्तरालवर्ती संधिकालों में नित्य उदीयमान तत्त्व है और इसकी अनुभूति योगी ही नहीं प्रत्युत् प्रत्येक गृहस्थ भी एकाग्रता के क्षण में दो चिन्ताओं के मध्यवर्ती क्षणों में कर सकता है । **यह प्रत्येक व्यक्ति के आन्तर विमर्श का विषय है** और यह **'उन्मेष तत्त्व' 'ग्लानि'** के उत्पादक 'अज्ञान' का भी उच्छेदक है—

'ग्लानिर्विलुम्पिका देहे तस्याश्चाज्ञानतः सृतिः ।
तदुन्मेषविलुप्तं चेत् कुतः सा स्यादहेतुका ॥'[३]

'अज्ञान' बौद्ध धर्म में 'अविद्या' के रूप में ग्रहण किया गया है । यह 'अविद्या'—भवचक्र की प्रथम शृंखला है । 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का भी इससे संबन्ध है—

१-२. स्पन्दसर्वस्व ।   ३. स्पन्दकारिका (४०) ।
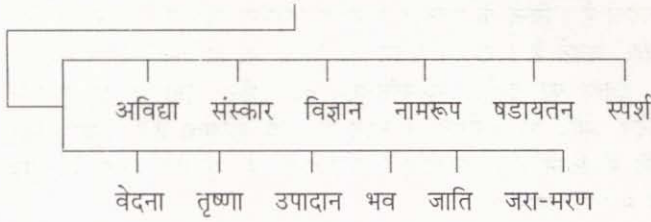
यही भव-शृंखला भी है। ये ही है—

'भवचक्र' के १२ अंग—

'अविज्जा पच्चया संखारा, संखार पच्चया विञ्ञाणं, विञ्ञापच्चया नामरूपं, नामरूप पच्चया षडायतनं, षडायतन पच्चया फस्सो, फस्स पच्चया .... 'भवचक्र' प्रथम अंग = 'अविद्या' अन्तिम अंग = 'मृत्यु'।

यौगिक सिद्धियाँ और उन्मेषानुशीलन—

अतो बिन्दुरतो नादो रूपमस्मादतो रसः ।
प्रवर्ततेऽचिरेणैव क्षोभकत्वेन देहिनः ॥ ४२ ॥

इसलिए (उन्मेष के अनुशीलन करने से) स्वल्पकाल में ही 'बिन्दु' 'नाद' 'रूप' एवं 'रस' (अभिधान वाली) सिद्धियाँ अभिव्यक्त हो जाती है किन्तु (देहाभिमानी प्राणियों को ये सिद्धियाँ) क्षोभ में डाल देती हैं ॥ ४२ ॥

*** सरोजिनी ***

अतः = उन्मेष के अनुशीलन से 'अनुशील्यमानात्' इस कारिका में यौगिक सिद्धियों पर प्रकाश डाला गया है।

अतो = (अस्मात्) इससे। अर्थात्—इस उन्मेष से। इस प्रतिपादित स्वरूप वाले उन्मेष से। 'अचिरेण' = अल्प काल में। शीघ्र ही। **प्रवर्तन्ते** = आविर्भूत होते हैं। **बिन्दु** = भ्रूमध्य आदि प्रदेशों में ध्यानाभ्यासप्रकर्ष से प्रवर्धमान उत्तरोत्तर प्रसाद तेज-विशेष। धरातत्त्व का ध्यान करने वाले योगियों के द्वारा बिन्दु के भेदाभ्यास द्वारा यह तेज विशेष आविर्भूत होता है। **नाद**—इसे व्योमतत्त्वाभ्यासी सुनते हैं। नदी—घन आदि के निर्घोष सूक्ष्मीभावाभिव्यज्यमान होकर मधुमत्त मधुकर ध्वनि का अनुकरण करने वाली स्वोच्चरित ध्वनिविशेष ॥ **रूपं**—इसे तेजस्तत्व के अभ्यासी देखते हैं। दृश्य एवं वस्तु का आकार ही रूप है। **रसो** = रसवान वस्तु की अनुपस्थिति में भी मुख में होने वाला अमृतास्वाद। इसका अनुभव लोलाग्रलम्बिका आदि में धारणा करने वालों को होता है। **पवन तत्त्व** का ध्यान करने वालों को स्पर्श विशेष एवं **जलतत्त्व** का ध्यान करने वालों को रसविशेष का अनुभव होता है।[1]

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति।

इस 'उन्मेष' का अनुशीलन करने के ही समय में भ्रूमध्य में तेजोबिन्दु का अनुभव होने लगता है । बिन्दु के पश्चात् अनाहत-अकृत्रिम नाद की अनुभूति होती है । इसे ही 'शब्दब्रह्म' कहते हैं । दूर से श्रवण की सिद्धि भी हो जाती है । अंधकार में रूप का दर्शन, देवता का दर्शन, सूक्ष्मातिसूक्ष्म का दर्शन, मुख में अमृत और षड्रस का आस्वादन आदि भी अनुभव में आते हैं । **ये क्षोभक हैं?** अर्थात् आत्मसंवित् की अनुभूति में विघ्न है । पंतजलि ने योगदर्शन में व्युत्थान काल में उत्पन्न सिद्धि को समाधि में विघ्न माना है ।

इस कारिका में प्रोक्त बिन्दु-नाद आदि का निरूपण सृष्टि-क्रम को भी ध्वनित करता है । **'उन्मेष'** से सृष्टि होती है । उन्मेष से पूर्व बिन्दु (इच्छा = दृक शक्ति का प्रसार) फिर शब्दात्मक नाद की उत्पत्ति होती है । वह क्रियाशक्ति रूपवाक् है । इसके अनन्तर रूप का उदय होता है । वह है पदार्थ का दर्शन एवं विचार । फिर उसी में इस अर्थात् अभिलाषा और उपभोग का जन्म होता है । जो रहस्यवेदी अनुभवी महापुरुष हैं वे इनको **'उद्योग'**, **'अवभास'**, **'चर्वण'** और **'विलापन'** कहते हैं । इससे स्वयं आत्म-संवित् का साक्षात्कार हो जाता है ।[1] **'नाद' शब्दात्मक, वागाख्य एवं क्रियाशक्तिरूप** है । आत्मसाक्षात्कार कैसे होता है? इसका उपाय निम्नांकित है—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥ ४३ ॥

सारांश—इस कारिका में, प्राप्त होने वाली सिद्धियों से योगियों को सावधान किया गया है क्योंकि ये सिद्धियाँ उपलब्धियाँ नहीं प्रत्युत् विघ्नपरम्परायें हैं ।[2]

योगदर्शन में भी इन्हें उपसर्ग कहा गया है—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: ॥ (पा०यो०सूत्र ३.३७)

स्पन्दात्मक शाक्त भूमिका की अनुभूति प्राप्त करना या शिवत्व या 'प्रत्यभिज्ञा' ही साध्य है—न कि निम्नकोटिक सिद्धियाँ ॥

उन्मेष से उपलक्ष्यमाण प्रलीयमान स्थूल सूक्ष्मादिक देहाहंभाव वाले योगी को शीघ्र ही भ्रूमध्य आदि में तारक का प्रकाश रूप **'बिन्दु'** (अशेष वेद्य सामान्य प्रकाशात्मा बिन्दु), **'नाद'** (सकल वाचक अविभेदशब्दनरूप अनाहत ध्वनि रूप नाद), **'रूप'**—अंधकार में भी प्रकाशक तेज **'रस'**—रसनाग्र पर लोकोत्तर आस्वाद की प्राप्ति होती है । किन्तु ये सिद्धियाँ क्षोभक हैं और विघ्न हैं—

'ते क्षोभकत्वेन स्पन्दतत्त्वसमासादनविघ्नभूतसंतोषप्रदत्वेन वर्तन्ते ॥' यदाहु:—'ते समाधातुपसर्गौ व्युत्थाने सिद्धय: ॥' (पातं०सू० ३।३७)

इस प्रकार उन्मेष निभालन (उन्मेष का अन्तरावलोकन) में उद्यत योगी के लिए भी देहात्माभिमानी के लिए बिन्दु एवं नाद की उक्त सिद्धियाँ मात्र विघ्न हैं । जो योगी अपनी देह प्रमातृता का उन्मेष के यथार्थ स्वरूप में विलय कर देता है वह सशरीरी होने पर भी

---

१. स्पन्दप्रदीपिका । २. स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य)।

परप्रमातृता प्राप्त कर लेता है—'उन्मेषात्मनिस्वभावे देहप्रमातृतां च निमज्जयति, तदाकारामपि परप्रमातृतां लभत इत्याह ॥'[१]

भट्टकल्लट 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में कहते हैं—

'अतः अस्माद् उन्मेषाद् अनुशील्यमानात् 'बिन्दुः' तेजोरूपः, 'नादः' प्रणवाख्यः शब्दः, 'रूपम्' अंधकारे दर्शनम्, 'रसः' अमृतास्वादो मुखे, ऐन क्षोभकत्वेन प्रवर्तन्ते अचिरेण कालेन ॥'

भाव यह कि सततानुशीलन किये जोने वाले उन्मेष के द्वारा योगी में अत्यल्पकाल में ही **'बिन्दु'** (एक विशिष्ट विलक्षण तेज) **'नाद'** (प्रणव या ओंकार नामक अनाहत शब्द), **'रूप'** सघन तमिश्रा में भी पदार्थों को देख सकने का सामर्थ्य एवं **'रस'** (मुख में अमृतवत मधुर अस्वाद)—एतत् प्रकार अनेक सिद्धियाँ अविर्भूत हो जाती हैं किन्तु ये सिद्धियाँ व्युत्सर्ग हैं क्योंकि ये क्षोभ में डाल देती हैं ।

विनायक गण साधकों को सिद्धियों के द्वारा अधःपतित भी करते हैं अतः योगसिद्धियों की वाञ्छा स्पृहणीय नहीं है—

'तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवाञ्छया ॥' (मा०वि०) (शिवसूत्रः २।१०)

अपने स्थिर मन को स्पन्दात्मक स्वभाव में नियोजित न करके क्षणिक प्रलोभनों में फँसाना केवल अधःपतन का कारण बनता है क्योंकि सिद्धियाँ—

'प्रसह्य चंचलीत्येव योगिनामपि यन्मनः' (स्व०तं० ४।३११)

किन्तु—'यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥ (स्व०तं० ४।३१२)

कारिकाकार का कथन है कि स्वल्प समय में ही **'बिन्दु'**, **'नाद'**, **'रूप'** एवं **'रस'** नाम्नी सिद्धियाँ व्यक्त हो जाती हैं किन्तु जिस योगी का देहाभिमान पूर्णतः गलित न हुआ हो उनके लिए ये क्षोभकारक हैं ।

आचार्य **भट्टकल्लट** कहते हैं—'अतः अस्माद उन्मेषाद् अनुशील्यमानात् 'बिन्दुः' तेजोरूपः, 'नादः' प्रणवाख्यः 'शब्दः', 'रूपम्' अंधकारे दर्शनम्, 'रसः' अमृतास्वादो मुखे, एते क्षोभकत्वेन प्रवर्तन्ते अचिरेण कालेन ॥

यौगिक सिद्धियाँ—सारांश—योगी उन्मेषानुशीलन के क्षण शीघ्र ही (साधना में स्वल्प कालातिक्रम के अनन्तर ही)—

(क) **बिन्दु** अर्थात् विशेष प्रकार के तेज का साक्षात्कार करने लगता है = आँख
(ख) **नाद**—प्रणव (ॐ) नामक अनाहत ध्वनि का श्रवण करने लगता है 'कान'
(ग) **रूप**—प्रगाढान्धकार में भी पदार्थों को देखने की क्षमता प्राप्त कर लेता है—'आँख' ।

---

१. स्पन्दनिर्णय

(घ) **रस**—मुख में अकारण अमृततुल्य स्वादों की अनुभूति करने लगता है 'जीभ'

किन्तु देहाभिमानी साधकों को ये सिद्धियाँ पतन के गर्त में ढकेल देती है—उनके क्षोभ का विषय बनती है ।

'स्पन्दकारिकाविवृति' में इन सिद्धियों का सविस्तार विवेचन किया गया है जो निम्नानुसार है—

(१) **बिन्दु** = पृथ्वी तत्त्व को धारण करने वाले योगियों को ध्यान की एकाग्रता की प्रखरता के कारण भ्रूमध्य के स्थान पर एक विशेष प्रकार का अत्यन्त प्रखर तेज प्रत्यक्षीकृत होता है । इसे ही 'बिन्दु' या 'बिन्दु-भेदन' (बिन्दु-भेद) कहते हैं ।

'बिन्दु', भ्रूमध्यादौ प्रदेशे ध्यानाभ्यासप्रकर्षप्रवर्धनमानोत्तरप्रसादस्तेजोविशेषो, यो बिन्दुभेदाभ्यासाद् धरातत्त्वध्यायिनामभिव्यज्यते ॥[१]

(२) **नाद**—आकाशतत्त्वाभ्यासीसाधक एक स्वयंभू अनाहत ध्वनि सुनने लगते हैं। यह ध्वनि प्रखर वेग प्रवाहिता किसी सरिता की उतुंग तरंगों की भीषण ध्वनि के समतुल्य होती है और यही ध्वनि शनैः शनैः मधुमत्त भ्रमरों की मधुर झंकृति के समान श्रुतिगोचर होती है—'नादो'—वेगवन्नद्यौघनिर्घोषघनोपक्रमः क्रमसूक्ष्मीभावाभिव्यज्ञमान-मधुमत्तमधुकरध्वनितानुकारी स्वोच्चरितो ध्वनिविशेषो, य व्योमतत्त्वाभ्यासिन शृण्वन्ति।[२]

(३) **रूप**—अग्नितत्त्व (तेजस्तत्व) की धारणा करने वाले योगियों को प्रगाढान्ध-कार में भी अदृश्य वस्तुएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं—'रूप'—सन्तमसाद्यावरणोऽपि सति तत्तददृश्यवस्त्वाकारदर्शने, यत् तेजस्तत्वन्यक्षनिक्षिप्तमतयो निरीक्षन्ते ॥'[३]

(४) **रस**—जलतत्त्व की धारणा करने वाले योगी अपने जिह्वा के अग्र भाग में या उसके समीपस्थ लम्बिका पर धारणाभ्यास करते हैं । इस धारणा की सिद्धि होने पर वस्तु को खाये बिना ही योगी को इन स्वादिष्ट पदार्थों के सुमधुर स्वादों की अनुभूति होने लगती है ।

'रसो' रसवद्वस्तुनि विरहेऽपि अमृतास्वादो मुखे लोलग्रलम्बिकादिधारणा निरन्तैर-भारतत्त्वध्यायभिर्उपलभ्यते ॥'[४]

इसी प्रकार की सिद्धियाँ स्पर्शतन्मात्रा एवं गंध की भी हैं किन्तु इनका उल्लेख कारिका-व्याख्या में नहीं किया गया है; यथा 'तन्त्रालोक' में, 'मालिनीविजय', 'विज्ञानभैरव' आदि ग्रन्थों में एवं पतञ्जलि के योगसूत्रों में ऐसी सिद्धियों का सविस्तार वर्णन किया गया है ।

कारिकाकार ने इस कारिका में मात्र चार तत्त्वों एवं तीन इन्द्रियों से सम्बद्ध (पृथ्वीतत्त्व, आकाशतत्त्व, जलतत्त्व एवं अग्नितत्त्व तथा चक्षुरेन्द्रिय, श्रवणेन्द्रिय एवं रस-नेन्द्रिय से सम्बद्ध) मात्र सिद्धियों का ही उल्लेख किया है अन्य सिद्धियों का नहीं ।

१-४. स्पन्दकारिकाविवृति ।

कारण यह है कि सिद्धियाँ साधनमार्ग के विघ्न हैं—'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: ।' (३।३७)[१]

स्पन्दशास्त्र के आचार्यों ने इन्हें हेय मानकर इनको कोई महत्त्व नहीं दिया क्योंकि ये सिद्धियाँ स्पन्दात्मक शाक्तभूमिका की दिव्यानुभूतियों के मार्ग के प्रत्यूह हैं । 'मालिनी वार्तिक' में कहा गया है कि विनायक गण स्वरूपानुसन्धान के यात्रियों को सिद्धियों के विघ्नों की सहायता से आगे यात्रा करने से रोककर उनको पथभ्रष्ट कर देती हैं—

'वासना मात्रलाभेऽपि योऽप्रमत्तो न जायते ।
तम नित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायका: ।
तस्मान्न तेषु संसक्तिं कुर्वीतोत्तमवांञ्छया ॥' (मालिनीविजय) ।

आचार्य क्षेमराज 'शिवसूत्रविमर्शिनी' में सूत्र (२.४) की व्याख्या में कहते हैं कि—ये सिद्धियाँ केवल 'अख्याति' (अज्ञान या महामाया) के समतुल्य हैं और साधक इन्हें प्राप्त करने के बाद मित जगत् की मित उपलब्धि मात्र से ही संतोष करके परोपलब्धि की यात्रा बन्द कर देता है । ये सिद्धियाँ अशुद्ध विद्या तथा किंचिज्ज्ञातृत्वादि भ्रामक विकल्प एवं भ्रम के कारक होने के कारण हेय हैं—

'गर्भे चित्तविकासोऽविशिष्टविद्यास्वप्न: ॥ २।४ ॥

'गर्भ: अख्यातिर्महामाया' तत्र तदात्मके मितमन्त्रसिद्धिप्रपंचे यश्चित्तस्य विकास:, तावन्मात्रे प्रपंचे संतोष:, असावेव अविशिष्टा, सर्व जनन साधारणी विद्या, किंचिज्ज्ञत्व-रूपा अशुद्धविद्या, सैव स्वप्नो, भेद निष्ठो विचित्रो विकल्पात्मा भ्रम: तदुक्तं पातञ्जले—

'ते समाधावुपसर्गो व्युत्थाने सिद्धय: ॥ (३।३७)[२]

महर्षि पतञ्जलि का मत—महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि 'ऋतंभरा प्रज्ञा' से मण्डित साधकों को पथभ्रष्ट करने के लिए इन सिद्धियों की अधिष्ठात्री देवियाँ इन्हें प्रलोभनों के चक्रव्यूह में फँसाने के लिए सदैव तत्पर रहती है ।

'स्वच्छन्दतन्त्र' में भी इसी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है—

(क) प्रसह्य चंचलीत्येव योगिनामपि यन्मन: । (स्व०तं० ४.३११)

किन्तु—

(ख) यस्य ज्ञेयमयो भाव: स्थिर पूर्ण: समन्तत: ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु (स्वं०तं० ४.३१२)

सिद्धियों के अनेक प्रकार हैं तथा—

(१) अणिमा (२) गरिम (३) लघिमा, (४) महिमा (५) प्राप्ति (६) प्राकाम्य (७) ईशित्व (८) वशित्व तथा—दूर दर्शन, दूर श्रवण, दूरास्वाद परकायप्रवेश, परचित्तज्ञान, भूचरत्व आदि ॥

महर्षि पतञ्जलि सिद्धियों को साधना मार्ग का 'उपसर्ग' मानते हैं—

---

१. योगसूत्र । २. शिवसूत्रविमर्शिनी (२.४) ।

प्रत्येक भाव में स्पन्दात्मक स्वरूप की अनुभूति द्वारा प्रथमाभास—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ।। ४३ ।।

जब योगी दिदृक्षा[1] (देखने की इच्छा) के द्वारा ही समस्त पदार्थों को व्याप्त करके दृढ़ रूप में स्थित रहता है तब अधिक कहने से क्या लाभ? (तब तो वह यह) स्वयं अनुभव करेगा ॥ ४३ ॥

* **सरोजिनी** *

आभास के दो प्रकार होते हैं—(१) **'निर्विकल्प'** (२) **'सविकल्प'** अत: आभास के **'सविकल्प आभास'** एवं **'निर्विकल्प आभास'** के रूप में द्विभेदरूप हैं । प्रथमाभास के स्तर पर समस्त भाव सामान्य स्पन्द रूप या चिद्रूप रहते हैं । उनका संवेदन भी विशुद्ध अहं के रूप वाला होता है । **सविकल्पक आभास**—स्वरूप, देश, काल एवं आकार सभी दृष्टियों से भिन्न होने के कारण इदमात्मक (इदं रूप) तथा विकल्पात्मक होते हैं । आभासों की समष्टि ही तो प्रमेयात्मक जगत् है । जहाँ भावों में भिन्नता होगी (यथा संसार में) वहाँ सविकल्प आभास ही होगा । योगी प्रथमाभास में ही स्वरूप साक्षात्कार करते हैं ।

अवभोत्स्यते—अनुभव करेगा (अनुभविष्यति) ॥

योगियों को जगत् में नानात्मकता दृष्टिगत नहीं होती प्रत्युत् सर्वत्र आत्मा का विकास ही—आत्म प्रसार ही दृष्टिगत होता है जिस पदार्थ को देखने की उत्कण्ठा जाग्रत हुई हो वह पदार्थ वस्तु की अनिश्चित या संदिग्ध दिदृक्षा के समय जो कि अपने को 'पश्यन्ती वाक्' के रूप में प्रस्तुत करता है, अपनी आन्तरिक एकता या अभिन्नता में अपने को व्यक्त करता है । उसी प्रकार जब योगी अन्दर लीन हो या उन्मेष की दशा में मग्न हो, शिव से क्षिति पर्यन्त समस्त पदार्थों को व्याप्त करके या अपने सङ्कल्प या निर्णय द्वारा समस्त विश्व को ध्यानावस्था के समय अपने से अभिन्न मानकर स्थित हो और सोचता हो कि 'मैं सदाशिव की भाँति समस्त विश्व का प्रतिनिधित्व करता हूँ'—तब वह फल जो कि प्रमातृता (Supreme experienceship) में प्रवेश के आनन्द से निर्मित हो और जो समस्त 'प्रमेयों' (Knowable) की एकता (Unification) से जागृत किया गया है—अपने द्वारा जान लिया जाएगा या अपनी चेतना द्वारा अनुभूत कर लिया जाएगा । इस विषय में अधिक कहना ही व्यर्थ है ।[2]

आचार्य उत्पलदेव आत्मसंवित् के साक्षात्कार के उपायों पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जब पुरुष दिदृक्षु होकर समस्त पदार्थों में व्याप्त होते हुए साधना में अग्रपद होता है तब **स्वभाव का अवबोध** प्राप्त कर लेता है । यहाँ इस उपदेश का आशय ज्ञातव्य है ।

---

१. प्रथमाभास (स्वरूपाभास या निर्विकल्पाभास) में अवस्थित योगी की प्रत्येक भाव में स्वस्वरूप के साक्षात्कार करने की तीव्रोत्कण्ठा ही है **'दिदृक्षा'** ।

२. क्षेमराज: 'स्पन्दनिर्णय' ।

जैसे कोई कौतूहल की वस्तु देखने के लिए सावधान होकर विकासवृत्ति से सजग हो जाता है वैसे ही समस्त पदार्थों के दर्शन की उन्मुखता रूपी वृत्ति से उदयंत्रित होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। वह स्वयं सर्वज्ञता आदि गुणास्पद अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है। यह स्थिति ही **'तत्वार्थचिन्तामणि'** में 'रहस्यमुद्रा' कही गई है।

'भोगमोक्षप्रदीपिका' में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—उन्मेष के बल से उद्यंत्रित होकर अपने स्वरूप में रहना चाहिए। वह योगी आनन्दभूमि में रहकर स्वयं आये हुए विषयों का उपभोग भी करता रहता है। यह आनन्दभूमि अत्यन्त उच्छृंखल एवं परम विकस्वर है किन्तु केवल उन लोगों के लिए जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध है। सिद्ध पुरुष सदैव इसी में आनन्दरत रहते हैं। यह परा मुद्रा है।

उद्यन्तृताबलेन तु विकासवृत्या स्वरूपगस्तिष्ठेत्।
स्वयमुपसृतेन्द्रियार्थानिशनन्नानन्दभूमिगो योगी॥
एषोच्छृंखलरूपा विकस्वरतरा प्रबुद्धबुद्धीनाम्।
सिद्धाः स्थिता सदाऽस्यां ह्यानन्दरताः परा च मुद्रैषा॥

अन्य स्थलों पर भी कहा गया है—

'सर्वाः शक्तीश्चेतसा दर्शनाद्याः स्वे स्वे वेद्ये यौगपद्येन विष्वक्।
क्षिप्त्वा मध्ये हाटकस्तंभभूतस्तिष्ठन्विश्वाधारएकोऽवभासि॥'

अर्थात् दर्शनादि समस्त शक्तियों को चित्त से उनके विषयों से एक साथ फेंककर 'उनके मध्य में स्वर्ण-स्तंभों के समान स्थिर हो जाओ। वस्तुतः तुम एक ही विश्वाधार हो॥'

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया है कि—वेश्या नारी के समान चंचल नेत्रादि शक्तियाँ जहाँ तहाँ स्वच्छन्द जाती रहती हैं। उन्हें केवल देखते रहो। इनका अनुगमन मत करो। वस्तुतः तुम सम्पूर्ण विश्व को धारण कर रहे हो और विश्व से पृथक् हो—

'स्वच्छन्दं वा यत्र तत्र व्रजन्तीर्वेशस्त्रीवच्चञ्चला या दृगाद्याः।
शक्तीः पश्यन् केवलं नानुगच्छेद्विश्वं बिभ्रद्भासितस्य त्वमन्यः॥'

इस स्थिति में अवस्थान के लिए अगली कारिका (४४) कही गई हैं।[१]

यदा = जिस काल में।

दिदृक्षयेव = साधक देखने की इच्छा से ही।

सर्वार्थान् = अखिल प्रमेयों को।

व्याप्य = (समस्त प्रमेयों को) व्याप्त करके अर्थात् स्वसंवित् प्रकाश से आच्छादित करके। उन्हें अन्तर्लीन करके।

अवतिष्ठते = नानात्व के दर्शन की भ्रान्ति को दूर करके एक ही अद्वैततत्त्व में विश्राम करता है (विश्राम्यति)॥

तदा = तब। उस दशा में (वह उस समय जिन फलों का वहाँ अनुभव करता है)

१. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका'।

बहुना = (भूयसा) = अत्यधिक मात्रा में ।

उक्तेन = उस कहे गये फल से, ('उस कहे गये से') ॥

किं = क्या? क्या प्रयोजन? अर्थात् उसका प्रतिपादन करने की इच्छा से हजारों ग्रन्थ भी निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि वह अनुभवगम्य तो है किन्तु वह वचनगोचरातीत है—वाणी से परे है ।

स्वयं तदवभोत्स्यते = उस फल के स्वसंवेद्य होने के कारण, किसी व्यतिरिक्त साधन की बिना अपेक्षा किये हुए वह स्वयं ही प्राप्त कर लेगा (प्रतिपत्स्यते) ॥

तात्पर्य यह है कि—यदि योगी समस्त भावों को स्वस्वभाव से अव्यतिरिक्त देखने की जिज्ञासा रखता है तो उसे चाहिए कि अपनी इस दिदृक्षा को, अपने अनुभव द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करते हुए,—संमूर्तित करे ॥ वह जिन भावों को देखना चाहता है वे स्वस्वभाव से अभिन्न होकर स्थित हैं—'द्रष्टुमभीष्टा: भावा: स्वस्वभावाभेदेन व्यवतिष्ठन्ते ।'—क्योंकि योगी की इस तात्विक दिदृक्षा की उत्कण्ठा के समय 'इदन्ता-प्रत्ययात्मक' भावभेद उन्मिषित होते ही नहीं । उस समय (जिस प्रकार कि दिदृक्षावस्था में क्षेत्रज्ञ के साथ भावों का अभेद रहता है) परमात्मस्वभाव के उन्मिषित होने पर समस्त जगद्भावों के साथ दिदृक्षु के साथ जगत् के समस्त भाव भी अभिन्न रूप में स्थित हो जाते हैं 'परमात्मस्वभावात् अखिलजगद्भावानामभेद एव ॥'

माया शक्ति से आविर्भूत विकल्परूपी अंधकार के द्वारा सम्यक् ज्ञान से रहित तथा निर्विभाग चिन्मात्रस्वरूप आत्मतत्त्व को प्रमाता एवं प्रमेय के भेद से भिन्न-भिन्न रूप में देखने वाले साधक, दिदृक्षित प्रमेयों के जीवस्वभाव से अभिन्न होने पर भी, उनका अभिन्न रूप में परामर्श कर पाने में असमर्थ रहते हैं ।[१]

जब वे इस स्तर पर ही असमर्थ रहते हैं तो फिर भला जगद्भावों एवं परमात्मभावों के साथ अपनी अभेदता कैसे स्थापित कर पायेंगे? अत: योगियों को चाहिए कि वे भेद के अंधकार को सूर्य की भाँति नष्ट करते हुए जगद्भावों एवं परमात्मस्वभावों तथा स्वस्वभाव के साथ अखिलभुवन के भावाभासों के साथ अभेदता का परामर्श करते हुए अभेदभाव का साक्षात्कार करने का उदाहरण प्रस्तुत करें ॥ **दिदृक्षा क्या है?**

'दिदृक्षा द्रष्टुमिच्छा तदवस्थास्थ इव' ।[२]

आचार्य भट्टकल्लट कहते हैं कि—

'दिदृक्षा द्रष्टुमिच्छा, तदवस्थास्थ इव सर्वान् भावान् यदा व्याप्यावनिष्ठते तदा किं बहुना उक्तेन, स्वयमेव तत्त्वस्वभावम् अवभोत्स्यते ज्ञास्यति ॥'[३]

उनका कथन है कि—(१) जब योगी समस्त भावों में अपने सत्स्वरूप (संवित् तत्त्व) की सार्वभौम व्यापकता का साक्षात्कार करने की सामर्थ्य रखकर उनमें अपने सत्स्वरूप के साथ प्रविष्ट होकर उनके स्वरूप को देखने की कामना (दिदृक्षा) करता है

१-२. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकाविवृति' । ३. स्पन्दसर्वस्व ।

तब वह स्वयं ही (सहज ही) स्वभावभूत स्पन्द तत्त्व की अनुभूति कर लेता है।

(२) किसी भी पदार्थ के विषय में पूर्ण जानकारी पाने हेतु दिदृक्षु, जिज्ञासु एवं अनुसंधित्सु को उस पदार्थ में स्वयं ही स्वस्वरूप के साथ प्रविष्ट हो जाना चाहिए तथा सभी पदार्थों में एक ही स्पन्दतत्त्व की व्यापकता को देख सकने या अनुभव कर सकने की क्षमता का विकास करना चाहिए। तभी वह प्रमेयों का यथार्थ प्रमाता बन पायेगा और उसका तद्विषयक ज्ञान 'प्रमा' बन पायेगा।

सारांश यह है कि यदि तुच्छ यौगिक सिद्धियों का त्याग करके योगी विश्वात्मभाव ('अहमिदं' का भाव 'अहं व्याप्तोस्मि सर्वेषु' का भाव) को ग्रहण कर ले तो प्रकृति, महामाया एवं दैवी शक्तियों के समस्त रहस्य अपने आप उद्‌घाटित हो जाते हैं।

शैवदर्शन का आभास-प्रक्रिया—'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के ज्ञानाधिकार में इसका सविस्तार विवेचन किया गया है। किसी भी भाव के साक्षात्कार हेतु आभासद्वय की भूमिकायें हैं जो निम्न हैं—(१) **'सविकल्पक आभास'** (२) **'निर्विकल्पक आभास'**।

(क) इन्द्रिय एवं भाव का संयोग होने पर प्राथमिक क्षण के 'आभास' जो कि विकल्पों से रहित होते हैं = **विकल्पशून्य आभास**।

(ख) इन्द्रिय एवं भाव का संयोग होने पर आने वाले अगले क्षण जो कि विकल्प-सहित होते हैं = **सविकल्पक आभास**॥

'निर्विकल्पक आभास' विद्युतवत तीव्र गति से कौंध जाता है। इसमें सामान्य स्वरूपसत्ता ही वर्तमान रहती है। इसमें जाति, गुण क्रिया आदि अभीष्ट विशेषताएँ परिलक्षित नहीं होतीं। इसे ही 'निर्विकल्पाभास' 'स्वलक्षणाभास' 'निर्विकल्पाभास' एवं 'स्वरूपाभास' कहा जाता है।

सविकल्पक आभास में अनेक आभासों का मिश्रण होता है। **'निर्विकल्पक आभास'** यथा 'घट' नामक भाव गोलार्द्ध, चौड़ाई, लम्बाई, वर्ण आदि विकल्प से शून्य है। (सामान्य रूप)॥ **'सविकल्पक आभास'** यथा 'घट' नामक भाव गोलार्ध, चौड़ाई, लम्बाई, व्यास, वर्ण आदि से युक्त हैं। प्रथमाभास के ठीक परवर्ती आने वाला आभास सविकल्पक है। भेद पूर्ण आभासों की सर्जना इसकी विशेषता है।

निर्विकल्पक आभास = समस्त भाव सामान्य स्पन्द है। इसकी संवेदना विशुद्ध अहंरूपात्मक है।

सविकल्पक आभास के भाव काल, आकार, स्वरूप एवं देश के आधारों पर भिन्नता रखते हैं। यह संवेदना 'इदंरूप' है। समस्त प्रमेय जगत् अधिकांशतः इसी से सम्बद्ध है।

जागतिक व्यवहारों के लिए सविकल्पक आभास आवश्यक है। जगत् भेदों, वैचित्र्यों और भिन्नताओं पर आश्रित हैं। मित सिद्धियाँ भी सविकल्पक आभास हैं।

प्रथमाभास विश्व के प्रत्येक अणु में चिद्रूप आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति का संकेतक है। ये इन्द्रिय बोध गम्य नहीं है। अतीन्द्रिय बोध एवं प्रातिमज्ञान योगियों में

पाया जाता है अत: ऐसी क्षमतासम्पन्न योगी प्रथमाभास के क्षण में ही चित्तत्त्व की सार्वभौम व्यापकता का अनुभव करता है। प्रथमाभास में स्थित योगी का प्रत्येक भाव में स्वरूप साक्षात्कार करने की तीव्रोत्कण्ठा ही **'दिदृक्षा'** है। यह योगी को शाक्त भूमिका पर आरूढ़ कर देती है।

योगियों को भी नानात्मक, वैचित्र्यपूर्ण एवं भेदात्मक जगत् का बोध होता है किन्तु वे उसके समस्त भेदों, अनेकात्मकताओं एवं भिन्नताओं में भी एकात्मकता का सूत्र अर्थात् अखण्ड स्वरूप भाव का साक्षात्कार करते हैं। उनकी दृष्टि में 'भेदमात्र अभेद का, द्वैतमात्र अद्वैत का तथा अनेकात्मकता मात्र एकात्मकता का विकास मात्र है।'

उत्पलदेवाचार्य ने भेद एवं अनेकात्मकता या द्वैत प्रथा को शङ्कराचार्य की भाँति मिथ्या तो नहीं कहा है किन्तु उसे सत्य का आभास माना है—सत्य का विस्तार माना है, परमेश्वर ही माया शक्ति के द्वारा स्वात्मरूप को भेदों में रूपान्तरित करके एक से अनेक हो जाता है—

'प्रकाशात्मनः परमेश्वरस्य मायाशक्त्या स्वात्मरूपं विश्वं भेदेनाभासयते ॥' (प्र०का० वृत्ति १।४९)

चिदात्मा ही बाहर एवं भीतर सर्वत्र व्याप्त है अत: एक ही अनेक है और अनेक ही एक है—अनेकात्मकता में एकात्मकता निहित है—

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः।
योगीव निरुपादनमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ (प्रत्यभिज्ञा का० वृत्ति)

प्रत्येक भाव में स्वस्वरूप की व्यापकता की अनुभूति करने विषयक योगोपदेश—

प्रबुद्धः सर्वदा तिष्ठेज्ज्ञानेनालोक्य गोचरम्।
एकत्रारोपयेत् सर्वं ततोऽन्येन न पीडयते ॥ ४४ ॥

योगी को समस्त इन्द्रिय गम्य जगत् को अपनी ज्ञान-दृष्टि से देखकर सदैव पूर्ण प्रबोध के साथ स्थित रहना चाहिए तथा उसे (इस विधि से) निखिल प्रमेय वर्ग को एक ही तत्त्व में लय कर देना चाहिए। ऐसा करने से (साधक) किसी भी अन्य व्यक्ति द्वारा पीड़ित नहीं किया जा सकता ॥ ४४ ॥

*** सरोजिनी ***

सर्वदा = सदैव। जागृतावस्था-स्वप्नावस्था-सुषुप्ति अवस्था एवं संविदादि मध्यान्तपदों में। **प्रबुद्धः** = 'प्रकर्षेण बुद्धः' अत्यधिक 'जाग्रत होकर। उन्मीलित स्पन्दतत्त्वावष्टंभदिव्यदृष्टि। **तिष्ठेत्** = स्थित होना चाहिए। सुप्रबुद्धता को प्राप्त करना चाहिए। **ज्ञानेन** = ज्ञान के द्वारा। बहिर्मुख अवभास द्वारा **सर्वं गोचरं** = समस्त इन्द्रियगम्य जगत् को। नील सुखादि रूप विषय को **एकत्र** = एक जगह स्थित। स्रष्टा शङ्करात्मा स्वभाव में।[१]

---

१. स्पन्दनिर्णय

सर्वमारोपयेत् = निमीलन-उन्मीलन-दशाओं को अभिन्न रूप में जानना चाहिए। ('पूर्वापर कोट्यवष्टंभ दाढ्यान्मध्यभूमिमपि चिद्रसाश्यानतावरूपतयैव पश्येत् इति') ॥

इस प्रकार करने से योगी किसी अन्य व्यतिरिक्त वस्तु से बाधित नहीं होगा क्योंकि वह सभी अपने को ही देखेगा। प्रत्यभिज्ञाकार ने (उ०स्तो० १३।१६) में कहा भी है—[१] 'योऽविकल्पमिदमर्थमण्डलं पश्यतीशनिखिलं भवद्वपुः।
स्वात्मपक्षपरिपूरिते जगत्यस्यनित्यसुखिनः कुतो भयम्? ॥'

योगी को सदैव चेतना के आदि, (प्रारम्भ) मध्य एवं अन्त में, जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति में सदैव सावधान रहना चाहिए। या उसे पूर्ण प्रबोध का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। उसे दिव्य दृष्टि (Divine vision) के साथ, स्पन्दतत्त्व के आधार के प्रति जाग्रत रहना चाहिए। यह कैसे संभव हों?—उसे निम्नांकित श्लोक की दृष्टि के साथ चिन्तन-मनन करते हुए जाग्रत रहना चाहिए—[२]

'तस्माच्छब्दार्थ चिन्तासु न सावस्था न या शिवः ॥' (२।१४)

योगी को इस समग्र ज्ञेय को स्रष्टा शङ्कर से अभिन्न देखते हुए केवल एक यथार्थ स्वरूप में स्थित समझना चाहिए या उसे इसे यथार्थस्वरूप से अभिन्न समझना चाहिए जो कि Involution एवं Evolution दोनों दशाओं में स्थित है। उसे 'मध्य' की दशा को भी चिदानन्द के भौतिकीकरण मूर्तिकरण (Materialiesation of the bliss of concious) के साथ अभिन्न समझना चाहिए। इससे दुःखों का नाश हो जाता है। क्योंकि अपने से परिपूरित जगत् में भला सदाह्लादित योगी को भय या दुःख कैसे हो सकता है? वह तो **इस पदार्थान्वित विश्व को परमात्मा का शरीर मानता है।**[३]

समावेश की प्रक्रिया के विवेचन का परिणाम निकालते हुए ग्रन्थकार उस स्पन्द तत्त्व को यहाँ पर प्रस्तुत करता है जो कि अनेक पदार्थों में विभक्त है। 'स्पन्दतत्त्व' में प्रवेश उसी के लिए संभव हो जाता है जोकि पूर्णतया प्रबुद्ध (Enlightened) है और जो प्रवेश के उपायों पर अविरत ध्यान आकृष्ट किये रहता है। 'उपपादित उपायजातं (Varities of means) परिशीलनतः सततं स्पन्दतत्त्वसमाविष्टं सुप्रबुद्धस्य भवति ॥'[४]

आचार्य उत्पलदेव 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहते हैं कि साधन को चाहिए कि वह अपनी शक्तियों का सङ्कोच किये बिना प्रबुद्ध, निर्विकल्प एवं सदा उद्युक्त रहे। ज्ञान के सम्मुख जो भी विषय उपस्थित हो, उसको देखकर संवित् की दीप्ति से ज्ञेय का लोप कर दे, उनको अविभाग में प्रतिष्ठित कर दे, तब उसे दूसरा कोई पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।

भोगमोक्षप्रदीपिका में कहा गया है—अविभाग-बोध की अग्नि से विभाग को विलुप्त करके वेद्य-पीयूष को पीकर एवं शीघ्र ही संतृत्त, नीरोग एवं एकाकी विचरण करने लगता है। यह क्रमार्थ का सार है और शक्तियों की परधारा भूमिका। उसी की अनुज्ञा से सच्छिष्यों के ज्ञान के लिए इसका वर्णन किया गया है क्योंकि यह परधारा भूमिका निर्विभाग है—

१-४. क्षेमराजाचार्य—स्पन्दनिर्णय।

अथवा विभागबोधज्वलनेन विलाप्य वेद्यपीयूषम् ।
पीत्वा तृप्तोविचरन्नीरोगो योऽचिरात् सदैकाकी ॥
एतत्क्रममार्थसारं परधाराभूमिका च शक्तीनाम् ।
तदनुज्ञयाऽत्र कथितं सच्छिष्य विबोधनाय यथा ॥

कहा भी गया है—विभाग के हेतु ये प्रसिद्ध हैं—देश, काल, क्रिया और आकार। जिसमें ये नहीं हैं, उसमें विभाग का कोई कारण ही नहीं है—

'देशकालक्रियाकाराः प्रसिद्धा भागहेतवः ।
तेन सन्ति पुनर्यस्य विभागस्तस्य किंकृतः ॥'

अन्यत्र भी कहा गया है—विषय सहित मन भस्म करना है । ज्ञानाग्नि अपनी दृष्टि से उसे भस्म करती है । उसके भस्म हो जाने पर अन्तर्मुखता और बहिर्मुखता दोनों समाधि हो जाती है—

मनः सविषयं दाह्यं ज्ञानाग्निर्दर्शनैर्दहेत् ।
अन्तर्बहिर्मुखश्चैवं समाधिरुपपद्यते ॥

इसके अतिरिक्त भी विद्वानों द्वारा कहा गया है कि—

विज्ञान की वाडवाग्नि प्रदीप्त होकर अपनी शक्ति से ज्ञेय विषय रूप समुद्रों को निरन्तर ग्रस्त रहती है । अन्य कोई उसको ग्रस्त करने में समर्थ नहीं है । जल न मिलने से पिपासा सवर्द्धित नहीं होती और बहुत सा जल मिल जाने पर तृप्ति या कृत-कृत्यता नहीं होती । यह ज्ञान ऐसा विलक्षण बड़वानल है विज्ञान वाडवो दीप्तः स्व शक्त्या ज्ञेयतोयधीन् ।

अजस्रं ग्रसते नान्यस्तद्ग्रासे शक्तिमान् भवेत् ।
नाऽप्राप्त्या पयसां तृष्णां प्राप्त्या वा भूयसामपि ।
यस्यास्ति कृतकृत्यत्वं कोऽप्यसौ वडवामुखम् ॥

'यस्मात्सर्वमयो जीवः' में इस विषय का सयुक्तिक वर्णन किया जा चुका है । तत्त्व का स्वभाव विद्यात्मक ज्ञान स्वरूप है । अतः संपूर्ण ज्ञेय को उससे एक कर देना चाहिए। बस, इस ऐक्य के होते ही दूसरी कलात्मक विकल्परूप शक्तियाँ फिर किसी प्रकार की पीड़ा-बाधा नहीं पहुँचा सकतीं-अर्थात् स्वरूप से प्रच्युत नहीं कर सकतीं । कहा भी गया है—

आकाश एक और व्यापक है । दीवार आदि के संयोग से उसमें बाह्य-आभ्यन्तर का भेद प्रतीत होता है । इसी प्रकार पशुपति तत्त्वज्ञ ग्राह्य और ग्राहक को एक ही रूप देखता है । आपके समाधि स्वरूप में विक्षेप्य और विक्षेपक, व्याक्षिप्त और व्याक्षेप्य का कोई भेद नहीं है—

एकं व्याप्ति व्योमकुड्यादियोगात्तस्मिन् बाह्याभ्यन्तरत्वं समाधिः ।
पश्यत्येकं ग्राहक ग्राह्यरूपं व्याक्षिप्ताक्षेप्यतस्त्वत्समाधिः ॥[१]

---

१. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।

सर्वदा = समस्त अनुभव की दशाओं में । **प्रबुद्धस्तिष्ठेत्** = प्रतिपादित उपदेशों के अभ्यास से अनिमीलितसम्यक् ज्ञान दृष्टि वाला होकर जाग्रत हुआ स्थित रहता है । किस प्रकार? **ज्ञानेन** = संवेदन के द्वारा । **गोचरं** = विषय को । **आलोच्य** = (परिच्छेद्य) = सत्यासत्य का विवेचन करके । (आलोचन = देखना, परख, गुणदोष विवेचन) ।

आरोपयेत् = अर्पित करना चाहिए ॥ अभिन्न रूप से प्रतिपादित करना चाहिए **ततश्च** = और उसके द्वारा । समस्त भावों के एक प्रमातृस्वरूपाभेद की प्रतिपत्तिरूप आरोपण से ॥ **अन्येन** = व्यतिरिक्ततापूर्वक अवभासमान प्रमेयों के द्वारा ॥ वक्ष्यमाण कलाद्यात्मक भावजात द्वारा । **न पीडयते** = पीड़ित नहीं किया जाता । अहंभाव प्रतिपत्तिरूपविनश्वर भाव द्वारा संसार-चक्र में, बन्धन के पाश से बन्धकर तिरस्कृत नहीं होता ॥

कदर्थना = पीड़ा, अत्याचार । **कदर्थित** = तिरस्कृत, घृणित । तुच्छीकृत ॥ अत्याचार पीड़ित, तुच्छा सारांश—

प्रमाता जिन-जिन रूपादिक अर्थों को चक्षु आदि के ज्ञान से आलोचना करता है—निश्चय करता है (निश्चिनोति)—वे वे निश्चयावस्था में प्रामातृरूप से अभिन्न होते हैं । निश्चितत्व वस्तु का प्रकाशमानत्व है । वह प्रकाशमान होने के कारण अभिन्न है क्योंकि वह अन्य वस्तु बन ही नहीं सकता क्योंकि प्रकाश व्यतिरिक्त रूप संभव है ही नहीं क्योंकि तब रूप प्रकाशित ही नहीं होगा । रूप की अभिव्यक्ति प्रकाश से ही संभव है न कि प्रकाशाभाव से ।[१]

भट्टकल्लट की व्याख्या—'स्पन्दकारिकावृत्ति' में **भट्टकल्लट** इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'प्रबुद्धोऽसंकुचितशक्तिः सर्वकालं तिष्ठेत्, ज्ञानेनालोच्य गोचरमज्ञेयं परिच्छिद्य । एवमेकत्र तत्वसद्भावे विद्यात्मके आरोपयेत् सर्वम् । ततोऽन्येन वक्ष्यमाणेन कलासमूहेन न पीडयते ॥[२]

प्रत्येक भाव में आत्मस्वरूप की व्याप्ति की अनुभूति के साधन—योगी को चाहिए कि वह प्रत्येक प्रमेय (ज्ञेय) विषय का विश्लेषण करके (पर्यालोचना करके) ज्ञेय विषय के साक्षात्कार की तीनों कोटियों—आदिकोटि, मध्य कोटि एवं अन्त कोटि—(ग्रहणेच्छा काल, ग्रहण काल एवं विश्रान्ति काल) के स्तरों पर अपनी स्वरूपावस्था में अवस्थित रहे । वह ऐसा करके भावना की शक्ति के द्वारा प्रत्येक विषय को एक ही तत्त्व के सद्भाव पर (स्पन्दसत्ता पर) अभिन्न रक्खे । ऐसा करने से साधक को कलासमूह की पीड़ा का शिकार नहीं होना पड़ेगा ।

भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व' में इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं[३]—**प्रबुद्धः** =

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' ।
२-३. भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति' ।

असंकुचित शक्तिः **सर्वदा** = सभी समय । **ज्ञानेनालोच्य गोचरम्** = ज्ञेय को परिच्छेद सहित आलोचित करके ।

एकत्रारोपयेत् = तत्त्वसद्भाव में (विद्यात्मक स्वरूप में) सभी को आरोपित करना चाहिए । **ततोऽन्येन** = वक्ष्यमाण कला समूह के द्वारा । **पीड्यते** = पीड़ित किया जाता है ।

प्रबुद्ध व्यक्ति अपने प्रातिभ ज्ञान के द्वारा सृष्टि के प्रत्येक भाववैचित्र्य, पदार्थों की विविधता, अनेकात्मकता एवं भिन्नताओं का इतना सूक्ष्म पर्यवेक्षण करता है कि उसे समस्त भाव-वैचित्र्यों में आत्मा का विकास मात्र ही परिलक्षित होता है और वे किसी भी दशा में अपनी अखण्ड स्वरूप भावना से कभी भेददृष्टि के गर्त में संवलित नही होते ।

प्रबुद्धः = जागरुक योगी । 'स्पन्दकारिकाविवृति' के अनुसार—'अनिमीलित-सम्यग्ज्ञानदृष्टिः जाग्रदेव' । जो योगी प्रत्येक प्रमेय को देखने के समय उसके प्राणभूत स्वस्वरूप स्पन्द तत्त्व प्रत्यभिज्ञान करने में समर्थ हो और अपने स्वातंत्र्य की असीमता का अनुभव कर चुका हो वही है **'प्रबुद्ध'** ॥

ज्ञेय विषय के साक्षात्कार की प्रक्रिया के चरण—इस प्रक्रिया के तीन चरण हैं–

(१) **आदि कोटि**—किसी ज्ञेय विषय को इन्द्रियों द्वारा गृहीत किये जाने के पूर्व तद्विषयक उनकी जो **ग्रहणेच्छा** होती है वही है **'आदिकोटि'** ।

(२) **मध्य कोटि**—बाह्येन्द्रियों के द्वारा स्थूल रूप में ग्रहण काल में माया शक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) के द्वारा अहंरूप से पृथग्भूत रूप में 'इदं' द्वारा वाच्य स्थूल पाँच भौतिक रूप । सांसारिक अवस्था का पंचविषयात्मक संसारभाव ।

(३) **अन्त कोटि**—इन्द्रियों के द्वारा गृहीत प्रमेयों के संवेदन के उपरान्त अवबोध में विश्रान्ति काल । **'आदि कोटि' एवं 'अन्त कोटि'**—इन कोटियों के स्तर पर अहं विमर्श से युक्त जो प्रमाता का भाव है उसमें 'प्रमेय' के साथ 'प्रमाता' तद्रूपता की अवस्था में (**तदात्मकता** = तादात्म्य की स्थिति में) अवस्थित रहता है । 'पशु' (संसारी) ज्ञेय पदार्थों के आदि एवं अन्त कोटियों के रूपों की नहीं जान पाते प्रत्युत् वे ज्ञेय पदार्थों के मध्य कोटि वाले स्थूल रूप को यथार्थ स्वरूप मानने का भ्रम पाले रहता है । 'प्रबुद्ध' योगी ज्ञेय पदार्थों के साक्षात्कार की तीनों कोटियों पर ज्ञेय पदार्थों के अपने स्वनिहित एवं नित्यात्मक स्वस्वरूप का साक्षात्कार करता रहता है क्योंकि 'न सावस्था न यः शिवः ॥'

स्वस्वरूपानुभूति के उपाय—प्रत्येक अनुभव में स्वरूप का साक्षात्कार होते रहना तथा सभी ज्ञेय पदार्थों में अपनी ही स्थिति की संवेदना होते रहना ही वास्तविक उपलब्धि है । प्रत्येक संवेदना, प्रत्येक ज्ञान, प्रत्येक अनुभव एवं प्रत्येक साक्षात्कार की अवस्था में अपने स्वस्वरूप में ही अवस्थित रहने की प्रक्रिया यह है—अपने तात्विक विमर्श के द्वारा प्रत्येक प्रमेय विषय का स्वरूप-विश्लेषण करके उसके तात्विक आत्मस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा ।

एक उदाहरण लीजिए । एक स्वर्ण केयूर है । केयूर का आकार, उसकी गोलाई, उसका आयतन, उसका रंग, उसकी मोटाई आदि उसके स्वस्वरूप नहीं है क्योंकि वे परिवर्तित होते रहते हैं किन्तु उसका 'स्वर्णत्व' परिवर्तित नहीं होता । स्वर्णरूपत्व प्राप्त करने के पूर्व भी वह वैचारिक आकार में विद्यमान रहता है अतः स्वर्ण केयूर का अपना नित्य स्वस्वरूप चित्कलात्मक अहंविमर्शयुक्त स्पन्दतत्त्व ही उसका यथार्थ स्वस्वरूप है ।

स्वस्वरूप विश्लेषण की प्रक्रिया का अनुवर्ती साधक अन्त में इस सत्य का साक्षात्कार कर ही लेता है कि—समग्र विश्व स्वरूप स्पन्द मात्र है ।

साधक को अपनी प्रत्येक अनुभव दशा में स्वरूपोन्मीलन हेतु निरन्तर आत्म-विमर्श करते रहना चाहिए । अपने सद्विमर्श के द्वारा प्रत्येक ज्ञेय विषय का स्वरूप-विश्लेषण करके उसके यथार्थ स्वरूप की पहचान करते रहना चाहिए ।

किसी भी पदार्थ का आकार-प्रकार, ऊँचाई-लम्बाई-चौड़ाई गोलाई, रंग, रूप, रूप-रंग आदि विशेषताएँ उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप नहीं है क्योंकि ये बाह्य लक्षण तो परिवर्तनशील, कल्पित एवं नश्वर हैं । इन सबका त्याग करके उस पदार्थ का जो सारतत्त्व शेष रह जाता है वह **चित्कला की अहंविमर्शमयी स्पन्दना** के अतिरिक्त शेष कुछ नहीं हैं । **स्वरूप विश्लेषण की पद्धति** द्वारा ही अपना एवं जगत् के स्वरूप का अनुसंधान करना चाहिए क्योंकि तभी स्वस्वरूप की पहचान संभव है । **विश्व स्पन्द का ही मूर्त विग्रह है** । 'ज्ञानमन्नम्' (शिवसूत्रः २-९) में इसी दृष्टि का प्रतिपादन किया गया है । स्वरूपानुप्रवेश होने पर तो—

'मृत्युञ्च कालं च कलाकलापं विकारजातं प्रतिपत्तिसाम्यम् ।
ऐकात्म्यनानात्म्य वितर्कजातं तदा स सर्वं कवलीकरोति ॥'[1]

पशु कौन है? शाब्दी प्रभाव से पशुत्व प्राप्ति—

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कला विलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ ४५ ॥

शब्दसमूह से समुद्भूत शाब्दीशक्तियों के भोग का विषय बनकर एवं कलावर्ग के कारण विलुप्त वैभव वाला होकर (वही पति प्रमाता) 'पशुप्रमाता' कहलाने लगता है ॥ ४५ ॥

*** सरोजिनी ***

शब्दराशिसमुत्थस्य = कादिवर्गात्मक शब्द-समूह से समुद्भूता वर्णसमुदाय ही 'शब्दराशि' है । अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त मातृकायें ही शब्दों की जननी हैं क्योंकि समस्त शक्तियाँ वर्णात्मक हैं । **शक्तिवर्ग** = शक्तिचक्र । ब्राह्मी आदि शक्तियों का समूह । **कला** = ककारादिक वर्ण । **विलुप्त विभवो** = नष्ट वैभवों वाला । जिसके निखिल दिव्य ऐश्वर्य नष्ट हो चुके हों वह वैभव हीन जीव (पशु) । **पशुः स्मृतः** = पशु के रूप में स्मरण किया जाता है । पशु कहा जाता है ।[2]

---

१. शिवसूत्र : भर्गशिखा । २. स्पन्दप्रदीपिका ।

पशुपति 'पशु' कैसे बन जाता है? उत्तर—ब्राह्मी आदि देवियों के शक्ति समूह की (ककार आदि वर्णमाला रूप) कलाओं के वैखरी आदि अचेतन शब्दों को उपयोग द्वारा पशुपति 'पशु' बन जाता है । 'पशु' इन निम्नतम स्तर के निष्प्राण शब्दों का उपभोग करता सा प्रतीत तो होता है किन्तु कारिकाकार कहते हैं कि वह उनका भोग नहीं करता प्रत्युत् उनकी भोग्यसामग्री बन जाता है ('भोग्यताम् गतः सन् स पशुः स्मृतः') और इसीलिए वह 'पशु' की श्रेणी में आ जाता है[१] क्योंकि—'भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्ता-स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः । कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः'[२] भोग्य बनने के कारण उसकी **महाव्याप्ति एवं वैभव** नष्ट हो जाता है जिसके कारण देवकोटि से पशुकोटि में आ जाता है—'कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवो हतमहाव्याप्तिः स्वभावात् प्रच्यावितोऽत एवास्य भोग्यतां गतः सन् पुरुषः पशुरुच्यते अज्ञत्वात् ॥'[३] 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में कहा गया है कि—सभी भाव अपनी क्रोड में अपनी अंगचेष्टा के समान हैं । उनका स्वामी 'प्रमाता' 'संवित्' या 'शिव' के नाम से जाना जाता है । किन्तु जब वह उन्हीं का दास बन करके उनके बन्धन-पाश में फंस जाता है तब वह कर्म की कीचड़ से लथपथ होकर 'पशु' कहा जाने लगता है—

'स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशं कर्मादिकलुषः पशुः ॥'[४]

भेदात्मक ग्रंथियों के विभेदन के पूर्व व्यक्ति कर्मात्मैक्य के सम्यक् ज्ञान से रहित होने के कारण (पशुपति होकर भी) 'पशु' ही कहा जाता है—

'भेदग्रन्थिविभेदे हि कर्मात्मैक्यं प्रपद्यते ।
सोऽविज्ञातः पशुः प्रोक्तो विज्ञातः पतिरेव सः ॥'

अर्थात् ग्रंथिभेद के अनन्तर द्वैत नहीं रह जाता अतः इसे जानने वाला व्यक्ति तो 'पशुपति' कहा जाता है किन्तु इसे न जानने वाला पशु कहा जाता है ।

'शैवपरिभाषा' में कहा गया है—'तत्र पशुर्नाम देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तो नित्यश्चि-दात्मकोऽनेको विभुरनादिमलावृतोऽस्वतन्त्रः कर्ता च ।' **श्रीमत्पराख्य** में कहा गया है—

'देहान्योऽनश्वरो व्यापी विभिन्नः समलोऽजडः ।
स्वकर्मफलभुक्कर्ता किञ्चिज्ज्ञः सेश्वरः पशुः ॥'[५]

ये पशु तीन प्रकार के हैं—(१) 'सकल' (२) 'प्रलयाकल' (३) 'विज्ञानाकल'

'पशवस्त्रिविधा ज्ञेयाः सकलः प्रलयाकलः ।
विज्ञानाकल इत्येषां शृणुध्वं लक्षणं क्रमात् ॥'

'सकलपशु' : मलोपरुद्धदृक्छक्तिस्तत्प्रसृत्यैकलादिमान् ।
भोगाय कर्म सम्बन्धः सकलः परिपठ्यते ॥

---

१. स्पन्दप्रदीपिका ।
२. भर्तृहरि—'वैराग्यशतक' ।
३. उत्पलदेव—'स्पन्दप्रदीपिका' ।
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ।
५. शिवाग्र योगीन्द्रज्ञान शिवाचार्य—'शैवपरिभाषा' ।

'प्रलयाकल पशु' : प्राग्वन्निरुद्धक्छक्तिः कर्मपाकात्कलोज्झितः ।
कर्मणैष्यत्कला योग्यो यस्स च प्रलयाकलः ॥
विज्ञानाकलपशु : मलोपरुद्धशक्तित्वाच्छून्यकल्पस्वदृक्रियः ।
तृतीयः पठयते तन्त्रे नाम्ना विज्ञानकेवलः ॥[1]
(विज्ञानरूपा कला येषामिति विज्ञानकलाः ॥)

'पाश' क्या है—तत्र पाशत्वं शिवानन्दाभिव्यक्तिविरोधित्वम् । **'पाश' के भेद**—'अयं च पाशः पंचविधः । आणवं तिरोधायकशक्तिर्बिन्दुर्माया कर्म चेति' । (१) आणव (२) तिरोधायक शक्ति (३) बिन्दु (४) माया (५) कर्म । इन्हीं पाशों से आवृत्त जीव 'पशु' कहलाता है ।

आत्मा की तीन अवस्थायें भी होती हैं—(१) केवलावस्था (२) सकलावस्था (३) शुद्धावस्था ॥

भावों की दृष्टि से देखें तो तीन भाव होते हैं—(१) 'पशुभाव' (२) 'वीरभाव' (३) 'दिव्यभाव' । पशु कौन-कौन?[2]

'सर्वे च पशवः सन्ति तलवद्भूतले नराः ।
तेषां ज्ञानप्रकाशाय वीरभावः प्रकाशितः ।
वीरभावं सदा प्राप्य क्रमेण देवता भवेत् ॥'

(१) जिन जीवों में अविद्या के आवरण के कारण परिपूर्ण अद्वैतज्ञान का किंचिन्मात्र भी प्रकाश नहीं होता, उनमें तमोगुणाधिक्य के कारण जो मानसिक अवस्था उत्पन्न होती है उसे पशुभाव कहते हैं ।

(२) इन **पशुओं के द्विविध भेद** हैं—(१) उत्तम (२) अधम ।

(क) संसार के मोह जाल में अधःपतित होकर बन्धनों से जकड़ा हुआ एवं जो अधम प्राणी होता है वह है—**'अधम पशु'** ।

(ख) जो सत्कर्मपरायण, भगवद्विश्वासी जीव है किन्तु द्वैतभावापन्न भी है—वह है **'उत्तम पशु'** । द्वैतबुद्धि इन दोनों में समान रूप से विद्यमान रहती है ।[3]

भट्टकल्लट ने स्पन्दकारिकावृत्ति में इस कारिका की इस प्रकार व्याख्या की है—'शब्दराशिरकारादिक्षकारान्तः तत्समुद्भूतस्य कादि वर्गात्मकस्य ब्राह्मयादिशक्तिसमूहस्य भोग्यतां गतः पुरुषो, ब्राह्म्यादीनां कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवः स्वस्वरूपात् प्रच्या-वितः पशुरुच्यते ॥'

अर्थात् अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णसमष्टि को शब्दराशि कहते हैं स्वतन्त्र पुरुष (स्वतन्त्र पति प्रमाता) उसी शब्दराशि से समुद्भूत और क वर्ग आदि वर्गों के रूप वाली ब्राह्मी आदि पशु शक्तियों के समूह के वश में रहता है । यह वशवर्तिनी अवस्था ही उसे पशु बनाती है । इन्हीं ब्राह्मी आदि शक्तियों के साथ सम्बद्ध कलाओं ने ही अर्थात् ककार

१-२. 'शैवपरिभाषा' । ३. शाक्तदर्शनम् ।

आदि स्थूल अक्षर समूह ने पुरुष के वैभव को नष्ट किया है और उसको स्वभाव से च्युत कर दिया है ।[१]

१. **शक्ति चक्र** : शब्द का प्रयोग शब्दान्तर के साथ अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । यथा—(१) 'तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शङ्करं स्तुमः ॥ (का० क्र० १)

(२) शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कला विलुप्तविभवो गतः सन् स पशुः स्मृतः ॥ (स्पन्द का० ४५)

आचार्य क्षेमराज ने 'स्पन्दसंदोह' में 'शक्ति चक्र' की व्याख्या करते हुए 'शक्ति' को इस प्रकार परिभाषित किया है—'प्रकाशस्यैव भगवतः प्रकाशमानं विश्वम् अस्य शक्तयः, तासां यत् चक्रं संयोजनादिवैचित्र्य-व्यवस्थितः समुदायः स एव विभवः स्फीतता तस्य प्रभवः प्रभवति अस्मात् इति ॥'

अर्थात् प्रकाशस्वरूप शिव का जो प्रकाशमान विश्व है उसकी शक्तियाँ ही 'शक्ति च्रक' में शक्ति कही गई है ।[२]

२. **'शक्ति चक्र' का द्वितीय अर्थ—शक्तिचक्र** = इन्द्रिय वर्ग । **विभव** = निज निज विषय—अर्थात् प्रवृत्ति आदि ।

३. **शक्ति चक्र का अन्य अर्थ**—करणेश्वरी चक्र । करण शक्तिवर्ग । **विभव** = विचित्र सृष्टि संहारादिकारित्व । **प्रभव**—उसका प्रभव (क्रमार्थविभासनकारित्व कृतमक्रम-महाप्रकाशमय) ।

करण वर्ग की अपनी प्रवृत्यादि तथा करणेश्वरी चक्र का सृष्ट्यिादिकारित्वं एवं उसकी यह व्यापार-प्रवृत्ति ।[३]

४. **शक्ति चक्र का अन्य अर्थ**—मन्त्र वर्ग में मुद्रा समूह । **विभव**—उसका विभव । अर्थात् सिद्धि, साधन एवं समर्थत्व । **प्रभव** = प्रभवोत्पन्न—उत्पत्ति-विश्रान्ति स्थान ॥ यथा—श्लोक (२।१) (२।२) (तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ॥ 'इत्यादि ... निरञ्जनाः' में व्यक्त विचार) ।

त्रिविध = पर । अपर । परापरः ३ प्रकार की सिद्धियाँ ।[४]

५. **शक्तिचक्रविभवेन** = 'मन्त्रादिसामर्थ्यात्मना प्रभादीप्तिः यस्य साधकस्य चित्तस्य, तत वाति गच्छति प्राप्नोति अधितिष्ठति, गन्धयति च विनाशयति स्वात्मनि विश्रमयति यः तम् ।' = **'शक्तिचक्रविभवं'** ।[५]

६. **शक्तिचक्रविभव**—दीक्षानुग्रहध्येय (ध्यातव्य देवतात्मना तादात्म्यम्) समाप-त्यादिना सामर्थ्यसंपदा विभवो यस्य आचार्यस्य उदयः तस्य (प्रभवं) ॥ (दे० अयमेवोदयस्तस्य .... (२।६) ।[६]

७. **शक्तिचक्रविभवप्रभवं**—'शक्तयो ब्राह्मयादिदेव्यो (कादिक्षात्त तत्तद्वाच-कात्मनः) ब्रह्मादि कारणमाला च, तासां सम्बंधि चक्रं स्वभावशून्यपशुः प्रमातुः अद्वय

१. भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति' । २-६. स्पन्दसंदोह ।

रूपोर्ध्वभूम्यतारोहणक्षमो भेदमयाधरसरणिसञ्चारचतुरश्च व्यूहः तस्य यो विभवः तथा कार्यकारित्वं तस्य प्रभवं । (दे० 'शब्दराशि... ३।१३) ।[१]

'तन्मात्रोदय ... (३।१७) (३।१८) आदि ॥

इस प्रकार के **शक्तिचक्र** का जो 'विभव' है—अर्थात् 'स्वस्वभावपदापेक्षया अधराधरभूत्यागेन ऊर्ध्वोर्ध्वारोहणक्षमता ॥ (दे० स्वमार्गस्था ज्ञाता ... (३।१६))[२]

८. **'शक्तिचक्रं'**—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी, भूचरी आदि—बाह्य-आन्तरताभेद-भिन्ननानायोगिनीगण, तदुपलक्षितवीरव्रातश्च तस्य यो विभवः अतीतानागत ज्ञानाणिमादि-प्राप्ति स्वविषयाभोग समय पूर्णप्रथावाप्त्यानन्तक्षुद्रा सिद्धिलाभम् ऐश्वर्य, 'प्रभवः' प्राति पूरयति यः स शक्तिचक्रविभवप्रः स च असौ अभो भवति तेन तेन रूपेण इति कृत्वा, तं ॥ (दे० यथेच्छा.... (३।१) कुतः सा .... (३।८) आदि ।[३]

शक्तिचक्र—'वामेश्वर्याधिष्ठिततानि खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरी चक्राणि-आन्तराणि, बाह्यानि च ।'

वामेश्वरी शक्ति से प्रसारित आन्तर शक्तियाँ—अपर, परापर, पर, अघोर-घोर-घोरतर, खेचरी-गोचरी-भूचरी-दिक्चरी रूप चक्र एवं तथाविध वीरव्रत ।

शक्तिचक्र विभव—'आगमसंप्रदायप्रसिद्धनानादेवतापरमार्थस्य रागद्वेषविकल्पादि प्रत्ययग्रामस्य, तथा देहाश्रित तत्तद्देवता-परमार्थनानाधात्वादिगणस्य, यो विभवः, तत्तदुपनिषत्सिद्धः प्रभावविशेषः, मायामूढान् प्रतिबन्धहेतुत्वं च तस्य उभयस्यापि 'प्रभव' । (दे० गुणादि.... (१।२) 'सेयं क्रियात्मिका शक्ति .... (३।१६)) ।[४]

बन्धन एवं मोक्ष दोनों का साधन एक ही है—'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी । बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका (४८) ।

'येन येन निबध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु ते नैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥'

—मुक्ति किसी नूतन वस्तु की उपलब्धि नहीं है प्रत्युत भूली हुई वस्तु को पुनः याद कर लेना एवं उसे जान लेना ही मुक्ति है एवं न जानना बन्धन का नरक मार्ग है—

'कुलसारमजानन्तो ह्यद्वये निपतन्ति ये ।
स्वचित्तोत्थविकल्पान्धा निरये निपतन्ति ते ॥'

शक्तिचक्र = स्वतन्त्र एवं अद्वय निज महाप्रकाशानुप्रवेशकारी स्वमरीचि निचय । **विभव** = स्वामोदजृंभात्मक विभव ॥[५]

शक्तिचक्रविभव = परसंविद्देवतास्फार । **विभव** = माहात्म्य ।[६]

प्रभव = शक्ति चक्र के विभव (माहात्म्य) से उत्पन्न ॥

शक्तिचक्र = रश्मिपुञ्ज । **विभव** = अन्तर्मुख विकास । **प्रभव** = उदय या अभिव्यक्ति ॥[७]

१-५. स्पन्दसंदोह । ६-७. स्पन्दनिर्णय ।

सारांश—'शक्तिचक्र' शक्तियों का समूह । (**शक्तियाँ** = वामेश्वरी । खेचरी । दिक्चरी आदि) इन्द्रियों का समूह । मन्त्रों का चक्र । ब्राह्मी, महेश्वरी आदि शक्तियों का समुदाय (Wheel of powers) ।

रामकण्ठाचार्य की व्याख्या—पशु = 'पराधीनसर्ववृत्तित्वेन अनवभासितात्मा पशुः । **स** = वह प्रतिपादयितव्य आत्मा रूपी ईश्वर जो कि प्रत्यभिज्ञा के अभाव में 'पशु' बन जाता है । **स्मृतः** = संसाररूपी क्रीड़ा के अनादि होने से (जो 'पशुपति' अनादि काल से वर्तमान काल तक) 'पशु' के रूप में स्मरण किया जाता रहा है । कैसा होकर स्मरण किया जाता है? 'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य कलाविलुप्तविभवों भोग्यतां गतः सन्' ।

शक्ति = पारमेश्वरी शक्ति । वाक् के रूप में प्रसृत आदि शान्त वर्ण-समुदायात्मिक शक्ति ।[१] अम्बा—ज्येष्ठा-रौद्री-वामा-आदि का शक्तिचक्र ।[२] 'शक्तिचक्र संधाने विश्वसंहारः । (शिवसूत्र ६) में भी 'शक्तिचक्र' शब्द का प्रयोग आया है ।

पशुत्व और पशु का स्वरूप—'पशु' के निम्न लक्षण हैं—(१) शब्दराशि से समुत्थित (अकारादि सकारान्त शब्द-समूह से आविर्भूत) ब्राह्मी आदि शब्दाधिष्ठात्रियों (शाब्द शक्तियों) के वशीभूत और उनका क्रीत अनुचर ।

(२) अकारादिक्षकारान्त कला समूह के द्वारा 'स्वातन्त्र्यशक्ति' रूप वैभव से हीन—पति प्रमाता ही 'पशु' कहलाता है ।

शब्दराशि—अकारादि क्षकारान्त वर्ण समूह । ('मातृका') ।

शक्तिवर्ग—कादिवर्गात्मक ब्राह्मी आदि शक्तियों का समूह । ब्राह्मी आदि शक्तियों के साथ सम्बद्ध कलाओं ने (ककारादि क्षकारान्त 'शब्दराशि' ने) 'पति' के स्वातन्त्र्य शक्ति रूप वैभव को नष्ट कर दिया है और उसे उसके स्वस्वभाव से च्युत कर दिया है ।

भोग्यताम् = शक्ति वर्ग की अधिष्ठात्री देवियों का भोग बना हुआ होना । भोक्ता तो ब्राह्मी आदि (क आदि आठ वर्गों की अधिष्ठात्री देवियाँ) अधिष्ठात्री शक्तियाँ हैं और भोग्य हैं पशु । ये शक्तियाँ निम्नांकित हैं—

शब्दराशि = वर्ण समुदाय = **वर्णमाला** = 'मातृका'

---

१. स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) । २. शिवसूत्रविमर्शिनी (सूत्र ४) ।

(शिवशक्ति का **सामरस्य**) = सामरस्य = विश्व की आत्मभूत एवं आधारभूता सत्ता

सामरस्य

('अहं'-विमर्श) | 'सामरस्य' = महामन्त्र रूप अहं विमर्श

'अ' (अनुत्तर तत्त्व) — 'हं'

शिवतत्त्व — शक्ति तत्त्व

पराहंता (अहन्ता)

→ (इसी भेद शून्य 'अहं' में मयूराण्डरसवत समस्त 'शब्दराशि' = 'परावाक्' रूप में अन्तर्निहित हैं।) **'अहंरूपा' विमर्शशक्ति** में स्थूल वाच्यवाचकभावमय विश्व का अवभासन करने की ओर उन्मुख दशा का श्री गणेश → (अहंरूपा विमर्शशक्ति) → **'इच्छा-शक्ति'** के रूप में रूपान्तरण → ज्ञानशक्ति → क्रियाशक्ति (ज्ञान + क्रिया-शक्ति = 'माया') → (बहिर्मुखी प्रसार के रूप में प्रसृत) → 'मातृका' (का विभाजन)।

वर्ण समाम्नाय के अष्टवर्ग हैं या कि नववर्ग?

वर्ग तो आठ ही हैं क्योंकि 'क्ष' (क + श का मिश्रित रूप) स्वतन्त्र शब्द नहीं है। यह **'क' एवं 'श'** का संयुक्त रूप है। फिर इसे स्वतन्त्र वर्ग का महत्त्व क्यों दिया गया? इसे पृथक् वर्ग क्यों माना गया?

(१) अनुत्तर वाचक = ककार

(२) विसर्ग वाचक = शकार

क + श का संयुक्त रूप है—'कूटबीज' ।

क्ष का महत्व—'कूटबीज' (क+श)=मातृका का प्रत्येक वर्ण शिवभाग एवं शक्ति भाग का संघट्टरूप है । इसीकारण 'क्ष' को वर्णमाला के अन्त में स्थान दिया गया है ।

शक्तिवर्ग के भेदत्रय (मालिनीविजयोत्तर तन्त्र)

घोरतरा (अपरा)	घोरा (परापरा)	'मालिनी विजय'	अघोरा (परा)
(तामसिक) (तामसिक प्रकृति वालों के लिए यह शक्तिवर्ग अत्यन्त भयानक है ।)	(राजसिक) (राजसिक प्रकृति वालों के लए यह शक्तिवर्ग भी भयोत्पादक है ।)	(मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्व वज्जनयन्ति याः । मुक्तिमार्ग निरोधिन्या स्ताः स्युर्घोरा परापराः । विषयेष्वेव संलीना- नघोऽधः पातयन्त्यणून। रुद्राणून् या समालिंग्य घोरतर्योऽपरा स्मृताः ।।')	(सात्विक) (सात्विक प्रकृति वालों के लिए यह शक्तिवर्ग कल्याणकारी है ।) योगियों को शिवभाव तक पहुँचाने वाली शक्तियाँ ।।

कला समूह—कला विलुप्तविभवो ।

प्रश्न—कला समूह का आरंभ कवर्ग से ही क्यों किया जाता है? इसका आरंभ अवर्ग से क्यों नहीं किया जाता?

जब स्वर और व्यञ्जन पारस्परिक संमिश्रण की अवस्था में रहते हैं तभी विकल्प-परम्पराओं में क्षोभ प्रारंभ होता है अन्यथा केवल स्वर या केवल व्यञ्जन पृथक्-पृथक् किसी क्षोभ को उत्पन्न नहीं कर सकते । इन दोनों के पारस्परिक संमिश्रण को **'बीजयोनि संक्षोभ'** के नाम से अभिहित किया जाता है ।

उत्तर मालिनी क्रम—न, ऋ, ॠ, लृ, ॡ, च ध, ई, ण, उ ऊ, ब, क, ख, ग, घ, ङ, इ, अ, व, भ, य, ड, ढ, ठ, झ, ज, र, द, प, छ, ल, आ, स, अः, ह, ष, क्ष, म, श, अं, त, ए, ऐ, ओ, औ, द, क । (आध्या० रहस्य साधना में प्रयुक्त) ।

क्रमद्वय (१) पूर्वमालिनी क्रम, मातृका क्रम, सिद्धाक्रम ।

(२) उत्तर मालिनी क्रम—'न से क ।।'

(क) 'स्वच्छन्द तन्त्र' को मान्य—'पूर्वमालिनी क्रम' अकारादि क्षकारान्त क्रम

(ख) 'मालिनीविजयोत्तर तन्त्र' को मान्य—'उत्तर मालिनी क्रम'

'शब्द' एक जड़ ध्वनि नहीं प्रत्युत प्रत्येक शब्द स्पन्दमयी चेतन शक्ति है । प्रत्येक जीव तभी तक शक्तियों का दास है जब तक कि उसे अपने भोक्ताभाव का

परिज्ञान एवं अनुभव न हो । 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' के 'उत्तरमालिनी क्रम' के अनुसार—

वर्ण एवं तत्त्व—

(१) 'क' = अन्तिम वर्ण ॥ = पृथ्वी तत्त्व ॥

(२) द से झ = २३ वर्ण = जल से पदार्थतक २३ तत्त्व ॥

(३) च से अ = १४ वर्ण = पुरुष से माया पर्यन्त तत्त्व ।

(४) इ से घ = ३ वर्ण = शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव ॥

(५) घ से न = १६ वर्ण = शिव तत्त्व ॥

शक्तिपात या परमात्मानुग्रह प्राप्त योगियों को ये शाब्दी शक्तियाँ शब्दराशि में निहित शाक्तबल का अनुभव कराकर शिव भाव पर भी पहुँचाती हैं । वाणी ही मनुष्य का विनाश भी करती है और विकास भी-उन्नति भी अध:पतन भी ।

भट्टकल्लट को 'मालिनी क्रम' स्वीकार्य नहीं था । उन्होंने मातृका क्रम ही स्वीकार किया ॥

भट्टकल्लट की व्याख्या—('स्पन्दसर्वस्व')—

शब्दराशि = अकारादिक्षकारान्तवर्णमाला । **समुत्थस्य** = तत्समुद्‌भूतस्य **शक्ति-वर्गस्य** = कादिवर्गात्मकस्य ब्राह्मयादि शक्ति समूह का ।

भोग्यताम् = 'भोग्यतां गतः पुरुषो' ॥ कलाविलुप्तविभवो = ब्राह्मयादीनां कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्त विभवः स्वस्वभावात् प्रच्यावितः पशुरुच्यते ॥

कला = ककारादि हकारान्त समस्त स्वर-व्यञ्जन समुदाय = 'कला समूह' ॥ **कलासमूह** ने शिव की स्वात्मशक्ति (स्वातन्त्र्य शक्ति) को छीनकर जीव को दरिद्र बना दिया है ।

शब्दराशि = मातृका (अकारादिक्षकारान्त वर्णसमाम्नाय) ॥ 'मातृकाशक्ति' अशेष भेदयुक्त वाच्यवाचकस्वरूप स्थूल शब्द समूह को अपने सुक्षि में अभेदात्मना (स्पन्दनमय विमर्श मात्र के रूप में) धारण किए हुए 'पराशक्ति' के रूप में अवस्थित है । यह 'पराशक्ति' (परावाक्) पूर्णाहन्तास्वरूपा 'स्वातन्त्र्यशक्ति' ही है—

'स्वातन्त्र्यशक्ति रे वास्य सनातनी पूर्णाहन्तारूपा ॥ (स्पन्दनिर्णयः ३.१३)

शब्दराशि क्या है? 'साहि भगवती अशेष-वाच्यवाचकात्मक जगदभेद चमत्का-रात्मक शब्दराशि विमर्श परमार्था (स्वच्छन्द तन्त्र ११.१९९) ।

शब्दराशि ही 'मातृका' के नाम से भी अभिहित की जाती है क्योंकि 'अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी' (शिव सूत्रविमर्शिनी १.४) यह अज्ञाता है और विश्वमात्रा—जगत-प्रसविनी है । पराशक्ति (परावाक् के रूप में व्यक्त होकर एवं अपना प्रसार करती हुई) अ से क्ष पर्यन्त समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म वर्ण समूह का प्रसार करके अनन्त वाच्यों एवं अनन्त वाचकों वाले विश्व को अवभासित करती हुई स्थित है । 'विमर्श शक्ति' ही अपने

बाह्योन्मुखी प्रसार—बहिर्मुखी अभिव्यक्ति के माध्यम से शब्दराशि के रूप में रूपान्तरित हो जाती है।

तांत्रिक शैवदर्शन की मान्यता है कि **'पतिप्रमाता'** की स्वात्मगता स्वाभिन्ना, स्पन्दात्मिका विमर्श शक्ति (स्वतन्त्र संवित् शक्ति) भेदात्मिका बहिर्विमर्शावस्था में **'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एव 'वैखरी'** के द्वारा उच्चारित वर्णमाला के रूप में प्रसरण करती है। यही वर्णमाला जो कि शक्ति का केन्द्र है एवं शक्ति का प्रतीक है और अपने ताने-बाने में पतिप्रमाता को उलझाकर अस्वतन्त्र पशुप्रमाता बना देती है। समस्त वाग्व्यवहार का आधार यही वर्णमालात्मिका वाक्शक्ति है। 'वर्ण' शक्तिरूपात्मक है अत: वे क्षोभ एवं स्पन्दन (हलचल) भी आविर्भूत करते हैं। इन्हीं के द्वारा अनन्त विकल्प-शृंखलाओं का आविर्भाव होता है और प्राणी माया बन्धन, अज्ञान एवं अशान्ति के चक्रव्यूह में फँस जाता है।

अ से क्ष पर्यन्त शब्दराशि का प्रसार = चित् शक्ति का बहिर्मुखी प्रसार। इस शब्द राशि का ८ वर्गों में विभाजन किया गया है। शक्ति भी ब्राह्मी आदि ८ प्रकार के विकल्पस्वरूपात्मक शक्ति-कुटुम्ब का रूप धारण करके प्रत्येक वर्ग की एक-एक अधिष्ठात्री बनकर स्थित हो जाती है। ब्राह्मी आदि शक्तियों का कार्य यह है कि वे चिद्रूपा आत्मसत्ता को चारों ओर से घेरकर उसे ढक लेती है। इन **८ शक्तियों के परिवार को 'मातृका' कहा गया है**। ब्राह्मी आदि शक्तियों का अपना यह परिवार अपने को जन्म देने वाली चित् शक्ति को इस प्रकार ढक लेता है कि जीवों को चित् शक्ति की झलक तक नहीं मिल पाती।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२.१.१) में कहा गया है कि ब्राह्मी आदि शक्तियाँ माताएँ कहीं गई है और उनका अपना परिवार है और परिवार के अनेक सदस्य है—'एतदेव च ब्राह्मयादि मातृणां मातृत्वं यत्तस्य परिवारभावेन तिष्ठन्ति, विकल्पा हि चिद्रूपस्य जीवस्य परितो वारणात् परिवार एव, मातृशब्दो ह्यत्र परिवार वाच्येव न जननीवाचक: ॥'

परि तो वारणात् परिवार एव—चारों ओर से रोकने के कारण इस समुदाय को 'परिवार' कहा गया है। यह शाब्दी शक्तियों का 'परिवार' चित् शक्ति को जीवों के समक्ष प्रकट होने से रोकता है अत: इसे 'परिवार' कहा गया है। **'अहं'** शब्द में 'अ' तो अनुत्तर शिवतत्त्व है और 'ह' शक्तितत्त्व है। इनकी प्रत्याहारावस्था ही **'अहंता'** है। इसी अहंता के गर्भ में समस्त वर्ण समुदाय ('शब्दराशि') गर्भीकृत है—

'अतएव प्रत्याहारयुक्त्या अनुत्तरानाहताभ्यामेव शिवशक्तिभ्यां गर्भीकृतम्, एतदात्मकमेव विश्वम्, इति महामन्त्रवीर्यात्मनोऽहं विमर्शस्य तत्वम् ॥

(शिवसूत्रविमर्शिनी: २.७)

मालिनीविजय (३.९.१०) में इस शब्दराशि के २,९ एवं ५० भेद किए गए हैं—

'तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते।
द्विधा च नवधा चैव पंचाशद्धा च मालिनी ॥

इस समस्त वर्ण—समुदाय को 'बीज' एवं 'योनि' में भी विभाजित किया गया है। (क) अ से अ = बीज (स्वर समूह) (ख) क से क्ष = योनि (व्यञ्जन समूह)—

बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मता: ।
कादिभिश्च स्मृता योनि: ..... ॥ (मा० वि० ३.१०.११)

बीज—शिवभाव । **योनि**—शक्तिभाग—

'म बीजत्र शिव: शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ॥' (३.१२)

नवधावर्ग भेदत: कहकर ८ के स्थान पर शब्दराशि के ९ वर्ग भी बताए गए हैं। सामान्यत: वर्ग ८ ही हैं—'तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि 'चाष्टकम्' । 'क्ष' का रहस्य यह है कि इसमें जो 'क' एवं 'श' वर्ण हैं उनमें 'क' शिव का वाचक है और 'स' शक्ति का वाचक है । 'क' एवं 'स' का सम्मिलित रूप 'शिवशक्तियामल' (प्रकाश विमर्श का संघट्ट) सूचित करता है और यह यामल, संघट्टण 'सामरस्य' ही सृष्टि, अस्तित्व एवं विश्व की आत्मभूत सत्ता है—यह 'क्ष' कूटबीज है—

तदियत्पर्यन्त यन्मातृकायास्तत्त्वं तदेव ककार सकार प्रत्याहारेण अनुत्तरविसर्ग संघट्टसारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते ॥ (शिवसूत्र वि० २.७) । **शब्दराशि की ये अधिष्ठात्री शक्तियाँ** 'पीठेश्वरी' कहलाती है और प्राणियों को मायिक प्रपञ्च में हठपूर्वक नचाती रहती है—

'करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिका: ।
पीठेश्वर्यो महाघोरा नर्तयन्ति मुहुर्मुहु: ॥'

कला—'कलाविलुप्तविभवो' में 'कला' क्या है? 'जब सर्वकर्तृत्व शक्ति संकुचित होकर स्वल्पकर्तृत्व शक्ति बनकर आत्मा को परिमित कर देती है तब उसे 'कला' कहा जाता है'—

'सर्वकर्तृताशक्ति: संकुचिता कतिपार्थमात्र परा ।
किंचित्कर्तारममुं कलयन्ती कीर्त्यते कला नाम ॥'

'षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह'—क्षेमराज

शब्द राशि के ९ वर्गों का विवरण—

सं०	वर्ग	वर्ण	शक्ति
१	अवर्ग	अ से अ:	अमा
२	कवर्ग	क से ङ	कामा
३	चवर्ग	च से ञ	चार्वङ्गी
४	टवर्ग	ट से ण	टङ्कधारिणी
५	तवर्ग	त से न	तारा
६	पवर्ग	प से म	पार्वती
७	यवर्ग	य,र,ल,व	यक्षिणी
८	शवर्ग	श,ष,स,ह	शारिका
९	क्षवर्ग	क्ष	कूटबीज

'शिवसूत्र' (३।१९) में शाब्दी-प्रभुत्व ।

'शिवसूत्र' (३।१९) के 'कवर्गादिषु माहेश्वर्याद्या:' (३।१९) में बताया गया है कि **शब्द-साहचर्य या शब्दों की दासता प्राणियों को बन्धन में डाल देती है** । आचार्य क्षेमराज इसी तथ्य को इस प्रकार कहते हैं—

'पारमेश्वरी परावाक् प्रसरन्ती, इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपताश्रित्वा, बीजयोनिवर्ग वर्ग्यादिरूपा शिवशक्तिमाहेश्वर्यादि वाचक आदि ज्ञान्तारूपां मातृकात्मतां श्रित्वा, सर्व-प्रमातृषु अविकल्पक-सविकल्पक तत्तत्संवेदनदशासु, अन्त:परामर्शात्मना स्थूलसूक्ष्म-शब्दानुवेधं विदधाना, वर्ग्यादिदेवताधिष्ठानादिद्वारेण स्मय-हर्ष-भय-राग-द्वेषादि प्रपञ्चं प्रपञ्चयन्ती, असंकुचितस्वतन्त्रचिद्घनस्वरूपमावृण्वाना संकुचितपरतन्त्रदेहादिमयत्वमा-पादयति ॥'[1]

यही बात **'श्रीतिमिरोदघाट'** में भी कहा गया है—

'करन्ध्रचितिमध्यस्था ब्रह्मपाशावलम्बिका: ।
पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्त्यो मुहुर्मुहु: ॥'

'ज्ञानाधिष्ठानं मातृका' (१-४) की व्याख्या में भी शब्दराशि की अधिष्ठात्री देवियों को बन्धन का कारण कहा गया है—

'आदिक्षान्तरूपा अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी तत्तत्संकुचितवेद्याभासा-त्मनो ज्ञानस्य 'अपूर्णोऽस्मि' कृश: स्थूलो वास्मि, अग्निष्टोमयाज्यास्मि, इत्यादि तत्तद-विकल्पकसविकल्पकावभासपरामर्शमयस्य तत्तद्वाचकशब्दानुवेधद्वारेण शोक-स्मय-हर्ष-रागादि-रूपता-मादधाना 'पीठेश्वर्यो महाघोरा मोहयन्ति मुहुर्मुहु: ।'[2]

'श्रीतिमिरोद्घाट' में भी कहा गया है—वर्ग कलाद्यधिष्ठातृ ब्राह्मयादि शक्ति श्रेणी शोभिनी श्रीसर्ववीराद्यागमप्रसिद्धलिपिक्रम संनिवेशोत्थापिका अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्य-शक्तिचक्रचुम्बिता शक्तिरधिष्ठात्री, तदधिष्ठानादेव हि अन्तरभेदानुसंधिवन्ध्यत्वात् क्षणमपि अलब्धविश्रान्तीनि बहिर्मुखान्येव ज्ञानानि इति युक्तैव एषां बन्धकत्वत्वोक्ति:—

'शब्दराशि समुत्थस्य .... ।
'स्वरूपावरणे चास्य शक्तय: सततोत्थिता: ॥'[3]

विकल्पात्मक ज्ञान परामृतरस एवं स्वातन्त्र्य दोनों से वंचित होना—

परामृतरसापायस्तस्य य: प्रत्ययोद्भव: ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचर: ॥ ४६ ॥

विकल्पात्मक ज्ञानों का उदित हो जाना ही उसका (जीव का) परामृतरस (शिव-शक्ति-सामरस्य) से प्रच्युत हो जाना है । इसी के कारण वह अस्वतन्त्रता पाता है (अस्वतन्त्र हो जाता है) वह प्रत्यय तन्मात्रगोचर (रूपाद्यभिलाषात्मक) है ॥ ४६ ॥

१-३. शिवसूत्रविमर्शिनी ।

* **सरोजिनी** *

'प्रत्ययोद्भव', विकल्प-ज्ञान 'शिव' से उसके 'स्वातन्त्र्य' एवं 'परामृतरस' दोनों को छीन लेते हैं । विकल्पों की महासमष्टि ही बन्धनरूप जगत् है और निर्विकल्प शाक्तभूमि में (स्पन्द तत्त्व) में प्रवेश ही मुक्ति है ।

तस्य = उसका । पशु का । **यः प्रत्ययानां** = लौकिक शास्त्रीय विकल्पों का तथा तदधिवासित भिन्नार्थज्ञानों के विकल्पों का । प्रत्ययोद्भव = विकल्प ज्ञान का उदय ।

उद्भवः = विनाशाघ्रात उत्पाद ।

परस्यामृतरसस्य = चिद्घन आनन्द के प्रसरण का ।

अपाय = निमज्जन ।। **चिद्भूमि** = The state of supreme conciousness **प्रत्ययोद्भव** = ज्ञानोत्पत्ति (Origination of cognition) प्रत्यभिज्ञाविर्भाव । परामृतरस = स्वस्वरूप (**भट्टकल्लट**) ।

प्रत्ययोद्भव—स्वरूपविकल्पहीन स्वरूप में—प्रमेय पदार्थों से सम्बद्ध विकल्पात्मक संवेदनों या ज्ञानों का आविर्भाव होना ही प्रत्यय का उद्भव है । **प्रत्यय**—विकल्प ज्ञान, विचार, ज्ञान ।

अब ग्रन्थकार यह विवेचना करता है कि बन्धनग्रस्त जीव किस प्रकार ऐसा बना दिया गया एवं वह अपनी प्रत्यभिज्ञाशक्ति (Cognitive power) के सीमित हो जाने से कष्टों में कैसे पड़ गया?

चिद्भूमि परामृशित न होने के कारण अविद्यमान प्रतीत होती है यद्यपि जब अकेला पदार्थ (Individual object) प्रत्यभिज्ञात (Cognised) किया जाता है तब भी उसकी सत्ता बनी रहती है । इस सांसारिक ज्ञान के उद्भव के कारण प्राणी बन्धनग्रस्त होकर स्वातन्त्र्य से शून्य एवं बद्ध (Feltered soul) होकर जीवन यापित करता है । शिवसूत्र में **'ज्ञानं बन्धः'** यही प्रतिपादित करता है ।

मदालसा ने अपने पुत्रों को यही उपदेश दिया था—

तातेति किंचित्तनयेति किंचित्, अम्बेति किंचिद्दयितेति किंचित् ।
ममेति किंचिन्न ममेति किंचित्, **भौते संघे बहुधा मा लपेथाः ।।'**

(मा० पु० २५।१५) भौतिकवाद में अधिक संसक्त नहीं होना चाहिए । पिता, पुत्र, माता, प्रिय, मेरे, मेरे नहीं—के भौतिक (सांसारिक) सम्बन्धों के सम्पर्क में संलग्न नहीं रहना चाहिए ।

ज्ञान के विभिन्न पदार्थों के क्षेत्र में, तीव्र एवं मन्द प्रक्रिया द्वारा प्रत्ययों का आविर्भाव हुआ करता है ।

(१) जब भेदात्मिका दृष्टि बनी रहती है तभी तक जीव **'बद्ध'** बना रहता है ।

(२) जैसे ही 'सब कुछ आत्मामय है'—'सब कुछ' अपने ही स्वरूप की बाह्य अभिव्यक्ति है—'सब' मैं ही है—इसका ज्ञान हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है—

(क) यावदियं भिन्नवेद्यप्रथा तावद्बद्ध इति ।

(ख) यदा तु सर्वमात्ममयमेवाविचलप्रतिपत्त्या प्रतिपद्यते तदा जीवन्मुक्त इति'— इसीलिए कहा गया है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'

'तस्माच्छब्दार्थचिन्तासु न सावस्था न या शिवः ॥'

जब तक कि समस्त पदार्थों में भिन्नता की दृष्टि बनी रहती है—अभेदात्मकता का प्रत्यय आविर्भूत नहीं हो पाता, जब तक जीव बन्धनग्रस्त बना रहता है, जब समस्त पदार्थों की समष्टि (पूर्वोक्त विधि से) अपने से अभिन्न (Identical with ourself) प्रतीत होने लगती है तब जीव जीवन्मुक्त हो जाता है ।[१]

आचार्य उत्पलदेव की 'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा गया है कि—वह पशु जब कान, आँख आदि इन्द्रियों के द्वारा विषयों का दर्शन करता है और उसके अन्तःकरण में स्मरणादि ज्ञान की उत्पत्ति होती है' वही परामृत-रस से अर्थात् अपने स्वरूपोदय से च्युति है, क्योंकि ये विषय-प्रत्यय पुरुष को परतन्त्र और परिच्छिन्न सा बना देते हैं । सच पूछिये तो ये विषय और स्मरण उसके व्यक्तिगत ही हैं अर्थात् उसी की अभिलाषा अन्तःकरण की वृत्ति उन-उन रूपों में प्रकट हो रही है ।[२]

आचार्य **भट्टकल्लट** 'स्पन्दकारिकावृत्ति' में इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहते हैं—'परामृतरसात् स्वरूपात् अपायः प्रच्युतिः, तस्य यः प्रत्ययोद्भवः विषयदर्शने स्मरणोदयो यतः, तेन पुरुषोऽस्वतन्त्रताम् असर्वगत्वं च प्राप्नोति, स च प्रत्ययः, तन्मात्र गोचरो रूपाद्यभिलाषात्मकः ॥ ४६ ॥'[३]

विकल्पशून्य (निर्विकल्प) स्वरूप में ज्ञेयविषयक सम्बद्ध विकल्पात्मक ज्ञानों का उदय होना—'प्रत्ययोद्भव' कहलाता है ।

शक्ति का बाह्योन्मुख प्रसार होते ही—शक्ति की बाह्य प्रसारोन्मुखता → **शक्ति की प्रत्ययोद्भावाकार परिणति 'प्रत्ययोद्भव'** का स्वस्वरूप विकल्प परम्परा है ।

'स्वातन्त्र्यशक्ति' का माया शक्ति में रूपान्तरण → शिव में अपनी स्तन्त्रता एवं पूर्णता के सम्बन्ध में सन्देहाविर्भाव ।

'स्वतन्त्रता' की (मायाशक्ति द्वारा) का संकुचन = अस्वतन्त्रता → (१) स्वतन्त्र ज्ञातृत्व की हानि (२) स्वतन्त्र कर्तृत्व का अबोध → आत्मस्वरूप की विस्मृति → आत्मा से पृथक् अनात्म पदार्थों में अहंबुद्धि → देहाभिमान → अनात्मभूत पदार्थों में अहन्ता = **'प्रत्ययोद्भव'** = **स्वातन्त्र्य हानि** = **'आणवमल'** । प्रत्ययोद्भव—'शिव (आत्मा) का अवरोहण क्रमारंभ—चेतन ही जड़ बन जाता है । चेतन परावाक् स्थूल

---

१. क्षेमराज : 'स्पन्दनिर्णय' । २. उत्पलदेवः 'स्पन्दप्रदीपिका' ।
३. भट्टकल्लट 'स्पन्दकारिकावृत्ति' ।

वैखरी वाक बन जाती है ३६ तत्त्वों का बहिर्मुखी अवभासन प्रारंभ। यह समस्त व्यापार = 'परामृतरसापाय' है। **परामृत** = शिव। **रस** = शक्ति ॥

मायाशक्ति के उल्लासाभाव के स्तर के (१) सदाशिव (२) ईश्वर (३) शुद्ध-विद्या—'परामृत' कहे जा सकते हैं **प्रत्ययोद्भव**—माया। कला। विद्या। राग। नियति। काल = (षटकंचुक) ॥

पशु = षट्कचुकपाशपाशित जीव।

प्रत्ययोद्भव—तन्मात्रपंचक

शाक्त प्रसरण की क्रीड़ा—शिवभाव से जड़भाव पर्यन्तः ३६ तत्त्वों तक ॥

व्यतिरिक्त साधन-सामग्री की अपेक्षा रखने वाला एवं उन सामग्रियों द्वारा अपनी समस्त इच्छाओं (समीहितार्थो) को पूरा करने वाला व्यक्ति वह भाव प्राप्त करता है। जागर-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं से उपमेय—'सकल' 'विज्ञानाकल' एवं 'प्रलयकेवली' नामक योगित्रय सहजादिक मलत्रय से आवृत होकर 'पशु' बन जाता है—

('जागर-स्वप्न-सुषुप्त्यावस्थोपमेय सकल-विज्ञानाकल-प्रलयकेवलाख्य भेदत्रय योगी सहजादिमलत्रयावृतः पशुर्भवति इत्यर्थः'—) क्योंकि उसका प्रत्ययोद्भव ही अमृत-रसापाय है—**'परामृतरसापायः ।।'**

परमामृतरसापायः—'परम्' = अनुत्तर। **अमृत** = अविनाशी अद्वय, चिन्मय, शिवस्वरूप। **रस**—उसका रस ॥ **रसः** = तथाप्रत्यवमर्शात्मक आस्वाद। **अपाय** = उससे होने वाला अपाय (पृथग्भाव) अन्यथा वृत्ति—अर्थात् 'इदम्' इत्यादिविकल्प-रूपात्मक ॥

तस्य = उस पशु का ('स्पन्दप्रदीपिका') **प्रत्ययोद्भवः** = 'श्रोत्रादिद्वारेण विषय-दर्शने स्मरणादिज्ञानोत्पत्तिः' (स्पन्दप्रदीपिका') स एव **'परामृतरसात्'**—स्वरूपोदयात् **अपायः** = प्रत्युतिः। यतः 'सः' पुमान् तेनास्वतन्त्रतां (पारतन्त्र्यं असर्वगतादिम्) **एति** = प्राप्नोति। स च 'प्रत्ययोद्भवः तन्मात्रगोचरः ॥ = 'शब्दादिविषय विषयः' तदभिलाषा-त्मक ॥ (स्पन्दप्रदीपिका) ॥

एक ही परमतत्त्व की स्वेच्छा-परिकल्पित अनुग्राह्य-अनुग्राहक भावों की पृथक्-पृथक् विचारणा से विविक्त आत्मा ही अनुग्राह्य है।

'परामृत' का क्या अर्थ है?

(१) शिव-शक्ति-सदाशिव-ईश्वर-विद्या आदि के रूप में पंचधा परिकल्पित विभागाभास को **प्रक्रिया शास्त्रों में 'परामृत' 'रस'** आदि शब्दों द्वारा कहा गया है।

(२) **'अहं'** अत्यन्त भेदसंस्पर्श से शून्य **'परमशिव'** नामक स्वभाव का वाचक होने के कारण **'परामृत'** कहा जाता है। वह—

परामर्शरूप शक्तितत्व का वाचक है अतः उसे **'रस'** भी कहा गया। वह अत्यन्त **प्रशान्त निष्परामर्श शून्यप्राय** कहा गया है। यह मत शिवतत्त्ववादियों का मत है। उसका निरास करने हेतु ही यहाँ **'रस'** शब्द प्रयुक्त किया गया है।

परामृत—तत्त्वद्वय तो—(१) 'शिव' एवं (२) 'शक्ति' है 'तत्त्वद्वयं शिवशक्त्याख्यम् ।।' यद्यपि ये अभिन्न है तथापि स्वरूप प्रतिपादन के लिए उनका अन्यथा अनुपपत्ति द्वारा विभाजन करके उन्हें प्रकाशित किया गया है ।

इसलिए गुरुदेव ने **'तत्त्वगर्भस्तोत्र'** में सतताविलुप्त एवं उपलब्ध उसी का प्रतिपादन करने के उद्देश्य से शिव तत्त्व की स्तुति की है—

'यस्या निरुपधिज्योतीरूपाया: शिवसंज्ञया ।
व्यपदेश: परां तां त्वामम्बां नित्यमुपास्महे ।।'

'शक्तितत्त्व' तो परमार्थ तत्त्वविदों के द्वारा स्वरूप प्रत्यवमर्श, सामान्य स्पन्द आदि नामों के द्वारा व्यवहृत की गई है । उसका पर्यायभूत 'उन्मेष' आदि पद भी उसका संसूचक है—

'किंचिदुच्छूनतापत्तेरुन्मेषादिपदाभिधा: ।
प्रवर्तन्ते त्वयि शिवे शक्तिता ते यदाम्बिके ।।'

यहाँ पर प्रयुक्त 'यदा' शब्द के प्रयोग से यह मतिभ्रम नहीं होना चाहिए कि—कभी यह शक्त्यवस्था होती है और कभी नहीं होती है । क्योंकि स्वभावसंवेदनात्मक, नित्य, सामान्यस्पन्द रूप ही **धर्म** है 'किंचिदुच्छूनता' (थोड़ा सा फूल जाना यथा पानी में डाला चना फूल जाता है) ।[१]

(३) **'सदाशिव'**, **'ईश्वर'** एवं **'विद्या'** (तत्त्वत्रय) भी **परामृत** शब्द वाच्य है । ऐसा क्यों?—इसका कारण यह है कि—

भेदोद्भावन का सामर्थ्य ही माया शक्ति है—कोई वस्त्वन्तर नहीं है—'स्वभा-वस्य विश्वरूपतया अवभासनमानस्य इदन्तोल्लेखने भेदोद्भावनसामर्थ्यं मायाख्याशक्तिराख्याता—न तु वस्त्वन्तरं किंचित् ।।'

इदम्—(यह जगत्)—इत्याकारक रूप में परामृश्यमान पदार्थ-जगत् (या विषयात्मक विश्व) प्रकाशमानता का अतिक्रम करके अन्य बनने हेतु (जिसके द्वारा) समर्थ नहीं हो पाता है उसके कारण यह भेदात्मक रूप वाली होकर भी यह माया प्रकाशात्मक पारमेश्वर धर्म होने के कारण अतिक्रान्त न हो सकने के कारण भगवान् की यह शक्ति ही अत्यन्त अद्भुतस्वरूपा है—

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।'

इसका अर्थ यह है कि मेरी यह दैवी माया, 'इत्थंक्रीडनैकरस' देव की (ईश्वर की) यह माया शक्तित्व से सम्बद्ध है । इसका स्वरूप यह है कि यह 'गुणमयी' (सुखाद्यात्मा सत्वाद्यभिधाना प्रकृति से युक्त) है, यह **भेदावभासस्वस्वभावा** है, शब्दादिविषयात्मिका है, (विषय रूप सुखादिसंवेदनपर्यवसितात्मा है)—अत: मेरी यह सुखादि रूप ग्राह्याकार

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' ।

निर्भासिनी माया 'गुणमयी' कहलाती है। यह **'दुरत्यया'** है—क्योंकि इसका अतिक्रमण करना अत्यन्त दु:खपूर्ण या कष्टकारक है—बहुत कष्टपूर्ण साधनाओं के बाद ही इसको अतिक्रान्त या पराभूत किया जा पाना संभव हो पाता है—अत्यन्त उत्साही प्रबुद्धों के द्वारा भी शीघ्र ही भेदव्यवहार के परे जा पाना कठिन है तथा शीघ्र ही समस्त संसार्यवस्था का उच्छेद कर पाना संभव नहीं है। किन्तु जो लोग मेरी उपासना करते हैं—द्वैतभाव के छिन्न-भिन्न होने एवं संवित् तत्त्व में अधिष्ठित होने के कारण जो सुप्रबुद्ध हैं मात्र मुझ एक ही तत्त्व को अपने से अभिन्न रूप में देखते हुए मुझे पहचानते हुए मद्भावापन्न होकर इस माया को पार कर जाते हैं। उस दशा में ही दिनकर की भाँति द्योतित होकर यामिनी रूपा माया को निर्मूलरूप से नष्ट करके उसके पार हो जाते हैं। **स्तोत्र** में कहा भी गया है—

'समाधि वज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधरः ।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वद्भक्तिबलशालिभिः ॥'

इस प्रकार की प्रत्ययोद्भवमात्रस्वरूपा माया तथा उसका मूलरूप क्षेत्रज्ञतत्त्व **'पशु'** के पर्याय तथा **'अस्वतन्त्र'** शब्द द्वारा यहाँ प्रतिपादित किया गया है।

अस्वतन्त्र = बन्धनग्रस्त (पशु) जीव ॥

इस प्रत्योद्भवरूपा माया के द्वारा स्वस्वभाव से प्रच्यावित जीवात्मा अपने तात्त्विक स्वस्वरूपात्मक धर्म के विपरीत कालादिरूप पाशपंचक के द्वारा ग्रथित होने के कारण **'पशुत्व'** प्राप्त करती है और यही पशुत्व **'पारतन्त्र्य'** है—'पाशपंचकेन ग्रथितस्य पारतन्त्र्यं पशुत्वमुद्भाव्यते ॥' यह पशु रूप जीवात्मा इस पारतन्त्र्य के कारण व्यामोहित होकर अपने अनवच्छिन्न स्वधर्म का परामर्शन न करता हुआ प्रत्युत् उसके विपरीत **अवच्छेदक पंच पाशों के द्वारा**—

(१) भूत-भविष्यादिक विकल्पों में विभक्त—**'काल'** के द्वारा,

(२) सर्वात्मकत्व, रूप धर्म को विस्मृत कर देने के फलस्वरूप सर्वत्र नियतकार्यकारण नामक भाव से युक्त **'नियति'** के द्वारा,

(३) सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्वलक्षण लक्षण वाले धर्म से उदासीन होने के कारण-किंचित्कर्तृत्व-किंचिज्ज्ञत्व रूप वाले—**'कला'** एवं **'विद्या'** के द्वारा।

(४) प्रेप्सित अर्थों को न पाने के कारण नित्यनिरभिलाषत्व रूप लक्षणरूप स्वधर्म के अपरामर्श के कारण—विषयाभिलाषिता रूप **'राग'** रूप पाश के द्वारा—बध्यमान, पराधीन वृत्ति वाला (तत्त्वतः पतिरूप) जीव **'पशु'** कहलाने लगता है।[१]

क्योंकि पारमार्थिक रूप में परमेश्वर के एक होने पर भी उसके अपने अत्यद्भुत ऐश्वर्यवीर्य द्वारा और विशुद्धचिन्मात्ररूप होने के कारण तथा विश्वात्मक होने के कारण उसके आन्तर एवं बाह्य दो रूप हैं—अतः उसमें द्वैविध्य आभासित तो होता ही है। यहाँ उसका जो विश्वात्मक स्वरूप है—

---

१. रामकण्ठाचार्यः— 'स्पन्दविवृति'

बाह्यरूप है—उसके **'ज्ञेय' एवं 'कार्य' रूप** भाव द्वारा उसके लब्ध होने से एक तत्त्व के अद्वैत शक्ति होने पर भी उसकी शक्ति **'ज्ञान' एवं 'क्रिया'** दो रूपों में उपचरित होती है । वह 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' जहाँ बाह्यगृहीत **'उन्मेष'** के रूप में त्रिगुणात्मक अव्यक्तावस्था में स्थित होते हैं वे परमेश्वर भोगात्मक ज्ञान-क्रिया रूप में वर्तमान होने पर भी अन्तर्मुखी होने के कारण **निमेषात्मिका सदाशिवदशा** कहलाते हैं ।

'शक्ति' के क्रिया-प्राधान्य पूर्ण होने पर बहिर्गृहीत उन्मेष की पराहं विश्रान्ति दशा **'ईश्वरदशा'** कहलाती है । जिसमें ज्ञानशक्ति के उद्रेक होने के कारण इसका बहिर्मुखत्व बाह्याभ्यन्तर रूप सामानाधिकरण्यपर्यवसायी होने के कारण स्वरूपविश्रान्तिनिष्ठत्व ही वह **'विद्यादशा'** है ।

(४) ये तीनों ही परामृत है । इन तीनों ही दशाओं में भेदप्रतिप्रतिमूलता होने के कारण माया शक्ति के लब्धात्मिका होने पर भी संवित् तत्त्व के परिपूर्णा हंकार लक्षण वाले स्वभाव में ही विश्रान्त होने से प्रत्यस्तमिता होकर परमानन्दनिर्भर शिवरूप को तिरोहित करने में समर्थ नहीं है अतः ये तीनों पद परामृत ही है—'इति पदत्रयमेतत्परा-मृतमेव' तत्त्वगर्भ में कहा भी गया है—

'ज्ञानक्रियास्वरूपेण प्रवृत्तायास्तु ते शिवे ।
सदाशिवत्वं जगदुर्भोगाह्वं तत्त्ववेदिनः ॥
गुणीभूतज्ञशक्तित्वं व्यक्तीभूतक्रियात्मिका ।
यदा तदैश्वरं तत्त्वं व्यक्ततामेति वृत्तिमत् ॥
प्रवृत्तावुन्मुखीभूता भवेस्त्वं परमे यदा ।
ज्ञान शक्तिस्तदोदारा विद्या त्वं परिगीयसे ॥'

'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' में भी कहा गया है कि—

एवमन्तर्बहिवृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा ।
मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी ॥
किंत्वान्तरदशाद्रेकात्सादाख्यां तत्त्वमादितः ।
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम् ॥
ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।
सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदं धियोः ॥
इदंभावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम् ।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात् ॥'

उससे परे तो परस्पर-परिहारावस्थित-अहं प्रतीति लक्षण से भिन्न विषयापेक्षी, अनेक भेदों के अभिमान से युक्त होने के कारण, अपने तात्विक ऐश्वर्य से अनभिज्ञ ज्ञेत्रज्ञतत्त्व में मायाशक्ति ही मात्र परमात्मा के विश्वरूपैश्वर्य का प्रथमास्पदभूत होकर विजृंभण करती है—

'यदा त्वेवंविधादत्र निजा भोगाज्ञता पशोः ।
तदा मायास्वरूपेति गीयते वैभवाश्रयः ॥'

प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में भी कहा गया है—

'भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षते ।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृंभते ॥'

यहाँ यह **'प्रत्ययोद्भव'** शब्द से प्रतिपादित की गई है । 'मैं'—इत्याकारक शिवात्मक स्वभाव का परामर्शात्मक ज्ञान सम्यक् ज्ञान है । विश्व के रूप में अवभासमान उसके ही स्वस्वभाव का इदन्तोल्लेखन ('यह' के रूप में उल्लेख करना) है ।

मायाशक्ति के पाँच भेद—काल, कला, नियति, राग, विद्या—या माया शक्ति के ये पाँच प्रसव (उत्पन्नभूत पदार्थ या तत्त्व या माया शक्तियाँ)—समस्त पशु प्रबन्ध (जीवों का अविच्छिन्न क्रम, बन्धन, योजना) को अविशेष रूप से उसके स्वस्वरूप को आच्छादित करके स्थित है—'माया शक्तेः प्रसवः समस्तस्य पशुप्रबन्धस्य अविशेषेण स्वरूपभावृत्य व्यवस्थितः ॥' यह माया शक्ति प्रत्येक प्राणी को उसकी भिन्न-भिन्न विचित्र बुद्धि आदि के रूप में परिणत होकर उसको आच्छादित—आवृत्त करती है उस 'प्रधान' (प्रकृति) नामक प्रसव का प्रपंच को प्रत्योद्भवविषय के प्रतिपादन के द्वारा यह कहा कि—'स च तन्मात्र गोचरः' ।

स च तन्मात्रगोचरः = 'स च पशुत्व कारणं'—वह पशुत्व का कारण प्रत्ययोत्पन्न है । **'तन्मात्रगोचर'** = तन्मात्रा (शब्द स्पर्श रूप रस गंध तन्मात्रायें) गोचर हैं (विषय हैं) जिनके वह ॥ 'प्रत्यय' विषय का आलम्बन लेकर (विषयसापेक्ष) स्थित है—प्रत्येय हैं । विषय एवं विषयीभाव ग्रहीतृ-ग्रहण-ग्राह्य-इस त्रितय रूप में होने के कारण युक्ति-सिद्ध है तथापि सामान्य प्रवृत्ति के कारण बिना त्रितय की सत्ता नहीं हो सकती । इस वाक्य के द्वारा ये चारों आक्षिप्त हैं ।

(१) इसमें 'ग्रहीता' कौन है? प्रत्ययवान् पशु

(२) इसमें 'ग्राह्य' कौन है? शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध—

अर्थात् आकाशादिक स्थूल पंचभूतों के आश्रयभूत विशेषात्मक गुण (क्योंकि उनके द्वारा ही समस्त विषयों की प्राप्ति होती है) ।

सामान्य के उपपन्न (प्राप्त) होने पर समस्त विशेषों का उनमें अंतर्भाव समझ लेना चाहिए ॥ अतः सामान्य वाची 'तन्मात्र' शब्द के प्रयोग के द्वारा विशेषों को भी गृहीत किया जाना चाहिए । उनके द्वारा—शब्दादि के आश्रयभूत स्थूल तत्त्व—आकाशादिक भी आक्षिप्त हैं क्योंकि—उनकी सत्ता निराश्रय होने की स्थिति में तो है ही नहीं । इस प्रकार **दशविध कार्य** हैं ।

---

१. 'तथा च अयम् अनया व्यामोहितः अनवच्छिन्नत्वादिरूपं स्वधर्मम् अपरामृशन्, तद्विपरीतेन अनवच्छेदकेन कलनात्मना भूतभविष्यदादिविकल्पविभक्तेन कालाख्येन, तथा सर्वात्मकत्वधर्मविस्मृतेः सर्वत्र नियतकार्यकारणभावाख्यात्मकेन नियतिनाम्ना, तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वलक्षणधर्मद्वयौदासीन्यात् किंचित्कर्तृत्वकिंचिज्ज्ञत्व रूपाभ्यां कलाविद्याभिधानाभ्यां तथा प्रेप्सितार्थविरहात् नित्यनिरभिलाषितारूपेण रागाख्येन, च पाशेन वध्यमानः पराधीनवृत्तिः पशुः संबध्यते ॥'' 'स्पन्दवृत्ति'

वह प्रत्ययवान, पर वशीभूत पशु विषयी होने के कारण इष्टानिष्ट विषय में हानादि क्रियाओं में करण की अपेक्षा रखता है । जिसके द्वारा यह विषय का निश्चय करता है वह प्रकाशप्रधान **'बुद्धि' नामक करण** है । जिसके द्वारा अनात्मभूत देहादिक अर्थ को अपनी आत्मा के रूप में मानता है वह तद्विपर्ययात्मक नियमप्रधान तत्त्व **'अहंकार'** है । जिसके द्वारा प्रवृत्तिप्राधान्यवश विषयों को विकल्पित करता है वह संशयात्मक तत्त्व **'मन'** है ।

इस प्रकार—अंत:करण त्रिविध है—**बुद्धि, अहंकार, मन** ॥ 'त्रिविधं अन्त:-करणम्' ॥ ये कार्य हैं ।

जिसके द्वारा शब्दादिक विषय ग्रहण किये जाते हैं—वे पाँच है—और वे श्रोत्रा-दिक पाँच बुद्धीन्द्रिय पंचक कहलाते हैं जिसके द्वारा वचनादि क्रिया संपन्न की जाती है—वे वागादिक पंचकर्मेन्द्रियाँ हैं । अत: ये १० बहिष्करण हैं ।[१]

ये अहंकार के कार्य हैं । इस प्रकार (१) बाह्य एवं (२) आभ्यन्तर दो प्रकार के करण हैं—इन्द्रियाँ हैं । इस प्रकार २३ प्रकार के कार्य करण वर्ग विषयी होने के कारण अन्यथानुपपत्ति द्वारा आक्षिप्त हैं ।

प्रवर्तक हेतु के बिना विषय-प्रवृत्ति का अभाव हो जाने के कारण विषयत्व भी उपपादित नहीं किया गया । अत: यहाँ सुखाद्यात्मा भी **आक्षिप्त** हैं । **'सुख' क्या है?** प्रत्येक प्राणी की स्ववासनानुगुणेष्टविषयप्राप्ति से होने वाली अनित्य तृप्ति रूप आनन्द ही सुख है ।

'सुखं प्रतिप्राणिस्ववासनानुगुणेष्ट**विषयप्राप्तेस्तृप्तिरनित्य आनन्द: ।'–उसके द्वारा** प्रयुक्त होकर इष्टविषयों के आदान हेतु ही प्रवृत्ति होती है । उसके विपरीत ही दु:ख होता है जो कि अनिवृत्तिरूपात्मक है और अनिष्टविषयात्मक है । दोनों का न्यग्भाव **मोह** है ।

वृत्तिकार ने जो 'रूपाद्यभिलाषात्मक:' कहा है वह 'तन्मात्रगोचर:' का पर्याय है ।

रूपादिक में जो अभिलाषा (राग) है उसके निमित्तक होने के कारण तदात्मक प्रत्ययोद्भव होता है । उसके कारण—अभिलाष-प्रपंच ही सुखाद्यात्मक प्रधान कारण है अत: यह प्राधानिकी २४ तत्त्व 'तन्मात्रगोचर:' शब्द द्वारा आक्षिप्त है ।

पूर्व में १२ तत्त्वों को विनीर्णीत किया गया—शिवादिविद्यान्त ५, माया, काला-दिक ५, पशुतत्त्व—इस प्रकार ३६ तत्त्वों द्वारा पारमेश्वरी शक्ति विजृंभण करती है—'द्वादशतत्त्वानि निर्णीतानि—दृतद्यथा-शिवादिविद्यान्तानि पंच, माया, कालादिपंचकं, पशुतत्त्वं च इति षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतया पारमेश्वरी एकैव शक्तिर्वृजृंभते ॥'

इस प्रकार प्रत्ययोद्भव ही पशुत्व का कारण है इस तथ्य के प्रतिपादित किये जाने के कारण भोग्य होने के कारण जीव पशु कहा जाता है—'प्रत्ययोद्भवस्य पशुत्व-कारणभावे प्रतिपादिते शक्तिवर्गस्य भोग्यतां गत: सन् पशु: स्मृत: ॥'[२]

१-२. रामकण्ठाचार्य:— 'स्पन्दकारिकाविवृति' ।

शाक्त प्रसार के ३ प्रकार हैं—'प्रत्ययोद्भव' । 'स्वरूपा वरण' पशुवर्तिनी स्थूल के रूपको ग्रहण कर लेना, अर्थात्—'आणवमल' 'मायीयमल' 'कार्ममल' ॥ —'स्वतन्त्र' का अस्वतन्त्र बन जाना ।

भट्टकल्लट की व्याख्या—'स्पन्दसर्वस्व'—

परामृतरसापायः = परामृतरस = स्वस्वरूप । **अपायः** = विच्छेद, विच्युति । **प्रत्ययोद्भवः** = 'विषयदर्शने स्मरणोदयः' तेनास्वतन्त्रता मेति = तेन + स्वतन्त्रताम् + एति । स्वतन्त्रता प्राप्त करता है । **स च तन्मात्रगोचरः** = 'रूपाद्यभिलाषात्मकः ॥'

बन्धन एवं विकल्पों की भूमिका—अपने निर्विकल्प स्वरूप में **विकल्पों के ज्ञान का प्रकटीकरण होना ही परामृतरस (शिवशक्ति-सामरस्य) से च्युत हो जाना है** । इसी के कारण जीव (अपनी सहज 'स्वातन्त्र्य शक्ति' खोकर) अस्वतन्त्र (पराधीन) हो जाता है । इस विकल्प ज्ञान के विषय पाँच तन्मात्रायें हैं ।

(क) **'विकल्पों' का प्रकटीकरण**—जीव का परामृतरस से च्युत होना ।

(ख) **'विकल्पों' का उदय**—स्वातन्त्र्य शक्ति से च्युत होकर अस्वतन्त्र हो जाना । (जीवों का **स्वातन्त्र्यशक्ति से हीन** होना) ॥

(ग) 'विकल्पों' के विषय पाँच तन्मात्रायें हैं ।

भट्टकल्लट कहते हैं कि—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंच तन्मात्राओं के प्रति पशुप्रमाता की अभिलाषा का उत्पन्न होना ही विकल्प ज्ञान का विषय है ।

'विमर्शात्मिका स्पन्दशक्ति' की बाह्योन्मुख प्रसार-क्रीड़ा (सृष्टि विस्तार = शाक्त प्रसार) के रूप—

(१) प्रत्ययोद्भव (२) स्वरूपावरण (३) स्थूलात्मिका क्रियाओं का ग्रहण (अर्थात् **'आणव मल' 'मायीयमल' 'कार्मकल'**) ॥

'शक्ति' सृष्टि-प्रसार की अपनी क्रीड़ा **'शिवभाव'** (अनुत्तर कोटि) से **जड़भावात्मक** (निम्नतम स्तरीय) पृथ्वीतत्त्व तक व्याप्त रखती है ।

शिव से पृथ्वी तक ३६ तत्त्व हैं । समस्त विश्व इसी में अन्तर्भूत या संलीन है ।

'शक्ति' का सृष्टि-प्रसार एवं 'प्रत्ययोद्भव'—'शक्ति जब सिसृक्षु होकर अपनी बाह्योन्मुखी अभिव्यक्ति करती है तब वह 'प्रत्ययोद्भव' के रूप में परिणत होती है । समस्त विकल्प-साम्राज्य प्रत्ययोद्भूत ही तो हैं । शिव के स्वातन्त्र्य शक्ति का 'मायाशक्ति' के रूप में स्वरूप-ग्रहण-शिव में अपनी पूर्णता, स्वतन्त्रता, पूर्ण ज्ञातृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण तृप्ति, पूर्ण विभुत्व के संदर्भ में संदेहाविर्भाव—**प्रथम प्रत्ययोद्भव** (अपने निरपेक्ष पूर्ण स्वातन्त्र्य में विश्वास न होना)—(१) स्वतन्त्र ज्ञातृत्व की हानि (२) स्वतन्त्र कर्तृत्व पर अविश्वास ॥ अर्थात् अनात्म पदार्थों में आत्मबोध एवं आत्म बोध की हानि ॥ सबसे बड़ा प्रत्ययोद्भव यही है जो कि स्वातन्त्र्यहानिमूलक है । यही **'आणवमल'** भी कहलाता है ।

प्रत्ययोद्‌भव—स्वस्वातन्त्र्य में अविश्वास—आत्मा का अवरोहण—चेतन ही जड़त्व प्राप्त कर लेता है तथा 'परावाक्' वैखरी वाक् तक अवरोहण कर लेती है । परिणाम—

(१) **सर्वज्ञातृत्व**—किंचिद् ज्ञातृत्व (२) **सर्वकर्तृत्व**—किंचित् कर्तृत्व = सर्वात्मक ज्ञान—संकुचित ज्ञान सर्वात्मक क्रिया—अल्पक्रिया ॥ **परिणाम** = ३६ तत्त्वों का बाह्यावभासन । यही 'परामृतरसापाय' है ।

परामृत = प्रकाशस्वरूप शिव । संवित् शक्ति ।

रस = अहं विमर्शमयी स्पन्दशक्ति ।

परामृत = सदाशिव, ईश्वर एवं शुद्ध विद्या इन तीनों तत्त्वों को भी सूचित करता है ।

एक ही तत्त्व प्रकाश के प्राधान्य से 'शिव' एवं विमर्श के प्राधान्य से शक्ति है और दानों मूलतः अभिन्न है ।

प्रत्ययोद्‌भव = ६ तत्त्व, जिन्हें 'षट् कंचुक' कहा जाता है ये भेद बुद्धि की सर्जना करने वाले माया के प्रसार हैं । इनका रूप निम्नांकित है—

प्रत्ययोद्‌भव = (१) माया तत्त्व (२) कला तत्त्व (३) विद्या तत्त्व (४) राग तत्त्व (५) नियति तत्त्व (६) काल तत्त्व ॥

स्वतन्त्र = शिव । शक्ति ।

अस्वतन्त्र = प्रत्ययावृत पुरुष तत्त्व ॥ षट् कंचुक आबद्ध पशु ॥ पशुप्रमाता ॥

तन्मात्रगोचरः = प्रकृति, बुद्धि, मनस् । अहंकार । श्रोत्र । त्वक् । नेत्र । जिह्वा । घ्राण । वाक् । हस्त । पाद । पायु । उपस्थ । शब्द । स्पर्श । रूप । रस । गंध । आकाश । वायु । तेजस् । जल । एवं पृथ्वी तत्त्व ॥

'प्रत्ययोद्‌भव' क्या है? अपनी आत्मभूता स्वरूप शक्ति के विरुद्ध विकल्पहीन स्वरूप में ज्ञेय विषयों से सम्बद्ध विकल्पात्मक ज्ञानों का उदय होना ही **'प्रत्ययोद्‌भव'** है । **'तन्मात्र'** शब्द मात्र ५ तन्मात्राओं का ही नहीं प्रत्युत् समस्त प्रकृत्योद्‌भूत सृष्टि का वाचक है । ब्राह्मी आदि शाब्दी शक्तियाँ जीवों के स्वरूप पर सदैव आवरण डालकर उसे आच्छादित करने का प्रयास करती रहती है ।

शब्दों की अनुस्यूतता न हो तो कोई भी **प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं** हो सकता : 'यतः शब्दानुवेधेन न बिना प्रत्ययोद्‌भवः ॥' (का० ४७)

'अस्वतन्त्रता' का कारण क्या है?

'... .... प्रत्ययोद्‌भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥' (का० ४६)

विकल्प ज्ञान—(१) 'परामृतरसापाय ।' (२) 'स्वातन्त्र्य हानि'

ग्राह्य विषयों की प्राप्ति होने पर तद्विषयक अनुस्मृति का उदय होना ही प्रत्ययोद्‌भव का रूप है । प्रत्ययोद्‌भव के विषय तन्मात्र हैं ।

'स्वतन्त्रता' की हानि का कारण अज्ञान या मल है जो कि निम्न हैं—(१) 'आणव मल' (२) 'मायीय मल' (३) 'कार्ममल' ।

'मल'—**'आणवमल'**—**'मायीय मल'**—'कार्ममल'। **'मल' क्या है?** संकुचित ज्ञान ही **'मल'** है । परमेश्वर पूर्णज्ञान एवं पूर्ण क्रिया के स्वस्वरूप को स्वेच्छा से आच्छादित कर लेता है और अपनी संकुचितात्मता प्रकट करता है । यह आच्छादित (प्रच्छन्न) ज्ञानात्मरूपता ही **'मल'** है । यह पूर्णत्व की अख्याति है—आत्म सङ्कोच या अज्ञान है—यही 'मल' भी है और **संसार रूपी वृक्ष का अंकुर भी है**—'मलमज्ञान-मिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ॥' इस 'मल' की अनेक संज्ञाये हैं—

'मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्यालोलिकाप्रथा ।
भवदोषोऽनुप्लवश्च ग्लानिः शोषो विमूढता ॥
अहंममात्मतातङ्को मायाशक्तिरथावृतिः ।
दोषबीजं पशुत्वं च संसारांकुरकारणम् ॥'

१. **आणवमल**—अपने को अपूर्णमानना ('अपूर्णमन्यता' या पूर्णज्ञानात्मक स्वरूप का अज्ञान या ज्ञान का सङ्कोच) । यह अणुता या सङ्कोच ही 'आणव मल' है ।

आणव मल के प्रकार—

(१) चिन्मात्र बोध के स्वातन्त्र्य का सङ्कोच (ज्ञातृत्व का अज्ञान)

(२) स्वातन्त्र्य या कर्तृत्व का अज्ञान—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता—द्विधाणवं मलमिदं स्वरूपापहानितः ॥ ('ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' ३।२)

२. **मायीय मल**—'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं'

स्वरूप के अज्ञान के अनन्तर सांसारिक पदार्थों को अपने से भिन्न समझना (भेद प्रथा) ही **'मायीय मल'** है ।

३. **कार्ममल**—जन्म तथा भोग प्रदान करने वाले शुभाशुभ कर्मों की पराधीनता ही **'कार्ममल'** है ।

इन तीनों मलों का सर्जक मायाशक्ति है । मायाशक्ति—(१) 'आणव मल' (२) 'मायीय मल' (३) 'कार्ममल' ।

'............ जन्म भोगदम् । कर्तर्यबोध कार्यम् तु माया शक्त्यैव तत्त्रयम् ॥'

(१) **आणवमल**—गोपितस्वमहिम्नोऽस्य सम्मोहाद्विस्मृतात्मनः ।
य: सङ्कोचः स एवास्य आणवो मल उच्यते ॥

(२) **मायीयमल**—ततः षट्कञ्चुकव्याप्ति विलोपितनिजस्थितेः ।
भूतदेहे स्थितिर्यासौ मायीयो मल उच्यते ॥

(३) **कार्ममल**—यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।
बहिर्व्याप्रियते कार्ममलमेतस्य तन्मतम् ॥

शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य—ये शाब्दी शक्तियाँ भी जीवों में मलोद्भव का कारण बनती हैं । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

क्रं०	अधिष्ठात्री देवी	वर्ग	प्रभाव
१	ब्राह्मी	कवर्ग	ये ही
२	माहेश्वरी	चवर्ग	आठों शक्तियाँ
३	कौमारी	टवर्ग	चैतन्य
४	वैष्णवी	तवर्ग	(संवित् तत्त्व)
५	वाराही	पवर्ग	के ऊपर
६	ऐन्द्री	यवर्ग	आवरण डालने में
७	चामुण्डा	शवर्ग	'सततोत्थिता' हैं ।
८	महालक्ष्मी	अवर्ग	स्वरूपावरणं चास्य शक्तय: सततोत्थिता:

शैवदर्शन के अनुसार निजशक्तियों से जनित व्यामोहितता ही 'संसारित्व' है 'एवं च निजशक्तिव्यामोहिततैव संसारित्वम्' (प्र० हृदयम्) ॥

स्वरूपाच्छादन और उसके कारण—

स्वरूपावरणे चास्य शक्तय: सततोद्यता ।
यत: शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भव: ॥ ४७ ॥

और इसके (पुरुष के) स्वरूप पर आवरण डालने के लिए (ब्राह्मी आदि) शक्तियाँ निरन्तर प्रयास-रत रहती हैं । कारण यह कि शब्दों की अनुस्यूतता के बिना प्रत्ययोद्भव संभव ही नहीं है ॥ ४७ ॥

* **सरोजिनी** *

अस्य = इसका । पशु का । **स्वस्य** = अपना । शिवात्म स्वरूप अपना । **आवरणे** = आवरण में । भित्तिभूतत्व द्वारा प्रथमान । सम्यग्परामर्श द्वारा उसके कारण शक्तियाँ अनवरत रूप से प्रादुर्भूत होती रहती है । ('परामृतरसात्मकस्वस्वरूपप्रत्यभिज्ञानं न वृत्तं तावत् एता: स्वस्वरूपावरणाय उच्छन्ति एव') **प्रत्ययोद्भव** = विकल्पा-विकल्प-ज्ञानप्रसर ॥ **शब्दानुवेधेन** = 'अहमिदं जानामि'—आदि सूक्ष्म अन्त:शब्दानुरञ्जन के द्वारा तथा स्थूल अभिलाप संसर्ग के द्वारा । **च** = यहाँ 'च' शब्द शङ्का द्योतित करता है । शङ्का के परिहारार्थ ही उसका प्रयोग हुआ है ।[1] **भट्टकल्लट** इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—'स्वरूपस्य स्वभावस्याच्छादने चास्य पुरुषस्य शक्तयो ब्रह्म्याद्या: पूर्वमुक्ता या:, ता: सततम् उद्युक्ता: । यत: शब्दरहितस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य नास्त्येव कस्यचिदुद्भव: ॥'

ग्रन्थकार द्वारा शङ्का उठायी गयी है कि—यदि प्रत्ययोद्भव (ज्ञानाविर्भाव)

---

१. स्पन्दनिर्णय ।

बन्धनग्रस्त प्राणी में परामृतानन्द के लुप्त होने का प्रतिनिधित्व करता है तो यह कैसे कहा गया है कि वह शक्ति समुदाय का दास बन जाता है—अर्थात् शक्ति वर्ग का भोग्य बन जाता है?—इसी के उत्तर में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत श्लोक लिखा है।[१]

जिन शक्तियों का विवेचन किया गया है वे बद्धात्मा प्राणियों से, उनके शिव से अभिन्न यथार्थ स्वरूप को (उनसे) छिपाने हेतु सर्वदा प्रस्तुत रहती है। या वे उस उपाय के रूप में कार्य करती हैं जिसके द्वारा बद्धात्मा किसी भी प्रकार, अंतिम आधार के रूप में स्थित यथार्थ आत्म स्वरूप का ध्यान कर सकें। जब तक कि बद्धात्मा परामृतानन्द से अभिन्न अपने प्रत्यक् चैतन्य—अपने यथार्थ स्वरूप—की प्रत्यभिज्ञा नहीं कर लेता तब तक ये शक्तियाँ सदा ही व्यक्ति के यथार्थस्वरूप को छिपाने का प्रयास करती रहती हैं क्योंकि प्रत्ययों का आविर्भाव या निश्चितानिश्चित ज्ञान प्रवाह, बन्धनग्रस्त प्राणियों में तब तक नहीं आ सकता जब तक कि वह शब्दों के सूक्ष्म या स्थूल रूपों के संयोग से संयुक्त न हो जाय। सूक्ष्मरूप में शब्दों का संयोग इस प्रकार हो सकता है यथा 'मैं इसे जानता हूँ'।[२]

निम्नस्तरीय पशु भी विचार करने की क्षमता रखते हैं और सिर हिलाने एवं ध्वनि पैदा करने के द्वारा अपने विचार व्यक्त करते हैं अन्यथा बालक प्रथम बार ही पारम्परिक चरित्र या परम्परागत गुण प्राप्त नहीं कर पाता क्योंकि वह परिणामों पर विचार करने की क्षमता नहीं रखता। विचारशक्ति (Ideation) स्वात्मानुभव से ज्ञात होती है और यह शब्दानुवेधजन्य है।

अस्य = इस प्रकार के प्रत्ययापादित पशुत्व रूप आत्मा के ॥ **स्वरूपावरणे** = शिवात्मक स्वभाव रूप स्वरूप के आवरण में प्रत्यवमर्शाभावमात्र हेतु के कारण उत्पन्न आवरण में ॥

इस व्यवधान के स्थगित होने पर 'शक्तयः सततोत्थिताः'। **सतत्** = पशु व्यवहार के कभी भी उपरत न रहने के कारण सदैव (सततम्) नित्य ही। **उत्थित** = उदित। **यतः** = जिससे।

अस्वतन्त्रतापादनात्मक अमृतरसापाय से प्रतिपादित 'यः प्रत्ययोद्भवः' वह 'शब्दानुवेधेन' अर्थात् शब्द संभेद के 'बिना' अर्थात् 'संभव नहीं है' यह शेष है।

भाव यह है कि—(१) शाब्द शक्तियाँ एवं अन्य शक्तियाँ स्वरूप को आच्छादित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहती हैं।[३]

(२) ऐसा कोई प्रत्यय (विचार) उत्पन्न हो ही नहीं सकता जो शब्दानुविद्ध न हो। 'शब्द' निश्चय ही प्रत्यवमर्शात्मक एवं अवभासात्मक हैं। शब्द के ही अवभास अर्थ है। 'शब्द' जो कि मूलतः प्रत्यवर्शात्मक हैं अपने क्रोड में पदार्थों को रखते हैं : 'शब्द' की गोद में 'पदार्थ किलकारी मारा करते हैं। 'शब्द' चेतन हैं और अवभास जड़ हैं अतः दोनों में भेद भी है स्पष्ट है कि 'शब्द' जनक हैं और पदार्थ 'जन्य' है। एक कर्ता है

१-२. स्पन्दनिर्णय।

३. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति'।

दूसरा कार्य, एक स्रष्टा है दूसरा सृष्टि एवं कारण है तो दूसरा कार्य है। शब्द की गोद में उसके अर्थ—खंग, उदक, आदर्श (दर्पण) आदि पदार्थ—स्थित हैं—ये पदार्थ 'शब्द' के अवभास मात्र हैं—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥' (प्रत्यभिज्ञा)

अन्यत्र भी कहा गया है—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगं विना।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥'

और वह सर्वाच्छेद-विरहित-विशुद्ध-चित्प्रकाशात्मक मुख्यार्थनिष्ठ होकर **प्रत्यवमर्श** कहलाता है—'स च सर्वावच्छेदविरहितविशुद्ध चित्प्रकाशात्मक मुख्यार्थनिष्ठः सन् प्रत्यवमर्श इत्युच्यते ॥'

'विकल्प' क्या है? जाति गुण क्रिया आदि अभिधानादिक विविध विशेषावच्छिन्न भिन्नरूपात्मक विश्वात्मकार्थावभासनिष्ठ ही विविध कल्पनात्मक होने के कारण **'विकल्प'** कहलाते हैं—

'जाति गुण क्रियाभिधानादिविविध विशेषावच्छिन्नभिन्नरूपविश्वात्मकार्थावभासनिष्ठस्तु, विविधकल्पनात्मकत्वात् विकल्प इत्युच्यते ॥' वही शब्द का मुख्य रूप है—'तदेव शब्दस्य मुख्यं रूपं।' उसके संकेतत्व द्वारा व्यवस्थित, श्रोत्रग्राह्य ध्वनिविशेषात्मक अर्थ ही प्रायः 'शब्द' के नाम से व्यवह्रियत किया जाता है—

'तत्संकेतत्वेन व्यवस्थितः श्रोत्रग्राह्यो, ध्वनिविशेषात्मकोऽर्थ एव प्रायेण शब्द इति व्यवह्रियते ॥'

अतः शब्दरूपतापन्न, एवं प्रत्ययोदभवप्राणभूत शक्तियाँ ही इस स्वरूपावरण करने के कार्य में सदोद्युक्त रहा करती हैं—'तस्माच्छब्दरूपतामापन्नाः प्रत्ययोद्भवप्राणभूताः शक्तय एवास्य स्वरूपावरणे सदोद्युक्ता'।

पशु = 'शक्तिवर्गस्य भोग्यतां गतः सन् पशुः स्मृतः ॥'

कहा भी गया है—स्वरूपस्य स्वस्वभावस्याच्छादने ॥'[१]

स्वरूपावरण : बन्धन—(१) ब्राह्मी आदि शब्दाधिष्ठात्री शक्तियाँ जीवों के स्वरूप पर आवरण डालने हेतु सदैव उद्यत रहती है 'स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः'।

(२) 'शब्दानुवेध' (प्रत्ययों में शब्दानुस्यूतता) के बिना प्रत्ययों का आविर्भाव संभव ही नहीं है—'यतः शब्दानुवेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः ॥'

भट्टकल्लट की व्याख्या—'स्पन्दसर्वस्व' में वृत्तिकार कहते हैं कि—'स्वरूप' अर्थात् स्वभाव के आच्छादन में पुरुष की ब्राह्मी आदि शक्तियाँ सदैव उद्यत रहती हैं।

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति'।

शब्द-शून्य प्रत्यय (ज्ञान) का आविर्भाव हो ही नही सकता। सारांश यह कि प्रत्ययों का मूल शब्द है अतः शब्द शून्य ज्ञान संभव नहीं है।

स्वरूप = स्वभाव। **आवरण** = आच्छादन। **चास्य** = च + अस्य = और इस पुरुष की। **शक्तयः** = पूर्वोक्त ब्राह्मी आदि अष्ट वर्गाधिष्ठात्री शक्तियाँ। **उत्थिता** = उद्यत रहती हैं। **यतः** = क्योंकि 'शब्दानुवेधेन न विना' = शब्दों की अनुस्यूतता के विना। **प्रत्ययोद्भवः** = किसी भी प्रत्यय या ज्ञान का आविर्भाव नहीं हो सकता।

आत्मा का स्वरूपावरण—ब्राह्मी आदि शाब्दी शक्तियाँ पुरुष (जीव) के 'स्वभाव' पर आवरण डालने के लिए निरन्तर उद्यत रहती हैं।

प्रत्ययोद्भव = स्व शक्ति के विरोध के कारण विकल्प शून्य स्वरूप में ज्ञेय विषयों से सम्बद्ध विकल्पात्मक ज्ञानों के उदित होने को **'प्रत्ययोद्भव'** कहा गया है। शब्द की सहायता (सहकारिता) के अभाव में किसी भी प्रत्यय (विकल्पात्मक ज्ञान) का आविर्भूत होना कथमवि संभव नहीं है।

स्वरूपावरण—इस कारिका में पुरुष के स्वरूप पर जो आवरण पड़ जाता है उसकी विवेचना की गई है।

आचार्य क्षेमराज ने 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में इसका सुन्दर विवेचन किया है। वे कहते हैं—

'जब चिदात्मा परमेश्वर अपनी (स्वातन्त्र्य शक्ति से) स्वतन्त्रतापूर्वक अभेद-व्याप्ति को संकुचित करके भेद व्याप्ति का अवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियाँ असंकुचित होने पर भी संकुचित प्रतीत होती हैं। तभी यह मलों से आवृत होकर **संसारी** हो जाता है।'

'यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेद व्याप्तिं विमज्ज्य भेद व्याप्तिं अव-लम्बते तदा 'तदीया इच्छादिशक्तयः' असंकुचिता अपि संकोचवत्यो भान्ति, तदानीमेव च अयं मलावृतः संसारी भवति ॥' चाहे **'पतिभूमिका'** हो चाहे **'पशुभूमिका'** हो सभी भूमिकायें चिदात्मा भगवान् की स्वातन्त्र्य शक्ति द्वारा अवभासित हैं—सभी भूमिकाओं में एक ही आत्मा व्याप्त है—

'एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः स्वातन्त्र्यावभासिता सर्वा इमा।
भूमिका ..... अतएव एक एव एतावद्व्याप्तिक आत्मा ॥'

(क) **स्वरूपावरण** की एक शक्ति तो ब्राह्मी आदि शाब्दी अष्ट शक्तियाँ हैं। ये शब्दानुविद्ध ज्ञान द्वारा स्वरूपावरण करती है। इनके स्वरूपावरण का साधन है : शब्दानुविद्ध प्रत्यय ॥ इसी लिए तो कहा गया है—'ज्ञानं बन्धः' (शिवसूत्र) ॥

(ख) **स्वरूपावरण का दूसरा साधन** है—**'मलत्रय'** अर्थात् **'आणवमल' 'मायीय मल' 'कार्ममल'** ॥ 'ज्ञानंबन्धः' का ज्ञान **'विकल्पज्ञान'** है न कि आत्मज्ञान ॥ यह विकल्प ज्ञान भी स्वरूपावरण का कारण है।

शक्तियों का यह स्वभाव है कि वे प्रतिक्षण जीवों की आत्मा पर मायिक

आवरण डालकर उन्हें दिग्भ्रान्त करती रहें किन्तु ये ही शक्तियाँ शिव भूमिका (पति-भूमिका) पर जहाँ कि शक्ति का अर्हविमर्शात्मिका स्पन्दना स्थित है और पूर्ण स्वातन्त्र्य उल्लसित है वहाँ वे स्वरूप गोपन की क्रिया करके स्वरूपावरण नहीं करतीं क्योंकि शक्ति जब तक माया की भूमिका पर आरूढ़ होकर बहिर्मुखी नहीं होती तब तक स्वरूपावरण नहीं करती किन्तु मायाशक्ति का रूप धारण करते ही वह स्वरूपगोपनात्मिका क्रीड़ा प्रारंभ कर देती है इसीसे इसे 'स्वरूपगोपन व्यग्रा' कहा जाता है—

स्वरूप गोपन क्रीडा—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' (सूत्र १२) में आचार्य क्षेमराज कहते हैं—(१) 'भगवती चिति शक्ति ही विश्व का वमन या बहिः प्रकाशन करने के कारण या संसार रूप वाम (विपरीत) आचरण करने के कारण **'वामेश्वरी'** का रूप ग्रहण करती हुई, **'खेचरी' 'गोचरी' 'दिक्चरी'** तथा **'भूचरी'** रूप प्रमाता । अन्तःकरण, बाह्य करण एवं वस्तु स्वभाव रूप में स्फुरित होती है ।'[१]

(२) 'पशु भूमिका में शून्य पद ग्रहण करके पारमार्थिकी 'चिद्गगनचरी' का स्वरूप छिपाकर, किंचित्कर्तृत्वादिरूप कला आदि शक्त्यात्मक **खेचरी** चक्र रूप में प्रकाशित होती हैं ॥'

(३) 'अभेद निश्चयादिरूप पारमार्थिक स्वरूप छिपाकर, भेद निश्चय भेदाभिमान एवं भेदकल्पना प्रधान अंतःकरणों की देवी रूप **'गोचरी चक्र'** के रूप में प्रकाशित होती है ।'[२]

(४) 'अभेद प्रथात्मक पारमार्थिक जिसमें आवृत है तथा भेद का आलोचन आदि जिसमें प्रधान हैं—ऐसी बाह्य करणों की देवी स्वरूप दिक्चरी चक्र के रूप में भी वही चिति उदित होती है तथा सर्वात्मरूप को छिपाकर भेदाभास स्वभाव, प्रमेय रूप **'भूचरीचक्र'** के रूप में पशु हृदयों को मूढ़ बनाती हुई शोभित होती है ।'[३]

स्वरूप गोपन-क्रीड़ा और उसके साधन

- 'मल' (अज्ञान)
  - आणवमल
  - मायीयमल
  - कार्ममल
- विकल्पज्ञान
  - अष्ट शक्तियाँ
    - ब्राह्मी (क वर्ग)
    - माहेश्वरी (च वर्ग)
    - कौमारी (ट वर्ग)
    - वैष्णवी (त वर्ग)
    - वाराही (प वर्ग)
    - ऐन्द्री (य वर्ग)
    - चामुण्डा (श वर्ग)
    - महालक्ष्मी (अ वर्ग)
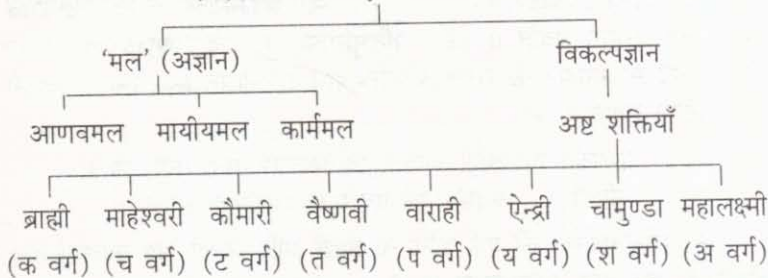
'पतिभूमिका में तो सर्वकर्तृत्वादि शक्तिरूप—**'चिद्गगनचरी'** अभेदनिश्चयादिरूप **गोचरी** । अभेदालोचनाद्यात्मक **दिक्चरी** और **निजांगस्वरूप अद्वैतप्रथासारभूत प्रमेयात्मक 'भूचरी'** रूप से पति-हृदय को विकसित करती हुई स्फुरित होती है ।'[४]

---

१. राजाचनक क्षेमराज—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ।
२. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ।
३. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ।
४. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' ।

जो शाब्दी शक्तियाँ पशुप्रमाताओं को बन्धन में डालती हैं वे सदैव बन्धन का कारण ही नहीं बनती प्रत्युत्—

'पूर्णप्रमाता, परिमितप्रमाता तथा उसके अन्तःकरण, बाह्यकरण एवं प्रमेयगत वामेश्वरी आदि शक्तियाँ ज्ञात होने पर मुक्ति देने वाली और अज्ञात होने पर बन्धन प्रद बन जाती है— 'पूर्णावच्छिन्नमात्रन्तर्बहिष्करणभावगाः ।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात् स्युर्मुक्तिबन्धदाः ॥'[१]

निखिलजगदात्मा एवं संविदात्मा महेश्वर अपनी स्वरूप गोपन क्रीड़ा द्वारा 'अणु' बन जाता है—

'इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुच्यते, स च भगवान् स्वातन्त्र-शक्ति महिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयत अणुः इति ॥'[२]

'मायीयमल'–स्वरूपावरण को ही शब्दान्तर में 'मायीय मल' भी कहते हैं—'जब ज्ञान शक्ति क्रमश संकुचित होकर भेद दशा में, सर्वज्ञता से अल्पज्ञत्व प्राप्त करती है और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियता की प्राप्ति के साथ अत्यन्त संकोच ग्रहण करती है तब उसको देहादिक भिन्न-भिन्न का वेद्यों का विकास रूप 'मायीय मल' कहते हैं'—

(१) 'ज्ञानशक्तिः क्रमेण संकोचात् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किंचिज्ज्ञत्वाप्तेः अन्तःकरण-बुद्धीन्द्रियतापत्ति पूर्वं अत्यन्तं संकोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथाप्रथारूपं मायीयं मलम् ॥'[३]

(२) **उत्पलदेवाचार्य** 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहते हैं—

'भिन्नवेद्य प्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्' ।[४]
'भिन्नवेद्यजुषां **मायामलं** विद्येश्वरायश्च ते ॥'[५]

'कर्तृत्वयोगेऽपि बोधानां कार्मोत्तीर्णानां विद्येश्वराख्यानां भिन्नवेद्यभाक्त्वेन माया मलम् ॥'[६]

'मायीयमल' एवं 'आणवमल' में भेद है कि—'जब चिदात्मा परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेद व्याप्ति को संकुचित करके **भेद व्याप्ति का अवलम्बन** ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियाँ असंकुचित होने पर भी संकुचित प्रतीत होती हैं तभी यह मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है और अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूप इच्छाशक्ति संकुचित होकर अपूर्णामन्यतात्मक आणवमल कही जाती है ।'—

'यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निमज्ज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते, तदा 'तदीया इच्छाशक्तयः' असंकुचिता अपि संकोचवत्यो भान्ति, तदानीमेव च अयं मलावृतः संसारी भवति तथा च अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति संकुचिता सती अपूर्णाम्मन्यतारूपम् आणवं मलम् ॥'[७]

---

१. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' (भट्टदामोदर का उद्धरण) । २. 'जन्ममरणविचार'—वामदेव।
३. क्षेमराज—'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' । ४. 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' ।
५. 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' । ६. 'प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति' ।
७. 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'

मायीय आवरणों के द्वारा आच्छादित होने के कारण शिव अपने ही अंगभूत वेद्य पदार्थों को अपने स्वरूप से भिन्न समझने के सङ्कोच की परवशता में पड़ जाता है ।

'शब्दानुवेध' शब्द ध्यातव्य है । वृत्तिकार ने ठीक ही कहा है कि 'शब्दरहितस्य प्रत्ययस्य ज्ञानस्य नास्त्येव कस्यचिदुद्भवः ॥' विश्व के प्रत्येक पदार्थ के साथ उसके वाचक शब्द का शाश्वत सम्बन्ध जुड़ा है । इसे ही कहा गया है कि—'प्रत्येक अर्थ (ज्ञेय पदार्थ) प्रकाशरूप है ।' शब्द ही प्रत्येक अर्थ को ज्ञान के रूप में (उसको) सत्ता प्रदान करता है क्योंकि विश्व में ऐसा कोई अर्थ या उसका ज्ञान नहीं है जिसके साथ शब्दानुवेध न हो । **'शब्द' एवं अर्थ का साहचर्य शिव शक्ति का यामल है—**

'वागार्थविवसंपृक्तौ पार्वतीपरमेश्वरौ' (कालिदास)

शिव की क्रियात्मिका शक्ति के कार्य—

सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥ ४८ ॥

शिव की यह क्रियात्मिका शक्ति स्वयं शिव को पशुत्व प्रदान करती है और उसके लिए बन्धयित्री बन जाती है । ज्ञात होने पर स्वात्म की ओर गतिशील यह शक्तिमुक्ति रूपी सिद्धि प्रदान करती है ॥ ४८ ॥

*** सरोजिनी ***

क्रियात्मिका शक्ति—'क्रियाशक्तिस्तु, रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा ।' (यो०हृ०) **सेयं** = (सा इयं) = वह यह । **शिवस्य** = स्वस्वभाव परमेश्वर शिव की । **क्रियात्मिका** = तत्स्वरूपप्रत्यवमर्शलक्षणव्यापारशरीरा । **शक्तिः** = सामर्थ्यरूपा अव्यभिचारीधर्म । **इयं** = प्रतिपादित प्रसररूपा शक्ति अद्वयचिन्मात्रस्वभावप्रत्यवमर्शिनी पारमेश्वरी शक्ति । **पशु** = जीव । **'पशु'**—

(१) 'शब्दराशिसमुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोगयताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गतः सन् स **पशुः** स्मृतः ॥'[१]

(२) 'स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशं कर्मादिकलुषः **पशुः** ॥[२]

(३) 'भेदग्रन्थिविभेदे हि कर्मात्मैक्यं प्रपद्यते ॥
सोऽविज्ञातः **पशुः** प्रोक्तो विज्ञातः **पतिरेव** सः ॥'[३]

(४) 'बाह्यादिशक्ति चक्रस्य कलाभिः ककाराद्यक्षरैर्विलुप्तविभवो हृतमहाव्याप्तिः स्वभावात् प्रच्यावितोऽत एवास्य भोग्यतां गतः सन् पुरुषः पशुरुच्यते अज्ञत्वात् ॥'[४]

पशु—वर्णसमुदाय ही 'शब्दराशि' है । अकार से क्षकार पर्यन्त समस्त मातृकायें ही

---

१. स्पन्दकारिका (श्लोक ४५) । २. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ।
३. ऐश्वर्यदशायां प्रमाता विश्वं शरीरतया पश्यन् 'पतिः' पुंस्त्वावस्थायां तु रागादि-क्लेशकर्मविकाशयैः परीतः पशुः (प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति : उत्पलदेव) ।
४. स्पन्दप्रदीपिका (उत्पलदेव) ।

शब्दों की जननी हैं ('शब्दानां राशिः शब्दराशिः वर्णसमूहो मातृका अकारादिक्षकारान्ता शब्दजननी')—क्योंकि समस्त शक्तियाँ वर्णात्मिका हैं । जगत् कादिवर्गात्मक शब्द समूह से उत्पन्न है । उन्हीं से अर्थात् चाहे ककारादि अक्षर के रूप से या चाहे ब्राह्मी आदि शक्ति रूप चक्र की कलाओं से—अर्थात् ककारादि अक्षरों से श्रवण एवं उच्चारण द्वारा—'पुरुष' अपने वैभव को खो देता है । अपनी महाव्याप्ति को विस्मृत कर देता है और अपने सर्वव्यापक एवं तात्त्विक स्वभाव से च्युत हो जाता है । परिणामतः वह जिन शक्तियों का स्वामी होता है उन्हीं का भोग्य बनकर पुरुष के स्थान पर **'पशु'** बन जाता है । **'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा'** में भी कहा गया है कि—सभी भाव अपनी गोद में अपनी अंगचेष्टा के समान हैं । उनका स्वामी प्रमाता, संवित् या **'शिव' के नाम से अभिहित किया जाता है**। किन्तु जब वह उन्हीं भावों का दास बनकर फँस जाता है तब कर्म के पंक से लथपथ होकर **'पशु'** कहा जाने लगता है । ठीक भी है—'वस्तुतः भेदग्रंथि स्वतः छिन्न-भिन्न है । उसके छिन्न-भिन्न होने का ज्ञान होने पर द्वैत है ही नहीं । इस बात को जो नहीं जानता वही **'पशु'** है और जो उसे जान लेता है वही **'पशुपति'** है ।[१] 'क्रियात्मिका शक्तिः'—शिव की अनन्त शक्तियाँ हैं उन्हीं से एक क्रियाशक्ति भी है । उनकी मुख्य शक्तियाँ पाँच हैं—(१) प्रकाश-रूप **'चित शक्ति'** (२) स्वातन्त्र्यरूप **'आनन्दशक्ति'** (३) उपभोगात्मक चमत्कार रूप **'इच्छाशक्ति'** (४) आमर्शात्मक अर्थात् वेद्य के प्रति उन्मुखता स्वरूप **'ज्ञान शक्ति'** (५) सर्वाकारयोगित्व रूप **'क्रियाशक्ति'** ॥ इस शक्ति के दो कार्य हैं—(१) बन्धन (२) मोक्ष ।

(१) प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः[२] (२) स्वातन्त्र्यं आनन्दशक्तिः[३] (३) तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः[४] (४) आमर्शात्मकता ज्ञान शक्तिः[५] (५) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः[६] ('जन्ममरणविचार' : वामदेव भट्टाचार्य) ॥

चिदानन्दघन परमशिव विश्वरूपात्मिका क्रीड़ा के आरंभ में—'इच्छा' 'ज्ञान' एवं 'क्रिया' नामक अपनी शक्तियों द्वारा शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त निखिल सृष्टि-चक्र का प्रवर्तन करते हैं । शिव उस सार्वभौम नृपति की भाँति लीला करते हैं जो अपनी पैदल, वायु, सामुद्र आदि चतुरंगिणी सेना के कार्यों के साथ एकीभूत होकर युद्ध क्रीड़ा किया करता है—

> यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोदभावितः ॥ ३७ ॥
> क्रीडन् करोति पादातधर्मास्तद्धर्मधर्मतः ।
> तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ॥ ३८ ॥
> इत्थं शिवो बोधमयः स एव परनिर्वृतिः ।
> सैव चोन्मुखतां याति सेच्छाज्ञानक्रियात्मताम् ॥ ३९ ॥[७]

वे शिव अपने शिवत्व को विस्मृत किये हुए से 'पशु' आदि प्रमाताओं एवं नील सुखादि प्रमेयों का भेद अंगीकार करते हैं । व्यवहारदशा में स्वरूपविस्मृत, सुखदुःखादि अनेक संवेदनों से समाकुल, समल एवं संकुचित चित्त 'पशु' (जीव) को स्वरूपाभिज्ञान

---

१. स्पन्दप्रदीपिका । २-६. तन्त्रसार (आ० १) ।
७. शिवदृष्टि (प्र० आ०) ।

की आवश्यकता होती है क्योंकि इसके बिना वह अपनी पूर्ववर्ती स्वातन्त्र्य या आनन्दशक्ति से रहित होकर संतप्त रहता है और इसी संताप को दूर करने एवं निज वैभव प्राप्त कर पाने हेतु ही प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का उपदेश दिया गया है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोक समान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्माऽपि विश्वेश्वरो,
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥[१]

क्रियाशक्ति—परमात्मा अपने स्वप्रकाश रूप स्वरूप में जिस शक्ति के द्वारा विश्वात्मक भाव से विभिन्न पदार्थों का भेदावभासन करता है उसी 'भासना' को 'क्रिया-शक्ति' कहा जाता है—'भासना च क्रियाशक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते ।
यया विचित्रतत्त्वादिकलना प्रविभज्यते ॥[२]

सर्वाकार योगित्व ही क्रिया शक्ति है (सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः ।) ।[३]

विश्वस्फार ही क्रियाशक्ति का स्वरूप है ।[४]

पाँचशक्तियों से समवेत होने पर भी शक्तिमान शिव विश्वाभास में निम्न तीन शक्तियों का ही उपयोग करते हैं—(१) इच्छा शक्ति (२) ज्ञान शक्ति (३) क्रिया शक्ति—'एवं मुख्याभिः शक्तिभिः युक्तोऽपि वस्तुतः इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्तियुक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशो निजानन्दविश्रान्तः शिवरूपः ॥'[५]

'चितशक्ति' (प्रकाश = स्वरूप परामर्श) एवं **'आनन्दशक्ति'** (विमर्श = स्वातन्त्र्य शक्ति) शक्ति के पूर्ण स्वरूप की अवस्थायें हैं । स्वातन्त्र्य रूप 'विमर्श' का स्वरूपपरामर्श रूप 'प्रकाश' ही उसकी चिकीर्षा रूप 'इच्छाशक्ति' है और यह इच्छाशक्ति ही अपनी उच्छूनावस्था में **ज्ञानशक्ति** एवं **क्रियाशक्ति** बन जाता है 'इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तर उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्ती भवति ॥'[६] **आचार्य क्षेमराज** ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—एक ही स्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्ति जगदाभास क्रम में तरतमभाव से **ज्ञान और क्रिया शक्ति** के नाम से जाने जाते हैं[७]— चिद्वपु, स्वतन्त्र परमशिव की कर्तृतारूपा कारणता या चिकीर्षा ही **'क्रियाशक्ति'** है—'चिद्वपुषः स्वतन्त्रस्य विश्वात्मना कर्तुमिच्छैव जगत्प्रति कारणता कर्तृतारूपा सैव क्रियाशक्तिः ॥ एवं चिद्रूपस्य एकस्य कर्तुरिव चिकीर्षाख्या क्रिया मुख्या ॥'[८] 'प्रत्यभिज्ञाकारिका' में कहा गया है—

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका । २. मालिनीविजयवार्तिक (१।९०) ।
३. तन्त्रसार ।
४. क्रिया शक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी भाग-२ पृ० ४२) ।
५. तन्त्रसार ।
६. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भाग-१ पृ० १७) ।
७. एकस्या अपि इच्छायाः सूक्ष्मरूप ज्ञानक्रियाशक्तिसंभेदेन त्रित्वात् (स्वच्छन्दतन्त्र टीकाः भाग ६।१०७) ।
८. उत्पलदेवाचार्य—प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति (२।५३) ।

'इत्थं तथा घटपटाद्याभास जगदात्मना ।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया ॥ ५३ ॥

स्वातन्त्र्यात्मा चितिशक्ति ही **'ज्ञान' 'क्रिया'** और **माया** रूप होकर पशुदशा में संकोच के प्रकर्ष से सत्व-रज एवं तम स्वभाव वाले चित्त के रूप में स्फुरित होता है ।[१] **'पशुवर्तिनी बन्धयित्री'**—यह पारमेश्वरी क्रियात्मिका पराशक्ति भेदप्रत्यय के उद्भव से उपपादित पारतन्त्र्य के पुरुष (जीव) में संक्रान्त होने पर जन्ममरण, सुखदुःखादि रूप बन्धन प्रदान करती है । यह आत्मा को पशुत्व से बाँध देती है—'आ प्रबोधप्रत्युदयात् पशुत्वेन बध्नाति'—इसीलिए कहा गया है—'पशुवर्तिनीबन्धयित्री' ।[२]

ज्ञाता = जान लिए जाने पर ('शिवात्मकस्वभाव प्रत्यवमर्शक्रियारूपतया प्रत्यभिज्ञाता सती' [३])—('सिद्धियाँ प्रदान करती हैं ।) ॥

सिद्ध्युपपादिका—'सिद्धि' क्या है ! सिद्धि है—आत्मैश्वर्याधिगमलक्षण रूपा **'परा'** की एवं आनुषंगिक विविध विभूतियों के आविर्भाव रूप **'अपरा'** सिद्धियों की उपपादिका (संपादयित्री) । यह शक्ति **'पशुवर्तिनी'** कब बनती है? 'प्रत्ययोद्भवरूप माया वैभव से उद्भावित भेदों को जन्म देने पर यही शक्ति 'पशुवर्तिनी' कही जाती है ।[४] किन्तु प्रत्युदित प्रबोध वाले साधक के अपने स्वात्मरूप में यथावस्थित होने से उसके प्रत्यभिज्ञायमान होने के कारण यह शक्ति उसे समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है ।[५]

पशु = 'आहार निद्राभय मैथुनानि समानमेतद् पशुभिर्नराणाम् । धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः ॥'

स्वमार्गस्था = अपने आत्मीय (निजी) शिवस्वभावरूप मार्ग में स्थित और तद्व्यतिरिक्त विषयान्तर से निवृत्त होकर स्वात्मस्थित ॥

एषा = परमेश्वरस्वरूप प्रकाशप्रत्यवमर्शमात्ररूपा 'पराशक्ति' जो वाणी के रूप में सर्वत्र फैली हुई है—या सर्वव्याप्त है वह यह शक्ति ।

यही शक्ति इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि का रूप धारण कर लेती है—

'या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवि सिसृक्षोः संप्रपद्यते ॥
सैकापि सत्यनेकत्वं यथागच्छति तच्छृणु ।
एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम् ॥

(१) **ज्ञान शक्ति** = ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ।
एवं भवत्विदं सर्वमिति कार्योन्मुखी यदा ॥

(२) **क्रियाशक्ति** = जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रिया मता ।
एवं यथा द्विरूपैव पुनर्भेदैरनेकताम् ॥ आदि ॥[६]

---

१. क्षेमराजः 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (सूत्र ५) ।
२. रामकण्ठः स्पन्दकारिकावृत्ति ।
३. रामकण्ठाचार्य ।
४. रामकण्ठ ।
५. स्पन्दकारिकाविवृति (रामकण्ठाचार्य) ।
६. मालिनीविजय ।

परमात्मा की अघटनघटनापटीयसी सर्वकर्तृत्व शक्ति, 'कर्तुं-अकर्तुं—अन्यथा कर्तुं। करने की स्वतन्त्र शक्ति ही क्रिया शक्ति है। यह सिसृक्षारूपा है।

इस श्लोक का मूल उद्देश्य बन्धन एवं मोक्ष के स्वरूप का विश्लेषण करना है इसीलिए **रामकण्ठाचार्य** ने कहा है—'तत्स्वरूपाप्रत्यभिज्ञामात्र निबन्धनौ बन्धमोक्षौ प्रतिपादयितुमाह' अर्थात् (१) आत्मप्रत्यभिज्ञा रूप 'मोक्ष' एवं (२) आत्मप्रत्यभिज्ञाभाव रूप 'बन्धन' का प्रतिपादन करने हेतु ही यह श्लोक 'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः' लिखा गया है।

जीवों (पशुओं) की कलाओं की द्विविध सन्तानें हैं—(१) ज्ञानरूपा कला (२) क्रियारूपा कला। ज्ञानरूप कलासंतान—अन्तःकरण = ३ अंग॥ क्रियारूपा कला-संतान = बहिष्करणात्मक। स्वभावस्थ प्राणशक्ति सहित एकादशविध॥ (१) ज्ञान रूपा संतान = ३ (२) क्रियारूपा संतान = ११, ३ + ११ = १४॥ जीवकला संतान चतु-र्दशविध है। संतानद्वयवर्तिनी जो—जीवकलायें हैं—वे वस्तुतः हैं ही नहीं—केवल अव-भासित होती हैं—'इत्थं प्रसृत्य अवभासते, तत्त्वतो नास्ति अस्याः ततो भेद इत्यर्थः।'—'संतानद्वयवर्तिनी जीवस्यात्मनः कला सा न काचित् संभवति इति शेषः॥'—

'न सा जीवकला काचित्संतानद्वयवर्तिनी।
व्याप्त्री शिवकला यस्मादधिष्ठात्री न विद्यते॥'

देश काल आदि से अनवच्छिन्न वैभवों की अधिष्ठात्री 'शिव कला' वेद्यत्व आदि से सभी को अधिष्ठित करके एवं सभी को आत्म परतन्त्र बनाकर स्थित है। वस्तुतः यह परमात्मा की कला या पराशक्ति जिस प्रकार अवभासित होती है वैसी है नहीं प्रत्युत् सत्य तो यह है कि इस रूप में उसकी सत्ता ही नहीं है प्रत्युत् वह ऐसा अवभासित होती है—'पराशक्तिः उक्तरूपा न विद्यते सत्तां व्यभिचरति। सैव इत्थमवभासते'।[1] जहाँ तक इसके विश्वरूप में परिणत होकर दिखाई पड़ने की बात है तो यह भी एक अवभास है क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त किसी भी पदार्थ की सत्ता ही नहीं है—'वैश्वरूप्येऽपि अवभास-लक्षणस्य सामान्यरूपस्य शिवधर्मस्य'। अपरा शक्ति—स्थूलक्रियारूपा है। इस प्रकार शक्ति के 'पर' एवं 'अपर' जो दो रूप हैं उन दोनों में पारमार्थिक दृष्टि से अभेद है। **'ज्ञानगर्भ'** में भी इसी की पुष्टि की गई है—

बहिष्करणबुद्ध्यहंकृतिमनः सुषुम्नाश्रया, च्चतुर्दशसु चण्डिके पथिषु येन येन व्रजेत्।
कला शिवनिकेतनं जननि तत्र तत्र स्म ते, दशोंदयति दुर्लभा जगति या सुरैरप्यहो॥'

अर्थात् (१) श्रोत्रादिपंचक (२) वागादिपंचक १० प्रकार का 'बहिष्करण' है। (३) बुद्धि अहंकार, एवं मन के भेद से अन्तःकरण त्रिविध है। (४) मन एक है = कुल योग १४। इस प्रकार 'कला' अर्थात् चिदात्मिका शक्ति के चौदह भेद हैं। उनके अपने इतने प्रसरणमार्ग भी है। उनके मध्य में से एकतमण पथ से यह कला शिवनिकेतन में प्रविष्ट होनी चाहिए।

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दकारिकावृत्ति'।

शिवनिकेतन में इस पारमार्थिक कला की यात्रा या लय रूप व्यापार स्वयमेव एक 'सिद्धि' ('सिद्ध्युपपादिका') है ।

'न दुःखं न सुखं' के लक्षणों से समलंकृत अपने निजास्पद् शिवधाम में यह 'शैवीकला' एक 'सिद्धि' है जोकि शिवधाम में ही उदित भी होती है । वहाँ पर कृतकृत्य होकर अन्त में यह आन्तर प्रदेश में प्रविष्ट होकर (सागर में सरिता के मिलन की तरह) समरसीभूत होती है और मध्य में भी प्रवेश करने पर (बुद्धि आदि आन्योन्य भिन्न प्रसरणरूप में होकर) नाना रूप से अवभासित होने पर भी वह चिदात्मकत्व का त्याग नहीं करती और अपने शिव स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती किन्तु फिर भी माया शक्ति से व्यामोहित होने के कारण यह वैसी पहचानी नहीं जा पाती उसकी इस रूप में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो पाती ।

पशुवर्तिनी बन्धयित्री = भेदप्रत्यय से उद्‌भूत होने के कारण परतन्त्र (बन्धन ग्रस्त) जीव (पशु) में वर्तमान यह शिवकला बन्धनकारिणी (जन्मादि 'पशु' = सर्वतो व्यवच्छिन्न आत्मा । यह शैवी कला व्यवच्छिन्न आत्मा की आबोधप्रत्ययोदय पशुत्व से बाँध देती है ।)[१]

स्वमार्गस्था—यह परा पारमेश्वरी शक्ति 'परा' 'पश्यन्ती' 'मध्यमा' एवं 'वैखरी'—अपने सभी प्रसरणों में भी 'स्वमार्गस्थत्व' का त्याग नहीं करती । ठीक भी है क्योंकि समस्त सृष्टि शब्द तत्त्व का ही विवर्त है—

'अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥'[२]

यह पराशक्ति ही 'स्वमार्गस्था' के रूप में ज्ञात होने पर समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है । यह बैखरी रूप में अभिव्यक्त होकर 'स्थूलाक्रियाशक्ति' बन जाती है किन्तु इसके पूर्व तो वह 'मध्यमा वाक्' के रूप में 'इच्छाशक्ति' को व्यक्त करती है और इसके पूर्व वह अपने 'पश्यन्तीवाक्' के रूप में अपने 'ज्ञान-शक्ति' को ही प्रस्तुत करती है ।

'शिवस्य क्रियात्मिका शक्ति'—शक्ति को 'शिव की शक्ति' क्यों कहा? इसलिए कहा क्योंकि शक्ति को विश्व की अपेक्षा रहती है ।[३]

अभिन्नमातृकात्मक शब्दराशि रूप क्रियाशक्ति-प्रधान ऐश्वर्य विग्रह ही इस शक्ति का आश्रय है । इस शक्ति का जो वाक्यरूप विस्तार है वह भी द्विविधात्मक है—(१) मन्त्रात्मक एवं (२) लौकिक व्यवहार विषयक लौकिक वाक्यात्मक । मन्त्रात्मक रूप नित्य एवं लौकिकवाक्यात्मक रूप अनित्य है ।

इस प्रकार परमेश्वर की शक्ति के रूप में प्रत्यभिज्ञायमाना होने पर यह शिवकला —यह वाङ्मयीविभूति परसिद्धिप्रदा है किन्तु पशु से संबंधित होने पर अवच्छिद्यमान उसका यह स्वरूप बन्धन का कारण है—एवं परमेश्वरशक्तित्वेन प्रत्यभिज्ञायमाना एषा वाङ्मयी विभूतिः परसिद्धिप्रदा, नानापशुसंबंधितया तु अवच्छिद्यमाना बन्धहेतुर्भवति ।[४]

---

१. रामकण्ठाचार्य । २-४. स्पन्दकारिकावृत्ति ।

शब्दाद्वयवाद में शब्द एवं अर्थ दोनों को शक्तिप्रसार माना गया है और इसे शक्ति का विवर्त कहा गया है—

'अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मे वागात्मनि स्थितः ।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते ॥'

'अनादि निधनं ब्रह्म' द्वारा शब्द तत्त्व को 'ब्रह्म' कहकर शब्द की पारमेश्वर रूपता को ही प्रतिपादित किया गया है । यह परा शक्ति ही स्वमार्गस्था रूप में परिज्ञात होने पर सम्यक् प्रतिपन्न स्वभावा होकर संपूर्ण सिद्धियों को प्रदान करती है ।[१] इसी शक्ति के विषय में कहा गया है—

'सा चेयं क्रियात्मिका क्रियास्वभावा' ।

सांख्य दर्शन एवं स्पन्दशास्त्र : एक तुलना—

(१) पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥

(२) पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।

(३) प्रति पुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरंभः ॥

(४) पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

(५) पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्व्यक्तम् ॥

(६) रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥

(७) रूपैः सप्तभिरेव तु वध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥[२]

'प्रकृति' या 'शक्ति' द्वारा—(१) बन्धन एवं (२) मोक्ष दोनों कार्य निष्पादित ।

क्रियाशक्ति बन्धन और मोक्ष दोनों का उपाय है—**'क्रिया शक्ति' के दो रूप—** इस कारिका में कारिकाकार ने भगवान् की 'क्रियाशक्ति' के दो रूपों का विवेचन किया जो निम्नानुसार हैं । इनका पूर्ण परिचय इस प्रकार देखिए ।

भगवान् शिव की शक्तियाँ (मुख्य शक्तियाँ)

क्रियाशक्ति—(१) प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः ॥[३]

१. रामकण्ठाचार्यः स्पन्दकारिका वृत्ति ।
२. सांख्यकारिका ।
३. तन्त्रसार ।

(२) प्रकाशश्च अनन्योन्मुखविमर्शः अहमिति । (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी) ।[१]

(३) स्वातन्त्र्य आनन्दशक्तिः (तन्त्रसार) ।[२]

(४) तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः (तन्त्रसार) ।[३]

(५) ज्ञानशक्तिः 'आमर्शात्मिकता ज्ञान शक्ति' (तन्त्रसार)[४] 'आमर्शश्च ईषत्तया वेद्योन्मुखता' ।

(६) सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः (तन्त्रसार) ।[५]

'तस्य प्रकाशरूपता चिच्छक्तिः' स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्ति तच्चमत्कारः इच्छाशक्तिः आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः । इत्यं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरूपचर्यते स च भगवान् ॥'[६]

क्रियाशक्ति और बन्धन—

'क्रिया शक्ति' के भेद—

पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति (बन्धयित्री) | शिववर्तिनी क्रियाशक्ति (सिद्ध्युपपादिका)
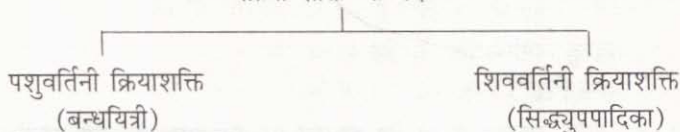
कार्ममल—कार्ममल एवं क्रियाशक्ति—'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशु वर्तिनी । बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका' 'कार्ममल'—'भेददशा में जब क्रिया-शक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति अल्पकर्तृत्व प्राप्त करती है तथा कर्मेन्द्रिय रूप संकोच ग्रहण करके अत्यन्त परिमित हो जाती है तब उसे ही शुभाशुभ कर्ममय **'कार्ममल'** कहा जाता है ।

'क्रियाशक्तिः क्रमेण सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसंकोचग्रहण-पूर्वम् अत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्मं मलम् ॥'—(क्षेमराज : 'प्रत्य-भिज्ञाहृदयम्') ॥

भेद दशा में 'क्रियाशक्ति' की अपनी सर्वकर्तृत्व शक्ति अल्पकर्तृत्व में रूपान्तरित हो जाती है—'क्रिया शक्तिः क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किंचित्कर्तृत्वाप्तेः ॥' (प्रत्य०हृ०)

यही 'कला' कहलाती है । यह अल्पकर्तृत्व में रूपान्तरित हो जाती है—

'सम्पूर्णाकर्तृताद्या बह्वयः सन्त्यस्य शक्तयस्तस्य ।
संकोचात्संकुचिताः कलादिरूपेण रूढ़यन्त्येनम् ॥'[७]
आकारादिक्षपर्यन्ताः कलास्ताः शब्दकारणम् ।
मातरः शक्तयो देव्यो रश्मयश्च कलाः स्मृताः ॥[८]
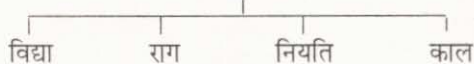
१. प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ।
२-५. तन्त्रसार ।
६. वामदेव भट्टाचार्य—'जन्ममरणविचार' ।
७. षट्त्रिंशत्तत्त्वसन्दोह ।
८. शिवसूत्रवार्तिक ।

आणवमल के भेद—बोध की स्वातन्त्र्य-हानि स्वातन्त्र्य का अबोध 'स्वस्वरूप की हानि' ।

कार्ममल—'तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसार कारणम् । (उत्पलदेव)

कार्ममल—इसका सम्बन्ध क्रियाशक्ति के सङ्कोच से है ।

इसका स्वरूप निम्नानुसार है—'अहेतूनामपि कर्मणां जन्मादिहेतु भावेन विपर्यासादबोधात्मककर्तृगतं कार्मं ॥' (३।१६)[१]

'कर्तव्यबोधे कार्मं तु ॥' (३।१६)[२]

'पशुवर्तिनी क्रिया' बन्धन में डालने वाली है और क्रियाशक्ति का यही रूप 'कार्ममल' भी है ।

शिव सम्बन्धिनी क्रियाशक्ति शैवी क्रियाशक्ति है जो सर्वकर्तृत्वशालिनी है । विमर्शमयी स्पन्दना ही इसका स्वस्वरूप है । यही है पारमेश्वरी निर्माण शक्ति—

किन्तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः ।
तथा विज्ञातृ विज्ञेयभेदो यदवभास्यते ॥ (ई०प्र०)

यही वह शाक्त स्पन्दना है जो कि देशक्रम एवं क्रियाभेद से जन्य कालक्रम से उपलक्षित, अनन्त प्रकार के शून्य, प्राण, पुर्यष्टक आदि प्रमाताओं और उनके नील, सुख आदि ज्ञेय विषयों को स्वरूप से एक दूसरे से भेदरूप में अवभासित करती है । अनन्त वैभिन्यों से युक्त विश्व का अवभासन ही 'निर्माणशक्ति' (क्रियाशक्ति) है । स्वातन्त्र्य इच्छा से ही सृष्टि होती है । **परमात्मा समस्त क्रियाओं का स्वतन्त्र कर्ता है ।**

परमात्मा का ज्ञाता के रूप में विस्फुरण ही उसकी क्रिया है ।

शिववर्तिनी क्रियाशक्ति किसी क्रम की अपेक्षा नहीं रखती । यह अक्रमा है 'ईश्वरस्यापि' ईशे, भासे, स्फुरामि, घूर्णे, प्रत्यवमृशामि' इत्येवं रूपं यदिच्छात्मकं विमर्शनम् 'अहम्' इत्येतावन्मात्रतत्त्वं **न तत्र कश्चित् क्रमः** ।[३]

शिव की 'क्रियाशक्ति' पाशवी क्रियाशक्ति से इसलिए भी भिन्न है क्योंकि पशुओं की इच्छा-ज्ञान-क्रिया तीनों पृथक्-पृथक् हैं जब कि यह शिव की इच्छा-ज्ञन-क्रिया तीनों में अभेद है । **उसका ज्ञान ही क्रिया है**—'यतश्च तन्निर्मितं ज्ञातृज्ञेयक्रियावैचित्र्यभेदम् असौ विद्वान् वेत्ति अविरतं तत्रैव हि तत् स्फुरति ततोऽपि तस्य सा **क्रियाशक्तिः** ॥'

'मैं स्फुरित होऊँ' मैं घूर्णित होऊँ,—यह केवल अहं रूपात्मक इच्छास्पन्द है ।

भगवान् की स्फुरणा = इच्छात्मक स्फुरण = विश्व की स्फुरणा है ॥ स्वस्वरूप का विमर्शन = आत्मानन्द का आस्वादन = विश्वामर्शन ॥ शिववर्तिनी क्रियाशक्ति = विमर्शात्मक स्पन्दना ।

---

१. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ।
२. प्रत्यभिज्ञाकारिका—उत्पलदेव ।
३. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (अभिनवगुप्तपाद) ।
४. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२.१.८) ।

परमेश्वर का विमर्श एवं अभिलाषात्मकता का अभिन्न साहचर्य है । 'परावाक्' के स्तर 'अ' से 'क्ष' पर्यन्त ध्वनि समुदाय का रूप ही 'अहंविमर्श' है ।

क्रमहीन शिववर्तिनी क्रियाशक्ति ही सृष्टिप्रसार के समय सक्रम पशुवर्तिनी क्रिया शक्ति के रूप में रूपान्तरित हो जाती है । अक्रमस्वरूपा शैवी क्रियाशक्ति → सक्रमा पाशुवर्तिनी क्रियाशक्ति ॥

शैवी क्रिया शक्ति एवं पाशवी क्रिया शक्ति—अन्तर्सम्बन्ध—

(१) शिव की क्रिया शक्ति एवं पशुगता क्रियाशक्ति का प्राथमिक उदय इच्छाशक्ति के स्तर पर होता है और वहाँ दोनों में **क्रम नहीं** होता ।

(२) पशु भी वही करता है जो **इच्छा के स्तर पर उदय** होता है और परमेश्वर भी वही करता है जो उसके इच्छास्तर पर उदित होता है ।

(३) शिव की अक्रमा एवं सर्वकर्तृत्वशालिनी **क्रियाशक्ति ही पशुओं के स्तर पर** सक्रमा एवं अल्पकर्तृत्वशालिनी **क्रियाशक्ति के रूप में परिणत होती है** ।

(४) मानसिक संवेदन के स्तर पर उदित क्रियाशक्ति इच्छात्मक स्पन्दन के रूप में ही होती है और वहाँ सक्रमता का नियम भी नहीं रहता ।

(५) पशुस्तर पर भी क्रियाशक्ति सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ती है और उसी प्रकार शिव स्तर पर भी यथा—निर्गुण शिव → सगुणशिव-शिव-शक्ति → सदाशिव → ईश्वर आदि **सूक्ष्मतम से सूक्ष्म की ओर यात्रा है** और—परावाक् से विकसित होते हुए वैखरी वाक् की यात्रा = **सूक्ष्म से स्थूल का विकास है** ।

(६) शैवीक्रियाशक्ति एवं पाशवीक्रियाशक्ति दोनों का अपना मूल स्रोत एक ही है ।

(७) दोनों में भेद यह है कि एक 'कारण' है दूसरा 'कार्य', एक नित्य है दूसरा अनित्य, एक प्रयत्नज है दूसरा सहज या स्वयंभू है, एक निरपेक्ष है दूसरा सापेक्ष, एक उपादान सापेक्ष है दूसरा निरपेक्ष, एक स्वतन्त्र है दूसरा अस्वतन्त्र, एक सूक्ष्म है दूसरा स्थूल, एक पाप-पुण्य से अप्रभावित है दूसरा इनसे प्रभावित, एक तृष्णामूलक है दूसरा इच्छातीत है ।

अहं विमर्श से युक्त परावाक् ही आगे चलकर 'पश्यन्ती', 'मध्यमा' की भूमियों पर आरूढ़ होती हुई वैखरी की भूमि पर स्थूल वर्ण समूह बन जाती है । शिव की क्रियाशक्ति ही बहिर्मुखी प्रसार की ओर उन्मुख होकर पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति के रूप में रूपान्तरित हो जाती है । दोनों का स्वस्वरूप शिवत्व है । दोनों शिव में उत्पन्न, शिव में स्थित एवं शिव में विश्रान्त होते हैं ।

भट्टकल्लट ने इस कारिका की व्याख्या इस प्रकार की है—'सा चेयं क्रियास्वभावाभगवतः पशुवर्तिनी शक्तिः । यदुक्तम्—

'न सा जीवकला काचित् सन्तानद्वयवर्तिनी ।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ॥

इति । सैव च बन्धकारणम् अज्ञाता । ज्ञाता सा च पुनः परापर सिद्धिप्रदा भवति पुंसाम् ॥' (स्पन्द का०वृत्ति) ॥

अर्थात् यह (मातृका) वस्तुतः भगवान् की क्रियात्मक स्वभाव वाली शक्ति ही है जो कि पशुवर्तिनी बन गई है। जैसा कि कहा भी गया है—'दो सन्तानों के रूप में चलने वाली ऐसी कोई भी जीवकला नहीं है जिसमें शिवकला अधिष्ठात्री बनकर व्याप्त न हों ॥' अतः वही क्रिया शक्ति ही अज्ञात होने की स्थिति में बन्धन का कारण बन जाती है किन्तु वही जान ली जाने पर पुरुषों को सिद्धि प्रदान करती है।

'जीव कला' की दो सन्तानें निम्नांकित हैं—

(क) 'ज्ञानसन्तान'　　(ख) 'क्रियासन्तान'

ज्ञानसन्तान—मन, बुद्धि, अहङ्कार (अन्तःकरण)।

क्रियासन्तान—५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, प्राण शक्ति = ११ की समष्टि।

(स्पन्द० का० ४।१८)

संसरण के कारण और पुर्यष्टक की भूमिका—

तन्मात्रोदयरूपेण मनोहंबुद्धिवर्तिना।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थंप्रत्ययोद्भवम् ॥ ४९ ॥
भुङ्क्ते परवशो भोगं तद्भावात् संसरेदतः।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥ ५० ॥

(पशुभावस्थ शिव) तन्मात्रों के स्वरूप वाले और (सूक्ष्म और उनके कार्यरूप स्थूल) मन, अहङ्कार एवं बुद्धि—द्वारा परामृष्ट पुर्यष्टक के द्वारा बन्धनग्रस्त है। उससे ही (पुर्यष्टक से ही) प्रत्ययोदभव हुआ करता है। (वह) दूसरे का वशवर्ती बनकर सांसारिक भोगों का भोग करता है और उसी की विद्यमानता के कारण संसरण करता है अतः (उसके) संसरण के समुच्छेद के उपायों पर प्रकाश डालेंगे ॥ ४९-५० ॥

* **सरोजिनी** *

पुर्यष्टक के दो रूप हैं—(१) सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर, अभिलाषात्मक एवं तन्मात्रात्मक (२) स्थूल भौतिक भोग शरीर। सूक्ष्मशरीर से आबद्ध—अपने को उससे घिरा हुआ—मानने वाला पुरुष। यह परवश होकर उसमें उठने वाले सुखदुःखादिक संवेदनरूप प्रत्ययों का उपभोग करता है। वस्तुतः वह शब्दादिक के अनुभव द्वारा ही प्रकट होता है और उतना ही उसका रूप है, मन, अहङ्कार, बुद्धि, अन्तःकरण। उसी को अपना स्वरूप मानकर वह शरीरी हो जाता है और संसार प्राप्त करता है। मेरा कथन यह है कि जन्ममरण एवं संसार-प्रलय के प्रवाह का यही कारण है। अपने प्रत्यय के अतिरिक्त संसार का अन्य कारण नहीं है।[१]

पतिस्वभाव वाले आत्मतत्त्व का अपनी माया से अवभासित पशुत्व का प्रतिपादन करके अब पशु में विद्या के आविर्भाव होने से अपने मार्ग पर स्थित हो जाने के कारण

---

१. उत्पलेदवाचार्य : स्पन्दप्रदीपिका।

अभिज्ञायमाना यह परा शक्ति, पतित्व की अभिव्यक्ति का आवाहन करती हुई संसार-विच्छेद का कारण बनती है **'अस्य'** = उक्त वक्ष्यमाणरूप वाले पशु के । जो 'संसृति प्रलयः' अर्थात् संसार का क्षय । उसका **'कारणं'** = हेतु । **'संप्रचक्ष्महे'** = कहता हूँ । सम्यक् प्रकर्ष के साथ कहता हूँ । यहाँ व्यधिकरण से षष्ठी मानकर अर्थ करना चाहिए । किस कारण? क्योंकि यह 'पशु' **'पुर्यष्टकेव संरुद्धः'** पुर्यष्टकों से आच्छादित होकर भोग का भोग करता है । **पुर्यष्टक** = 'पुर्यां सूक्ष्मे शरीरे'—सूक्ष्मशरीर में तन्मात्रपंचक एवं गुणत्रय दोनों स्थित हैं । स्थूलशरीर के कारणभूत आठ अंगों से युक्त जो पुर्यष्टक है उसका कार्य ही स्थूल शरीर है और 'तद्' शब्द से पुर्यष्टक ही अभिप्रेत है और स्थूल शरीर-सूक्ष्म शरीर दोनों को सूचित करता है ।

संरुद्धः—उसके द्वारा 'संरुद्धं' उतने को ही आत्मा मानने वाला अपनी सर्वात्मकता एवं स्वसामर्थ्य आदि को भूलकर परिबद्ध (बन्धनग्रस्त) हो जाता है अतएव **परवशः**—समस्तशक्ति स्वभाव से व्यतिरिक्तकारणान्तराधीन समस्त समीहितों के असिद्ध रहने से अस्वतन्त्र रहने के कारण **भोगं** = मायावभासित अनादि निज कर्मोपचित वासनानु-गुण सुखादिकसंवेदनात्मक स्वविषयों को **भुङ्क्ते** = 'अनुभव करता है ।' भोग करता है । 'अनुभवति' ॥

किस प्रकार का? **तदुत्थं** = उस पुर्यष्टक से उत्थित (उद्भूत) ॥ उस किस भोग को? 'प्रत्ययोद्भवं' । प्राग्व्याख्यात स्वरूपनियत स्वविषय ज्ञानोत्पाद रूप अर्थात् स्व-विषयमात्रभोक्तृत्वाभिमानरूप प्रत्यय का उत्पाद रूप भोग ॥

भट्टकल्लट की व्याख्या—तन्मात्रोदयः, तन्मात्राणां शब्दादीनाम् अनुभवरूपेण, मनोहंकारबुद्धिभिः इति त्रिभिः परामृश्यमानेन पुर्यष्टकेन बद्धः, तदुत्थं तस्मादुद्भूतं सुखदुःख-संवेदनरूप तदा ॥—स्पन्दकारिकावृत्ति ।

किस प्रकार के पुर्यष्टक से संरुद्ध?—**तन्मात्रोदयरूपेण**—'तन्मात्रा स्थूलभूत-कारणभाव द्वारा ईश्वरेच्छा मात्र से अवभासित सूक्ष्म शब्दादिक । **उदय** = उनका उदय —स्थूल शरीर भाव से परिणत आकाश आदि के रूप में अभिव्यक्ति ॥

तन्मात्रायें—(१) **शब्दतन्मात्रा**—आकाश (२) **स्पर्शतन्मात्रा**—वायु (३) **रूप तन्मात्रा**—अग्नि (४) **रसतन्मात्रा**—जलतत्त्व (५) **गन्धतन्मात्रा**—पृथ्वी ॥

तन्मात्रोदय पंचविध है—(१) शब्दतन्मात्रा का उदय—आकाश (२) स्पर्शतन्मात्रा का उदय—वायु तत्त्व (३) रूपतन्मात्रोदय—अग्नितत्त्व (४) रसतन्मात्रोदय—जलतत्त्व (५) गन्धतन्मात्रा का उदय—पृथ्वी तत्त्व । गुणों के उदय को संकेतित करने हेतु ग्रन्थकार कहता है—'मनोऽहंबुद्धिवृत्तिना' ।

इस अनुभूयमान का आत्मलाभ एवं अनुभव अन्तःकरणनिष्ठ है । यथा—मन में रजोगुण के उदय से, अहंकार में तमोगुण के उदय से, बुद्धि में सत्वगुणोदय रूप वृत्ति की अवस्थिति से अनेक आन्तरभाव उत्पन्न होते हैं । बद्ध प्राणी इस प्रकार के पुर्यष्टक से

---

१. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति'

संरुद्धं होकर 'पशु' बन जाती है और 'तद्भावात्'—उस पुर्यष्टक स्थूल सूक्ष्मरूप पुर्यष्टकों के विद्यमान होने से ('भाव से') और प्रबोधोदय न होने की स्थिति में अनुच्छेदवश 'संसरेत्'—अनवरत रूप से नाना शरीर भोगवासना कर्म चक्र का अनुभव करना चाहिए।

देह-संरुद्ध पुरुष के प्रतिनियत सुखादिसंवेदनात्मक भोग में जो भोक्तृत्वाभिमान है वही **संसार (संसरण) का कारण है** अत: इसका निरावरणस्वरूप स्थिति मात्र संसार के विनाश का मूल कारण है। वृत्तिकार ने इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

(१) 'तन्मात्रोदय' (२) 'भुक्तेऽश्नाति परवश: ।'[१]

तन्मात्र = सूक्ष्मपुर्यष्टक। **तन्मात्रोदय** = स्थूल पुर्यष्टक ॥ पशुभावस्थ 'शिव' शब्दादिक पञ्च तन्मात्राओं के अनुभव वाले मन, अहङ्कार एवं बुद्धि—इन तीनों के द्वारा परामर्श किए जाने वाले पुर्यष्टक के बन्धन में पड़ा है। पुर्यष्टक से ही सुखात्मक दु:खात्मक संवेदनाओं का प्रादुर्भाव होता है।[२]

अड़तालिसवीं कारिका यह प्रतिपादित करती है कि आत्मा को जब अपनी शक्ति का बोध नहीं रहता तो उसकी यह अज्ञानता ही व्यक्ति को बन्धन में डाल देती है। आत्मबोध का यह अभाव प्रमाता को अध:पतन के गर्त में डाल देता है।

बन्धन का हेतुत्व—उन्चासवीं कारिका में यह बताया गया है कि 'क्रियाशक्ति' बन्धन का हेतु कैसे बनती है? 'पुर्यष्टक' के दो रूप हैं—(१) सूक्ष्म (आतिवाहिक) (२) स्थूल (भौतिक) = भोग शरीर।

पुर्यष्टक—सूक्ष्म शरीर (सूक्ष्म पुर्यष्टक) एवं स्थूल शरीर (स्थूल पुर्यष्टक)
स्थूलपुर्यष्टक = पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर।
सूक्ष्मपुर्यष्टक = कारण शरीर—स्थूल पुर्यष्टक ॥
तन्मात्र रूप = सूक्ष्म पुर्यष्टक। कारण शरीर।
तन्मात्रोदय रूप = स्थूल पुर्यष्टक। षाट्कौशिक स्थूल शरीर ॥

इन्हीं शरीरों से आबद्ध (संरुद्ध) मानकर पुरुष परवश होकर उसमें उठने वाले सुख दु:ख आदि संवेदन रूप प्रत्ययों का उपभोग करता है। उन्हीं को अपना स्वरूप स्वीकार करके वह शरीराभिमानी (शरीरात्मवादी) बनकर संसरण चक्र का अनुवर्ती बन जाता है। **स्पन्दप्रदीपिका** में कहा गया है—'अपने प्रत्यय के अतिरिक्त संसार का अन्य कारणान्तर नहीं है।'

पुर्यष्टक और उसका स्वरूप—पुर्यष्टक के दो भेद है—

(१) **सूक्ष्म पुर्यष्टक** = कारण शरीर ॥ 'तन्मात्र'

(२) **स्थूल पुर्यष्टक** = पाँचभौतिक स्थूल शरीर ॥ 'तन्मात्र'

'पुर्यष्टकस्य किल द्वे रूपे—एकं सूक्ष्ममातिवाहिकाख्या तन्मात्रमभिलाषात्मकम्।

---

१. रामकण्ठाचार्य: 'स्पन्दविवृति'। २. भट्टकल्लट—'स्पन्दकारिकावृत्ति'।

द्वितीयं स्थूलं भौतिकं भोगाख्यम् ॥' (स्पन्दप्रदीपिका) 'पुर्यां सूक्ष्मे शरीरे तन्मात्रपञ्चकं गुणत्रयम् इति स्थूलशरीरकारणभूतमष्टकम् यत् संनिविष्टं, तन्मुखं पुर्यष्टकम् ।

'तत्कार्यत्वात् स्थूलमपि शरीरं तच्छब्देन इह पुर्यष्टकम् इत्युच्यते ॥'

(स्पन्दका०वि०)

भट्टकल्लट ने 'स्पन्दसर्वस्व' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—'तन्मात्रोदयः, तन्मात्राणाम् शब्दादीनाम् अनुभवरूपेण, मनोऽहङ्कारबुद्धिभिः इति त्रिभिः **परामृश्यमानेन** पुर्यष्टकेन बद्धः ॥' **तदुत्थं** = उससे उद्भूत । 'प्रत्ययोदभवम्' सुखदुःखसंवेदन रूप । सूक्ष्मशरीर (कारण)—स्थूल शरीर (कार्य) पशुभूमिका में अवस्थित शिव तन्मात्रों के रूप वाले **'सूक्ष्मशरीर'** एवं उससे उत्पन्न (कार्यरूप) **'स्थूल शरीर'** (मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि अन्तःकरण चतुष्टय के माध्यम से परामर्श करने वाले स्थूल शरीर) के बन्धनावरण से आच्छादित है । इसी 'पुर्यष्टक' के द्वारा ही 'प्रत्ययोद्भव' का आविर्भाव होता है ।

पुर्यष्टक—जन्म-मरण (आवागमनचक्र)
तन्मात्र = सूक्ष्म पुर्यष्टक
तन्मात्रोदय = स्थूल पुर्यष्टक
पुर्यष्टक—सुखात्मक, दुखात्मक संवेदना ॥

पशु शब्दादिक तन्मात्रों के अनुभव के रूप वाले तथा मन अहङ्कार, बुद्धि इन तीनों के द्वारा परामर्श किए जाने वाले पुर्यष्टक' के बन्धन से आबद्ध है ।

सूक्ष्म शरीर के अवयव (सांख्यदर्शन) (१८ अंग)

मन	बुद्धि	अहङ्कार	ज्ञानेन्द्रिय	कर्मेन्द्रिय	पञ्चतन्मात्रा
१	१	१	५	५	५

सूक्ष्मपुर्यष्टक—सू० शरीर—लिंगशरीर = सूक्ष्मशरीर

पूर्वोत्पन्नमसक्तं, नियतं, महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधि वासितं लिंगम् ॥

चित्र यथाऽऽश्रयमृते, स्थाण्वादिभ्यो विनायथाच्छाया ।
तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिंगम् ।[1]

इनके ग्राह्य विषय क्या हैं?—

'एषां ग्राह्यो विषयः सूक्ष्मः प्रविभागवर्जितो यः स्यात् ।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्दः स्पर्शो मही रसो गंधः ॥ (प०सा०)

सूक्ष्मशरीर = मन, बुद्धि, अहङ्कार (अन्तःकरण) + इनके संवेद्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (सूक्ष्म तन्मात्रायें) ॥

---

१. ईश्वरकृष्ण : सांख्यकारिका ।

तन्मात्रोदय = 'तन्मात्रा' क्या है? जिसमें केवल (तत् + मात्रा) उसी की मात्रा मात्र हो । पञ्चीकरण-प्रक्रिया में क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर आदि तत्त्वों में सभी तत्त्वों का समावेश नहीं होता प्रत्युत् सभी का समावेश होता है किन्तु 'तन्मात्रा' मात्र अपनी ही मात्राओं का समुच्चय होता है, अन्य का नहीं । पञ्चीकरण में तन्मात्र स्थिति नहीं रहती यथा—

(१) आकाश ——————— शब्द ।

(२) वायु = आकाश+वायु । = शब्द+स्पर्श ।

(३) तेज = आकाश+वायु+तेज । = शब्द+स्पर्श+रूप ।

(४) जल = आकाश+वायु+तेज+जल । = शब्द+स्पर्श+रूप+रस ।

(५) पृथ्वी = आकाश+वायु+तेज+जल+पृथ्वी = शब्द+स्पर्श+रूप+रस+गन्ध ।

(१) = $\frac{१}{८}$ (वायु+अग्नि+जल+पृथ्वी) + $\frac{१}{८}$ = आकाश (= पञ्चीकृत स्थूलाकाश)

(२) = $\frac{१}{८}$ (अग्नि+जल+आकाश+पृथ्वी) + $\frac{१}{८}$ = पञ्चीकृत स्थूल वायु ।

(३) = $\frac{१}{८}$ (आकाश+वायु+जल+पृथ्वी) + $\frac{१}{८}$ = अग्नि पञ्चीकृत स्थूल अग्नि ।

(४) = $\frac{१}{८}$ (आकाश+वायु+अग्नि+पृथ्वी) + $\frac{१}{८}$ = जल = पञ्चीकृत स्थूल पृथ्वी ।

(५) = $\frac{१}{८}$ (आकाश+वायु+अग्नि+जल) + $\frac{१}{८}$ पृथ्वी = पञ्चीकृत स्थूल पृथ्वी ।

प्रकृति—महत् (बुद्धि)—'अहङ्कार'—ज्ञानेन्द्रिय+कर्मेन्द्रिय+मन+तन्मात्रा (तन्मात्रा) —क्षिति, जल, पावक, समीर, गगन ॥ प्रत्येक महाभूत में अन्य भूतों के १/८ अंश स्थित हैं ।

'वेदान्त दर्शन' के अनुसार सूक्ष्मशरीर (पुर्यष्टक) १७ अंग होते हैं—

५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ वायु + १ बुद्धि + १ मन = १७

समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर = 'सूत्रात्मा' 'प्राण' 'हिरण्यगर्भ' = सूक्ष्म शरीरों की समष्टि से आच्छादित चैतन्य ।
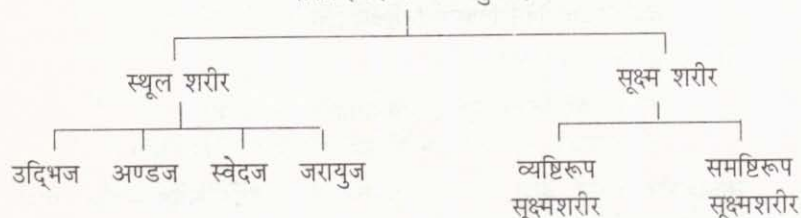
तन्मात्रा—'तन्मात्रोदय, पद में 'तन्मात्रा' शब्द का क्या अर्थ है? उसका स्वरूप क्या है । सांख्य दर्शन के अनुसार अहङ्कार के तामस अंश से तन्मात्राओं का जन्म होता है ।
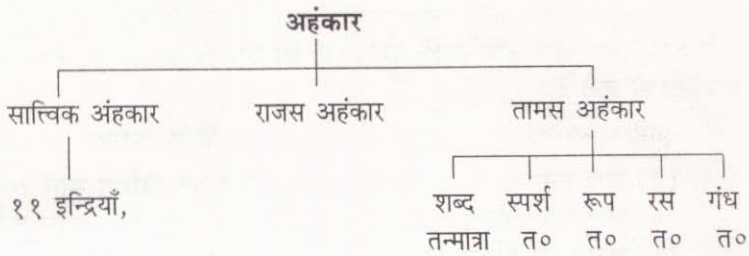
'तदेव इति तन्मात्रम्' = वही।

तत् = वह। **मात्रा** = मात्र॥ **तन्मात्रा** = वही मात्र (उसके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं॥ **शब्द तन्मात्रा** = शब्द ही। शब्द मात्र)

शब्द तन्मात्रा—आकाश। **स्पर्शतन्मात्रा**—वायु। **रूप तन्मात्रा**—अग्नि। **रस तन्मात्रा**—जल, **गंध तन्मात्रा**—पृथ्वी॥ (पंचभूत) **सूक्ष्म भूत** = तन्मात्रा। **स्थूल महाभूत** = पृथ्वी आदि पंचभूत॥

तन्मात्रावस्था—यह शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध (पंच महाविषय की सामान्यावस्था है। इस स्थिति में किसी वैशिष्ट्य, विशेषता व्यावर्तक धर्म की अनुस्यूतता नहीं रहती)—

(१) 'अनुद्भिन्न विशेषतया स गंधादिरेव केवलस्तन्मात्र इत्युक्तम्' (तं०वि०)

(२) पृथिव्यां सौरभान्यादिविचित्रे गंधमण्डले।
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गंधतन्मात्र नाम तत्॥ (तं०)

उदा०—'गन्धतन्मात्रा' गंध की उस सामान्यावस्था की आख्या है जिसमें किसी भी सुगंध या दुर्गंध या तीव्र-मन्द-विशिष्ट गंध आदि शब्दों का इस स्तर पर प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि इस स्तर पर चम्पा, चमेली, गुलाब, कमल, रजनीगंधा केवड़ा आदि विशिष्ट गंधों को पृथक्-पृथक् रूप से नहीं पाया जा सकता, क्योंकि इस स्तर पर प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस स्तर पर इनमें गंधों के मध्य व्यावर्तक रेखायें नहीं होतीं।

इस सामान्य स्तर पर सामान्य गंधत्व मात्र का अवस्थान होता है न कि गंधों की पृथकता का। गंधों में पार्थक्य का अभी श्रीगणेश भी नहीं होता। इस स्तर पर विशिष्ट धर्मों, विशिष्ट धर्मों आदि से शून्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध की अवस्थिति रहती है।

पुर्यष्टक ही आत्मा का बन्धन—तन्मात्ररूप में स्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रस एव गंध का ऐन्द्रिय ग्रहण संभव नहीं हो पाता बल्कि विशिष्ट धर्मों से युक्त होने पर ही इन्द्रियाँ इनको ग्रहण कर सकती हैं। क्या है **'सूक्ष्मपुर्यष्टक'?** तन्मात्र शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध एवं अंत:करण त्रय से निर्मित 'वासना पिण्ड' ही 'सूक्ष्म पुर्यष्टक' कहलाता है। 'स्थूल शरीर' गुणत्रय, मन, बुद्धि अहंकार (अंत:करणत्रय) तथा इनके संवेद्य विषय तन्मात्रों के कार्यस्वरूप ५ स्थूल महाभूतों के मिश्रण से निर्मित है।

जब सूक्ष्मतन्मात्रा अपनी सामान्यावस्था त्याग करके विशिष्टावस्था ग्रहण कर लेती है तब स्थूलरूप वाले शब्द स्पर्श, रूप, रस एवं गंध विशिष्ट धर्मों (विशेषताओं) से उपरंजित हो जाते हैं।

सामान्य स्वरूप		विशेष स्वरूप
(१) शब्द तन्मात्रा	—	शब्द गुण विशिष्ट स्थूल आकाश
(२) शब्द स्पर्श तन्मात्रा	—	स्पर्श गुण विशिष्ट स्थूल वायु
(३) शब्द स्पर्श-रूप तन्मात्रा	—	रूप गुण विशिष्ट स्थूल तेज
(४) शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रा	—	रस गुणविशिष्ट स्थूल जल
(५) शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध तन्मात्रा	—	गंधगुणविशिष्ट स्थूल पृथ्वी।

शरीर भी एक पुर्यष्टक है। सूक्ष्मतन्मात्राओं का स्थूल कार्य होने के कारण शरीर को भी 'स्थूल पुर्यष्टक' कहा गया है और यही बन्धन का कारण है।

शैवदर्शन में 'बन्धन' का स्वरूप—

शैवदर्शन बन्धन को कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता।

(क) जैनियों ने कहा है कि आश्रव ही बन्धन है, जीव और कर्मों का संयोग ही बन्धन है।

(ख) कर्म पुद्गलों के जीव में प्रवेश करने के पूर्व जीव के भावों में जो एक परिवर्तन होता है उसे **'भावास्रव'** एवं फिर कर्मपुद्गलों का शरीर में प्रवेश—**'द्रव्यास्रव'** है—तेल से लिप्त होना **'भावास्रव'** एवं उस पर धूल चिपकना **द्रव्यास्रव** है—४२ प्रकार के कर्मपुद्गलों का जीवों में यह प्रवेश रूप 'आस्रव' ही बन्धन के कारण है और यह प्रक्रिया ही बन्धन है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' (उमास्वामी) कहकर उमास्वमी ने इन त्रिरत्नों के आचरण को ही मोक्षमार्ग की आख्या दी है।

(ग) शैवदर्शन के अनुसार—'मोक्षः कर्मक्षयाश्रयः' 'मोक्ष, रागक्षयाद्भवेत्' ('ईश्वरसिद्धि'—उत्पलदेव)—बन्धन-मोक्ष में कोई भेद ही नहीं है—

(घ) एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः।
नभिद्यते न भेदो हि तत्वतः परमेश्वरे॥ (बोध पं०द०)

बन्धनोच्छेद की प्रक्रिया—यह स्पन्द शास्त्र का उपसंहार सूत्र है। पशु का जो 'बन्धन' है और जिसके कारण वह संसृति-चक्र में फँसा हुआ है उसका उच्छेद कैसे किया जाय?—इसका विवेचन ही इस कारिका की प्रतिपाद्य विषयवस्तु है।

'स्पन्दसन्दोह' में **भट्टकल्लट** कहते हैं—'यदा पुनस्त्वेकस्थूले सूक्ष्मे वा संरूढ़ो लीनचित्तः, तदा तस्य प्रत्ययोद्भवस्य लयोद्भवौ ध्वंसप्रादुर्भावौ नियच्छन् कुर्वन् भोक्तृतां प्राप्नोति। ततः चक्रेश्वरो भवेत् सर्वाधिपतिर्भवेत्॥'[1]

---

१. भट्टकल्लट 'स्पन्दसर्वस्व'

(१) जब साधक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में स्थित रहते हुए वहीं अपने चित्त को लीन करके, अन्तर्बहिःप्रदेश में एकाकार स्पन्दतत्त्व का आत्मानुभव प्राप्त कर लेता है तब स्वातन्त्र्यपूर्वक प्रत्ययोद्भव के सृष्टि एवं संहार को निष्पादित करता हुआ अपनी पूर्व लुप्त भोक्तृत्व पदवी प्राप्त कर लेता है फिर वह शक्तिचक्र का ईवर (स्वामी) बन जाता है ।

(२) **प्रत्यभिज्ञाहृदयम्** में कहा गया है—

'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तावेशात् सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिज-संविद्देवताचक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवतीति शिवम् ॥'[१]

अर्थात् तब प्रकाशानन्दसार महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्ता के साथ अभेद होने से सदा सब प्रकार की सृष्टि एवं लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है ।

(३) शिवत्व प्राप्त करने हेतु पशु को किसी नव्य वस्तु की शोध नहीं करनी पड़ती और न तो कोई विलक्षण उपलब्धि प्राप्त करनी होती है । क्योंकि शिवत्व पशु का अपना स्वभाव है । हाँ वह अपना स्वभाव ही भूल जाता है और इसीलिए बन्धन में पड़ जाता है किन्तु स्वरूप का परामर्श होते ही वह पुनः शिव बन जाता है—

'शिवत्वमस्य योगिनो न अपूर्वम्, अपितु स्वभाव एव, केवलं माया शक्त्युत्थापितस्वविकल्पदौरात्म्यात् भासमानमपि तत् नायं प्रत्यवम्रष्टुं क्षमः ॥'[२]

इस मुक्ति की प्रक्रिया के दो चरण हैं—(१) बोध का उदय ('शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं' की प्रत्यभिज्ञा) (२) अबोध का अन्त (अनात्मकता में आत्मभाव की अनुभूति का उच्छेद) या प्रतिबन्ध की निवृत्ति ॥

इस सिद्धावस्था में योगी स्वातन्त्र्य एवं शक्ति चक्र का स्वामी बन जाता है—चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है—खोयी हुई शक्तियाँ पुनः प्राप्त हो जाती हैं—और यही है निर्वाण, मुक्ति, जीवन्मुक्ति, मोक्ष एवं चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति ।

शैवदर्शन की मुक्ति की विलक्षणताएँ—

इस दर्शन के अनुसार मुक्ति किसी उत्कृष्टतर देवलोक, शिवलोक, गोलोक, वैकुण्ठ लोक, साकेत आदि की प्राप्ति नहीं है । प्रत्युत् मुक्ति—

(१) अपने सत्स्वरूप = परमार्थस्वरूप = या शिवत्व की प्रत्यभिज्ञा है ।

(२) (यह स्वर्गलोक या मुक्ति धाम की प्राप्ति नहीं है प्रत्युत्) यह स्वस्वरूपावस्थान है न कि कोई उत्क्रान्ति ।

(३) यह स्वस्वरूप पर चढ़े आवरण को हटाना मात्र है ।

(४) समस्त जगत् को अपना क्रीड़ांगन मान कर एवं विश्व के प्रत्येक पदार्थ को

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

मन्मय (स्वस्वरूप) मानकर जो पूर्णाहन्ता की अनुभूति है वही जीवन्मुक्ति है और इस संवेदन का अनुभविता जीवन्मुक्त है—

'इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
स पश्यन् सर्वतो युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ॥'[१]

अर्थात् समग्र जगत् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रथा का जिसे ज्ञान है वह समस्त जगत् को 'अपनी आनन्दक्रीड़ा (लीला) के समान देखता हुआ सतत योग से युक्त होने से जीवन्मुक्त है'—इसमें संशय नहीं है ।

भोक्तृभाव एवं चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति—

यदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ॥ ५१ ॥

जब (साधक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से) किसी एक में अवस्थित होता हुआ चित्त को लीन करके ध्वंस एवं प्रादुर्भाव दोनों को निष्पादित करता हुआ भोक्तृभाव प्राप्त कर लेता है तथा उसके अनन्तर शक्तिचक्र का स्वामी बन जाता है ॥ ५१ ॥

*** सरोजिनी ***

जब बन्धनग्रस्त प्राणी परम तत्त्व में समावेश की क्रियाओं पर ध्यान् आकृष्ट करता है और जब वह उसके द्वारा लय हो जाता है या उस पराहंता या स्पन्द तत्त्व के साथ अभिन्न हो उठता है तब वह निमीलन और उन्मीलन समाधि के उपायों के द्वारा लय का नियंत्रण करता है और विकास को दिशा देता है ।

एकत्र = पूर्णाहन्तात्मक स्पन्दतत्त्व में । स्थूल-सूक्ष्म पुर्यष्टक में ।

तस्य = उसके । पुर्यष्टक के ।[२] (भोग्यभाव = पशुत्व । पशुपति पशुभाव से मुक्त) **संरूढ** = लीन चित्त होकरः 'संरूढः सन्' ।

बन्ध एवं मोक्ष पर विचार करने पर बोध का उदय एवं प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो जाती है । दो पुर्यष्टकों में किसी एक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टक में पतित्व के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाओ । अपने चित्त को विलीन कर दो । तब उनमें उदय-विलय होने वाले शब्दादि प्रत्ययों का नियंत्रण हो जाएगा । फिर तुम उनके भोग्य नहीं । भोक्ताभाव प्राप्त करोगे । भोग्यरूप पशुत्व से मुक्त होकर प्रभुभाव प्राप्त कर लोगे । कहा भी गया है—पशुओं के पति होकर पशुओं के पति हो जाओ । पशुपति होते ही तत्काल पशुत्व से मुक्त हो जाओगे ।'—

'पशूनां तु पतिर्भूत्वा पशूनां तु पतिर्भवेत् ।
पशुत्वान्मुच्यते सद्यो भूत्वा पशुपतेः पतिः ॥'

स्वबोधोदयमञ्जरी—में भी कहा गया है—जो-जो कुछ भी मनोहर वस्तु तुम्हारे

---

१. स्पन्दकारिका (३०) 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्' में उद्धृत सूत्र १६ ।
२. स्पन्दनिर्णय ।

नेत्रों के सम्मुख आये, एकाग्र होकर उसकी तब तक भावना करो जब तक मन लीन न हो जाय । निरोध तुम्हारा सेवक बन जाएगा—

'तद्यन्मनोहरं किंचिदक्षिगोचरमागतम् ।
एकाग्रं भावयेत्तावद्यावलीनं निरोधकृत् ॥'

इस प्रकार स्वातन्त्र्य की प्राप्ति होती है तब पुरुष शक्तिचक्र का स्वामी (सर्वज्ञ, सर्वाधिपति) होकर अभिव्यक्त हो जाता है—

'एवं सति स्वातन्त्र्याप्तेस्ततश्चक्रेश्वरः शक्तिचक्रस्वामी सर्वज्ञतादियुतः सर्वाधिपतिर्भवेत् ॥'[१]

इस कारिका में बन्धनों के उच्छेद के उपायों पर प्रकाश डाला जा रहा है । अब आत्मा रूप शिव के ऐश्वर्यरूप पतित्व की जिससे अभिव्यक्ति होती है उन उपायान्तर पर प्रकाश डाला जा रहा है—

यदा तु = जब जिस दूसरे काल में स्थूल-सूक्ष्म होने के कारण इन पुर्यष्टकों के प्रत्ययों के उद्भव के मूल स्रोत शरीर द्वय के मध्य **'एकत्र'** = अन्यतर में (या प्राक् प्रतिपादित उपपत्ति के द्वारा संवेद्यमान अर्थ के शरीर में व्यवस्थित होने पर भूतात्मक भावात्मक भेदद्वय द्वारा स्थूल-सूक्ष्म शरीरों के मध्य एकत्र या ध्येय रूप में आलम्बनीय स्थूल सूक्ष्म भावद्वय के मध्य एकत्र) **संरूढः** = सम्यक् रूप से अविलम्ब रूढ़; एकाग्रता के प्रकर्ष द्वारा अभिन्न रूप से परिणत संवित्-साधक ।[२]

तदा = उस क्षण **तस्य** = उसका । अभेदप्रतिपन्न शरीर का । **लयोद्भवौ** = त्याग-ग्रहणरूप विनाशोत्पाद । **नियच्छन्** = भोक्तृ शब्द से वक्ष्यमाण सत्य के कर्ता को अपने कार्य के रूप में अवधारित करते हुए—अर्थात् मैं ही नित्य निरावरण स्वतन्त्र-चिन्मात्रस्वरूप—इन दोनों का कर्ता हूँ—इस प्रकार निर्विकल्प रूप में व्यवस्थापित करते हुए—**भोक्तृतामेति**—भोक्तृता प्राप्त कर लेता है, भोक्ता का अर्थात् उपलब्धिमात्र स्वभाव परमात्मा का भाव **भोक्तृता** है । उसी समय वह प्रत्यभिज्ञा के द्वारा स्वीकार करता है—**ततः**—सत्यात्मस्वरूप प्रत्यभिज्ञालक्षण के कारण **'चक्रेश्वरो भवेत्'** चक्र का (प्राक्प्रतिपादित चराचरभावपर्यन्त प्रसृत प्रपंच के द्वारा विस्तारित शब्दराशिसमुत्थित स्वशक्तिसमूह का)—ईश्वर (अधिष्ठाता) अर्थात् स्वैश्वर्यवृजृंभामात्र रूप में अवगम्यमान यथेष्ट विनियोक्ता—**भेवत्** = (संपद्येत्)—हो जाता है । तभी स्वाभाविक स्वातन्त्र्याभिव्यक्ति द्वारा पशुप्रत्यय के प्रध्वस्त हो जाने पर शक्तिचक्र की भोग्यता का त्याग करके, उसके भोक्तृभावरूप ऐश्वर्य को प्रतिपादित करना चाहिए । अतः लयोद्भव दोनों को भोक्ता आत्मा में—**नियच्छेत्**—निश्चित करना—चाहिए (निश्चयेत्) ॥

भाव यह है कि जिस प्रकार देहमात्र में आत्माभिमान रखने वाला कोई प्राणी घटादिक बाह्य पदार्थ का (ग्राह्यतया प्रतिपन्न पदार्थ का) त्याग एवं ग्रहण अपने में यह निश्चित करता हुआ कि—'मैं ही इन दोनों का कर्ता हूँ'—करता है और इसी के

---

१. उत्पलदेव = 'स्पन्दप्रदीपिका' । २. रामकण्ठाचार्य—'स्पन्दविवृति' ।

अनुसार स्वतन्त्रकर्ता—को शरीरितानिविष्ट आत्मा मानता है—ठीक उसी प्रकार उस शरीर की वेद्यभूमिका के आपादन द्वारा क्रियमाण त्याग एवं ग्रहण से विलक्षण, वेद्यत्व-संस्पर्शासहिष्णु तथा अनन्यसाधारण कर्तृत्वस्वभाव वाली स्वात्मा में वस्तुसामर्थ्य द्वारा नियमों का पालन करते रहने पर भी उसका पालन अबुद्धता के कारण नहीं हो पाता। अत: शरीर एवं शरीरी में पार्थक्यगत विवेक का जिसको बोध हो उसी के लिए यह उपदेश है अन्य के लिए नहीं। क्योंकि उसी प्रकार का साधक, जिसकी कि अनुग्रह शक्ति से संशयग्रंथि शकलित हो चुकी है, परमात्मविषयक उपदेश का सत्पात्र है अन्य नहीं। कहा भी गया है—'अयं सर्वस्य प्रभव इत: सर्वं प्रवर्तते।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विता: ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त: परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति रमयन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मां प्रापयन्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तम:।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥'

जिसके उपदेश से और उपदेश के अनुशील्यमान होने से—**एकत्र** = प्रतिपादित शरीर के (अभेदात्मक रूप से प्रतिभासमान शरीर के) समनन्तर वेद्यीक्रियमाण का त्याग ग्रहात्मक लयोद्भव उसके विधर्मी भोक्ता सर्वेश्वर स्वात्मा में ही स्वातन्त्र्यपूर्वक कार्यरूप में नियम्यमान किये जाने पर नियंता के परस्वभाव प्रत्यभिज्ञा का आवाहन करने पर समस्त ऐश्वर्यों की उपलब्धि प्रदान करता है।

अत: आत्मा रूप शिव की स्वेच्छा के ही अधीन है यह जगत् का प्रलय और उसकी सृष्टि: 'प्रलयोदय' ॥[१]

आत्मस्वरूप शिव की स्वेच्छा से ही जगत् का प्रलय एवं उदय होता है—'आत्मन एवं शिवस्य स्वेच्छामात्राधीनौ जगत: प्रलयोदयौ।' जगत् भी उसके स्वरूप से अभिन्न है अत: उसकी स्वशक्ति के चक्र का वैभव है—'जगदपि तत्स्वरूपाभेदात तस्य स्वशक्तिचक्रमयो विभव इति।' एक ही तत्त्व है। स्वरूप-परामर्श होने पर वह अव्यभिचारधर्मक दिखाई देता है अत: उससे अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ हो भी नहीं सकता—'अतो व्यतिरिक्तं किंचित् न संभवति'। कहा भी गया है—

'परमार्थे तु नैकत्वं पृथक्त्वाद् भिन्नलक्षणम्।
पृथक्त्वैकत्वरूपेण तत्त्वमेकं प्रकाशते ॥
यत्पृथक्त्वमसंदिग्धं तदेकत्वान्न भिद्यते।
यदेकत्वमसंदिग्धं तत्पृथकत्वान्न भिद्यते ॥
द्यौ: क्षमा वायुरादित्य: सागरा: सरितो दिश:।
अन्त:करणतत्त्वस्य भागा बहिरवस्थित: ॥'

---

१. रामकण्ठाचार्य: 'स्पन्दविवृति'।

इसी भाव को अन्यत्र भी कहा गया है—

चित्रालोकविकल्पकल्पितनवाकल्पाङ्क नानाकृतिं,
नृत्यन्तीं बहुधा बहिः स्ववपुषोऽप्यन्तर्नभिन्नां पुनः ।
नित्यं नूतनकौतुकः प्रियतमां स्वां शक्तिमालोकयन्,
अच्छिन्नाप्रतिमप्रमोदमहिमा शंकुर्जयत्येककः ।।

यहाँ श्लोक की समनन्तर व्याख्या करते हुए पुस्तक के प्रथम श्लोक में प्रतिज्ञात स्वसंवेदन संवेद्य आत्मैश्वर्याद्वयलक्षणात्मक अर्थ को निर्वाहित किया गया है ।[१]

भट्टकल्लट ने इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि जब साधक स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी एक में भी अवस्थित होकर अपने चित्त को (स्पन्द तत्त्व) लीन कर लेता है तब उस प्रत्ययोद्भव के संहार एवं सृष्टि को स्वातन्त्र्यपूर्वक सम्पन्न करता हुआ अपने (विलुप्त) भोक्तृभाव । को प्राप्त कर लेता है और उसके अनन्तर समस्त चक्रों का अधिपति बन जाता है—

'यदा पुनस्त्वेकत्र स्थूले सूक्ष्मे वा संरूढो लीनचित्तः । तदा तस्य प्रत्ययोद्भवस्य लयोद्भवौ ध्वंसप्रादुर्भावौ नियच्छन् कुर्वन् भोक्तृतां प्राप्नोति । ततः चक्रेश्वरो भवेत् सर्वाधिपतिर्भवति ।।' (भट्टकल्लटः स्पन्दका० वृत्ति)

चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति—५१वीं कारिका में सूत्रकार चक्रेश्वरत्व की उपलब्धि के उपाय पर प्रकाश डालतें हैं । ५०वीं कारिका में सूत्रकार ने कहा था कि पुर्यष्टकत्व स्वयं में ही एक बन्धन है—चाहे वह स्थूल पुर्यष्टक हो और चाहे सूक्ष्म पुर्यष्टक हो बन्धन-स्वरूप तो दोनों हैं । पुर्यष्टक ही प्रत्ययोद्भव (सुख दुःख संवेदन) को जन्म देते हैं ।

यदि आत्मा को अपनी शक्ति या अपना अमृतस्वरूप आत्मस्वभाव ज्ञात न हो सका तो यह अज्ञान ही आत्मा को बन्धन में डाल देता है ।

(१) **अपनी शक्ति का अज्ञान** बन्धन में डाल देता है ।
(२) **आत्मविस्मृति** बन्धन में डाल देती है । (स्वस्वरूप का अज्ञान = बन्ध)
(३) स्वस्वभाव **(अपना आत्मस्वभाव) न जानना** बन्धन में डाल देता है ।
(४) **पुर्यष्टकत्व** बन्धन में डाल देता है ।
(५) अशुद्धि (मल त्रय) बन्धन में डाल देती है ।

बन्धन से मुक्ति कैसे प्राप्त हो? चक्रेश्वरत्व कैसे अधिगत हो?

(१) संकल्पविकल्पात्मक चित्त को चितिशक्ति में संलीन करना चाहिए ।
(२) वासनापिण्डात्मक अपने पुर्यष्टक से मुक्ति भी आवश्यक है ।
(३) भोग्यभाव से मुक्त होकर भोक्ताभाव प्राप्त करना आवश्यक है ।
(४) स्वस्वरूप की प्रत्यभिज्ञा करना आवश्यक है ।
(५) अपने पशुत्व का त्याग करके अपने पशुपतित्व के वास्तविक स्वस्वरूप की अभिज्ञा आवश्यक है ।

---

१. रामकण्ठाचार्यः 'स्पन्दविवृति' ।

वृत्तिकार **भट्टकल्लट** कहते हैं कि—जब योगी स्थूल या सूक्ष्म पुर्यष्टकों में से किसी भी एक पुर्यष्टक में स्थित रहकर ('यदा पुनः तु एकत्र स्थूले सूक्ष्मे वा **संरूढो लीनचित्तः**') अपने चित्त को स्पन्दतत्त्व में संलीन कर देता है तब उस 'प्रत्ययोद्भव' के ध्वंसप्रादुर्भाव ('लयोद्भव') का निष्पादन करता हुआ अपने स्वभावात्मक भोक्तृभाव को प्राप्त कर लेता है और 'चक्रेश्वर' बन जाता है। अर्थात् समस्त शक्तियों का स्वामी बन जाता है।

'यदा पुनस्त्वेकत्र स्थूले सूक्ष्मे वा संरूढो लीनचित्तः, तदा तस्य प्रत्ययोद्भवस्य लयोद्भवौ ध्वंसप्रादुर्भावौ नियच्छन् कुर्वन् भोक्तृतां प्राप्नोति । ततः चक्रेश्वरो भवेत् सर्वाधिपतिर्भवति ॥'

स्थूल शरीर तो मृत्यूपरान्त छूट जाता है किन्तु सूक्ष्मशरीर जन्म जन्मान्तर कभी नहीं छूट पाता। जब तक कि स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता तब तक सूक्ष्म शरीर से मुक्ति नहीं मिल पाती ॥ पुर्यष्टक ही आत्मा का बन्धन है। स्वरूप-लाभ ही उससे मुक्ति का उपाय है। स्थूलशरीर—**भूतात्मक शरीर** है। सूक्ष्मशरीर—**भावात्मक शरीर** है।

कारिकाकार ने इस उपसंहार सूत्र में तीन बातों की ओर ध्यान दिलाया है—

(१) दोनों शरीरों में से किसी भी शरीर में अवस्थित रहिए किन्तु चित्त को स्पन्द तत्त्व में संलीन कीजिए।

(२) 'स्पन्द तत्त्व' में चित्त का विलय करके प्रत्ययोद्भव के सृष्टि-संहार पर आधिपत्य स्थापित करके भोक्ताभाव प्राप्त कीजिए।

(३) इस विस्मृत भोक्ताभाव को पुनः प्राप्त करके शक्तिचक्र के स्वामी अर्थात् चक्रेश्वर बनिए। यही चक्रेश्वरत्वाधिगम साधना का सर्वोच्च फल है।

(४) भोक्तृत्वभाव की स्थिर उपलब्धि ही चक्रेश्वरता की प्राप्ति है। यही शिवत्वाप्ति है। यही संसृति का अवसान है। यही मुक्ति या मोक्ष है।

सर्वोच्च सत्ता के रूप में केवल एक ही तत्त्व है जो कि **'तत्त्व' होते हुए भी तत्त्वातीत है, विश्वात्मक होते हुए भी विश्वोत्तीर्ण है**। वह प्रकाशात्मक शिव एवं विमर्शात्मक शक्ति की समरसावस्था है।

तात्त्विक स्वरूप की दृष्टि में शिवा ही 'शक्ति' है और 'शक्ति' ही शिव है। **शक्ति** = अहंविमर्शात्मक 'स्पन्द' ॥ **विश्व** = शिव की बहिर्मुखी शाक्त स्पन्दना ॥ **सृष्टि** = 'शक्ति' 'सृष्टिस्तु कुण्डलीख्याता'।

अभेदभूमि के स्तर पर देखा जाय तो पूर्णाहन्तात्मक स्पन्दशक्ति एक ही है। बचती है **बहिर्मुखीभूमि**—यह है भेद भूमि। बहिर्मुखी विश्वावभासन करते रहना तो 'स्पन्द' का स्वस्वभाव है।

'स्पन्दतत्त्व' सामान्य भूमि का त्याग करके जब विशेष भूमिका पर अवरोहण करती है तब वह भावभूमि एवं पाञ्चभौतिक भूमि दोनों पर भी अवतरित होती है और घट, पट, सुख, दुःख आदि सभी भावों में रूपान्तरित होकर स्पन्दित होती है। **विशेष स्पन्द क्या है?** घट, पट, एवं अन्य अनन्त जड़-चेतन, अनन्त शाक्त स्पन्द ही 'शक्तिचक्र' है।

'तन्त्रालोक' (४ आ०) में अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि—शिव अपने इच्छात्मक विमर्शन के माध्यम से सदैव शक्तिचक्र के 'संयोजन-वियोजन' (निमेषोन्मेष) द्वारा अपने पंचकृत्यों का युगपत निष्पादन करते हैं और शक्ति चक्र के स्वामी होने के कारण 'चक्रेश्वर' कहलाते हैं ।[1]

बन्धन होता कैसे है? चक्रेश्वरत्व लुप्त कैसे हो जाता है? 'पति' पशु क्यों बन जाता है । स्वरूपतः तो पशु एवं पशुपति में आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है फिर एक मुक्त एवं दूसरा बन्धन ग्रस्त क्यों है?

शिव अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के द्वारा आविर्भूत पुर्यष्टक की कारा में अपने को कैद करके पशु बन जाता है और इस आवरणमूलक अवस्था में स्वस्वरूप को पूर्णतः भूलकर अविवेकी, बन्धनग्रस्त, असमर्थ, अस्वतन्त्र, विमूढ़, मलावृत पराधीन पशु बना लेता है —क्योंकि वह अपनी 'स्वतन्त्रता' खो देता है—अपनी शक्तियाँ खो देता है—आत्म-स्वभाव का विमर्शनस्वरूप रत्नराशि खो देता है—

'इत्थं सर्वशक्तियोगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरुपचर्यते, स च भगवान् स्वातन्त्र्य-शक्तिमहिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयन् अणुः इति उच्यते यथोक्तम्—

'व्यापको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्तसंकोचमुद्रणात् ।
विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ॥'

इति निजस्वरूपगोपनकेलिलोलम् एवं माहेशशक्तिपरिस्पन्दं प्रवरगुरवः प्रतिपेदिरे ॥ कहा भी गया है—

'अतिदुर्घटकारित्वात् स्वाच्छन्द्यान्निर्मलादसौ ।
स्वात्मप्रच्छादनक्रीडां पण्डितः परमेश्वरः ॥
अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः ।
सैवाविद्या यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥'

बन्धन की प्रक्रिया—वही निखिलजगदात्मा, सर्वोत्तीर्ण, सर्वमय, संवित्प्रकाश, अनवच्छिन्न चिदानन्दविश्रान्त, सर्वशक्तिखचित संविदात्मा महेश्वर अपने को संकुचित करके अपनी माया शक्ति के द्वारा (अपनी आत्मा को अपने से ही संकुचित की भाँति अवभासित करता हुआ) 'विज्ञानाकल' 'प्रलयाकल' एवं 'सकल' बन जाता है—'असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरित स्वातन्त्र्यशक्ति महिम्ना स्वात्मना एव आत्मानं संकुचितमिव अवभासयन (१) विज्ञानाकलः (२) प्रलयाकलः (३) सकलश्च संपद्यते ।'[2] वही शिव पशु बन जाता है यथा—

(१) १ आणवमल से संयुक्त = 'विज्ञानाकल' ।

(२) २ (आणव-मायीय) मलों से संयुक्त = 'प्रलयाकल' ।

---

१. अभिनवगुप्त : 'तन्त्रालोक' (चतुर्थ आह्निक) ।
२. वामदेव भट्टाचार्यः 'जन्ममरणविचार' ।

(३) ३ (आणव-मायीय-कार्म) मलों से संयुक्त = **'सकल'** । 'सकल' है— 'कलादिधरण्यन्तमया: ।।'

सृजनोन्मुख बन्धन प्रक्रिया—सृष्ट्युन्मुख भगवान् शुद्धाध्वा में स्थित रहकर अपनी शक्तियों के द्वारा माया को क्षुब्ध करके—

(१) किंचित्कर्तृत्वलक्षणात्मक—**'कलातत्त्व'** ।

(२) किंचिदवबोधात्मक—**'विद्यातत्त्व'** ।

(३) किंचिदभिलाषरूपात्मक—**'रागतत्त्व'** ।

(४) 'तदेतत्सरागं कर्तृत्वं, भूतभविष्यद्वर्तमानतया त्रिधा अवच्छिद्यते तत् 'काल-तत्त्वं'—**'कालतत्त्व'** ।

(५) 'तुल्यत्वेऽपि रागे येन कर्तृत्वस्य अवच्छेद: क्रियते तत् 'नियतितत्त्वं'— **'नियतितत्व'** ।

इन (कला, विद्या, राग, काल एवं नियति) पञ्च-कञ्चुकों की सृष्टि करता है, इन्हीं से आच्छादित होकर 'शिव' (मलावृत शिव) पशु बन जाता है। अन्तर्मलावृत् पशु के ये ही 'बहिराच्छादक तत्त्व' हैं—'कञ्चुकषट्कम् अन्तर्मलावृतस्य पुद्गलस्य बहिराच्छादकम् ।।'[१]

कहा भी गया है कि—अमित शिव कुञ्चकों से मित बन जाता है । ये कञ्चुक आत्मा को बाह्यावरण की भाँति बनकर ढक लेते हैं किन्तु ये नित्य नहीं है प्रत्युत धान्य की भूसी (तुषा) के समान होने के कारण पृथक् भी हो सकते हैं—

'माया कला शुद्धविद्या रागकालौ नियन्त्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात्कञ्चुकानि मितात्मन: ।।
एवं च पुद्गलस्यान्तर्मल: कञ्चुकवत्स्थित: ।
तुषवत्कञ्चुकानि स्युस्तस्माज्ज्ञानक्रियोज्झित: ।।'[२]

इस 'कला' से अग्रिम सृष्टि-संतति अस्तित्व में आती है—

कला → पुरुष में **परिमित कर्तृत्व** एवं **(सुख दु:ख मोहरूप भोग्य)** का सृजन करती है ।

→ अष्टगुणात्मिका बुद्धि तत्त्व का सृजन करती है ।

→ सात्विक-राजस-तामस त्रिस्कंधात्मक अहङ्कार का सृजन करती है । अहङ्कार → मन ।

अहङ्कार → इन्द्रियाँ । अहङ्कार → इन्द्रियाँ । अहङ्कार तन्मात्रा । अहङ्कार → पञ्चमहाभूत ।[३]

यह जो समस्त सृष्टि है और यह जो नि:शेष विश्व-प्रपञ्च है तथा जो यह ३६ तत्त्वों का प्रसार है—यह सब कुछ शिव का ही प्रसार है ।[४] **ये सारे तत्त्व संवित्-सिन्धु की तरंगें हैं—**

१-४. वामदेव भट्टाचार्य: 'जन्ममरणविचार' ।

'भूतानि तन्मात्रगणेन्द्रियाणि,
मूलं पुमान्कञ्चुकयुक्त्युशुद्धम् ।
विद्यादि शक्त्यन्तमियान्स्वसंवित्,
सिन्धोस्तरंगप्रसरप्रपंचः ॥'

'स अल उत्तपुरिपुण्णा उ, स अल्ल उत्त उत्तिण्ण ।
परि आणह अत्ताण उ, परि मसिनेण समाण उ ॥'[१]

'स्वातन्त्र्यशक्ति की महिमा से संसार में संसरण करते हुए परिमितप्रमातृता का अवलम्बन करने वाले एक ही आदिदेव का यह अनेकात्मक तत्त्वप्रसार है जो कि जगत् कहलाता है—

'एकस्यैव आदिदेवस्य स्वातन्त्र्यमहिम्ना संसारे संसरतः परिमितप्रमातृताम् अवलम्बमानस्य तत्त्वप्रसरः ॥'[२]

मुक्ति = भोक्तृ भाव एवं चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति—**'मुक्ति' क्या है?** उसकी प्राप्ति की पद्धति क्या है?

'इच्छोपाय' 'ज्ञानोपाय' 'क्रियोपाय' या **'अनुपाय'** के माध्यम से पारमात्मिकी अनु-ग्रह शक्ति, शक्तिपात से पवित्रीभूत होकर तथा दीक्षादिक उपायों द्वारा यह बन्धनग्रस्त अणु अपने 'सविदानन्दविश्रान्त, अद्वय एवं निजी स्वस्वरूप का साक्षात्कार करता है—परामर्श करता है और इसके द्वारा ही वह अपने मौलिक एवं नित्य स्वस्वरूप की प्राप्ति करता है और शिवत्व प्राप्त कर लेता है—

'कदाचित्परमेश्वरानुग्रहशक्तिपातपवित्रितः केनापि दीक्षादिना उपायेन संविदानन्द-विश्रान्त अद्वयं निजं रूपं परामृशति, ततः स्वरूपमालम्बते ॥'[३]

इसके अनन्तर वह 'शिव' बन जाता है—

तत्क्षणाद्वोपभोगाद्वा देहपाते शिवं व्रजेत् ॥[४]

ब्राह्मी आदि पशु शक्तियों का समुदाय विकल्पों के अनन्त अरण्य में दिग्भ्रमित करके 'अणु' को स्वस्वरूप के चिन्तन से विरत करके उसे अपने भोक्ताभाव से च्युत करके भोग्यभाव में अवतरित करके उसे जो बन्धन में डाल देती हैं उससे मुक्ति का उपाय है ।

(१) स्वरूप का परामर्श—(मलों से मुक्ति । पुर्यष्टक से मुक्ति)

(२) आत्म-प्रत्यभिज्ञा (शिवत्व की प्राप्ति)

(३) चक्रेश्वरत्व की प्राप्ति (रामस्त शक्तियों का स्वामित्व)

(४) अहं विमर्शात्मक अनुसंधान (चित्त का चित् शक्ति में लय और स्वस्वरूपानुभूति)

१-३. वामदेव भट्टाचार्यः 'जन्ममरणविचार' । ४. मालिनीविजय ।

'भोक्तृता एवं 'चक्रेश्वरत्व' ही इस अन्तिम (उपसंहारात्मक) कारिका का मुख्य प्रतिपाद्य विषय होने के कारण निष्कर्ष यह निकलता है कि स्पन्द विज्ञान (स्पन्द सूत्र) का अन्तिम लक्ष्य—**भोक्ताभाव** एवं **चक्रेश्वरत्व** की प्राप्ति है और उसका साधन है स्वरूपानुसंधान ॥

सूक्ष्मशरीर से आबद्ध पुरुष पराधीन होकर सूक्ष्मशरीर में समुत्थित सुख-दुःखादिक संवेदन रूप प्रत्ययों का उपभोग करता है और इसी के परिणामस्वरूप वह आवागमन-चक्र में फँसकर संसरण करता हुआ दुःखों का भोग करता है । आचार्य क्षेमराज ने ठीक ही कहा है—'सुखदुःख मोहमयाध्यवसायादिवृत्तिरूपं तदुचितभेदावभासानात्मकं यत् ज्ञानं तत बन्धः । तत्पाशितत्वादेव हि अयं संसरति' ।[१]

तन्त्रसद्भाव में भी कहा गया है—

सत्वस्थो राजसस्थश्च तमस्थो गुणवेदकः ।
एवं पर्यटते देही स्थानात्स्थानान्तरं व्रजेत् ॥[२]

इसी तथ्य को कारिकाकार ने भी कहा है—

'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ॥
भुङ्क्ते परवशो भोगं तद्भावात्संसरेत् ॥'[३]
'अतः संसृति प्रलयस्यास्य कारणं संप्रचक्ष्महे ॥'[४]

भट्टकल्लट 'स्पन्दसन्दोह' में कहते हैं—'अस्वतन्त्रो (पशुप्रमाता) भोगं सुखदुःख-संवेदनरूपं भुङ्क्ते अश्नाति । तस्य पुर्यष्टकस्य भावात् संसरति संसारशरीरे, अतः संसृति-प्रलयस्य जन्मरणप्रवाहरूपस्य 'संसारस्य विनाशकारणं संप्रचक्ष्महे वक्ष्यामः ॥'[५]

इस पुर्यष्टकाधीन अवस्था में पशुप्रमाता अपने पति प्रमातृत्व का विस्मरण कर देता है और अपनी सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्वनित्यत्व-व्यापकत्व आदि शक्तियों को संकुचित करके क्रमशः कला-विद्या-राग-काल-नियति का अनुवर्ती होकर **'शक्तिदरिद्री संसारी'** बन जाता है—

'तथा सर्वकर्तृत्व-सर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्व शक्तयः तथाविधश्च अयं शक्तिदरिद्रः संसारी उच्यते ॥'[६]

किन्तु वही अपनी संकुचित शक्तियों के ऊपर आरोपित संकोचावरण हटा लेने पर शिव बन जाता है—

'स्वशक्तिविकासे तु शिव एव ॥'[७]

सारांश यह कि—**पुर्यष्टकत्व संसारित्व एवं बन्धन का कारण है ।**

---

१. शिवसूत्रविमर्शिनी (३।२) । २. तन्त्रसद्भाव ।
३-४. स्पन्दकारिका । ५. स्पन्दसन्दोह
६-७. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् (१०) ।

'पूर्णाहन्ता' एवं 'चक्रेश्वरत्व'—त्रिकदर्शन का उच्चतम प्राप्तव्य एवं उसकी पूर्णतम उपलब्धि **'पूर्णाहन्ता'** एवं **'चक्रेश्वरत्व'** है—

स्पन्दशास्त्र—(१) 'स्पन्दकारिका' यदा त्वेकत्वसंरूढस्तदा तस्य लयोद्भवौ ।
नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत ॥ (तृ०।५१)[१]

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र—(२) 'प्रत्यभिज्ञाहृदयम्'—(आचार्य क्षेमराज)

'तदा प्रकाशानन्दसारमहामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्तावेशात् ।
सदा सर्वसर्गसंहारकारिनिजसंविद्देवता चक्रेश्वरता प्राप्तिर्भवति ॥'[२]

तब प्रकाशनन्दसार, महामन्त्रवीर्यात्मक, पूर्ण अहन्ता के साथ अभेद होने से सदा, सब प्रकार की सृष्टि एवं लय करने वाली अपनी संवित् शक्तियों पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है ।

अहन्ता और मन्त्र—यही 'अहन्ता' समस्त मन्त्रों के उदय एवं विश्रान्ति का स्थान है । इसके बल से ही भिन्न-भिन्न प्रयोजनों की सिद्धि होती है अतः इसे महती **'वीर्यभूमि'** कहा गया है ।

'स्पन्दशास्त्र' में भी कहा गया है कि [३]—'उस निरावरण चिद्रूपबल को अधिष्ठित करके 'मन्त्र' सर्वज्ञत्व आदि सामर्थ्य से युक्त होकर (अनुग्रह आदि स्वाधिकार में प्रवृत्त होते हैं यथा देहधारियों में इन्द्रियाँ) ..... 'तदाक्रम्य.... शिवधर्मिण ।

'प्रकाश' अर्थात् नील, सुख आदि की आत्मा में विश्रान्ति या लय **'अहंभाव'** दया **'पराहन्तापरामर्श'** कहा गया है । समस्त अपेक्षाओं के निरुद्ध होने पर वही 'विश्रान्ति' (तृप्ति) 'स्वातन्त्र्य' 'मुख्य कर्तृत्व' एवं 'ऐश्वर्य' कहा जाता है—[४]

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः ।
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च ॥'

'नित्योदित समाधि' के समुपलब्ध हो जाने पर चिदानन्दघन समस्त मन्त्रों की प्राणरूपा, पराभट्टारिका अहन्ता (अकृत्रिम स्वात्म चमत्कार) से योगी अभिन्न हो जाता है और तब कालाग्नि से लेकर शान्त्यतीता चरम कला पर्यन्त विश्व के विचित्र सृष्टि एवं प्रलय करने वाली संवित् शक्तियों का ऐश्वर्य प्रस्तुत परमयोगी को प्राप्त होता है । यह सब शिवस्वरूप ही है ।[५]

'अहन्ता' क्या है? अहन्ता अकृत्रिम स्वात्मचमत्कार है—

'अहन्ता अकृत्रिमः स्वात्मचमत्कारः ॥'[६]

महामन्त्रवीर्य रूप पूर्णाहन्ता में आवेश का अर्थ है—देह, प्राण आदि के निमज्जन (विलय) से पराहन्ता पद की प्राप्ति द्वारा देहादिकों एवं नीलादिकों का भी उसी रस में डूबने से तन्मयीकरण ॥ 'विभु की मायाशक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न बाह्य एवं आभ्यन्तर

---

१. स्पन्दकारिका (तृ०।५१) २-६. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।

वस्तुसमूह का **विश्रान्ति स्थान** वही **प्रत्यवमर्शात्मक परावाक्** स्वरूप चिति, ज्ञान, सङ्कल्प, अध्यवसाय, स्मृति एवं संशय के नाम से कही गई है।

'माया शक्त्या विभो: सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा।
कथिता ज्ञानसङ्कल्पाध्यवसायादिनामभि: ॥[१]

स्वप्नादिक अवस्थाओं, देह, प्राण, सुख दु:ख आदि द्वारा परिबद्ध मनुष्य अपनी माहेश्वरी चिति शक्ति को नहीं पहचानता। जो ज्ञानात्मक अमृत सिन्धु में फेनपिण्ड के समान विश्व को देखे वही साक्षात् शिव है।[२]

अहंता और पूर्णतम सिद्धि—तांत्रिक त्रिक दृष्टि १. परिमित अहंता का त्याग। २. भगवत्स्वरूप अहंता का ग्रहण। 'विश्वाहंता' परम सिद्धि है—परम उपलब्धि है। विश्व में अपने शिवस्वरूप को देखना अहंपरामर्श के प्रकार—शुद्ध अहंपरामर्श और मायीय अहं परामर्श हैं।

(१) **शुद्ध परामर्श**—विश्व से अभिन्न रूप में विद्यमान संविन्मात्र में या विश्व की छाया से अस्पृष्ट स्वच्छ आत्मा में होता है।

(२) **मायीय** या **अशुद्ध परामर्श**—वेद्यस्वरूप देह, बुद्धि, प्राण, शून्य आदि को आलम्बन बनाता है।

विज्ञानभैरव : 'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगत् वा परिभावयेत्।
युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदय: ॥ (६२)

(१) **ब्रह्मवादी**—परम ज्ञान, परमोच्चता, परमोपलब्धि, पूर्णता एवं परमसिद्धि 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति है।

(२) **शाक्त** = परम ज्ञान, परमोच्चता, परमोपलब्धि, पूर्णता, परमसिद्धि एवं आत्म विकास की पराकाष्ठा—

'अहं देवी न चान्योस्मि' की अनुभूति में है।

(३) **शैव**—परमज्ञान, परमोच्चता, परमोपलब्धि, पूर्णता, परमपद की प्राप्ति, परमतत्त्वरूपता, परम सिद्धि एवं अपने स्व का सर्वोच्च विकास—

'शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं शिवोऽहं' की अनुभूति में है।

(४) **बौद्ध**—परम ज्ञान, परमोच्चता, परमोपलब्धि, पूर्णता, परम पद का अधिगम, परम तत्त्वज्ञा, परमसिद्धि एवं अपने स्व का पूर्णतम विकास 'विज्ञान' एवं 'शून्य' या शून्यस्थानीय 'महासुख' की प्राप्ति में है।

(५) त्रिक, स्पन्द, क्रम (काश्मीरीय शैवदर्शन) परमज्ञान, परमोच्चता, परमोपलब्धि, पूर्णता, परमपद की प्राप्ति, परमतत्त्व रूपता, परमसिद्धि, अपने स्व का पूर्णतम विकास, 'चक्रेश्वरत्व' 'नित्योदित समाधि' 'स्वरूपावस्थान' 'स्वात्मपरामर्श'-- इस अनुभूति में है कि—

१-२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।

(क) 'मैं विश्वमय हूँ'—विश्व मेरा विराट् प्रसार है ।

(ख) मैं विश्वमय के साथ उससे परे 'विश्वातीत भी हूँ'

(ग) मैं पंचकृत्यकारी शिव हूँ ।

पूर्णाहन्ता—पूर्णाहन्ता में स्वातन्त्र्य अभिन्न रूप में रहता है—इसी स्वातन्त्र्य का नाम 'परावाक्' या 'महामातृका' है । मातृका ही प्रत्यवमर्शकारिणी शक्ति है यानी प्रकाश तभी अपने को प्रकाश रूप में पहचान पाता है जब उससे मातृका जुड़ती है । मातृका के अन्तर्लीन हो जाने से प्रकाश ही प्रकाश रहता है किन्तु वह अपने को प्रकाश कहकर पहचान नहीं सकता क्योंकि प्रत्यवमर्शन शक्ति 'मातृका' में ही रहती है । मातृका स्वरूपभूता शक्ति है । यह जो शक्ति है इसी का आश्रय लेकर ही समस्त सत्ता प्रकाशित होती है ।

समस्त जगत्, ईश्वर, जीव एवं ज्ञेय जड़ पदार्थ व्यष्टि एवं समष्टि रूप में मातृका से उद्भूत हैं । पूर्ण एवं अपूर्ण दोनों अहं में मातृका की ही क्रीड़ा है । पूर्ण अहं सम्पूर्णमातृकामय है आदि में अकार एवं अन्त में हकार—यह महामण्डल मातृका मण्डल है । **अ** = प्रकाशमान । **ह** = विमर्श ॥

'पूर्ण अहं' परमेश्वर का नित्यसिद्ध निजस्वरूप है । **पूर्ण अहं** एक एवं अभिन्न हैं । **'पूर्णअहं'** चैतन्यस्वरूप है इसमें इदन्ता नहीं इसमें केवल अहंता ही है । 'इदन्ता' स्वातन्त्र्यबल से सृष्टिमुख में आविर्भूत होती है । उस सृष्टि का नाम है 'महासृष्टि' । जो कुछ है—था—या होगा—सभी नित्य वर्तमान रूप में उस 'महासृष्टि' में स्थित है । वहाँ काल नहीं है । उसमें अतीत, अनागत एवं वर्तमान कुछ भी नहीं है । जिस किसी समय में, जहाँ कहीं भी कुछ था—या होगा—'महासृष्टि' में वह विद्यमान है किन्तु यह अवस्था पूर्णावस्था नहीं प्रत्युत संकुचित अवस्था है क्योंकि वह इदंरूप में भासमान है अहं रूप में नहीं । पूर्णअहं—महासृष्टि । महासृष्टि का संहार = महासंहार ॥ काल के हिसाब से यह अकल्पनीय है । इसका अवसान होता है—पूर्णाहंतावबोध के साथ-साथ क्योंकि उस समय इदंभाव नहीं रहता । इसे ही पूर्णतालाभ, परमेश्वरत्व, परमशिवभाव कहते हैं । यह पूर्णसत्ता वेदान्त का ब्रह्म नहीं है क्योंकि ब्रह्म—अहंभाव वर्णित है—किन्तु पूर्णाहन्ता में अहंभाव का पूर्णत्व है । महाशक्ति का सर्वात्मना परमशिव के साथ सामरस्यभाव—इस अवस्था की विशिष्टता है ।

'विश्वाहंता' अहंता का सर्वोच्च शिखर है—उच्चता की परा काष्ठा है—सिद्धि एवं उपलब्धि का 'एवरेष्ट' है ।

'चक्रेश्वरत्व' पूर्णता का वैभवात्मक पक्ष है और 'विश्वाहन्ता' आत्मविस्तार, चैतन्य-प्रसार एवं आत्मपरामर्श का उच्चतम शिखर है ।

'चक्रेश्वरत्व' एवं 'पूर्णहन्ता' दोनों प्रत्यभिज्ञा एवं स्पन्दशास्त्र में प्रतिपादित है । विश्वाहंता: समस्त विश्व के साथ अहंभाव है ।

(१) विहाय निजदेहास्थां सर्वत्रास्मीति भावयन् ।
(दृढ़ेन मनसा दृष्ट्या नान्येक्षिण्या सुखी भवेत् ॥) ॥ १०२ ॥

(२) **'विज्ञानभैरव'** 'सर्व जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपद् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ॥'

अहं—

'अहं' : विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण दोनों है ।

'विश्वात्मविश्वोत्तीर्णं च स्वतन्त्रं दिव्यमक्षरम् ।
अहमित्युत्तमं तत्त्वं समाविश्य बिभेति कः ॥ (विमर्शदीपिका)

गुरुवाणी की वन्दना एवं भट्टकल्लट के द्वारा स्पन्दकारिका के प्रणयन की पुष्टि—

अगाधसंशयाम्भोधिसमुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥ ५२ ॥
वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिनः ।
रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लटः ॥ ५३ ॥

मैं गंभीर एवं अपार संशय के समुद्र से पार उतारने वाली तथा विचित्र शब्दार्थों वाली तथा अद्‌भुत गुरुवाणी की वन्दना करता हूँ ॥ ५२ ॥

तत्वद्रष्टा गुरु वसुगुप्त से यह (उपदेश) प्राप्त करके श्री **भट्टकल्लट** ने इसके रहस्य को भलीभाँति श्लोकबद्ध कर दिया ॥ ५३ ॥

भट्टकल्लट की 'स्पन्दकारिकावृत्ति' एवं **रामकण्ठाचार्य** की 'स्पन्दकारिकाविवृति' में तिरपनवीं कारिका समाविष्ट नहीं है ।

* **सरोजिनी** *

गुरुभारती = गुरु की शक्ति सम्पन्ना वाणी ॥

ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार परम स्पन्द भूमि (The Supreme state of *spanda*) रूपा 'गुरुभारती' (गुरु वाणी) को नमस्कार करते हैं ।

विज्ञानभैरव (२०) में शिव की शक्ति को शिव का मुख कहा गया है—'शैवी मुखमिहोच्यते ॥'[१]

अगाधसंशयाम्भोधि = अथाह शङ्काओं का समुद्र । (Fathomless sea) 'अगाधो ह्यप्रतिष्ठोऽनन्तः ॥ **(कल्लट)** समुत्तरणतारिणी = उद्धार करने की नाव ।

वन्दे = अभिवादन करता हूँ । (समाविशामि) 'सर्वोत्कृष्टेन समाविशामि' विचित्रार्थपदां = विचित्र अर्थों से युक्त पदों वाली ।

चित्रां = विचित्र । लोकोत्तर चमत्कार रूपा ।

तां = उस । **गुरु** = शिवधाम प्राप्ति कराने वाले आचार्य ।[२]

गुरुभारतीम् = गुरुवाणी को । वह वाक् जो कि गुरु का कार्य करती हो । परावाक् को ।

१-२. स्पन्दनिर्णय ।

वह सर्वोच्च वाणी (Supreme speech) जो पश्यन्ती, मध्यमा आदि समस्त वाणियों का केन्द्र हो। यही वाक् शिवधाम पहुँचाती है।

(अथ च गुरुं पश्यन्त्यादि क्रोडीकारात् महतीं भारतीं परां वाच्यम्)

'वन्दे' = वह गुरुभारती जो असाधारण एवं सभी के लिए सर्वोच्च है उसमें प्रवेश करता हूँ।

विचित्रार्थपदां = (नानाचमत्कारप्रयोजनानि पदानि विश्रायन्तो यस्यां परस्यां वाचि तां विचित्राणि)[१]

मैं उस असामान्य (लोकोत्तर) गुरुवाक् के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ या उसमें सम्यक् रूप से प्रवेश करता हूँ जो कि सर्वोत्कृष्ट है, जो लौकोत्तर है—अद्वितीय आनन्द स्वरूप है। या मैं—

उस वाणी का अभिकथन करता हूँ जो कि मुझे आह्लाद प्रदान करती है क्योंकि यह सभी अवस्थाओं में स्फुरित है और जो कि व्यक्ति को अपनी सत्यता (स्वरूप) को जानने हेतु आत्मचिंतन में निरत रहने की योग्यता प्रदान करती है।

गुरुभारती—वह परा वाणी जो कि पश्यन्ती प्रभृति समस्त वाणियों के विभिन्न रूपों को आलिंगित किये हुए हैं।

वन्दे = 'स्वरूपविमर्शनिष्ठां तां समावेष्टुं संमुखीकरोमि।' 'सर्वावस्थासु स्फुरद्रूपत्वात् अभिवदन्ती उद्यन्तृता प्रयत्नेन अभिवादये॥'[२]

वसुगुप्तात् = आचार्य वसुगुप्त से। वसुगुप्त ने ही शिव सूत्रों को पहाड़ के पत्थरों पर उत्कीर्ण रूप में पाया था।

अवाप्य = प्राप्त करके।

इदं = इस त्रिक ज्ञान को। ज्ञानघन को।

तत्वार्थदर्शी—तत्त्वों के रहस्यों को जानने वाले।

रहस्यं = अवाच्य, अगम्य एवं गूढ़ तत्त्व।

नित्य शङ्करात्मक स्वस्वभाव समावेश को प्राप्त करने हेतु इस शास्त्र का उपदेश किया गया है।

आचार्य उत्पलदेव कहते हैं—हमारे गुरु की वाणी आश्चर्यकारिणी है। उसके वाच्य और वाचक—अर्थ और पद—दोनों ही विचित्र हैं। अगाध संदेह के पयोधि में निमज्जित होते हुए लोगों का संतरण करने वाली यह नौका है। मैं उसकी वन्दना करता हूँ।

गुरु से श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है। **जयाख्यसंहिता** में कहा गया है—स्वयं प्रकाश भगवान् जगन्नाथ ही मन्त्रमय शरीर धारण करके करुणावश अपने शास्त्ररूपी कर कमलों से संसार—समुद्र में डूबते हुए लोगों का उद्धार करते हैं—

'यस्माद्देवो जगन्नाथः कृत्वा मन्त्रमयीं तनुम्।
मग्नानुद्धरते लोकान् कारुण्याच्छास्त्रपाणिना॥'

१-२. स्पन्दनिर्णय।

'नारद संग्रह' में भी कहा गया है—संसार का मूलोच्छेद करने वाले गुरु को अपने सर्वस्व की दक्षिणा दे देना भी बहुत थोड़ा है'—

'गुरवे दक्षिणां दद्यात् सर्वस्वं सार्थमेव वा ।
सर्वस्वमथवाऽत्यल्पं संसारोच्छेदहेतवे ॥'

'स्पन्दप्रदीपिका' में कहा गया है—जिसके मन में भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा हो, उसे पहले गुरु का अन्वेषण करना चाहिए ।' भगवान् की पहचान होती है—शास्त्र से और शास्त्र का अनुभवात्मक ज्ञान होता है—गुरु से । शास्त्रज्ञान से विषयज्ञान का विलय हो जाता है । सच पूछो तो प्रत्यभिज्ञा भर का विलम्ब है; भगवान् तो मिला हुआ ही है । अतः शास्त्र और ईश्वर दोनों से गुरु श्रेष्ठतर है—

'भवत्प्राप्तिकामो यस्तेनान्वेष्यो गुरुर्यतः ।
भगवान् ज्ञायते शास्त्राच्छास्त्रं च ज्ञायते गुरोः ॥
तद्‌बोधात् ज्ञानविलयाज्ज्ञानाप्तौ प्राप्त एव स ।
तस्माच्छास्त्रादीश्वराच्च गरीयान् गुरुरुच्यते ॥'[१]

पञ्चरात्र में भी कहा गया है—'यथा भगवत्येव वक्तरि वृत्तिः' अर्थात् 'गुरु के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा भगवान् के साथ ।'

भट्टकल्लट ने अपने तत्त्वार्थदर्शी गुरु वसुगुप्त से यह रहस्य सम्यक् रूप से प्राप्त करके इसे श्लोकबद्ध किया ।'

यह **ब्रह्मविद्या का बीज** है । बिना परीक्षा किए अयोग्य क्षेत्र में इसको बोना नहीं चाहिए—'इदं च ब्रह्मविद्याबीजं नाऽपरीक्ष्याऽस्थाने वपेत् ॥'

भट्टकल्लट ने अन्यत्र भी कहा है—सिद्ध विद्या एक गुणवती कन्या के समान है । गुणवर्जित पुरुष के प्रति उसका दान करने से वह संभोग तो देती ही नहीं, दाता को अपकीर्ति का भी कारण बनाती है । इसलिए सद्गुणसम्पन्न को ही इस विद्या का उपदेश देना चाहिए—

'गुणैरुपेताऽपि तु सिद्धविद्या कन्येव दत्ता गुणावर्जिताय ।
संभोगहीना विदधात्यकीर्तिं दातुर्यतस्तत्प्रगुणाय दद्यात् ॥'

इत्यविद्यातमःस्थानां दर्शनाय प्रकाशिता ।
सतां सुपर्णादिशेव शुद्धामलगुणोज्ज्वला ॥
वागलुण्ठनार्थमन्येषां विद्वन्मन्यतयाऽपि तु ।
शुद्ध बोधोल्लासवशात् कृता स्पन्दप्रदीपिका ।
तस्मात् प्रोत्सार्य मात्सर्यमर्थमर्थं विचार्य च ।
आर्यैराश्चर्यभूताया न कार्योऽस्या अनादरः ॥

अब कारिकाकार एक, अद्वैत आत्म तत्त्व के अज्ञान का कारण मात्र संशय को बताता हुआ कहता है कि वह महाकारण सद्गुरु के बिना उन्मूलित होना संभव नहीं है ।

---

१. स्पन्दप्रदीपिका—(उत्पलदेवाचार्य) ।

परमेश्वर गुरुमूर्ति में प्रवेश करके अपने अनुग्राह्यों को स्वप्रत्यभिज्ञापन द्वारा उपदेश देता है—'परमेश्वरो हि गुरुमूर्तिमाविश्य अनुग्राह्यान् स्वप्रत्यभिज्ञापनेन प्रबोधयति ॥'

ताम् = उसको । उस । जिसके स्वरूप का प्रतिपादन करना अशक्य है ऐसी उस, हृदय में स्फुरित वाणी को ।

गुरुभारतीं वन्दे = गुरु वसुगुप्त के सिद्धमुख से निःसृत समस्त रहस्योपनिषद्‌भूत स्पन्दतत्त्वामृतनिष्यन्दरूपा वाणी को नमन करता हूँ—स्तुति करता हूँ । वह वाणी है कैसी? **अगाध** = जिसका गाध (विश्रान्ति भूमिका) अविद्यमान हो ।

संशय = तत्त्व की अप्राप्ति रूप विभ्रमः 'संशयः तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो विभ्रमः ॥' **अम्भोधि** = समुद्र । यह संशयपूर्ण विभ्रम दुर्जरकल्पोर्मि जाल संकुलत्व से परिपूर्ण है ।

समुत्तरणे = सम्यक् विलङ्घन । **तारिणीम्** = नावम् । संसार सागर से पार करने वाली नौका ।

विचित्रार्थपदां = अत्यद्‌भुत अभिधेय (विचित्रार्थ) वस्तु जिसमें ऐसे पदों वाली । **चित्रां** = विचित्र । घटनाविशेषशाली होने के कारण विस्मयाधायी ॥ **विचित्र एवं चित्र**—दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग शब्दगत एवं अर्थगत वैचित्र्य का संसूचक है ।

सकल लोकाशय निर्विषय लोकोत्तर प्रबुद्ध हृदय संवादी विचित्रार्थ पदों के अर्थ का प्रतिपादन करने वाली चित्रा पदवाक्य रचना । वृत्तिकार ने कहा है—'अगाधो हि अप्रतिष्ठोऽनन्तः ॥'[१]

यद्यपि तिरपनवीं कारिका **भट्टकल्लट** एवं **रामकण्ठ** की 'वृत्ति' एवं 'विवृति' में नहीं है किन्तु उत्पलाचार्य की 'स्पन्दप्रदीपिका' में है । **भट्टकल्लट** ने इस पर कोई व्याख्या भी नहीं की ।

उत्पलदेवाचार्य ने स्पन्दप्रदीपिका के अन्त में संभवतः 'रहस्य' शब्द को दृष्टि में रखकर इसे अपायों को अदेय कहा है क्योंकि यह 'ब्रह्मविद्या बीज' है—'इदं च ब्रह्म-विद्याबीजं नाऽपरीक्ष्याऽस्थाने वपेत्' उक्तञ्च—

गुणैरुपेताऽपि तु सिद्धविद्या कन्येव दत्ता गुणवर्जिताय ।
संभोगहीना विदधात्यकीर्तिं दातुर्यतस्तत्त्रगुणाय दद्यात् ॥

इत्यविद्यातमःस्थानां दर्शनाय प्रकाशिता ।
सतां सुपर्णा देशेव शुद्धामल गुणोज्ज्वला ॥[२]

वागलुण्ठनार्थमन्येषां विद्वन्मन्यतयाऽपि तु ।
शुद्धबोधोल्लासवशात् कृता स्पन्दप्रदीपिका ॥[३]

'अगाधसंशयाम्भोधि' = अगाध = 'अविद्यमानो गाधो विश्रान्ति भूमिका यत्र' **(रामकण्ठाचार्य)**

संशय = तत्वाप्रतिपत्तिरूपो विभ्रमः । दुर्जर विकल्पोर्मिजालसंकुल होने से अम्भोधि

---

१. रामकण्ठाचार्य : 'स्पन्दविवृति' । २-३. स्पन्दप्रदीपिका ।

समुत्तरण = सम्यक् विलंघन (रामकण्ठ) कारिकाकार का कथन है कि मैं आश्चर्यान्वित करने वाले शब्दों एवं अर्थों से संवलित एवं अतिशय अद्भुत (सरस्वती के समान अनन्त ज्ञान, अनन्त योगसिद्धि, अनन्त शक्ति पावित्र्य तथा अमोघ फल प्रदा) गुरु-वाणी की वन्दना करता हूँ जो कि अत्यन्त गंभीर तथा अमित संशय-सागर को पार कराने वाली है ।

वृत्तिकार **भट्टकल्लट** ने इस कारिका की सविस्तार व्याख्या तो नहीं की है किन्तु 'अगाध' शब्द को रेखांकित अवश्य किया है । **'अगाध'** शब्द सामान्यतया अथाह, अपार एवं अपरिमेय का बोधक है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ—**'अप्रतिष्ठ'** एवं **'अनन्त'** किया है—'अगाधो ह्यप्रतिष्ठोऽनन्तः' ।[१]

भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में **'संशय'** को विनाश का कारण माना है—'संशयात्मा विनश्यति' (गीता) ।

अगाध = (१) 'न अस्ति गाधो विश्रान्ति भूमिका यस्य ।' (जिसका अपना कोई अधिष्ठान नहीं है ।)

(२) 'न अस्ति गाधो विश्रान्ति भूमिका यस्मिन् ।।' (जिसमें विश्राम लेने के लिए कोई पुलिन नहीं है ।)

(क) **अप्रतिष्ठ** = जिसका कोई अधिष्ठान या वास्तविक आधार नहीं है ।

(ख) **अनन्त** = जो अन्तहीन है । 'दुष्पार' 'दुरतिक्रम' । **अप्रतिष्ठ** = निराधार, आधार-शून्य, अयथार्थ । अज्ञान-कल्पित होने के कारण संशय निराधार है ।

वृत्तिकार का अभिप्राय—वृत्तिकार यह संदेश देना चाहते हैं कि—

(१) जीवों के डूबने का कारण 'संशय' है ।

(२) यह संशय दुस्तर समुद्र के समान है ।

(३) स्वरूप-साधना (स्वस्वरूप-प्रत्यभिज्ञा) यथार्थ का दर्शन कराकर समस्त संशयों का उच्छेद कर देती हैं अतः संशय समुद्रवत् दुस्तार दिखाई पड़ते रहने पर भी गुरु भारती के द्वारा प्रकाशित आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होने के कारण दुस्तार समुद्र सूखकर इतना निर्विघ्न बन जाता है कि मानों वह पूर्णतया **'अप्रतिष्ठ'** (आधारहीन) हो और केवल मन की भ्रान्ति मात्र हो, न कि वास्तविक ।। यही वास्तविकता भी है क्योंकि जीवत्व (अणुत्व) सत्य नहीं है अपितु शिवत्व ही सत्य है—जीवत्व केवल एक 'संशय' है—कल्पना है—मायावरण है और वास्तविकता तो यह है कि—'सर्वशक्ति योगेऽपि आभिर्मुख्याभिः शक्तिभिरूपचर्यते, स च भगवान् स्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मानं संकुचितमिव आभासयन् 'अणुः' इति उच्यते । यथोक्तम्—'व्यापको हि शिवः स्वेच्छाक्लृप्त-संकोचमुद्रणात् विचित्रफलकर्मौघवशात्तत्तच्छरीरभाक् ।।[२]

स्वयं 'शिव' ही अपनी 'स्वातन्त्र्यशक्ति' के माध्यम से अपनी माया शक्ति के द्वारा अपने अमित स्वरूप को संकुचित करके अणु (अज्ञानोपहित जीव) बन जाता है ।

---

१. 'स्पन्दसर्वस्व' (भट्टकल्लट) । २. 'जन्ममरणविचार' ।

वह एक आणव मल से उपहित होकर—'विज्ञानाकल' बन जाता है । वह दो आणव मलों से उपहित होकर—'प्रलयाकल' बन जाता है और वह तीन आणव मलों से उपहित होकर—'सकल' बन जाता है ।

'असौ भगवान् स्वमायाशक्त्याख्येन अव्यभिचरितस्वातन्त्र्यशक्तिमहिम्ना स्वात्मनैव आत्मानं संकुचितमिव अवभासयन् विज्ञानाकलः, प्रलयाकलः सकलश्च संपद्यते ॥'[१]

अतः जीवत्व भी एक भ्रान्तिमूलक उपाधि है । सत्य तो 'शिवत्व' है । जीवत्व शङ्कराचार्य की दृष्टि के समान मिथ्या भी नहीं है क्योंकि स्वयं शिव ही जीव है । होता यह है कि सृष्ट्युन्मुख भगवान् शुद्धाध्वा में वर्तमान होकर अपनी शक्तियों द्वारा माया को विक्षुब्ध करके—

(क) **'कलातत्त्व'** को किञ्चित्कर्तृत्व में परिवर्तित करके
(ख) **'विद्या तत्त्व'** को किञ्चिद् अवबोध में परिवर्तित करके
(ग) **'राग तत्त्व'** को किञ्चिद् अभिलाषा में परिवर्तित करके
(घ) **'काल तत्त्व'** को भूत, भविष्य, वर्तमान के खण्डित एवं संकुचित काल खण्डों में विभक्त करके स्थित कालावच्छेद में परिवर्तित कर देता है ।
(ङ) **'नियति तत्त्व'** को कर्तृत्वावच्छेद में परिवर्तित कर देता है ।

'कला तत्त्व' शिव के सर्वकर्तृत्व को किञ्चिद् कर्तृत्व में बदल देता है और सुख-दुःख एवं मोह के आवरण उत्पन्न कर देता है शिव का जीवत्व-ग्रहण केवल 'निजस्वरूप गोपनकेलि' मात्र है ।[२] अतः स्पष्ट है कि स्वरूप गोपन की क्रीड़ा के अभिनय के लिए संशय भूमिका पर स्वेच्छा से स्थित शिव के लिए यह पाशव भूमिका छोड़कर संशयों का उच्छेद करना तो अत्यन्त सरल है क्योंकि यह संशयावृत पशु भूमिका उसने अपनी स्वेच्छा से गृहीत किया है अतः यह सत्य नहीं है अपितु **भट्टकल्लट** के मतानुसार **'अप्रतिष्ठ'** (आधार शून्य, निराधार एवं अयाथार्थ) है किन्तु पाशवभूमिका का त्याग न करने पर यह 'संशय' 'अनन्त' समुद्रवत् दुस्तर भी है तथापि 'गुरुभारती' की शक्ति से यह 'अगाध' (अनन्त समुद्र) तरना अत्यन्त सरल है । इसी दृष्टि से वृत्तिकार कहते हैं—'अगाधो ह्यप्रतिष्ठोऽनन्तः ॥'

कारिकाकार कहते हैं—'अगाध संशयांभोधिसमुत्तरणतारिणीम्' ।

वृत्तिकार का प्रधान संदेश—वृत्तिकार 'अगाधसंशयाम्भोधि' की व्याख्या के संदर्भ में 'अगाध' की व्याख्या में जो उसका अर्थ—**'अप्रतिष्ठ'** करते हैं उसके पीछे उनका शैव सम्प्रदाय के **'बन्धन' एवं 'मुक्ति'** के स्वरूप पर प्रकाश डालना है जो कि निम्नानुसार है—

शैवदर्शन में 'बन्धन' नामक कोई यथार्थवस्तु है ही नहीं—

न मे बन्धो न मोक्षो में भीतस्यैता विभीषिकाः ।
प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ॥[३]

१-२. वामदेव भट्टाचार्य—'जन्ममरणविचारः' । ३. विज्ञानभैरव ।

कल्हण ने 'बन्धन को फूस का निर्मित मुझौसा जैसा मिथ्या कहा है—

'शालीनपलालपुरुषोऽवति यः कृशानुः ।
दग्धाननश्चटकपेटकभीतिदानैः ॥'

जिस प्रकार किसान लोग अपनी फसल की रक्षा करने के लिए घास-फूस का एक आदमी बनाकर खड़ा कर देते हैं और उसे जानवर आदमी समझते हुए भयभीत होकर खेतों से भाग जाते हैं किन्तु हाथी उससे भयभीत होकर नहीं भागता क्योंकि पलाल पुरुष भला हाथियों का क्या बिगाड़ सकता है? इसी प्रकार पञ्चकञ्चुक, वासना, अनात्म पदार्थ, इन्द्रिय, उनके विषय, माया एवं अज्ञान एवं तज्जन्य बन्धन किसी अज्ञ प्राणी को तो भयभीत कर सकते हैं किन्तु किसी स्वरूपावस्थित योगी का क्या बिगाड़ सकते हैं?

जैसे सूर्य ही जल के मध्य प्रतिबिम्ब के रूप में उल्टा भासित होता है उसी प्रकार परिमित विषय वाली बुद्धि ही 'मैं बद्ध हूँ, मैं मुक्त हूँ'—आदि आकारों में परिणत होती रहती है—इससे चिदात्मा का—मेरा क्या बनता-बिगड़ता है?—

'प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वतः ।'[१]

बन्धनोपहित चेतना 'जीव' कहलाती है तथा बन्धनमुक्त 'शिव' कहलाती है, पहला 'पशु' कहलाता है दूसरा 'पशुपति' (पत्ति) कहलाता है । दोनों में मूलतः भेद नहीं है—

स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते 'पति' ।
मायातो भेदिषु क्लेश कर्मादि कलुषः 'पशुः' ॥[२]

अर्थात् ऐश्वर्यदशायां प्रमाता विश्वं शरीरतया पश्यन् 'पतिः' पुंस्त्वावस्थायां तु रागादिक्लेशकर्मविपाकाशयैः परीतः 'पशु' ।[३]

जो समस्त विश्व को अपने शरीर के रूप में देखकर उसे अपने से अभिन्न मानता है उसे 'पति' एवं जो उसे अपने से भिन्न मानकर माया द्वारा भेददृष्टि के कारण रागादिक्लेशों से कर्मविपाक के वात्याचक्र में फँस जाता है उसे 'पशु' कहा जाता है ।

शिवसूत्रकार की दृष्टि—शिवसूत्रकार का कथन है कि बन्धन कोई मौलिक एवं नित्य वस्तु नहीं है और न तो निरपेक्ष स्वतन्त्र सत्ता ही है प्रत्युत् यह एक स्वारोपित मिथ्या कल्पना है—अज्ञान है—मल है अज्ञता है—'ज्ञानं बन्धः' (१।२)

वरदराज कहते हैं—अज्ञानमिति तत्राद्यं चैतन्यस्फाररूपिणि ।
आत्मन्यनात्मताज्ञानं ज्ञानं पुनरनात्मनि ॥
देहादावात्ममानित्वं द्वयमप्येतदाणवम् ।
मलं स्वकल्पितं स्वस्मिन्बन्धः स्वेच्छाविभाजतः ॥[४]

शङ्कराचार्य की बन्धन-दृष्टि एवं त्रिक-दृष्टि में भी भेद है । त्रिक दृष्टि में 'बन्धन' भी शिव की आत्मगोपन जन्य, स्वेच्छा-निष्पादित एवं रसात्मिकी क्रीड़ा है

---

१. विज्ञानभैरव ।
२. प्रत्यभिज्ञाकारिका (उत्पलदेव) ।
३. प्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति ।
४. शिवसूत्रवार्तिक ।

क्योंकि एक ही चेतना शिव भी है और वही जीव भी है—वही बन्धन भी है और वही मुक्ति भी है तथा परमार्थतः न बन्धन है न तो मुक्ति है—'न मे बन्धो न मोक्षो मे' ॥[१]

ये मिथ्या भी नहीं है क्योंकि—'न सावस्था न यः शिवः ।' शिव एवं जीव की एकता का ज्ञान ही मुक्ति है और इसका अपरिज्ञान ही मुक्ति है—'शिवजीवयोरभेद एव उक्तः । एतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव मुक्तिः एतत्तत्त्वापरिज्ञानमेव च बन्धः ॥ भला चैतन्य को बन्धन कैसा? जड़ चेतनात्मक जगत् तो परमशिवरूप है फिर उसको बन्धन कैसा?

'यदि जीवजडात्मनो विश्वस्य परमशिवरूपं चैतन्यमेव स्वभावः तत् कथम् अयं बन्धः?' [२]

'बन्धन' का स्वरूप—'बन्धन' का स्वरूप क्या है?

आचार्य क्षेमराज कहते हैं—परमेश्वर अपनी 'स्वातन्त्र्य शक्ति' के द्वारा अपने सत्स्वरूप के गोपन को आभासित करते हैं (और यह कार्य वे 'महामाया' द्वारा सम्पन्न करते हैं ।) इसके परिणाम स्वरूप मायाप्रमाता पर्यन्त सभी सत्ताएँ सङ्कोचावभासित होने के कारण उनका शिवाभेद को भूलकर शिव से अपना भेद मानना 'अपूर्णमन्दतात्मक-आणवमलतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा' हो जाना ही **'बन्धन'** है—

(१) 'परमेश्वरेण स्वस्वातन्त्र्य-शक्त्याभासितस्वरूपगोपनारूपया महामाया शक्त्या .... माया प्रमात्रन्तं सङ्कोचोऽवभासितः स एव शिवाभेदाख्यात्मका ज्ञानस्वभावोऽपूर्णाम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचितज्ञानात्मा 'बन्धः' ।[३]

(२) आत्मा में अनात्मा एवं अनात्मा में आत्मा भ्रमात्मक अवबोध भी **'बन्धन'** है—

(३) एवमात्मनि अनात्मताभिमानरूपाख्यातिलक्षणाज्ञानात्मकं ज्ञानं केवलं बन्धो ।[४]

(४) 'यावद् अनात्मनि शरीरादौ आत्मताभिमानात्मकम् अज्ञानमूलं ज्ञानमपि बन्ध एव ॥'[५]

(५) सुख दुःख मोह आदि की अध्यवसाय वृत्ति से युक्त जो भेदावभासनात्मक ज्ञान है वही बन्धन है ।

'सुखदुःखमोहमयाध्यवसायादिवृत्तिरूपं तदुचितभेदावभासनात्मकं यत् ज्ञानं तत् बन्धः' ।[६]

(६) अन्तः सुखादिं संवेद्य व्यवसायादिवृत्तिमत् ।
बहिस्तद्योग्यनीलादिदेहादिविषयोन्मुखम् ॥
भेदाभासात्मकं चास्य ज्ञानं बन्धोऽणुरूपिणः ।
तत्पाशितत्वादेवासावणुः संसरति ध्रुवम् ॥[७]

१. विज्ञानभैरव । २. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् ।
३-७. क्षेमराज—शिवसूत्रविमर्शिनी ।